शासन-यन्त्र

शासन-यन्त्र

(THE MACHINERY OF GOVERNMENT)

लेखक

इलयास अहमद, एम० ए०

रीडर राजनीति विभाग

इलाहाबाद युनिवर्सिटी

दि फ़र्स्ट प्रिन्सिपिल्स आफ़् पॉलिटिक्स; ट्रेन्ड्स इन सोशलिस्टिक

थॉट एण्ड मूव्हमेन्ट, एलीमेन्टरी सिविक्स, दि सोशल

कान्ट्रैक्ट एण्ड इसलामिक स्टेट; ए ग्रामर

आफ़ सिविक्स तथा प्राइमर आफ़

इंगलिश कान्स्टीट्यूशन

के लेखक

अनुवादक

विष्णुदत्त मिश्र

बाबूलाल श्रीवास्तव

प्रकाशक

इलाहाबाद पब्लिशिंग हाउस,

चौक, इलाहाबाद

१९४८ मूल्य ८)
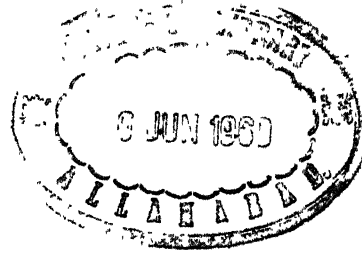
अनुवादकों की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक श्री इलयास अहमद द्वारा लिखित Machinery of Govt. का हिन्दी भाषान्तर है। हिन्दी जगत में इस विषय की पुस्तकों का पूर्ण रूप से अभाव है। इस विषय पर हिन्दी के न तो अधिक मौलिक लेखक ही हैं और न लिखित पुस्तकें ही। इसके अतिरिक्त अनुवाद भी पर्याप्त नहीं मिलते। इसका कारण मुख्यतया यह है कि पारिभाषिक शब्दों की व्यापकता पर सभी एक मत नहीं।

ऊँची कक्षाओं में हिन्दी का माध्यम न होने के कारण भी ऐसी पुस्तकों का पठन-पाठन और लेखन अभी तक न हो सका। इन सब सीमाओं के भीतर इतनी बड़ी पुस्तक का अनुवाद मूल पुस्तक के अनुसार ही हो एक दुष्कर कार्य था। साथ ही लेखक की यह इच्छा थी कि अनुवाद मूल पुस्तक का शब्दशः भाषान्तर हो। विदेशी विचारों ही को नहीं वरन् मुहावरों तथा वाक्यांशों को हिन्दी में ज्यों का त्यों परिणत कर देना सहज कार्य नहीं, फिर ऐसे विषय पर जिसके पारिभाषिक शब्द नित्य नये और सहस्रों की संख्या में बनते चले जा रहे हैं और जिनके मूल आधार विदेशी भाषाओं की धातुएँ हुआ करती हैं और जिनका व्यक्तीकरण भी उन्हीं भाषाओं में प्रचलित हो चुका है। ऐसे स्थलों पर उपयुक्त अनुवाद की समस्या और भी कठिन हो जाती है।

इन कठिनाइयों का सामना करते हुए उपर्युक्त पुस्तक का अनुवाद जिस रूप में हो सका है पाठकों के सामने प्रस्तुत है। पुस्तक हिन्दी के विकसित क्षेत्र में यदि किञ्चित मात्र भी उपयोगी सिद्ध हो सकेगी तो हम अपने इस प्रयास को सफल समझेंगे।

विष्णुदत्त मिश्र
बाबूलाल श्रीवास्तव

सूची

'मेरी उल्लिखित वस्तुओं में जो राज्य को स्थायी बनाने में अधिकाधिक योग देती है वह है बच्चों की राज्य के प्रति शिक्षा; क्योंकि यदि राज्य के विधान के सिद्धान्तों से नागरिक अपरिचित तथा अनभिज्ञ हैं तो सम्पूर्ण लाभप्रद .राजनियम राजनीतिज्ञों की सराहना पाकर भी सफल होने में असमर्थ होंगे--'

—अरस्तू

प्रथम अध्याय

प्रारम्भिक

राज्य (STATE)—सभ्यता-सूचक संस्था (INSTITUTION)

सारे सभ्य मनुष्य किसी न किसी राज्य के अन्तर्गत हैं। लेकिन इसके यह मानी नहीं कि मनुष्य सदैव से ही राज्य में रहते आये हैं। मानव जाति के इतिहास में ऐसी भी जंगली अवस्थायें आई हैं जब मनुष्य गिरोहों और क़बीलों में रहा करते थे। किन्तु हम उन्हें आधुनिक परिभाषा में राज्य नहीं कह सकते। राज्य वह राजनीतिक 'जाति' (community) है जिसकी स्थापना एक सीमित भूभाग में क़ानून और शान्ति क़ायम रखने के लिये की गई है। संगठन तथा क़ानून बनाने और लागू करने का कार्य शासन (Government) द्वारा किया जाता है। अतएव राज्य के कुछ आवश्यक अंग हैं जो इस प्रकार हैं:—(१) निश्चित जनसंख्या (२) सीमित भूभाग (३) एक प्रकार का शासन (४) राजसत्ता (Sovereignty) या ऐक्य (unity) जो शासन द्वारा क़ायम रक्खा जाता है।

शासन—राज्य का पूर्ववर्ती

अब यह साफ़ ज़ाहिर है कि राज्य स्वतः पूर्ण है और शासन उसका एक अंग है उसी तरह जैसे हाथ और पैर अंग हैं हमारे शरीर के। मगर एक मानी में शासन राज्य का पूर्ववर्ती है। उस ज़माने में भी जब मनुष्य गिरोहों (groups) और क़बीलों (tribes) की ज़िन्दगी बसर करता था निश्चय ही नियंत्रण के कुछ नियम थे, उन्हें हम आज के अर्थ में संगठित राज्य भले ही न कहें। खानाबदोशी की हालत में अपने ढोरों को लिये हुये चरागाहों की तलाश में इधर से उधर घूमने वाले क़बीलों को हम राज्य नहीं कह सकते क्योंकि वे किसी निश्चित भूभाग के निवासी न थे। मगर उन पर बड़े-बूढ़ों (Elders) का नियंत्रण था और उनका जीवन परम्परागत रीति-रिवाजों से नियमित था। भिन्न-भिन्न क़बीलों में बड़े बूढ़ों का यही नियंत्रण तत्कालीन शासन का स्वरूप था हालांकि पारिभाषिक तौर पर वे राज्य नहीं कहे जा सकते। इससे यह साफ़-साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि शासन राज्य से पुराना है[1]। राज्य का विकास सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ शासन के बाद हुआ।

---

१ सी॰ पी॰ पेटरसन—अमेरिकन गवर्न्मेंट पृष्ठ २१ (C. P. Petterson—American Government. p. 21)

शासन की उत्पत्ति पर भिन्न-भिन्न मत

जिस प्रकार राज्य की उत्पत्ति[1] के बारे में राजनीतिक दार्शनिक एक मत नहीं उसी तरह शासन की उत्पत्ति के बारे में भी भिन्न-भिन्न रायें हैं। साधारण रूप से हम कह सकते हैं कि शासन का अस्तित्व मानव-समाज की उत्पत्ति का सहवर्ती है क्योंकि माता-पिता का अपनी संतान पर नियंत्रण ही शासन का पहला स्वाभाविक रूप था। शासन की उत्पत्ति के इस मत को 'पैतृक मत' (Paternal theory) कहते हैं इसका प्रतिपादक अरस्तू (Aristotle) था। लेकिन दूसरे राजनीतिक दार्शनिकों ने शासन के आविर्भाव को अन्य तीन तरीक़ों से समझाने की कोशिश की है[2]।

पहला पौराणिक मत (Legendary theory) है। इसकी उत्पत्ति यूनान में हुई। यहाँ स्पार्टा और एथेन्स के शासनों की बुनियादें क्रमशः लाइकरगस (Lycurgus) और सोलन (Solon) के नामों से संबंधित हैं। इसी तरह रोम का व्यवस्थापक न्यूमा (Numa) था। इसके यह मानी हुये कि इन जमातों के प्रथम शासन की बुनियादें पौराणिक व्यवस्थापकों (Legendary Legislators) द्वारा डाली गईं। संगठित राज्य ये बाद में बनीं।

दूसरा है 'अतिभौतिक मत' (Metaphysical theory)। इस मत के प्रतिपादकों में हाब्स (Hobbes), लॉक (Locke) तथा रूसो (Rousseau) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं हाब्स के मतानुसार शासन की अहमियत ज्यादा और राज्य की कम है क्योंकि बग़ैर किसी नियंत्रण के राज्य का अस्तित्व केवल तथाकथित है। लॉक के अनुसार भी संगठित ज़िन्दगी की ज़रूरत इसलिये पड़ी कि शुरू में न तो कोई व्यवस्थापित क़ानून थे और न कोई न्यायाधीश। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी होता है और उसे केवल अपने से ही मुहब्बत होती है। वह दूसरों की सम्पत्ति हड़प कर जाना चाहता है। इससे हर शख़्श का जानोमाल ख़तरे में पड़ जाता है और इसलिये इनकी सुरक्षा के लिये शासन क़ायम किया जाता है। इसी तरह रूसो ने भी शासन को जनता का ऐसा गुमाश्ता (Agent) क़रार दिया है जो उसके जानोमाल का हिफ़ाज़त करता है। उसकी राय में शासन की प्रवृत्ति पतनोन्मुख होती है और इसे अत्याचारी तथा स्वेच्छाचारी बनने से बचाने के लिये समय-समय पर बदल देने की ज़रूरत है।

तीसरा 'ऐतिहासिक मत' (Historical theory) है। इसका दावा है कि शासन की उत्पत्ति समाज के आदिम काल ही में पड़ गई थी। समाज-शास्त्र के अन्तर्गत की गई खोजों ने यह साबित कर दिया है कि आदि काल में मानव-जीवन वैयक्तिक न था। मनुष्य गिरोहों में मेलोमुहब्बत से रहते थे इसलिये उन दिनों समाज की इकाई या तो क़बीला था या 'कुल-चिन्ह-समूह' (Totem group)। सभ्यता के विकास के साथ-साथ ये समूह गोत्रों (Clans) में विभाजित हो गये और आगे चल कर यही

---

१ देखिये मेरी पुस्तक "फर्स्ट प्रिंसपिल्स ऑफ पोलिटिक्स" (The First Principles of Politics)

२ सी॰ पी॰ पेटरसन अमेरिकन गवर्नमेंट पृष्ठ २०

गोत्र भिन्न-भिन्न कुनबों में बँट गये। इसी मत के आधार पर आधुनिक लेखक अरस्तू के 'पैतृक मत' को नहीं क़बूल करते। उनका विश्वास है कि क़बीलों में बड़े-बूढ़ों का नियंत्रण शासन का पहला रूप था। कुनबों की उत्पत्ति तो बहुत दिन बाद हुई।

शासन का पहला रूप

शासन की उत्पत्ति के विषय में इन भिन्न-भिन्न मतों में कितनी सचाई है यह कहना कठिन होगा। लेकिन जहाँ तक शासन के प्रथम रूप का सवाल है लेखकों में कोई मतभेद नहीं। चाहे यह क़बीलों पर बड़े बूढ़ों का नियन्त्रण रहा हो या मनुष्य को पाप और कुकर्मों से बचाने के लिये परमेश्वर द्वारा भेजे गये किसी पैग़म्बर का प्रतिबन्ध अथवा किसी ताक़तवर तथा चतुर मनुष्य का अन्य मनुष्यों पर नियन्त्रण रहा हो, इस पर सभी एक मत हैं कि शासन का पहला रूप वैयक्तिक था। यदि वह सुशासन होता था तो उसे एक-तन्त्र (Monarchy), बादशाही (Kingship) या राजत्व (Royalty) कहते थे। कुशासन होने पर उसको स्वेच्छाचारी शासन, (Despotism), स्वैरतन्त्र (Autocracy) या कठोर शासन (Tyranny) कहते थे।

शासन के अच्छे और बुरे का विचार

शासन की स्थापना के साथ साथ उसकी अच्छाइयों और बुराइयों पर ध्यान नहीं दिया गया। इसका कारण प्रारम्भिक समाज का धार्मिक रूप था। शासक के दुर्गुणों का विवचन प्रायः पाप समझा जाता था। अगर राजा अच्छा होता था तो ख्याल किया जाता था कि ईश्वर ने अपने सेवकों की सच्चिरित्रता से खुश होकर उसको भेजा है। अगर वह बुरा होता था तो प्रजा उसका दमन अपने कुकर्मों का फल समझ कर सह लेती थी। इसीलिये अनन्त नारकीय यातना के भय से लोग शासन की सत्ता के खिलाफ़ आवाज़ न उठाते थे। लकिन सभी जगह ऐसा न था। कुछ ऐसी भी जगहें थीं जहाँ मज़हब का इतना गहरा असर न था और जीवन परम्परागत रिवाजों में इतना नहीं बँधा था। ऐसी जगहों में लोगों का विचार-स्वातन्त्र्य मिला और वे शासन की अच्छाइयों और बुराइयों पर सोचने लगे। इसके साथ-साथ जीवन को अधिक सुखी और नैतिक बनाने के लिये दूसरे तरीक़े भी सोचे गये।

यूनान में राजनीतिक विचारधारा का आरम्भ

ऐसी विचारधारा सबसे पहले यूनान में शुरू हुई। इसके कारणों का उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा। प्राचीन यूनानियों ने, न 'केवल एक व्यक्ति द्वारा शासन' पर ही सोचा बल्कि 'कुछ व्यक्तियों द्वारा' तथा 'बहुत व्यक्तियों द्वारा' शासनों पर भी ग़ौर करना शुरू किया। सिर्फ़ इतना ही नहीं, उन्होंने इस पर भी विचार किया कि शासन और राज्य 'कुदरती है या इक़रार याफ़्ता,'। अतः कुछ लोगों की राय में शासन को ही जमात की अच्छाई के लिये सभी काम करने चाहिये थे। दूसरे लोगों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देकर शासन को 'अनिष्टकारी' क़रार दिया। इस तरह राजनीतिक विचार धारा के प्रारम्भ से ही शासन का विषय विवाद ग्रस्त रहा। यह

निश्चित न हो सका कि शासन 'निर्विवाद रूप से लाभकारी' है या 'पूर्ण रूप से अनिष्ट-कारी होते हुते भी अनिवार्य'। यह भी न तय पाया गया कि कैसा शासन लाभकारी है—'एक व्यक्ति द्वारा,' कुछ 'व्यक्तियों द्वारा' 'बहुत व्यक्तियों द्वारा' अथवा इन तीनों का एक मिश्रित रूप (Mixed form of Government)।

रोम और मध्ययुग की विचारधारा

रोम वालों ने भी शासन-सम्बन्धी यूनानी विचार धारा का अध्ययन किया परन्तु उन्होंने शासन के मिश्रित रूप को अधिक पसन्द किया और उन्होंने अपने राज्य के संगठन में 'कांसल' (Consul), सेनेट (Senate) और रोमनस पापुलस (Romanus Populus) को स्थान दिया। मध्य-युग में शासन के रूप पर ज्यादा वाद-विवाद न हुआ और आम तौर से 'एक व्यक्ति द्वारा शासन' की प्रथा रही, चाहे वह शासन पोप का रहा हो, चाहे सम्राट का (Emperor)।

आधुनिक विचारधारा

आधुनिक युग के आदि काल में भी एक व्यक्ति द्वारा शासन काफी प्रचलित रहा। बादशाहों ने बड़े-बड़े राज्य स्थापित कर लिये थे लेकिन कुछ ही अर्से के बाद जनता ने राजा का विरोध करना शुरू किया और राजा के निरंकुश शासन के अधिकार को मानने से इनकार किया। बादशाहों का दावा था कि वे 'दैवी अधिकार' (Divine Right) से हुकूमत करते हैं और आज्ञा-पालन ही प्रजा का कर्तव्य है। लेकिन जनता का कहना था कि बादशाह उसके गुमाश्ते (agents) हैं और अच्छा शासन उनकी जिम्मेदारी है। यही नहीं, जुल्म करने पर उनका क़त्ल भी जायज़ है। इस विरोध का असर यह हुआ कि कुछ समझदार बादशाहों ने अपने होश संभाले और नेकनीयती से हुकूमत करना शुरू कर दिया, प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिये भाँति-भाँति के सुधार किये। लेकिन जनता उनकी चालाकी के फन्दे से दूर रही। इधर कुछ राजाओं ने प्रजा से पहले ही से झगड़ा खड़ा कर रक्खा था। इनमें सब से पहला नाम इंगलैंड के बादशाह जेम्स प्रथम का आता है। उसे 'यूरोप का सब से शिक्षित मूर्ख' (Wisest fool in Christendom) कहा जाता है। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी चार्ल्स प्रथम को इसी मसले पर अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। अन्त यहीं न हुआ। इसी खानदान के दूसरे बादशाह जेम्स द्वितीय को जान लेकर देश से भागना पड़ा। इस तरह १६८८ की 'गौरवपूर्ण राज्य-क्रान्ति' (Glorious Revolution) के बाद इंगलैंड में जनता की प्रतिनिधि सभा, पार्लिमेंट की प्रभुता मजबूती से क़ायम हो गई और नये बादशाह विलियम को पार्लिमेंट की राय से हुकूमत करने पर मजबूर होना पड़ा। यहीं से इंगलैंड में बादशाहों के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त होता है और 'उत्तरदायी' या 'पार्लिमेंटरी शासन' की बुनयाद पड़ती है।

अमरीका और फ्रांस

हालांकि अंग्रेजों ने अपने मुल्क में 'प्रतिनिधि' और 'उत्तरदायी' (Representa tive and Responsible) शासन की स्थापना की, लेकिन वे स्वजनों द्वारा अमेरिका

में स्थापित उपनिवेशों को शासन के वही हक़ देने को तैयार न थे। उन्होंने यह आवाज़ बुलन्द की कि इंगलैंड की लोकसभा पार्लिमेंट को, जिसमें उनका कोई प्रतिनिधि नहीं बुलाया जाता, उन पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं। इस माँग के न पूरी होने पर उपनिवेशों का विरोध धारे-धीरे इतना बढ़ गया कि १७७६ में उन्होंने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ आम बग़ावतखड़ी कर दी और अमेरिका की आज़ादी का एलान कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप 'अमेरिका के संयुक्त राज्य' नामक प्रजातंत्र राज्य की स्थापना हुई। उन्होंने स्वयं अपने शासन विधान का निर्माण किया। हालांकि उन्होंने भी 'प्रतिनिधि-शासन' क़ायम किया लेकिन उसका स्वरूप पार्लिमेंटरी क़िस्म का न होकर अध्यात्तात्मक, (Presidential) हुआ। अमेरिका के बाद फ्रान्स की जनता भी १७८९ में अपने अत्याचारी शासक के खिलाफ़ उठ खड़ी हुई। वहाँ कई "शासन-विधानों (Constitutions) को अमल में लाने की कोशिश की गई। इस विप्लव के पीछे मान्टेस्क्यू की विचार धारा थी; उसने फ्रान्स की जनता को समझाया कि फ्राँस के मुक़ाबिले में इंगलैंड में ज्यादा आज़ादी है। उसकी समझ में इसका कारण यह था कि इंगलैंड में शासन की तीनों शक्तियाँ 'व्यवस्थापिका' (Legislative) कार्यकारिणी (Executive) और न्यायकारिणी (Judiciary) एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। इसके विपरीत फ्रांस में सारी शक्ति बादशाह के हाथ में केन्द्रित थी। मॉन्टेस्क्यू की यह धारणा ग़लत थी।

शासन की नयी क़िस्में

इन तीनों क्रान्तियों ने इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस ही में नये शासनों की स्थापना नहीं की बल्कि सारे यूरोप में राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्रवाद की लहर दौड़ा दी। शासन के वे साधारण रूप जिन पर यूनान में विचार किया जा चुका था, अब जटिलता धारण करने लगे। अब उनका वर्गीकरण प्लेटो और अरस्तू के क़ायदों से नहीं किया जा सकता था क्योंकि इन तीन क्रान्तियों से प्रत्येक राष्ट्र का स्वेच्छित प्रयोगों के लिये विस्तृत क्षेत्र मिल गया। इस तरह स्विटज़रलैंड ने अपनी परम्परा और स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार एक नये प्रजातंत्रवाद को अपनाया। हाल ही में जापान और जर्मनी ने अपने-अपने तरीक़ों पर प्रयोग करके नये शासन स्थापित किये। सोवियत रूस ने तो नई संस्थाओं का प्रयोग करके एक नई सभ्यता को जन्म दिया है। इटली और जर्मनी के तानाशाहों ने भी प्रजातंत्रवाद के दायरे के अन्दर नये-नये प्रयोग किये हैं अतएव गत युद्ध (१९३९-४५) उपनिवेशी (Haves) और अनुपनिवेशी (Havenots) राज्यों की ही लड़ाई नहीं थी बल्कि वह आदर्शों, उच्चाकांक्षाओं, प्रजातन्त्रवाद और तानाशाही तथा उपयोगिता (Value) और शासन के स्वरूपों का संघर्ष था।

शासन के नये कर्तव्य (FUNCTIONS)

हमें यह न मान बैठ लेना चाहिये कि सिर्फ़ शासन के रूप ही में परिवर्तन हुआ है। शासन के कर्तव्यों में भी काफ़ी फ़र्क़ आ गया है। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक लोगों का यह विचार था कि शासन के केवल दो कार्य हैं—पहला मुल्क की हिफ़ाज़त

करना और दूसरा आन्तरिक शान्ति कायम रखना।[1] इसलिए शासन कार्य में ज्यादा आदमियों की जरूरत न पड़ती थी। लेकिन १८७० ई० के बाद शासन का कार्य-क्षेत्र बहुत बढ़ गया। उसका नियंत्रण हमारे आर्थिक जीवन पर ही नहीं बल्कि हर एक सामाजिक क्षेत्र में है। इसलिये शासन-कार्य की इस वृद्धि के कारण अगणित क्लर्कों और अफ़सरों की आवश्यकता होती है और समाज स्वयं एक बड़ा संगठन (Organization) बन गया है। इसीलिए स्वर्गीय प्रोफ़ेसर ग्राहमवालाज ने आधुनिक राज्य तथा इसके शासन को राज्य तथा शासन कहना उचित न समझा। उनके मतानुसार आज का राज्य एक 'महान समाज' (The Great Society) है और शासन उसका 'संगठन'। (Organization) 'शासन के इस नये रूप' के साथ उसके कार्यों में भी परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनों ने एक नई सभ्यता का द्वार खोला है।

निर्माणक नागरिक की आवश्यकता

इससे साफ़ जाहिर है कि पहले कोई भी नागरिक किसी भी शासन के अन्तर्गत 'अप्रतिरोधी' (Passive) बन कर रह सकता था परन्तु आज वह उसके कार्यों तथा रूप के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। आज की नागरिकता का आधार 'जन-सत्ता की धारणा' (Conception of People's Sovereignty) है। आज का नागरिक निष्क्रिय और विवेकहीन नहीं रह सकता क्योंकि तानाशाहों तक ने भी यह महसूस किया है कि किसी न किसी रूप में शासन के पीछे जनता की अनुमति आवश्यक है। अगर अरस्तू के समय में यह जरूरी था कि लोग शासन-विधान के तत्व को समझें तो आज और भी आवश्यक है कि लोग अपने समय के शासन और उसके विधान से भली-भाँति परिचित हों। आज केवल विधानों में ही जटिलता नहीं आई है बल्कि शासन के कार्यों में भी महान परिवर्तन हो गये हैं। आज हमारे समय की सबसे बड़ी माँग है कि आगे आने वाली संतानें केवल अपने ही विधान को न समझ कर सारे संसार के विधानों को समझने की कोशिश करें। क्योंकि निर्माणशील नागरिकता का तक़ाज़ा है कि लोग जीवन के सारे मसलों को समझें और उनका निदान ढूँढें। इस पुस्तक में शासन के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। उम्मीद है कि साधारण नागरिक अपने और अन्य देशों के 'शासन-यंत्र' का अर्थ और उसकी अहमियत को समझ सकेगा।

---

[1]लास्की—पार्लिमेंटरी गवर्न्मेंट इन इंगलैंड पृष्ठ २१

१९वीं सदी के पुलीस-राज्य (Police State) ने बीसवीं सदी के समाज सेवक राज्य (Social Service State) को स्थान दिया।

दूसरा अध्याय

शासन के रूप

सर्व प्रथम यूनानियों में राजनीतिक बिचारधारा का आरम्भ

"राजनीतिक बिचारधारा का आरम्भ" जैसा कि बार्कर (Barker) महोदय का कथन है, "सर्व प्रथम यूनानियों में हुआ। इसका आदि कारण यूनानियों का स्पष्ट हेतुवाद (Rationalism) है। भारतीयों और यहूदियों के समान यूनानियों ने धर्म को अपना अध्ययन क्षेत्र नहीं बनाया, संसार के रूप को उन्होंने विश्वास रूप से नहीं देखा वरन् चिन्तन का सहारा लिया। उनके मस्तिष्क में दृश्य-जगत के प्रति उत्सुकता जगी और उन्होंने तर्क की सहायता से विश्व को समझने का प्रयत्न किया"।[1] इस अन्वेषक प्रवृत्ति तथा प्रकृति-रहस्योद्‌घाटक बुद्धि द्वारा उन्होंने न केवल भाषा (Speech) और पदार्थ (Matter) के गुणों (Properties) पर मनन करके तर्कशास्त्र (Logic) और ज्यामिति (Geometry) को जन्म दिया वरन् राज्य के गुणों का अनुशीलन करके राज्य-विज्ञान (Science of State) का भी स्वरूप-निर्माण किया। प्रारम्भ में उन्होंने विश्व की प्रकृति (Nature) और निर्माण (Constituton) पर खोज की जिसके परिणाम स्वरूप एक निश्चित 'भौतिक-विज्ञान-वेत्ता-स्कूल' (School of Physicists) का विकास हुआ। परन्तु शीघ्र ही उनका ध्यान प्रकृति से मनुष्य की ओर अग्रसर हुआ और 'मानव-प्रकृति-अध्येताओं' (Humanists) अथवा 'कूट तार्किकों' (Sophists) का उदय हुआ।

यूनान में राज्य-विभिन्नता

पर्वत-बाहुल्य होने के कारण यूनान में आरम्भ से ही एक-राज्य न स्थापित हो सका। वहाँ छोटे-छोटे भूभागों में अलग-अलग नगर-राज्य (City States) थे। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के शासन तथा संस्थायें थीं। मानव-संस्थाओं की इस विभिन्नता के कारण यूनानियों को केवल तुलना तथा पर्यालोचन करने का ही अवसर नहीं प्राप्त हुआ वरन् विभिन्न प्रकार के शासन-रूपों के उत्थान-पतन के कारणों, उनके दोष और गुण तथा अपने राजनीतिक जीवन को अग्रसर करने के साधनों पर भी विचार करने का अवसर मिला।

---

१ अर्नेस्ट बार्कर (Earnest Barker) कृत प्लेटो ऐण्ड हिज़ प्रिडिसेसर्स (Plato and his Predecessors) पृष्ठ १

शासनों का वर्गीकरण : हेरोडोटस (HERODOTUS) और सुकरात (SOCRATES)

अतः स्वभावतः यूनानियों ने सर्व प्रथम शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण किया। इसका प्रथम संकेत हेरोडोटस ने दिया है। उसने एक-तन्त्र, कुलीन-तन्त्र; तथा प्रजा-तन्त्र (Monarchy, Aristocracy and Democracy) के गुणों की तुलना करने के पश्चात यह स्पष्ट किया है कि जब राजा बलोन्मत्त हो जाता है तब एक-तन्त्र कठोर शासन में बदल जाता है; जब कुलीन वर्ग (Nobility) का पारस्परिक कलह गृहयुद्ध का रूप धारण करता है और कोई अत्याचारी राज्य-सत्ता हस्तगत कर लेता है तब कुलीन-तन्त्र कठोर शासन का रूप धारण कर लेता है; और जब अज्ञानता तथा पतनवश किये हुए जनता के विद्रोह का नेतृत्व कोई शक्तिशाली पुरुष ग्रहण कर शासन-सूत्र अपने हाथ में कर लेता है और भय तथा बल प्रदर्शन द्वारा शासन करना आरम्भ करता है तब प्रजातन्त्र कठोर शासन के रूप में बदल जाता है। इसके बाद सुकरात का वर्गीकरण आता है, यह हमें जेनोफन (Xenophon) द्वारा प्राप्त हुआ है। सुकरात ने भी एक-तन्त्र, कुलीन-तन्त्र और प्रजातन्त्र पर सविस्तार लिखा है। उसके अनुसार शासन का अन्तिम रूप सदैव अहितकर है क्योंकि इसका आधार अज्ञान है। वह एक-तन्त्र को अच्छा मानता है क्योंकि राजा क़ानून का अनुगामी और प्रजा की सम्मति से शासन करनेवाला होता है, परन्तु कठोर शासन में वह मनमानी करता है। इसी प्रकार कुलीन-तन्त्र उत्तम है क्योंकि इसका आधार योग्यता है। किन्तु अल्प-जन-तन्त्र का मूल साधन सम्पत्ति है। सुकरात शासन के केवल पाँच रूपों को स्वीकार करता है। वे हैं, एक-तन्त्र तथा कुलीन-तन्त्र, जो हितकर हैं और कठोर-शासन, अल्प-जन-तन्त्र तथा प्रजा-तन्त्र जो अहितकर हैं।

प्लेटो (PLATO) का आदर्श

प्लेटो ने तीन प्रसिद्ध पुस्तकें 'रिपबलिक' (Republic), पॉलिटिकस (The Politicus) और 'लॉज़' (The Laws) लिखी हैं। प्रथम पुस्तक में वह तर्क तथा ज्ञान की सत्ता का समर्थन करता है। वह चाहता है कि बौद्धिक कुलीन-तन्त्र राज्य पर नियन्त्रण रक्खे तथा पथ प्रदर्शन भी करे। इससे यह स्पष्ट है कि वह कुलीन-तन्त्र को शासन का आदर्श रूप स्वीकार करता है। परन्तु उसी पुस्तक में वह एक स्थान पर लिखता है कि 'जब तक राजा दार्शनिक नहीं होते और दार्शनिक राजा नहीं होते तब तक यूनानी नगर ही क्या सम्पूर्ण मानव जाति भी अपने कष्टों से छुटकारा नहीं पा सकती'। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वास्तव में वह एक 'आदर्श एक-तन्त्र' का समर्थक था। यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है जब हम देखते हैं कि वह 'पालिटिकस' में स्वेच्छाचारी शासक अथवा विद्वान राजनीतिज्ञ का समर्थन करता है। उसका कथन है कि वास्तविक राजनीतिज्ञ राजा होता है क्योंकि पूर्ण ज्ञान उसी में सम्भव है, वह जनमत से मुक्त तथा क़ानून से अनियन्त्रित होता है।

प्लेटो का वर्गीकरण

किन्तु यह सब उसके आदर्श के अन्तर्गत था। जब वह आदर्श राज्यों के स्थान में उस समय के वर्तमान राज्यों पर विचार करता है तब उन्हें अपने आदर्श राज्य की कसौटी पर कसता है। 'रिपबलिक' में वर्णित आदर्श राज्य वास्तविक राज्यों पर निर्णय देने के लिये मानदण्ड के समान है। यह स्वयं एक वर्ग है। चूँकि वास्तविक राज्य आदर्श राज्य की समता नहीं कर सकते इसलिये वह उनको दो वर्गों में विभाजित करता है। प्रथम वर्ग में वे राज्य आते हैं जो आदर्श के अत्यधिक निकट हैं और दूसरे वर्ग में वे राज्य आते हैं जो आदर्श से दूर हैं। इस प्रकार उसने राज्यों का वर्गीकरण शासकों की संख्यानुसार तथा ज्ञान और अज्ञान (जिनको शासक ग्रहण करते हैं) के सिद्धान्तानुसार किया है। उसके वर्गीकरण को हम निम्नलिखित तीन श्रेणियों में रख सकते हैं[1] :—

१—पूर्ण ज्ञानी राज्य—'रिपबलिक' का आदर्श राज्य

२—अपूर्ण ज्ञानी राज्य—क़ानून पर आधारित

३—अज्ञानी राज्य—

चूँकि पूर्ण ज्ञानी राज्य केवल आदर्श है इसलिये उस समय के राज्य दो रूपों में विभाजित किये जा सकते हैं :—

(अ) क़ानूनी राज्य (Law States)—क़ानून-बिहित ज्ञान के अनुगामी।

(ब) स्वेच्छाचारी राज्य—(Caprice or Arbitrary States) क़ानून का उल्लंघन करने वाले।

संख्यानुसार क़ानूनी राज्य एक-तन्त्र कुलीन-तन्त्र और प्रजातन्त्र (संयत) हैं और स्वेच्छाचारी राज्य, कठोर शासन वाले, अल्प-जन-तन्त्र तथा प्रजा-तन्त्र (असंयत) हैं। इस प्रकार आदर्श एक-तन्त्र को छोड़कर उस समय के राज्यों में एक-तन्त्र सर्वोत्तम और असंयत प्रजातन्त्र निकृष्टतम था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो उस समय के शासनों के रूपों का वर्गीकरण दो आधारों पर करता है :—(१) शासकों में ज्ञान का भाव या अभाव, (२) शासकों की संख्या।

अरस्तू या अरिस्टॉटेल (ARISTOTLE) का वर्गीकरण

परन्तु अरस्तू का वर्गीकरण[2], यद्यपि कुछ अंशों में प्लेटों से प्रभावित प्रतीत होता है, वास्तव में निज का है। सर्व प्रथम उसने शासनों के वर्गीकरण में भी 'टिलियोलाजिकल' (Teleological) पद्धति का उपयोग किया। प्लेटों के वर्गीकरण

---

१ अर्नेस्ट बार्कर—'प्लेटो एण्ड अरिस्टाटेल' (Plato and Aristotle) पृष्ठ २७५ और उसकी 'प्लेटो एण्ड हिज़ प्रेडिसेसर्स', पृष्ठ २६०

२ इस सम्पूर्ण वर्गीकरण का आधार बार्कर की 'प्लेटो एण्ड अरिस्टाटेल' है। पृष्ठ ३०७—३२०।

की कसौटी क़ानून के प्रति श्रद्धा और अरस्तू के वर्गीकरण की नैतिक धर्म है क्योंकि राज्य एक नैतिक समाज है जिसका अस्तित्व सद्‌गुण की चर्मोन्नति के लिये है। इसलिये पूर्ण रूप से आत्मिक विकास को कार्यान्वित करने वाले राज्य साधारण और इस उद्देश्य से दूरवर्ती असाधारण या निकृष्ट कहलाये। स्वयं अरस्तू का वर्गीकरण के विषय में निम्नलिखित विचार है।[१]

(७) यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण राज्य में शासन या प्रबन्ध............के लिए एक सर्व प्रधान शक्ति की आवश्यकता है। यह सर्व प्रधान शक्ति अनिवार्य रूप से एक या कुछ अथवा बहुत मनुष्यों के हाथों में होती है। जब राज्य सर्व साधारण के हित के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं तब वे सुव्यवस्थित कहलाते हैं। और जब शासकों के स्वार्थ के लिए, चाहे उनकी संख्या एक हो, कुछ हो अथवा बहुत, इस शक्ति का प्रयोग होता है तो राज्य कुव्यवस्थित होते हैं। क्योंकि हमको यह मानना पड़ेगा कि जो समाज के अंग हैं वे या तो नागरिक नहीं हैं, नहीं तो उनको शासन में लाभ उठाने का अवसर मिलना चाहिये। साधारणतः जन साधारण के हित के लिए एक व्यक्ति के राज्य को एकतन्त्र और एक से अधिक किन्तु केवल कुछ ही व्यक्तियों के राज्य को, शासन के सुयोग्य नागरिकों के हाथों में होने अथवा नगर निवासियों के लिए अत्यन्त हितकर होने के कारण 'कुलीन-तन्त्र' कहते हैं। जब नागरिक एक बड़े पैमाने पर जनता के हित के लिए शासन करते हैं तब इसे बहुतन्त्र (Polity) कहते हैं......इनके भ्रष्ट रूप हैं कठोर शासन एकतन्त्र का, अल्प-जन-तन्त्र कुलीन-तन्त्र का और प्रजातन्त्र बहुतन्त्र का। कठोर शासन का उद्देश्य केवल एक व्यक्ति का स्वार्थ, अल्प जनतन्त्र का केवल धनिक वर्ग का और प्रजातन्त्र का केवल निर्धन वर्ग का स्वार्थ होता है; परन्तु किसी के दृष्टि में सार्वजनिक हित नहीं है।'

इस प्रकार अरस्तू ने विभिन्न शासनों के उद्देश्य पर भी विचार किया है। सार्वजनिक हित का ध्यान रखने वाले शासन साधारण और व्यक्तिगत बलवृद्धि के लिये संचालित शासन निकृष्ट कहलाते हैं। उसके विचार में एक तन्त्र, कुलीन तन्त्र और बहुतन्त्र क्रमशः सर्व जनसाधारण के हित के लिये एक व्यक्ति का शासन, कुछ व्यापक हित के लिये वंशागत गुणों से युक्त कुछ व्यक्तियों का शासन तथा सर्वसाधारण की भलाई के लिये मध्यम वर्ग का शासन हैं। इसी प्रकार कठोर शासन-अल्प-जन-तन्त्र तथा प्रजातन्त्र शासनों से उसका तात्पर्य क्रमशः व्यक्तिगत बल-वृद्धि के लिये तथा निर्धन वर्ग के स्वार्थ के लिये शासनों से है[२]।

---

१ The Politics of Aristotle, Everymans Library pt. 78-79. आरस्टाटेल की पालिटिक्स पृष्ठ ७८-७९।

२—ब्लन्ट्शली (Bluntshli) का कथन है कि प्रजातन्त्र 'निर्धन या अशिक्षित जनता का मनमानी शासन' (Ochlocracy) कहा जा सकता है; The Theory of the State, p. 33.

इस संस्करण में सार्वजनिक हित का ध्यान रखने वाले शासन का नाम 'राज्य' दिया है।

अतः यहाँ भी वर्गीकरण की कसौटी सम्पूर्णतया शासकों की संख्यानुसार न होकर शासनारूढ़ सामाजिक वर्ग के अनुसार है। अरस्तू का वर्गीकरण इस प्रकार है (१) शासन का नैतिक लक्ष्य, (२) शासन का उद्देश्य, (३) सामाजिक वर्ग का प्रभाव और शासकों की संख्या। संख्यात्मक वर्गीकरण का आधार महत्वहीन है। सीली[1] (Seeley) लिखता है कि शासकों की संख्या के अनुसार वर्गीकरण हमको अरस्तू से नहीं मिलता। फिर भी हम अरस्तू के वर्गीकरण को तालिका में निम्न लिखित ढंग से रख सकने हैं—

शासकों की संख्या तथा सामाजिक वर्ग	शासन का लक्ष्य तथा उद्देश्य	
	साधारण दशा जिसमें सार्वजनिक हित का ध्यान रहता है	विशेष दशा जिसमें शासक अपने ही हित का ध्यान रखता है।
एक व्यक्ति का शासन	एक-तन्त्र	कठोर शासन
अल्प व्यक्तियों का शासन	कुलीन-तन्त्र	अल्प-जन-तन्त्र
बहु-व्यक्तियों का शासन	बहु-तन्त्र	प्रजा-तन्त्र

शासन का चक्र

अरस्तू ने शासन के रूपों का केवल वर्गीकरण ही नहीं किया वरन् उसने यह भी दिखाया है कि किस प्रकार मानव इतिहास में शासन के एक रूप ने दूसरे रूप का स्थान ग्रहण किया है। उसके अनुसार प्राचीन जातियों में शासन का सर्वप्रथम रूप एकतन्त्र था। राजा प्रेम और न्याय के साथ शासन करता और अपनी प्रजा की सेवा का भरसक प्रयत्न करता था। कालान्तर में उसके उत्तराधिकारी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य भूलने लगे और अपने राज्यों को व्यक्तिगत सम्पत्ति, जो मनमानी व्यय की जा सकती है, समझने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे प्रजा के हितैषी न रह गये, वे अत्याचारी हो गये और जनता भी उनसे घृणा करने लगी। स्वभावतः उनके विरुद्ध असन्तोष बढ़ता गया और कुछ योग्य व्यक्तियों या सामन्तों ने उनको सिंहासनच्युत करके शासन-सूत्र अपने हाथों में लेलिया। किन्तु कालक्रमानुसार उनके अधःपतन के कारण शासन ने अल्प-जन-तन्त्र का रूप ग्रहण किया क्योंकि वे अपने वर्गों का पक्षपात करने लग गये। इसका फल यह हुआ कि लोग उनकी ईमानदारी पर सन्देह करने लगे,

१ सीली (Seeley) इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल साइंस पृष्ठ ४५ (Introduction to Political Science p. 45.)

अतः उनके विरुद्ध असन्तोष बढ़ा और उपयुक्त अवसर पाकर जनता ने उनके विरुद्ध खड़े होकर बहुतन्त्र की स्थापना की। यह बहुतन्त्र सम्पूर्ण जाति के हित के लिये हुआ। इसके पश्चात् जनता के इस शासन का अधःपतन आरम्भ हुआ और असंयत-समूह-शासन (Mobrule) अथवा अज्ञानी शासन ने इसका स्थान लिया। इसके फलस्वरूप समाज को पूर्ण विनाश से बचाने के लिये एक व्यक्ति का उदय हुआ। इस प्रकार सार्वजनिक हित के लिये फिर एकतन्त्र की स्थापना हुई। अतः अरस्तू के अनुसार शासन के रूप चक्रवत् परिवर्तित होते हैं और एक पूर्ण चक्र के पश्चात् जनता को शान्ति और ऐक्य देने के लिये शासन के प्रथम रूप का आगमन होता है। यह परिवर्तन चक्र संक्षेप में इस प्रकार है :— (१) एकतन्त्र का पतन कठोर शासन के रूप में होता है, (२) कठोर शासन का स्थान कुलीन तन्त्र ग्रहण करता है, (३) कुलीन तन्त्र गिर कर अल्प-जन-तन्त्र हो जाता है, (४) अल्प जन-तन्त्र का स्थान बहुतन्त्र ग्रहण करता है, (५) बहुतन्त्र का पतन असंयत-समूह-शासन के रूप में होता है और (६) असंयत-समूह-शासन का स्थान फिर एकतन्त्र ग्रहण करता है।

पोलिबियस (POLYBIUS)

अरस्तू के बाद पोलिबियस ने भी शासन के विभिन्न रूपों पर विचार किया है। वह अरस्तू के वर्गीकरण को स्वीकार करता है परन्तु फिर कहता है कि हम को उसी शासन को सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए जिसमें तीनों अंगों—एक-तन्त्र, कुलीन-तन्त्र और प्रजातन्त्र—का समन्वय हो। यह शासन का मिश्रित रूप है। रोम के शासन विधान में (जिसका वह अनुशीलन कर रहा था) 'कांसल' (Consul) एकतन्त्रीय शक्ति का प्रति रूप था, 'सेनेट' (Senate) प्रकृति में कुलीन तन्त्रात्मक थी और 'पापुलस रोमेनस' रचना में प्रजा-तन्त्रात्मक थी। इसलिये पोलिबियस के अनुसार रोम राज्य की श्रेष्ठता का कारण उसके शासन का मिश्रित रूप था।

मैक्यावेली, बोदाँ और मॉन्टेस्क्यू
(MACHIAVELLI, BODIN AND MONTESQUIEU)

पोलिबियस के पश्चात् और बहुत से विचारक हुए। इन्होंने शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया किन्तु जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न था उनमें से किसी ने भी अरस्तू की परम्परा को नहीं छोड़ा। मैक्यावेली ने एकतन्त्र, प्रजातन्त्र तथा शासन के मिश्रित रूप पर और बोदाँ ने एकतन्त्र, कुलीन तन्त्र और प्रजा तन्त्र पर विचार किया है। उसने एक तन्त्र के तीन भेद किये हैं :—(१) राजकीय एक तन्त्र जिसमें राजा ईश्वरीय नियमों का पालन करता तथा जनता के हित के लिये शासन करता है। (२) स्वेच्छाचारी राजा का शासन जो मनमानी तथा शक्तिशाली किन्तु अन्यायी नहीं होता। (३) कठोर जिसमें राजा ईश्वरीय नियमों का उल्लंघनकरता तथा जनता पर अपनी सनक के अनुसार राज्य करता है। इसी प्रकार मान्टेस्क्यू ने शासनों को प्रजातन्त्र, एकतन्त्र तथा स्वेच्छाचारी रूप मे बाँटा है। प्रजातन्त्र शासन वे थे जिनमें सर्वोच्च-शक्ति जनता के हाथ में थी, एक-तन्त्र शासन वे

थे जिनमें राजा लोग स्थापित नियमानुसार शासन करते थे और स्वेच्छाचारी वे थे जिनमें राजा लोग मनमानी शासन करते थे।

आधुनिक युग में अरस्तू के वर्गीकरण की उपयुक्तता

अरस्तू के वर्गीकरण की यह सरल रीति (जिसको बहुत से लेखकों ने विभिन्न रूपों में अपनाया है) आधुनिक शासनों के वर्गीकरण के लिये उपयोगी नहीं है क्योंकि इस समय शासनों का रूप-विभाजन नैतिक आधार पर नहीं होता और शासन यन्त्र तथा संगठन इतने जटिल हो गये हैं कि आधुनिक राज्य की रचना के मूल लक्षण तथा तत्व इससे अछूते रह जाते हैं। इसलिये जैसा कि हम अभी आगे देखेंगे उनका वर्गीकरण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जायगा। परन्तु इस अवस्था में हम यह जानने का प्रयत्न कर सकते हैं कि अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक परिस्थितियों में उपयुक्त है अथवा नहीं।

सर्वप्रथम जब हम राज्यों[1] का वर्गीकरण 'संस्कृति राज्य' (Culture States) और 'युद्धराज्य'[2] (War States); 'वैधानिक शासन' (Constitutional Government) और 'स्वेच्छाचारी शासन' (Despotic Government) में करते हैं तब इन वर्गीकरणों में हम लक्ष्य सिद्धान्त का उपयोग करते हैं।

दूसरे, यद्यपि आधुनिककाल में कुलीन-तन्त्र शासन के रूपों में नहीं मिलते हैं किन्तु इंगलैंड की 'लार्ड सभा' (House of Lords) और जापान की 'पियर सभा' (House of Pears) प्राचीन कुलीन समाज के अविशिष्ट हैं। ये स्वतः शासन के रूप नहीं हैं।

तीसरे, जब पूँजीवादी और समाजवादी राज्यों पर विचार करते हैं तब इस वर्गीकरण में आधार, 'वर्ग' होता है।

चौथे, अरस्तू के अर्थ में अब भी आधुनिककाल में इब्न सऊद, जाहिर शाह सम्राट मिकाडो और सम्राट षष्ठम जार्ज के शासन एकतन्त्र के रूप में क्रमशः अरब, अफ़ग़ानिस्तान, जापान और इंगलैंड में वर्त्तमान हैं। इनमें से पहले दो साधारण एकतन्त्र हैं क्योंकि शासकों पर अधिक प्रतिबन्ध नहीं हैं किन्तु अन्तिम दो तो केवल नाम के लिये एक-तन्त्र हैं क्योंकि शासकों के अधिकार लिखित अथवा अलिखित क़ानूनों से सीमित हैं। वे उनके बाहर कुछ नहीं कर सकते।

पाँचवें, आजकल कठोर शासन अरस्तू के अर्थ में तो नहीं हैं किन्तु हाल ही में हमारे राजनीतिक जीवन में तानाशाहियो (Dictatorships) का उदय हुआ है

---

१. विद्यार्थियों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि राज्यों का वर्गीकरण कभी नहीं हो सकता क्योंकि उनमें समान अंग होते हैं। उनमें अन्तर केवल विस्तार या शासनों का होता है, इसलिये 'राज्यों का वर्गीकरण' कहना ग़लत है। इसका वास्तविक अर्थ शासनों का वर्गीकरण है।

२. प्लेटो ने महत्वाकांक्षी युद्धप्रिय राज्य को 'टिमोक्रैसी' (Timocracy) अथवा 'टिमार्की' (Timarhy) कहा है। देखिये फेरल (Farrell, An Introduction to Political Philosophy) पृष्ठ ३१

और वे किसी हद तक प्राचीन कठोर शासनों के समान हैं। यह सच है कि आधुनिक काल में भी प्रजातन्त्र हैं परन्तु अरस्तू के बुरे अर्थ में नहीं। उसके मतानुसार प्रजातन्त्र का अर्थ था असंयत समूह का और निर्धन वर्ग का शासन। इसीलिये यह शासन का निकृष्ट रूप समझा जाता है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं उसने सुशासन को बहुतन्त्र (Polity) का नाम दिया है। किन्तु आधुनिक अर्थ में प्रजातन्त्र वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण जनता अपनी भलाई के लिये अपने तरीक़े पर अपना शासन करे। इसलिये इसका प्रयोग अरस्तू के बहुतन्त्र के लिये किया गया है।

आधुनिक काल में अरस्तू के वर्गीकरण की अनुपयुक्तता

इन दृष्टान्तों के अतिरिक्त अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक काल में पूर्णतया अव्यवहार्य हैं :—

१—उसकी योजना में आधुनिक काल की भाँति शासन के मिश्रित रूप का स्थान नहीं था जैसे इंगलैण्ड के एक ही शासन-विधान में राजा, पार्लिमेन्ट और जनता, एक व्यक्ति, अल्प व्यक्तियों तथा बहुव्यक्तियों के शासनों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

२—उसने संघ शासनों (Federal Govts.) को स्थान नहीं दिया।

३—वह प्रतिनिधि—शासन पर विचार नहीं कर सका क्योंकि उसे केवल नगर-राज्य ही का ज्ञान था, आधुनिक राष्ट्र-राज्य अथवा विस्तृत प्रादेशिक राज्य का नहीं। अतः वह नहीं जानता था कि स्थानीय शासन और केन्द्रीय शासन क्या होते हैं।

४—वह यह भी नहीं सोच सका कि अलिखित शासन विधान भी हो सकता है और पूर्ववर्ती दृष्टान्त तथा प्रथाएँ भी उपयोगी हो सकती हैं।

५—उसकी योजना के अन्तर्गत ब्लन्टशली का विचार-तन्त्र (Ideocracy) या धर्म-तन्त्र (Theocracy) भी नहीं आ सकता क्योंकि यह किसी मानव-सत्ता को नहीं स्वीकार करता और सर्वोच्च-सत्ता को ईश्वर, देवता या विचार में निहित समझता है, इसमें शासन कार्य चलाने वाले शक्ति के स्वामी नहीं वरन् एक अदृश्य शासक के केवल दास और प्रतिनिधि हैं।

प्राचीन और नवीन प्रजातन्त्रों में अन्तर

शासनों के इस वर्गीकरण के अध्ययन के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीन और नवीन प्रजातन्त्रों में केवल नामों का ही अन्तर, जैसा कि हम अरस्तू के प्रजातन्त्र शब्द के प्रयोग में पाते हैं, नहीं है वरन् अन्य दूसरे महान अन्तर भी हैं :—

१—यूनानी प्रजातन्त्र प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र था किन्तु नवीन अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि प्रजातन्त्र है (Indirect or Representative Democracy)। यूनानी राज्य एक छोटा नगर-राज्य था और सारे नागरिक सार्वजनिक सभा में एकत्रित होकर शासन के कार्यों पर वाद-विवाद कर सकते थे। ब्राइस (Bryce) के शब्दों में यूनानी प्रजातन्त्र की प्रधान विशेषता यह थी कि 'किसी भी कार्य के लिये सर्वोच्च सत्ता नागरिक-मंडली

के हाथ में रहती थी। वह मंडली एक ही में लोक सभा, सरकार, कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका तथा न्याय समिति थी। कार्यकारिणी रूप में इनके बहुत से कर्त्तव्य थे— महत्वपूर्ण प्रश्नों को मत द्वारा सुलझाती थी; यह सेनापतियों तथा न्यायाधीशों को चुनती ही न थी वरन् सेनापतियों को आदेश देता, विदेशी राज्यों के राजदूतों से परामर्श करती, युद्ध की घोषणा करती, सुलह करती, सन्धि की पुष्टि करती धार्मिक अथवा नागरिक सार्वजनिक उत्सवों के लिये आज्ञा देती तथा सार्वजनिक आय-व्यय का ब्यौरा रखती थी। व्यवस्थापिका सभा के रूप में यह स्थायी क़ानून पास करती, अपने दूसरे सम्मेलन की अवधि तक के लिये महत्वपूर्ण समस्याओं से सम्बन्धित राज्य-नीति निर्धारित करती तथा सामान्य रूप से अथवा किसी विशेष धनिक वर्ग पर कर लगाती थी। यह संयुक्त रूप में अथवा भाग रूप में न्यायकारिणी समिति का भी कार्य करती थी। संयुक्त रूप में नागरिक मिलकर कार्य करते और भाग्य रूप में नागरिक मंडली कई समितियों में बँटी रहती थी जो बड़े रूप में पंच समुदायों के समान थीं। यह लगभग सभी प्रकार के मुकदमें—सिविल, फ़ौजदारी इत्यादि, सुनती तथा तय करती थी। यह नागरिक मंडली अपने संयुक्त रूप में अनियमित ढंग से भी, मुकदमे पर बिना विचार किये, राजकर्मचारियों को जिनसे यह अप्रसन्न हो जाती थी मृत्यु-दण्ड, अर्थ-दण्ड, तथा निर्वासन-दण्ड दे सकती थी और कभी-कभी देती भी थी[1]।'

किन्तु आधुनिक राज्य विस्तृत प्रादेशिक राज्य हैं और सब नागरिकों के लिये एक सार्वजनिक सभा के रूप में स्वयं एकत्रित होना असम्भव है। इसलिए प्रतिनिधि-प्रणाली अपनाई गई है जिसके द्वारा हम अपने व्यवस्थापक चुनते हैं और वे मिलकर शासन कार्य करते हैं। प्राचीनकाल के नागरिक स्वयं उपस्थित होकर सार्वजनिक सभा में मत दे सकते थे किन्तु वर्त्तमान काल का मतदाता केवल प्रतिनिधि के लिए मत देता है। वह स्वयं व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित नहीं हो सकता, वहाँ केवल निर्वाचित प्रतिनिधि ही बैठते तथा मत देते हैं[2]।

२—प्राचीन प्रजातन्त्रों में निर्वाचित न्यायाधीश भी अपने निर्वाचन के पश्चात् जनता का प्रतिनिधि नहीं समझा जाता था क्योंकि उसके कार्यकाल में उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती थी। 'वह अपने राज्य-कार्य की सीमा के भीतर तथा अपने कार्यकाल में "राज्य" था'' (विल्सन)। यदि वह चाहता तो सभी

---

१. ब्राइस-माडर्न डेमोक्रेसीज़ (Bryce—Modern Democracies Vol. I p. 192) जिल्द १ पृष्ठ १९२ तथा ब्लन्टशली-(Bluntschli The Theory of the State p. 460)

२—सर्वोत्तम प्रतिनिधियों के चुनाव की प्रणाली के विषय में ब्लन्ट्शली का कहना है कि 'प्राचीन प्रजातन्त्र में सभी नागरिक समान रूप से शासन-कार्य में भाग ले सकते थे, किन्तु नवीन प्रजातन्त्र, में उत्तम प्रतिनिधियों के चुनाव में 'उच्चता' अथवा 'कुलीनता' का भेद रक्खा जाता है। इसलिये प्रजातन्त्र का यह रूप ज्यादा अच्छा है क्योंकि राजसत्ता तो सम्पूर्ण नागरिकों के संयुक्त रूप के हाथों में रहती है किन्तु इसका उपयोग केवल सुयोग्य व्यक्ति अर्थात् जनता के प्रतिनिधि ही करते हैं।' The Theory of the State. pp. 480-82

क़ानूनों तथा प्रथाओं का उल्लंघन कर सकता था। जब उसका कार्यकाल समाप्त हो जाता और वह एक साधारण नागरिक रह जाता तभी उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई की जा सकती थी। उसके कार्य-काल में उस पर कोई अभियोग नहीं लगाया जा सकता था। आधुनिक विचार से जो व्यक्ति राजकीय पदों के लिए निर्वाचित होते हैं चाहे वे राष्ट्र-पति हों चाहे मन्त्री अथवा व्यवस्थापक सभी प्रतिनिधि हैं। कुछ राज्यों में 'सूचना', (Referendum) 'नेतृत्व' (Initiative) तथा 'वापसी' (Recall) की प्रणालियों की व्यवस्था की गई है। इनके द्वारा जनता अपने प्रतिनिधियों के कार्य की केवल आलोचना ही नहीं करती बल्कि उन पर नियन्त्रण भी रखती है और क़ानून पास कराने में नेतृत्व भी ग्रहण करती हैं।

३—प्राचीन प्रजातन्त्रों में मत देने का अधिकार सर्व-साधारण को नहीं प्राप्त था परन्तु आजकल सभी को प्राप्त है। हम इस विचार के अभ्यस्त से हो गये हैं कि २१ वर्ष के सभी स्त्री पुरुषों को मत देने और चुनाव में भाग लेने की स्वतन्त्रता है। प्राचीन प्रजातन्त्र में सभी लोग नगर-राज्य के नागरिक नहीं थे। कृषक, कारीगर नागरिक नहीं समझे जाते थे। दास[१] भी नागरिक नहीं थे, स्त्रियाँ भी शासनकार्य में भाग नहीं ले सकती थीं। नागरिक केवल वही थे जो मन्त्रणात्मक और न्याय सम्बन्धी राज्य के कार्यों में भाग लेते थे। इस प्रकार प्राचीन प्रजातन्त्र केवल नाम के लिये प्रजातन्त्र था। वह एक वर्ग राज्य अथवा एक कुलीन-तन्त्र था। अल्प संख्यक अपने स्वार्थ साधन के लिये शासन करता था और बहुसंख्यक केवल 'खेत जोतनेवालों और पानी खींचनेवालों' से अधिक कुछ नहीं थे। आधुनिक प्रजातन्त्र में दासता के लिए कोई स्थान नहीं है और स्त्री को भी पुरुष के समान अधिकार प्राप्त हैं। इस प्रकार अब नागरिकता अल्प संख्यकों का ही अधिकार नहीं है वरन् जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है बालिग स्त्री और पुरुषों का सार्वभौमिक अधिकार है।

१—प्रोफ़ेसर हर्नशा (Hearnshaw) ने यूनानी प्रजातन्त्र और आधुनिक प्रतिनिधि-प्रजातन्त्र की असमानताओं का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार किया है :—

(अ) आधुनिक प्रजातन्त्र अप्रत्यक्ष है और यूनानी प्रत्यक्ष था। वह केवल राज्य का प्रजा-तंत्रात्मक रूप नहीं वरन् शासन का भी प्रजातन्त्रात्मक रूप था।

(ब) उसके आधार दासता और शोषण थे इसलिये उसमें आधुनिक स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सम्बन्ध का अभाव था।

(स) उसमें राष्ट्रीयता की कमी थी, वह केवल छोटे-छोटे नगर प्रजातन्त्र-राज्यों तक ही सीमित थी। इसी कारण उनमें परस्पर शत्रुता रहती थी।

(द) उसमें एक भयानक वर्ग-संघर्ष आ गया था और वह धनिकों द्वारा निर्धनों के शोषण का एक साधन था।

—Democracy at the Cross ways p. 89

४—प्राचीनकाल में व्यक्ति राज्य का अनिवार्य अंग समझा जाता था। राज्य स्वयं एक लक्ष्य था और उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति केवल साधन। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं थे, केवल कर्त्तव्य ही थे। इस प्रकार प्राचीन प्रजातन्त्र मनुष्य के व्यक्तित्व की महत्ता को नहीं स्वीकार करता था। आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्य स्वयं एकलक्ष्य नहीं है किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति के लिये एक साधन है। आधुनिक विचार यह है कि व्यक्ति के हित के लिये ही राज्य और इसकी संस्थायें स्थापित की गई हैं। अतः मनुष्य का व्यक्तित्व राज्य के जीवन में लुप्त होने के लिये नहीं है। इसके विरुद्ध प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार अपने व्यक्तित्व को विकसित करना है इसलिये उसके कुछ न्यूनतम अधिकार होने चाहिए और राज्य को उनका सम्मान करना चाहिए। इस प्रकार नवीन नागरिकता राज्य की अन्धपूजा के स्थान में निर्माणशील और हितकर नागरिकता पर ज़ोर देती है। जहाँ प्राचीन प्रजातन्त्र कर्त्तव्य और क़ानून पर ज़ोर देता था वहाँ नवीन अधिकार और स्वतन्त्रता पर ज़ोर देता है। ब्लन्ट्शली के शब्दों में प्राचीन काल में मनुष्य राज्य से प्रारम्भ करते थे और आपस में समानरूप से राजनीतिक शासन को विभाजित करके सब की स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। अब वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से आरम्भ करते हैं और इस स्वतन्त्रता में से राज्य को कम से कम देने तथा जहाँ तक सम्भव है कम से कम उसकी आज्ञा मानने का प्रयत्न करते हैं[1]।'

५—उपरोक्त भेद के समान ही तथा उससे सम्बन्धित दूसरा भेद प्राचीन और नवीन समाज में है। प्राचीन समाज का आधार समष्टि थी इसलिये उसमें राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं माना गया। इसके अतिरिक्त, चूँकि जाति पहले आई इसलिये व्यक्ति की गणना समाज के बाहर नहीं की जा सकी। वह समाज में लुप्त हो गया। पुरानी समष्टिभावना के आगे प्रजातन्त्रात्मक विचार के जन्म ने एक प्रकार के व्यक्तिवाद पर ज़ोर दिया। व्यक्ति का महत्व धीरे-धीरे बढ़ता गया और आधुनिक काल में वह समाज की इकाई हो गया है। व्यक्ति की यह स्वतन्त्रता प्रजातन्त्रात्मक रूप में बिल्कुल नहीं है। अतः इस अर्थ में आधुनिक प्रजातन्त्र प्राचीन प्रजातन्त्र की अपेक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व और उसके मूल्य को अधिक स्वीकार करता है।

६—अन्त में जैसा कि हम पहले देख चुके हैं प्राचीन प्रजातन्त्र का मुख्य स्वरूप कुलीनतन्त्रात्मक था अर्थात् अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों पर शासन करते थे। आधुनिक प्रजातन्त्र में बहुसंख्यकों का महत्व है और उन्हीं का निर्णय सर्वमान्य होता है।

आधुनिक शासनों के वर्गीकरण के आधार

प्राचीन और नवीन प्रजातन्त्रों के अन्तरों का अध्ययन करने के पश्चात् उन विभिन्न आधारों को समझना सरल हो जाता है जिनके अनुसार आधुनिक शासनों का वर्गीकरण हुआ है। सर्वप्रथम उनका वर्गीकरण विधान के आधार पर हुआ है। वह इस प्रकार है :— लिखित विधान वाले (Written Constitutions) और अलिखित

१ ब्लन्ट्शली The Theory of State, p. 458.

विधान वाले, (Unwritten Constitutions) अपरिवर्तनशील (Rigid) और परिवर्त्तनशील (Flexible) विधान वाले। इसी प्रकार उनका विभाजन एकात्मक (Unitary) और संघात्मक (Federal), सभात्मक (Parliamentary) और अध्यक्षात्मक (Presidential) शासन में हुआ है। शासन के इन भेदों का असली अर्थ तथा इनके वास्तविक स्वरूपों का विशद वर्णन अलग-अलग अध्यायों में किया जायगा। यहाँ पर आधुनिक शासनों की केवल कार्य-प्रणाली और उनके उद्देश्यों में आने वाले नवीन परिवर्त्तनों का अध्ययन करेंगे। इस काल में तानाशाहियों के प्रादुर्भाव से ये परिवर्त्तन स्पष्ट हैं।

तानाशाहियाँ

सब जगह तानाशाह या तो सर्वोच्च सत्ता को अपने अधिकार में कर रहे हैं या उन्होंने कर लिया है और कठोरता से शासन कर रहे हैं। भारतवर्ष में भी जहाँ कोई राष्ट्रीय शासन नहीं है सब दलों में एक एक तानाशाह है। काँग्रेस में गाँधी जी का प्रभुत्व किसी तानाशाह की शक्ति से कम नहीं है, इसी प्रकार श्री मुहम्मद अली जिना का तानाशाही प्रभुत्व मुसलिम लीग में है। सन् १९३० के सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन में जब गाँधी जी और दूसरे नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया था तो प्रत्येक आगामी कांग्रेस सभापति अपने कार्य-संचालन के लिये एक तानाशाह नियुक्त कर देता था। इन बातों से यह स्पष्ट है कि हम लोग साधारणसमय में नहीं रह रहे हैं। आधुनिक समय संकट-काल है और प्रत्येक राष्ट्र के सामने यह आता है। इसलिये असाधारण परिस्थितियों को क़ाबू में करने के लिये असाधारण साधनों की आवश्यकता पड़ती है जैसे कि विषम रोग के लिये प्रबल औषध की आवश्यकता होती है। इस प्रकार तानाशाही का उदय आधुनिक काल में एक असाधारण घटना है और राम्जेम्यौर (Ramsay Muir) ने तो इसे 'शासन का एक नया रूप'[1] कह डाला है।

यूनान और रोम में तानाशाही

कहने का तात्पर्य यह नहीं कि यह आधुनिक काल ही की एक विशेष उपज है और इतिहास में कभी इसका अस्तित्व ही नहीं था। ऐसा कहना अपने इतिहास विषयक ज्ञान का अभाव प्रकट करना है। यूनानी सिनसिनेटस (Cincinnatus) को राज्य की रक्षा के लिये असीमित अधिकार प्रदान कर दिये गये थे और सब वैधानिक क़ैद स्थगित कर दी गई थीं। किन्तु जैसे ही संकट-काल समाप्त हुआ साधारण शासन की स्थापना कर दी गई और स्वीकृत नियमों के अनुसार राज्य कार्य चलने लगा। रोम में सूला (Sulla), जूलियस सीज़र (Julius Caeser) आगस्टस (Augustus) की तानाशाहियाँ थीं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मॉमसेन (Mommsen) ने रोम की इस तानाशाही को 'प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत एकतन्त्रात्मक संस्था' कहा है।

1. Ramsay Muir—Is Democrecy a Failure. p. 7.

इंगलैण्ड और फ्रांस में तानाशाही

इंगलैण्ड के इतिहास में हम यह जानते हैं कि किस प्रकार क्रामवेल (Cromwell) लार्ड संरक्षक (Lord Protector) बन गया था। इंगलैण्ड में यदि कभी आधुनिक अर्थ में तानाशाही थी तो वह क्रामवेल की तानाशाही थी। इसी प्रकार फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के समय में नैपोलियन नें फ्रांस को बरबादी से बचाया था। अल्फ्रड कॉबन (Alfred Cobban) ने उसे प्रथम आधुनिक तानाशाह कहा है जो ठीक ही है। कुछ समय बाद लुई नैपोलियन (Louis Napolean) भी फ्रांस का सम्राट चुना गया था। उसको 'छोटा नैपोलियन' (Little Napolean) की उपाधि दी गई थी क्योंकि वह प्रथम तानाशाह का एक 'संक्षिप्त संस्करण' (abridged edition) था।

बीसवीं शताब्दी में तानाशाही

बीसवीं शताब्दी में प्रथम विश्व युद्ध (१६१४-१८) के समय में शासनों के प्रधानों को तानाशाही रुख ग्रहण करना पड़ा था। इंगलैण्ड में लायड जार्ज (LLoyd George), फ्रांस में क्लीमेन्सू (Cleamenceau) और अमेरिका में उडरो विल्सन (Woodrow Wilson) ने क़रीब-क़रीब तानाशाही ढंग से राजनीतिक क्षेत्र में काम किया था। किन्तु सोवियत रूस में श्रमजीवी (Proletariat) तानाशाही की स्थापना हुई और लेनिन तानाशाह के रूप में शासन का प्रधान बना। उसकी मृत्यु के पश्चात् स्टेलिन ने रूस के राजनीतिक क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त की और ट्राट्स्की (Trotsky) के शब्दों में उसने 'सोवियत बोनापार्टशाही' (Soviet Bonapartism) स्थापित की। इस प्रकार वह एक नई भाँति का प्रथम तानाशाह हुआ जिसका निर्णय अलंघ्य है और वह यदि सम्राट नहीं तो प्रधान मन्त्री के समान तो है ही। किन्तु केवल रूस ही में तानाशाही शासन की स्थापना नहीं हुई। लगभग उसी समय टर्की में भी कमाल अतातुर्क ने तानाशाही को स्थापित किया। इन्हीं के समान पोलैण्ड, यूगोस्लाविया और स्पेन में भी तानाशाहियों का जन्म हुआ। किन्तु ये इटली में मुसोलिनी द्वारा तथा जर्मनी में एडॉल्फ़ हिटलर द्वारा स्थापित तानाशाहियों के सामने कुछ भी नहीं हैं। इन तानाशाहियों में केवल राजसत्ता ही जबरदस्ती हस्तगत नहीं कर ली गई है वरन् उनका एक दर्शन (Philosophy) भी है। आधुनिक काल की तीन तानाशाहियों में रूस की समाजवादी, जर्मनी की नात्सीवादी और इटली की फासिस्तवादी है। सन् १६४३ में मुसोलिनी के पतन के पश्चात् तो इटली की तानाशाही समाप्त हो गई है इसलिये अब केवल शेष दो ही तानाशाहियों का महत्व है। आशा है कि इनमें से जर्मनी की तानाशाही का भी अन्त होगा।

तानाशाही की परिभाषा

आधुनिक काल तक के तानाशाही के इस संक्षिप्त विकास के वर्णन के बाद हम इसकी वास्तविक परिभाषा और इसके आकस्मिक उदय और अनेकत्व के कारणों को निश्चित करेंगे। तानाशाही की संक्षिप्त परिभाषा 'राज्य के प्रधान द्वारा विधानातिरेक सत्ता को

हस्तगत कर लेना' है[1]। लेकिन अल्फ्रेड कॉबन इसे और अधिक स्पष्ट कर देते हैं जब वे कहते हैं कि तानाशाही 'एक ऐसे व्यक्ति का शासन है जो शासक के पद को उत्तराधिकार के नियम से नहीं किन्तु जबरदस्ती या सम्मति अथवा साधारणतः दोनों के सहयोग से प्राप्त करता है। पूर्ण राजसत्ता पर उसका अधिकार होना चाहिए अर्थात् सारे राजनीतिक बल का प्रस्फुटन उसकी इच्छा से होना चाहिए और इस बल का उसके कार्यक्षेत्र में असीमित होना आवश्यक है। इसका प्रयोग क़ानून द्वारा नहीं परन्तु मनमानी ढंग से घोषणा द्वारा होना चाहिए। अन्त में इसका कार्य-काल निश्चित नहीं होना चाहिए और न उसको किसी सत्ता के सामने उत्तरदायी होना चाहिए नहीं तो ऐसी रुकावटें उसके स्वतन्त्र शासन में बाधक होंगी[2]। इस परिभाषा के बाद तानाशाही के मुख्य सिद्धान्त समझे जा सकते हैं:—

१—यह एक व्यक्ति का शासन है।

२—इसका आधार जबरदस्ती, स्वीकृति अथवा दोनों एक साथ हैं।

३—इसके अधिकार अनियन्त्रित और असीमित हैं और यह किसी के सामने उत्तरदायी नहीं हैं।

४—इसमें शासन स्थापित क़ानूनों की अपेक्षा प्रायः घोषणाओं से चलता है।

५—इसकी अवधि अनिश्चित है।

ये सब सिद्धान्त पूर्णरूप से उपरोक्त तीनों तानाशाहियों में पाये जाते हैं। इसलिए ये सब तानाशाही-शासन के मूल सिद्धान्त हैं।

तानाशाहियों के उदय के कारण

लेकिन लोगों ने इतनी बड़ी सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में क्यों सौंप दी है? कैसे और क्यों इतनी अधिक शक्ति का सकेन्द्रण इस काल में सम्भव हो सका है? उत्तर है संकट काल, जिससे होकर आधुनिक संसार गुजर रहा है। जी० डी० यच० कोल और मारग्रेट कोल[3] (G. D. H. Cole and Margaret Cole) ने इन तानाशाहियों (विशेषकर फ़ासिस्तवादी के) के उदय के निम्न लिखित कारण दिये हैं—

१—'थोड़े ही समय से लगभग सभी देश चिन्तित हो गये हैं कि आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में संसार कुछ उन्नति नहीं कर सका है। चिन्ता और सन्देह की यह भावना सन् १९३० की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी से और भी बढ़ गई है।'

२—'बहुत से लोग सोचते आ रहे हैं कि वर्त्तमान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संगठन अपने कर्त्तव्य पालन में पूर्णतयः असमर्थ हैं। इसलिये लोकसभात्मक संस्थाओं का आकर्षण घटने लगा है और विशेषकर नवयुवक समाज की यह धारणा बढ़ती गई कि ये संस्थायें न तो अब महत्वपूर्ण कार्य कर सकतीं हैं और न महान् उद्देश्य के लिए प्रोत्साहन ही उत्पन्न कर सकती हैं।

1. Ford—Dictatorship in the Modern World, p. 27.
2. Alfred Cobban—Dictatorship, p. 26.
3. A Guide to Modern Politics, pp. 62-66.

३—'प्रत्येक उन्नतिशील व्यावसायिक देश में, विशेषकर औद्योगिक शिक्षा प्राप्त लोगों में यह धारणा फैली कि इतनी अधिक और लाभदायक सम्पत्ति 'मूर्खता से' नष्ट की जा रही है। इसलिये उन्होंने सोचा कि वर्त्तमान व्यवस्था अयोग्य है और उसका पुनर्निमाण आवश्यक है।'

४—'अभी तक जिनके अधिकार सुरक्षित थे वे बहुत भयभीत हो गये। इसलिये सम्पत्तिवालों ने चाहे, छोटे रहे हों चाहे बड़े, फ़ासिस्त तानाशाहियों का साथ दिया।'

५—साम्यवाद (Communism) का डर भी इधर बढ़ा है क्योंकि यह समझा जाता है कि यह विदेशी सिद्धान्त सारे संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा। इसलिये फ़ासिस्तवादी दर्शन ने, जिसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय है लोगों की एक बड़ी संख्या को अपनी ओर आकृष्ट किया है।

६—बढ़ती हुई राजनीतिक और आर्थिक गड़बड़ी को देख कर लोग इसके बचाव के साधन सोचने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब वे सैद्धान्तिक जोशीले भाषणों से अत्यधिक प्रभावित होकर विशेष प्रकार की पोशाक़ पहिन कर एक जुलूस के रूप में सड़कों से गुज़रते हैं तो अनुभव करते हैं कि बैठे रहने की अपेक्षा कुछ कर तो रहे हैं।

७—इस समय राष्ट्रीयता अपने चरम सीमा पर पहुँच चुकी है और समुदाय-प्रवृत्ति अदृष्टपूर्व सीमा तक जा चुकी है, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की एकता का भाव कमज़ोर होता जा रहा है और जातीय राष्ट्रीयता ज़ोर पकड़ गई है। यह राष्ट्रीय कट्टरता अपने उच्छृङ्खल रूप में फैल रही है।

कारणों का सारांश

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि अव्यवस्थित आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ तथा लोगों में बढ़ती हुई असुरक्षिता की भावना आधुनिक काल में तानाशाहियों के उदय के मूल कारण हैं।

तानाशाही के चार लक्षण

स्वर्गीय डाक्टर बेणी प्रसाद[1] ने आधुनिक तानाशाही के चार विशेष लक्षण बताये हैं।

१—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह युद्धप्रियता (militarism) का परिणाम है। तानाशाह मातृभूमि को बाहरी आक्रमण और हस्तक्षेप से बचाने वाले के रूप में आता है, वह प्रतिशोध की प्रतिमूर्ति तथा अग्रगामी नीति का प्रतिनिधि दिखाई देता है। राष्ट्रीय आत्म-सम्मान और महत्वाकांक्षाएँ उसी के झण्डे के नीचे सुरक्षित समझी जाती हैं। इनको प्राप्त करना तभी सम्भव समझा जाता है जब शक्ति का केन्द्रीकरण हो।

२—आन्तरिक कलह को कठोरता से दबाने के लिये तानाशाह तैयार रहता है और वह लोगों को ऐक्य भाव के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करता है। वह अपने को राष्ट्रीय एकता की प्रतिमूर्ति समझता है।

---

1. Dr. Beni Prasad—The Democretic Process p. p. 241-242.

३—तानाशाही एक सामाजिक सिद्धान्त अथवा सुधार-योजना का प्रतिनिधित्व करती है चाहे आप उसे सोवियतवाद (Sovietism) या फासिस्तवाद (Fascism) कहिये अथवा टर्की में प्राप्य केवल आधुनिकवाद (Modernism)। यह सिद्धान्त में 'हितवादी स्वेच्छाचारिता' (Enlightened Despotism) है। इसकी नींव संगठन के नवीन साधनों तथा प्रचार-कार्य से दृढ़ की जाती है और यह दोनों अन्त में कठोर सिद्धान्तों में परिणत हो जाते हैं। इस सैद्धान्तिक कठोरता ने असहिष्णुधर्म की कट्टरता और उसके अत्याचार का रूप धारण कर लिया है। यही नहीं इसमें पहले से ही राजनीतिक अनुसन्धान हो रहा है।

४—अन्त में आधुनिक तानाशाही ने शान्ति और सुरक्षा तथा स्वास्थ्य रक्षा, यातायात, आर्थिक उन्नति और शिक्षा के (भी) उत्तम साधनों द्वारा जन-साधारण की दशा सुधारने का प्रयत्न किया है।

संक्षेप में हमारे युग में तानाशाही 'युद्ध प्रियता, राष्ट्रीय जोश, सामाजिक असहिष्णुता तथा बौद्धिक दुर्बलता'[1] पर विकसित होती है और विकसित होती रहेगी यदि ये कारण दूर नहीं किये जाते हैं। यह तभी सम्भव है जब लोक-सभात्मक कार्य प्रणाली और शासन प्रबन्ध के ढाँचे में सुधार किया जाय।

तानाशाही और सभात्मक शासन में अन्तर

किन्तु लोक-सभात्मक संस्थाओं के प्रति आस्था के विकास और उनकी उन्नति को तानाशाहियाँ कभी नहीं सहन कर सकतीं क्योंकि वे प्रजातन्त्रात्मक राजनीतिक जीवन के पूर्णरूप से विरोधी हैं। उनके लिये लोक-सभात्मक प्रजातन्त्र छल और धोखा है, उनके लिये प्रजातन्त्र अयोग्यता का दूसरा नाम है। इस प्रकार सभी तानाशाहियाँ लोक-सभात्मक जीवन और कार्यक्रम को दमन करने में विश्वास करती हैं।

(१) जहाँ कहीं भी तानाशाही है वहाँ लोक सभा सर्वोच्च सत्ता के अथवा राजनीतिक संगठन के आवश्यक अंग के रूप में नहीं वरन् अनावश्यक और व्यर्थ संस्था के

---

१ राम्जेम्यौर ने अपनी Is Democracy a Failure? में तानाशाहियों के निम्नलिखित लक्षण दिये हैं:—

अ—सभी तानाशाहियों में दल-तानाशाही (Party Dictatorship) का समावेश रहता है चाहे वह दल 'बोलशेविक' हो या, 'फासिस्त' अथवा 'नात्सी'। ये 'जनता से अपील करती' हैं लेकिन यह सब ढोंग है क्यों कि सभी विरोधों का दमन किया जाता है और दण्ड दिया जाता है। इनका आधार निर्दय-बलप्रयोग है। इनका प्रथम कार्य सब जगह भाषण की, प्रेस की, तथा सभा करने की स्वतन्त्रताओं का अपहरण करना रहा है।

ब—राष्ट्रीय एकता की आड़ में इन्होंने सभी संस्थाओं को या तो खतम कर दिया है या पूर्णतयः अपने अधिकार में कर लिया है।

स—अधिकतर ये सब समाजवादी आन्दोलन से उत्पन्न हुई हैं।

द—इनका आधार चरम राष्ट्रीयता है।

रूप में है। यह दशा रूस, जर्मनी[1] और इटली में है। कोल महोदय के शब्दों में लोक-सभा कोच के पाँचवें पहिये के समान हो गई है, मोटरकार के चौथे पहिये के समान भी नहीं। शासन के क्रियात्मक रूप में इसका कोई स्थान नहीं है।'

(२) लोक-सभात्मक-शासन का आधार दो राजनीतिक दल हैं। बहुसंख्यक दल शासन ग्रहण करता है और अल्पसंख्यक विपक्षी का स्थान लेता है। किन्तु देश में कई राजनीतिक दलों के होते हुये भी तानाशाही का आधार एक राजनीतिक दल होता है, वह सारे विरोध को खतम कर देती है। इसमें खुले रूप से विरोधी दल न रह सकते हैं और न शासन में समान रूप से भाग ले सकते हैं। इसमें दल-शासन का प्रधान, परिचालक और जन-नीति का निर्धारक होता है। सोवियत रूस, फ़ासिस्त इटली और नात्सी जर्मनी में ऐसा ही है, वहाँ अल्प संख्यक दल राष्ट्रीय जीवन पर नियन्त्रण करता तथा उस पर प्रभुत्व स्थापित किये रहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ लोक-सभात्मक शासन बहुमत के सिद्धान्त पर आधारित है वहाँ तानाशाही अल्पमत[2] की शक्ति पर।

(३) लोक-सभात्मक संस्थाओं में भाषण और संगठन की स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र की अथवा स्वस्थ राजनीतिक जीवन का प्राण समझी जाती है। स्वतन्त्र आलोचना, जन-सम्मेलन तथा आलोचक प्रेस वास्तविक लोकमत (Public Opinion) के जन्म दाता समझे जाते हैं। तानाशाहियों में ये दुर्बलता, रोग और छूत को प्रेरणा देने वाले समझे जाते हैं इसलिये विरोधी प्रेस का अस्तित्व खतम कर दिया जाता है, स्वतंत्रता सीमित कर दी जाती है और जनता से आलोचना का अधिकार छीन लिया जाता है।

(४) लोक-सभात्मक शासन में नीति-निर्धारण निर्वाचन-प्रणाली द्वारा होता है जिसमें या तो सभी बालिग़ों को मताधिकार प्राप्त रहता है या सम्पत्ति वालों तक सीमित। तानाशाही में तो केवल राजभक्त सदस्यों की ही राय का बोलबाला रहता है और विरोधी मत की जड़ें या तो कमजोर कर दी जाती हैं या पूर्णतयः काट ही दी जाती हैं। इसीलिये तानाशाहियों में एक बड़े गुप्तचर दल की आवश्यकता रहती है।

१—डब्लु० आई० जेनिंग्स (W. I. Jennings) ने अपने 'ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन' (British Constitution) पृ० १६५—'६६ में मंत्रिपरिषद (Cabinet) प्रणाली और जर्मन तानाशाही की तुलना करते हुये लिखा है कि जर्मनी को युद्ध-काल में तीन लाभ हैं:—

(अ) प्रायः निर्णय का अधिकार एक अकेले व्यक्ति को है किन्तु जहाँ तक हमारा संबंध है यह अधिकार एक समिति को दिया गया है।

(ब) नेतृत्व के सिद्धान्त के अनुसार निर्णय शीघ्र होते हैं क्योंकि तानाशाही एक सेना के समान है जिसमें आज्ञा का पालन होना चाहिये न कि उस पर वादविवाद। मंत्रि-परिषद् में तो गत निर्णयों की भी आलोचना का अधिकार प्राप्त है।

(स) तानाशाह को लोक सभा की तो आवश्यकता होती नहीं इसलिये जनता को अपनी ओर करने का प्रश्न ही नहीं आता।

२—विद्यार्थी, जी० डी० एच० कोल और मारग्रेट कोल की 'ए गाइड टु मॉडर्न पॉलिटिक्स (पृ० ४१-४४) को पढ़कर लाभ उठा सकते हैं

(५) लोक-सभात्मक शासनों में, उन लोगों की इच्छा जानने के लिये, जिनके हित के लिये शासन की स्थापना होती है, प्रतिनिधित्व-प्रणाली काम में लाई जाती है। तानाशाहियों में ऐसी प्रणाली पर विश्वास नहीं किया जाता। उनमें राज-भक्त सदस्य समाज के सभी महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर दिये जाते हैं, वे प्रत्येक सामाजिक संगठन को, जो राज्य के सदस्यों के मत और विचार को प्रभावित कर सकता है, ऐसे नेतृत्व के नीचे लाने का प्रयत्न करते हैं जो प्रभुत्व सम्पन्न दल से सहानुभूति रखता है और जो इस प्रकार उसकी नीति को दृढ़ करने में सहायक हो सकता है।'

(६) अन्त में, लोक-सभात्मक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व का प्रश्न वैयक्तिक है किन्तु ऐसा नियम तानाशाही शासनों में नहीं है। रूस में प्रतिनिधित्व का आधार आर्थिक वर्ग है, और इटली में संगठित-संघ (Corporation) अर्थात् व्यवसाय-संघ रहा है। किसी भी दशा में इन देशों में प्रतिनिधित्व वैयक्तिक नहीं है, यह समुदाय-रूप में रहा है या है।

इस प्रकार आधुनिक तानाशाही और लोक-सभात्मक शासनों में यही मुख्य अन्तर हैं।

सोवियत और फ़ासिस्त तानाशाहियों में अन्तर

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन तानाशाहियों में आपस में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में रूस की तानाशाही और जर्मनी तथा इटली की तानाशाहियों के मध्य आकाश-पाताल के अन्तर हैं[१]। संक्षेप में वे निम्नलिखित हैं—

(१) सोवियत तानाशाही आर्थिक है किन्तु फ़ासिस्त अधिकतर राजनीतिक रही है।

(२) सोवियत तानाशाही स्थानीय पंचायतों (Soviets) के स्वराज से आरम्भ होती है, इसका क्रम नीचे से आरम्भ होकर ऊपर की ओर जाता है। फ़ासिस्त का सिद्धान्त 'ऊपर प्रभुत्व स्थापन और नीचे से आज्ञापालन' रहा है।

(३) जैसा कि वेब-दम्पत्ति का कहना है रूस ने एक नई सभ्यता को जन्म दिया है, उसने अपने भूत से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है किन्तु इटली के फ़ासिस्तवाद को रोम के सीज़रों (Caesars) से तथा इसके जर्मन-रूप को 'नार्डिक जाति (Nordic Race) की वर्ण-शुद्धता से प्रेरणा मिली है।

(४) सोवियत तानाशाही ने व्यक्तिगत-सम्पत्ति के अधिकार को खतम कर दिया है किन्तु फ़ासिस्त पूँजीवाद की अभिभावक और समर्थक रही है।

१—विशेष तुलना के लिये देखिये :—

जे० एच० जैक्सन—'दि पोस्ट वार वर्ल्ड' (पृ० १८८-१९०), जी० डी० एच० कोल तथा मारग्रेट कोल—'ए गाइड टु मार्डन पॉलिटिक्स (पृ० ७४-७६), 'दि इन्डियन जर्नल आफ़ पॉलिटिकल साइंस'—(अक्टूबर-दिसम्बर १९४०) मि० आकरॉयड का लेख 'एन इन्ट्रोडक्टरी नोट आन सरटेन माडर्न थियरीज़' (विशेषकर पृ० १४८-१५०)।

(५) रूस के साम्यवादियों (Communists) का आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय है, वे सारे संसार को अपने विचारों का अनुगामी बनाना चाहते हैं। किन्तु फ़ासिस्त तानाशाही राष्ट्रवादी रही है; उसने अन्तर्राष्ट्रीय एकता पर कभी सोचा भी नहीं; उसका आदर्श वाक्य 'राज्य के बाहर कुछ नहीं' रहा है।

(६) रूस में अब मध्यम वर्ग (Middle Class) का अस्तित्व नहीं रहा किन्तु इटली और जर्मनी में यह फ़ासिस्तवाद का मुख्य आधार रहा है। रूस श्रमजीवी-वर्ग के अधिकारों का संरक्षक रहा है और इटली तथा जर्मनी विशेषकर मध्यम वर्ग के।

(७) सोवियत तानाशाही विश्व-प्रेम के आदर्श को मानती है इसलिये सब मनुष्यों, जातियों तथा राष्ट्रों की समानता पर विश्वास करती है; यह निश्चिन्तता से सहयोग में रहते हुये स्वतन्त्र व्यक्तियों के समाज को स्थापित करने के लक्ष्य को स्वीकार करती है। परन्तु फ़ासिस्त तानाशाही राष्ट्रवादी और युद्धप्रिय होती है इसलिये इसने, जाति या राष्ट्र के सभी व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से उनके सम्पूर्ण जीवन पर नियंत्रण करने वाले राज्य (Totalitarian State) की स्थापना का प्रयत्न किया है। ऐसा राज्य सदैव अपनी सुव्यवस्थित शक्ति तथा अपनी श्रेष्ठता पर गर्व करता है; राष्ट्र के विकास को अपने बल का प्रकटीकरण समझता है, युद्ध की तैयारी, सैनिक शिक्षा और युद्ध के खतरों के हँसते हुये मुक़ाबिले को जीवन का एक नवीन मार्ग समझता है। फ़ासिस्त तानाशाही मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रों की 'अपरिवर्तनीय, हितकारी और लाभदायक असमानता' पर विश्वास करती रही है।

(८) फ़ासिस्त तानाशाही तीन सिद्धान्तों पर आधारित रही है, वे हैं राज्य, प्रभुत्व और नेता। रूस की साम्यवादी तानाशाही 'एक अस्थायी घटना' समझी जाती है और कम से कम सैद्धान्तिक रूप से कालान्तर में इसके राज्य के अन्त की सम्भावना की जाती है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा यह स्वतंत्र व्यक्तियों के एक सार्वभौमिक समाज की स्थापना में विश्वास करती है।

अब हम आधुनिक तानाशाहियों पर विचार करने के पश्चात् शासन के सनातन रूपों, एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र के गुण और दोषों का विवेचन कर सकते हैं।

१—एकतन्त्र

एकतन्त्र के गुण

एकतन्त्र के विषय में कहा जा सकता है कि यह शासन का सब से अधिक पुराना रूप है; इसके अपने निजी गुण हैं[१]।

(१) इसमें उद्देश्य की एकता, ऐक्य और शक्ति का समावेश रहता है क्योंकि विभक्त-सम्मति या विभक्त-उत्तरदायित्व इसके आधार नहीं माने गये हैं।

(२) इसमें शान्ति तथा शक्तिशाली राज्य-शासन की स्थापना बहुत सरल है क्योंकि यह सब राजा के व्यक्तित्व और बल पर निर्भर है।

---

१ विशेष अध्ययन के लिये देखिये ब्राइस-मार्डन डेमोक्रेसीज़ जिल्द १, पृ० ५८७।

(३) इसमें क़ानून पास करने, उनके पालन कराने और उनके तोड़ जाने पर दंड देने के अधिकार प्रायः राजा के हाथों में केन्द्रित रहते हैं इसलिये यह राज्य में लक्ष्य की एकता को भली भांति स्थापित किये रख सकता है।

(४) एकतन्त्रों में व्यक्तिगत और समाजगत हित अनुरूप होते हैं क्योंकि राजा के धन-शक्ति और ऐश्वर्य प्रजा ही की शक्ति और उन्नति पर निर्भर हैं। कोई भी राजा धनवान्, ऐश्वर्यशाली अथवा सुरक्षित नहीं रह सकता जब तक कि उसकी प्रजा ग़रीब और उपेक्षणीय रहेगी तथा आन्तरिक कलह और जीवन के अभावों के कारण शत्रुओं का मुक़ाबिला करने में असमर्थ रहेगी।

(५) राजा अपनी चतुरता और अपने उच्च विवेक से आसानी के साथ सर्वोत्तम सम्मति प्राप्त कर सकता है और उस पर निर्भर रह सकता है। किन्तु जन-सभायें साधारणतः भावनाओं से प्रेरित होती हैं और वह भी वक्ता के तर्कों के कारण।

(६) राजा को अधिकतर अपनी व्यक्तिगत धारणा से प्रेरणा मिलती है किन्तु जन-सभा को बहुतों की धारणाओं से। इसका अर्थ यह हुआ कि राजा के द्वारा एक सी तथा संगत नीति के अनुगमन की अधिक सम्भावना है किन्तु सभा की नीति परिवर्तनशील रहती है।

(७) राजा के प्रतिद्वन्द्वी हो सकते हैं किन्तु जहाँ तक उसका व्यक्तिगत सम्बन्ध है वह अपने से असहमत नहीं हो सकता। सभा में झगड़ों और ईर्ष्या-द्वेषों की सदैव भरमार रहती है और यदि समझौता न हो सका तो विरोध आपस में बढ़ता है और गृह-युद्ध की नौबत आ जाती है।

(८) विदेशी नीति के निर्णय में भी शक्तिशाली राजा संगत और एक-सी नीति का अनुसरण करता है किन्तु सभा या समिति में एक राय असम्भव है इसलिये निर्णय में सदैव देर लगती है।

(९) लाभदायक क़ानूनों से तथा प्रजा की भलाई के कार्यों से राजा अपने तथा अपने वंश के प्रति लोगों में श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि वह अपनी प्रजा के प्रति निष्पक्ष नीति का अनुसरण करता है और अन्याय रोकता है तो निःसन्देह उसकी सारी प्रजा उस पर विश्वास करने लग जाती है। एक सभा कभी ऐसी व्यक्तिगत राजभक्ति नहीं पा सकती।

एकतन्त्र के दोष

किन्तु उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त एक तन्त्र में दोष भी हैं।

(१) एक निर्बल राजा राज्य को बहुत हानि पहुँचा सकता है क्योंकि उसको कार्य की प्रेरणा अपनी सनक से मिलती है न कि आत्म-विचार और दृढ़ निश्चय से जो एक शक्तिशाली राजा की विशेषतायें हैं।

(२) शक्तिशाली राजा को भी एक सुयोग्य उत्तराधिकारी न मिलना सम्भव है। इसका प्रमाण हमें इतिहास देता है।

(३) बहुत से व्यक्तियों की एक सभा की अपेक्षा एक अकेले व्यक्ति के ग़लती करने की सम्भावना अधिक है क्योंकि सभा के सदस्य किसी भी समस्या पर वाद-विवाद, उसकी आलोचना तथा उसका पूर्णरूप से निरीक्षण करते हैं।

(४) राजा सदैव भयीभत रहता है और प्रायः सन्देह के कारण अपनी सुरक्षा के लिये दमन-नीति का प्रयोग करता है।

(५) शासन की और प्रणालियों की अपेक्षा एक-तन्त्र में युद्धों की सम्भावना अधिक रहती है क्योंकि इसमें प्रजा का ध्यान यश और विजय की ओर लगाना आवश्यक समझा जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की ग़लती सारे राज्य की बरबादी करा सकती है।

तानाशाही के गुण-दोष

साधारणतः यह समझा जाता है कि जिस प्रकार सेना की सफलता के लिये एक-से आज्ञापालन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार संकट-काल में राज्य के अस्तित्व के लिये शासन के एक से परिचालन की आवश्यकता होती है। इसी कारण से नाज़ुक-मौक़ों पर तानाशाही का जन्म होता है। तानाशाही भी एक प्रकार का एक-तन्त्र ही है, इसलिये इसके भी दोष-गुण एक-तन्त्र ही के समान हैं।

२—कुलीनतन्त्र

कुलीनतन्त्र के गुण

जैसा कि हम देख चुके हैं कुलीनतन्त्र कुछ सर्व श्रेष्ठ व्यक्तियों या उच्च वर्ग का शासन है। इसमें उच्चता या तो सम्पत्ति की देखी जाती है या वंश की। किन्तु प्लेटो बुद्धि की श्रेष्ठता चाहता है उसका विचार है कि राजा दार्शनिक हो। वर्तमान काल में कुलीनतन्त्र नहीं पाया जाता किन्तु इसमें भी कुछ अच्छाइयाँ हैं।

(१) यह अग्रगामी-नीति का समर्थक नहीं होता। यह कभी क्रान्तिकारी रुख नहीं ग्रहण करता। यह परिवर्तन धीरे-धीरे चाहता है इसलिये यह अनुदार (Conservative) होता है। परन्तु यह अनुदार रुख जनता के युक्ति-शून्य आवेगों को रोकने के लिये बहुत लाभदायक है।

(२) यह भूत से सम्बन्ध विच्छेद नहींकरता बल्कि पूर्वजों के प्राचीन शासनानुभवों के आधार पर वर्तमान परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुये अपनी संस्थाओं को सुधारने का प्रयत्न करता है; उनको पूर्णतया समाप्त कर देने में विश्वास नहीं करता। इस प्रकार इसमें शासन की एकसूत्रता रहती है क्योंकि प्राचीन प्रथायें तथा परिपाटियाँ तोड़ी नहीं जातीं।

(३) प्राचीन परिपाटी का अनुसरण करने से तथा नीति की एकसूत्रता के कारण शासन में दृढ़ता आ जाती है और अनावश्यक परिवर्तन शासन में नहीं आने पाते। फल यह होता है कि असुरक्षितता का डर नहीं रह जाता। इसीलिये मॉन्टेस्क्यू ने 'संयम' (Moderation) को कुलीनतन्त्र का मुख्य सिद्धान्त कहा है।

कुलीनतन्त्र के दोष

परन्तु यह एक विशेष वर्ग का शासन है इसलिये इसके गुण इसके दोषों के सामने छिप जाते हैं। यह बहुत जल्द केवल अपने वर्ग की भलाई चाहने वाले अल्प-जन-तन्त्र का रूपग्रहण कर लेता है इसलिये इसमें वही दोष हैं जो अल्प-जन-तन्त्र में हैं।

(१) यह एकांगी हो जाता है; अपने वर्ग के सिवाय शेष जनता की उपेक्षा करता है और इसके परिणाम स्वरूप अल्प-संख्यकों का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है।

(२) इसमें पैतृक अधिकार पर विशेष ज़ोर दिया जाता है क्योंकि वह सम्पत्तिगत या वंशगत विशेषाधिकारों पर ही तो आधारित है। इस प्रकार इसमें हृदय-संकीर्णता, स्वार्थपरता और प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा का बोलबाला रहता है।

(३) अपने वर्ग के विशेषाधिकारों को क़ायम रखने के लिये इसको कठोर शासन अपनाना पड़ता है जिससे देश में असन्तोष और विद्रोह की भावना फैलती है।

(४) इसकी अनुदारता और अपरिवर्तनशीलता इसको आगे बढ़ने से बिल्कुल रोक देती है और प्राचीन व्यवस्था को बनाये रखने के लिये यह हर प्रकार के साधनों से काम लेता है। इस प्रकार विकास या तो रुक जाता है या बड़ी कठिनता से होता है जिसके परिणाम स्वरूप विकासोन्मुख और ह्रासोन्मुख शक्तियों में एक द्वन्द छिड़ जाता है जो अवनति की ओर ले जाने वाला होता है।

(५) इसमें ठाट-बाट और प्रदर्शन को महत्व दिया जाता है किन्तु इसका अधिकतर भार जनता को ही उठाना पड़ता है। इस प्रकार यदि एक अर्थ में बाहिरी शान से राज्य को सम्मान प्राप्त होता है तो दूसरे अर्थ में व्यर्थ व्यय होता है।

आधुनिक काल में कुलीनतन्त्रात्मक आभास

हमारे वर्तमान समाज में भी बड़े-बड़े ज़मींदार, ताल्लुक़ेदार, मिल-मालिक, उच्चवंशीय सरदार, उच्चपदस्थ व्यक्ति, विद्वान और वैज्ञानिकों की कमी नहीं है। कुलीन-वर्ग का यह अवशेष हमारे सामाजिक और राजनीति जीवन में अब भी प्रभाव डालता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आज कुलीनतन्त्रात्मक शासन के न होते हुए भी कुलीन-वर्ग का समाज में एक सीमा तक अपना स्थान है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसीलिये सभात्मक शासन में द्वितीय सभा (Second Chamber) का होना आवश्यक समझा गया है। यह समझा जाता है कि यह अनुदारदल जन-सभा के युक्ति-शून्य आवेगों को रोक सकता है जिससे शासन-कार्य-संचालन में गम्भीरता, दृढ़ता और सावधानता आती है।

३—प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र की विभिन्न परिभाषायें

भिन्न-भिन्न लेखकों ने प्रजातन्त्र की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है। इसलिये इसकी सब परिभाषाओं को एकत्रित करने से इसका वास्तविक अर्थ समझ में आ जायगा।

१—यूनानियों ने विशेषतः प्लेटो और अरस्तू ने इसे बहुव्यक्तियों का शासन कहा है।

२—सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने कहा है कि 'प्रजातन्त्र, शासन का एक विशेष रूप है, केवल शासन का एक रूप'।

३—जेम्स रसल लोवेल (James Russel Lowell) का कथन है कि 'प्रजातन्त्र शासन-कार्य में एक प्रयोग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है'। उसने यह भी कहा है कि यह समाज का वह रूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने का अवसर प्राप्त है और जिसे वह जानता भी है।

४—सीली (Seeley) ने इसकी परिभाषा दी है कि प्रजातन्त्र वह 'शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का हाथ है'।

५—डाइसी (Dicey) मानता है कि यह शासन का एक रूप है जिसमें 'शासक-समुदाय पूरे राष्ट्र का एक काफ़ी बड़ा भाग होता है'।

६—लिंकन (Lincoln) लिखता है कि 'प्रजातन्त्र वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण जनता अपनी भलाई के लिये अपने ढंग पर अपना शासन-प्रबन्ध करे'।

७—ए० बी० हाल (A. B. Hall) ने लिखा है कि प्रजातन्त्र 'राजनीतिक संगठन का वह रूप है जिसमें लोकमत का प्रभुत्व हो'।

८—सिसिल चेस्टरटन (Cecil Chesterton) का विचार है कि 'प्रजातन्त्र का वास्तविक रूप एक शासन है जो जनता के 'सामूहिक विचार' के अनुसार होता है चाहे जिन साधनों से इसकी स्थापना की जाय। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि जनता ही शासन का निर्माण करे और कार्य संचालन करे। स्वेच्छाचारी का भी शासन हो सकता है और यदि वह सामूहिक विचार के अनुसार है तो वह वास्तविक प्रजातन्त्र होगा'।

९—प्रो० सी० एफ़० स्ट्रांग (Prof. C. F. Strong) कहते हैं कि 'प्रजातंत्र का यह अर्थ है कि शासन जनता की सक्रिय अनुमति पर आधारित रहेगा अर्थात् जनता को अपनी सम्मति तथा अपने मतभेद को निर्वाचन, भाषण और प्रेस आदि द्वारा प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी। इस प्रकार प्रजातन्त्र, शासन का वह रूप हुआ जिसमें राजनीतिक समाज के अधिक से अधिक व्यक्ति शासन-प्रबन्ध में अपने प्रतिनिधियों के द्वारा भाग ले सकें जिससे सरकार अपने कार्यों के लिये बहुमत के सामने उत्तरदायी रहे। प्रतिनिधि-प्रजातंत्र से जनसत्ता, जिस पर वैधानिक शासन आधारित होना चाहिये, सुरक्षित हो जाती है।

१०—ब्राइस (Bryce) का कथन है कि 'प्रजातंत्र शब्द का प्रयोग हेरोडोटस के समय से शासन के उस रूप के लिये होता आ रहा है जिसमें क़ानून के द्वारा शासनाधिकार किसी विशेष वर्ग या वर्गों को नहीं अपितु समाज के सभी सदस्यों को प्राप्त हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उन समाजों में, जिनमें निर्वाचन प्रणाली प्रचलित है, शासन का अधिकार बहुसंख्यक दल को होता है क्योंकि उस समाज की इच्छा को समझना कठिन है जो एकमत नहीं है...। यूनानी एक-तंत्र के सामने प्रजातंत्र को बुरा समझते थे क्यों

कि पहला एक व्यक्ति का शासन है और दूसरा बहुव्यक्तियों का। दूसरे वे अल्प-जन-तंत्र के सामने भी प्रजातन्त्र को बुरा समझते थे क्योंकि अल्प-जन-तन्त्र कुछ ऐसे व्यक्तियों का शासन है जिनको अपनी सम्पत्ति या अपने वंश के कारण विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रजातंत्र शासन का वह रूप समझा जाने लगा जिसमें बहुसंख्यक गरीबों का आधिपत्य हो और अल्पसंख्यक धनिक वर्ग को अलग दिखाने के लिये प्रजा या डिमोस (Demos) का प्रयोग सम्पूर्ण जनता के अर्थ में नहीं किया गया। आधुनिक काल में भी 'वर्गों' (Classes) से भेद दिखाने के लिये इसका प्रयोग 'साधारण जनता' (Masses) के लिये किया जाता है। किन्तु प्रजातंत्र का प्रयोग 'वर्गों' और 'साधारण जनता' के मिश्रित समाज में बहुमत के शासन के लिये होना अधिक अच्छा है, इससे कम या अधिक नहीं।[१]

प्रजातंत्र की परिभाषा की क्लिष्टता

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रजातंत्र का वास्तविक अर्थ बताना सरल कार्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को फ्रीमेन (Freeman) का यह कथन सत्य जान पड़ेगा कि 'यह जानना कठिन है कि आज के लोग प्रजातंत्र का क्या अर्थ लगाते हैं।' एक ओर तो सीली की परिभाषा है जो प्राचीन अथवा अर्वाचीन किसी भी शासन के लिये लागू नहीं हो सकती क्योंकि कोई ऐसा शासन नहीं स्थापित हुआ जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता रहा हो। दूसरी ओर सिसिल चेस्टरटन की परिभाषा है। वह तानाशाही को भी प्रजातंत्र सिद्ध करता है। मेन और लोवेल तो इसे शासन का केवल एकरूप मानते हैं। इनके उत्तर में डिवी (Dewey) लिखता है कि 'प्रजातंत्र को शासन का केवल एकरूप कहना घर को ईंटों और गारे का भौमित ढाँचा अथवा चर्च को धर्मोपदेशक के चबूतरे और मीनारों से युक्त भवन, कहने के समान है।' बार्कर का कथन है कि 'प्रजातंत्र उन लोगों का बौद्धिक दृष्टिकोण है जो इस पर विश्वास करते हैं'।

प्रजातंत्र का शाब्दिक अर्थ

प्रजातंत्र को समझने के लिये उसके शाब्दिक अर्थ को जानना आवश्यक है। डेमोक्रेसी (Democracy) जिसके लिये प्रजातंत्र शब्द का प्रयोग किया गया है, का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है। डिमोस (Demos या प्रजा) का अर्थ है जनता और क्रेटिया (Cratia या तंत्र) का प्रभुत्व। इस प्रकार प्रजातंत्र का उस शासन से तात्पर्य है जिसमें जनता का प्रभुत्व सर्वोच्च हो।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र

यदि जनता एक सार्वजनिक सभा के रूप में एकत्रित होकर शासन-संचालन करती है तो ऐसे प्रबन्ध को निर्दोष या प्रत्यक्ष (Direct) प्रजातन्त्र कहते हैं। यह केवल छोटे-छोटे नगर राज्यों में सम्भव है। किन्तु यदि लोग प्रादेशिक राज्यों में संगठित हैं तो उनको एक स्थान पर स्वयं उपस्थित होना असम्भव हो जाता है। इसलिये निर्वाचित प्रतिनिधि शासन कार्य संभालते हैं। जनता के ऐसे शासन को अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि (Indirect or Representative) प्रजातन्त्र कहते हैं। हॉबहाउस

---

१ ब्राइस 'माडर्न डेमोक्रसीज़' जिल्द १ पृ० २१

(Hobhouse) का कथन है कि प्रजातन्त्र के अर्थ के अन्तर्गत दो वस्तुओं का, जो सिद्धान्त में एक हैं, समावेश है या हो सकता है। वे हैं (१) समाज के सार्वजनिक जीवन में प्रत्येक साधारण नागरिक का स्वयं भाग लेना और (२) सर्वोच्च जन-सत्ता। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का चलन यूनानी नगर राज्यों में था और वर्तमान काल में भी स्विटजरलैंड के कुछ प्रान्तों (Cantons) में भी यह प्रचलित है। आधुनिक काल में प्रतिनिधि-प्रजातन्त्र सार्वभौमिक हो गया है। केवल द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय में यह ह्रासोन्मुख प्रतीत हुआ था क्योंकि बहुत से प्रजातन्त्र राज्यों को जर्मनी, इटली और जापान जैसे फ़ासिस्त राज्यों ने पददलित कर डाला था। किन्तु फिर इसको सुअवसर प्राप्त हुआ है और फ्रांस तथा बहुत से देश मुक्त हो गये हैं। इटली स्वयं प्रजातन्त्रात्मक हो गया है और इसका फ़ासिस्तवादी शासन हमेशा के लिये समाप्त हुआ जान पड़ता है। जर्मनी भी संयुक्त राष्ट्रों की शक्ति के सामने सर झुकाये खड़ा है।

प्रजातन्त्र का वास्तविक अर्थ

प्रजातन्त्र का वास्तविक अर्थ समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि इसका आधार जन-शक्ति है, इसका अर्थ केवल जनता की सम्मति तथा उसका आज्ञापालन नहीं हो सकता। इसका अर्थ जनता का शासन कार्य में सक्रिय भाग लेना है। यह उसके आत्म निर्णय का समर्थक है। प्रजातन्त्र की माँग है कि जनता जीवन-नाटक की उदासीन दर्शिका न होकर उसकी संचालिका और निर्मात्री हो। प्रजातन्त्र का आधार जनता की इच्छा है जो सम्पूर्ण समाज के हित को अपनी दृष्टि में रखती है। यह सत्य है, (जैसा कि ऊपर ब्राइस ने इंगित किया है) कि यदि किसी विशेष समस्या पर जनता एकमत न हो तो व्यवहार रूप में जनता की राय बहुमत से ही जानी जा सकती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह बहुसंख्यकों के कठोर शासन का रूप होगा या अल्प संख्यकों की उपेक्षा की जायगी और वे सदैव विरोधी दल के रूप में रहेंगे। यदि ऐसा हुआ तो प्रजातन्त्र सार्व- जनिक शासन न रह कर स्वार्थी अल्प-जन-तन्त्र में परिवर्तित हो जायगा और लोकमत का अस्तित्व उठ जायगा। इसके विषय में लोवेल का कहना है कि 'प्रजातन्त्र में लोकमत को चालक-शक्ति बनने के लिये वास्तव में सार्वजनीन होना चाहिये और इसके लिये बहुमत ही पर्याप्त नहीं है और न मतैक्य की कोई आवश्यकता है। किन्तु मत ऐसा होना चाहिये कि अल्प-संख्यक इसको अपना न मानते हुये भी स्वीकार कर सकें, डर से नहीं वरन् विश्वास से। यदि प्रजातन्त्र पूर्ण है तो अल्प-संख्यक द्वारा आत्म-समर्पण खुशी से होगा'।

प्रजातंत्र की अन्तिम परिभाषा

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी अन्य लेखक की अपेक्षा ब्राइस और प्रो० स्ट्रांग के दृष्टिकोण प्रजातंत्र के वास्तविक अर्थ के अधिक निकट है। इसलिये उपरोक्त व्याख्या को हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते है कि प्रजातंत्र एक शासन है जिसमें जन-शक्ति सर्वोच्च है; लोग सम्पूर्ण समाज के हित के लिये सक्रिय भाग लेते हैं

तथा बहुसंख्यकों और अल्प-संख्यकों के मतभेद सार्वजनिक हित के लिये मिटा दिये जाते हैं।

इस प्रकार प्रजातंत्र की परिभाषा देने के पश्चात् हम उसके गुणों तथा दोषों का विवेचन कर सकते हैं। प्रो० हार्नशा, ब्राइस इत्यादि लेखकों ने निम्नलिखित गुण बताये हैं।

प्रजातंत्र के गुण

१—यह दिलचस्पी' को प्रोत्साहन देता है। सर हेनरी मेन ने भी, जो जनता के शासन के विरोधी हैं, स्वीकार किया है कि 'यह बहुत ही दिलचस्प है।'

२—इससे 'जानकारी' बढ़ती है। फाग्येट (Faguet) जो इसे 'अयोग्यता का मत' समझता है, कहता है कि 'यह जानना आवश्यक है कि जनता क्या सोचती है? क्या समझती है? क्या सहन करती है? क्या चाहती है? किससे डरती है? और इसकी आकांक्षायें क्या हैं? यह सब केवल जनता ही से जाना जा सकता है।'

३—यह जनता की इच्छाओं का प्रतिबिम्ब है इसलिये इसमें शासन के और रूपों की अपेक्षा क्रान्ति का भय कम है और राज्य के आज्ञा पालन की अधिक सम्भावना है।

४—जनता में अपने प्रभुत्व की भावना, देश-प्रेम को जाग्रत करती है जो साधारणत: किसी और शासन में सम्भव नहीं। इसलिये इसका आधार देश-प्रेम होने के कारण सुशासन सुरक्षित रहेगा।

५—और शासन प्रणालियों की अपेक्षा इसमें राष्ट्रीय जीवन का उच्चतम विकास होता है। प्रजातंत्र का शिक्षात्मक उपयोगिता के प्रति मिल (Mill) का विचार था कि सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने से नागरिकों का हार्दिक और बौद्धिक विकास होता है। और शासन प्रणालियां नागरिक को संकीर्ण हृदय, स्वार्थी, सहानुभूतिरहित, विवेक-शून्य और निर्बल कर देती हैं। मिल के अनुसार प्रजातंत्र दो कारणों से शासन के और रूपों से श्रेष्ठ है:—(१) व्यक्ति के अधिकारों और हितों की रक्षा तभी हो सकती है जब वह समर्थ हो और (२) व्यक्तिगत शक्तियों के प्रयत्नों की अपेक्षा सार्वजनिक उन्नति चरम शिखर को पहुँचती और व्यापक हो जाती है।

६—और शासनों की अपेक्षा प्रजातंत्र में व्यक्ति के विकास के लिये अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। इसलिये कभी-कभी यह धार्मिक जोश की दृष्टि से स्वयं एक लक्ष्य समझा जाता है किसी लक्ष्य का साधन नहीं। डिवी का कहना है कि 'कम से कम सिद्धान्त में प्रजातंत्र सामाजिक संगठन के आदर्श के निकट है जिसमें व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक अंग हैं.... ..व्यक्ति के अन्दर समाज के ही समान कार्य-प्रणाली है.....वह समाज का संक्षिप्त संस्करण है......अतः प्रत्येक नागरिक स्वतंत्र है और इस सिद्धान्त की समानता केवल इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण—प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का पुजारी है—ही कर सकता है।' प्रो० जिमर्न (Prof. Zimmern) भी ऐसे ही उत्तम ढंग से कहते हैं कि 'मनुष्य की आत्मा का सृजन विवेक, न्याय, उत्तरदायित्व, नेतृत्व तथा संयम के लिये हुआ है, जब स्वतंत्रता के बिना मनुष्य अपने आधे व्यक्तित्व से

शून्य हो जाता है तो पूर्ण प्रजातंत्र, वह आदर्श जिसकी प्राप्ति के लिये सामाजिक और राजनीतिक प्रयत्न होते हैं, स्वतंत्र स्त्री-पुरुषों का एक समाज है जिसमें वे एक ही समय परस्पर एक दूसरे के शासक और शासित होते हैं और जानते हुये सब के हित के लिये अपनी सेवा अर्पण करते हैं।'

७—प्रो० गार्नर (Garner) का विचार है कि 'सार्वजनिक निर्वाचन, नियन्त्रण तथा उत्तरदायित्व में दूसरी प्रणाली की अपेक्षा शासन-कार्य अधिक उत्तमता से संचालित होता है'।

८—लार्ड ब्राइस का कथन है कि 'व्यक्ति के राजनीतिक मताधिकार ने उसके व्यक्तित्व की महत्ता बढ़ा दी है और उसको कर्त्तव्य का महान् पाठ पढ़ा कर उसके नैतिक दृष्टिकोण को ऊँचे उठा दिया है'। इस अर्थ में प्रजातन्त्र का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता है जिसके ऊपर शासन-यन्त्र चलता है।

९—प्रजातन्त्र व्यक्ति के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व पर आधारित है और वह इस प्रकार नागरिकता का स्थायी शिक्षण केन्द्र है।

१०—प्रजातन्त्र में समानता का स्थान है। जैसा कि डाइसी का कथन है 'इसमें अधिकारों की सर्वव्यापक समानता मिलती है और विचारों तथा भावनाओं की पूर्त्ति के लिये समान अवसर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह कलह, द्वेष और पक्षपात का विरोधी है जो असमानता और पक्षपात के ही परिणाम हैं।

प्रजातन्त्र के दोष

इन गुणों के होते हुए भी प्रजातन्त्र में कमजोरियों और दोषों की कमी नहीं है, उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। टैलीराँ (Talleyrand) ने इसको दुराचारियों का कुलीन-तन्त्र कहा है। कारलाइल (Carlyle) ने जनसाधारण को 'एक महान समूह कहा है जिसमें अधिकतर मूर्ख ही होते हैं जो स्वयं अपना शासन चलाने में असमर्थ तथा अपने शासक चुनने के अयोग्य होते हैं'। आधुनिक काल में एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) का कथन है कि प्रजातन्त्र के पक्ष के तर्क पाँच मिनट में टुकड़े-टुकड़े किये जा सकते हैं। लूडोविसी (Ludovicy) का तो यहाँ तक कहना है कि 'यह मृत्यु को लाने वाला है'। किन्तु प्रजातन्त्र-शासन के विषय में ये सब कथन तर्कपूर्ण नहीं हैं। ये घृणा और पक्षपातपूर्ण अतिशयोक्तियाँ हैं। दोष तो सभी शासन प्रणालियों में होते हैं इसलिये प्रजातन्त्र भी उनसे मुक्त नहीं।

प्रो० हर्नशा द्वारा प्रदर्शित प्रजातन्त्र के संक्षेप में दोष

प्रो० हर्नशा[1] ने संक्षेप में इसकी निम्नलिखित कमजोरियाँ दिखलाई हैं :—

१—प्रजातन्त्र सुशासन स्थापित करने में असमर्थ रहा है क्योंकि समाज के उत्तम मस्तिष्क वालों को इसमें कार्य करने का अवसर ही नहीं दिया गया। कार्लाइल ने इसे इसलिये बुरा कहा है कि 'शान्त, बुद्धिमान व्यक्तियों की इसमें उपेक्षा की गई है और उनके स्थान में "व्यर्थ लम्बी बातें हाँकने वालों और धूर्त्तों को बिठाया गया है।

१—हर्नशा—'Democracy at the Cross Ways' पृष्ठ ५३-६८।

इसीलिये हार्टमैन (Hartmann) ने इसको 'चीखनेवालों, बकवादियों, ऊँची-ऊँची बात करने वालों, चापलूसों और चाटुकारों का स्वर्ग' कहा है। गोडकिन (Godkin) के विचार में प्रजातन्त्र का अर्थ है 'नेता तथा अध्यक्ष के हाथों सत्ता सौंप देना'। जे० एस० ब्लैकी (J. S. Blackie) अपने तर्क में इससे भी अधिक बढ़ जाता है। वह कहता है कि 'उच्चाभिलाषी नेता के उत्तेजक शब्दों से, चापलूसों की चिकनी-चुपड़ी बातों से तथा राजनीतिक क्षेत्र में नाम कमाने वालों के जाल से मुक्त होकर भी जनता के पास उत्तम व्यक्ति को अपना नेता बनाने की न शक्ति रह जाती है और न इच्छा'। इन आलोचनाओं से स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र में शासन-सूत्र औसत बुद्धि वालों के हाथ में रहता है।

२—प्रजातंत्र एक उत्तम दृढ़ नीति की नींव डालने में असफल रहा है और इस बात का प्रमाण निम्नलिखित दोषों से मिल जायगा।

(क) इसमें स्थायी उदासीनता रहती है।

(ख) इसकी सब से बड़ी कमज़ोरी अज्ञान है।

(ग) इसका संचालन नौसिखिये राजनीतिज्ञ करते हैं जिनमें कार्य करने की कोई विशेष दक्षता होती ही नहीं।

(घ) इसको आदर्शवाद और कल्पनिक सिद्धान्तों से प्रेरणा मिलती है। इसके अतिरिक्त यह जोशीले शब्दों और नारों का शिकार हो गया है।

(ङ) यह वीर-पूजा का समर्थक है और नेता जनसाधारण को पूज्य मूर्त्ति हो जाता है। यह मूर्त्ति-पूजा जनता को आकृष्ट करनेवाली शक्ति पर अवलम्बित है।

(च) यह परिवर्त्तनशील है अतः अस्थायी है और इसकी शक्ति का अन्दाजा भी नहीं लगाया जा सकता। इसमें वे व्यक्ति जो आज आदर पाते हैं, दूसरे दिन घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं और भुला दिये जाते हैं।

(छ) इसमें अनुत्तरदायित्व की अधिकता रहती है।

(ज) लोग आचारभ्रष्ट हो जाते हैं, यहाँ तक कि लज्जारहित कुकृत्य करने से नहीं हिचकते। उनके सामने स्वेच्छाचारी शासकों का भी सर झुक जाता है।

(झ) लोगों में सम्मान भावना का अन्त हो जाता है। परम्पराओं की उपेक्षा की जाती है, माननीय प्रथायें तोड़ दी जाती हैं; राष्ट्रीय-जीवन का क्रम टूट जाता है और सार्वजनिक जीवन का अंग-विच्छेद कर दिया जाता है।

(ञ) यदि लोग इस प्रकार अपने क्रान्तिकारी विचारों को प्रकट कर सकते हैं तो इसके विपरीत कभी-कभी वे अनुदारता की सीमा भी पार कर जाते हैं और उनको पुराने मार्ग से हटाना असम्भव हो जाता है।

(ट) इसमें असहिष्णुता और असंयम की भी बहुत सम्भावना रहती है और बहुसंख्यकों के कठोर शासन का अन्त नहीं मिलता।

(ठ) अन्त में, लोगों को सर्वसाधारण के स्थायी हित से नहीं, किन्तु अपने अस्थायी तथा स्वार्थपूर्ण हितों से प्रेरणा मिलती है। इसलिये इस अर्थ में वे अदूरदर्शी कहे जा सकते हैं।

३—शासन-कार्य में अधिक हस्तक्षेप होने के कारण प्रजातन्त्र अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सका। प्रजातन्त्र व्यवस्थापकों को विशेष आदेश देने, प्रत्यक्ष रूप से शासन विभागों पर नियन्त्रण रखने तथा निर्णीत मुक़दमों पर फिर से विचार करने पर जोर देता है और देता रहा है। 'पार्लिमेंट' के सदस्य और 'कांग्रेसमेन', स्थानीय समितियों के आदेशों, निर्वाचकों के प्रार्थना-पत्रों, चुनाव के लिये कोशिश करने वाले गुप्त दलों के विरोधों, जवाबदेही की माँगों तथा चारों ओर से इसी प्रकार के और हस्तक्षेपों से परेशान रहते हैं और कार्य-संचालन ठीक से नहीं कर पाते। इसका फल यह होता है कि शासन अयोग्य तथा कमजोर हो जाता है, राज्य में लक़वा-सा मार जाता है। व्यवस्थापिका भयभीत रहती है और किसी प्रकार काल-यापन करने वाली हो जाती है, कार्यकारिणी कमजोर हो जाती है और न्याय-विभाग अन्यायी हो जाता है इसक परिणाम होता है पूरी बरबादी।

४—प्रजातन्त्र में अवज्ञा और अराजकता की भी सम्भावना रहती है। मंत्री या और पदाधिकारी जनता को अप्रसन्न रख कर नहीं टिक सकते; सदैव आगामी निर्वाचन पर अपनी दृष्टि में रखते हैं इसलिये अधिक कड़े नियन्त्रण से काम नहीं लेते। परिणाम इस ढीलेपन का यह होता है कि प्रजातन्त्र छिन्न-भिन्न हो जाता है।

५—प्रजातन्त्र के अन्दर नैतिक पतन भी एक बड़ी मात्रा में वर्तमान रहता है। इसमें रिश्वत, दबाव तथा और इसी प्रकार के नीच साधनों से वोट प्राप्त किये जाते हैं।

इस प्रकार प्रजातन्त्र दृढ़ उद्देश्य शून्य, ईर्ष्यालु, विद्वेषी, साहसहीन, परिवर्त्तन शील, अपूर्ण, शिथिल, अदूरदर्शी, अनिश्चित लक्ष्य वाला, ग़लती पर ग़लती करने वाला तथा संकोचशील होता है। इन्हीं दोषों के कारण लोग इसे बुरा कहते हैं।

प्रो० गार्नर द्वारा-प्रदर्शित प्रजातन्त्र के संक्षेप में दोष

हर्नेशा के अतिरिक्त और लेखकों ने भी प्रजातन्त्र का दोष-दिग्दर्शन किया है। प्रो० गार्नर[1] ने संक्षेप में निम्नलिखित दोष दिखाये हैं।

१—प्रजातन्त्र में 'गुण' के स्थान में 'संख्या' को अधिक महत्ता दी गई है। जनता का बहुमत चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो उसका निर्णय क़ानून बन जाता है चाहे अल्पमत की राय बौद्धिक, नैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से हितकर हो।

२—इसका 'समानता का सिद्धान्त' ग़लत है। इसमें शासन-प्रबन्ध में भाग लेने की योग्यता के सम्बन्ध में, सब व्यक्ति आपस में समान समझे जाते हैं। अतः राजकर्मचारियों के चुनाव और राज्य की नीति निर्धारित करने में सब के मतों का एक-सा मूल्य रहता है। इस प्रकार इसमें विशेष ज्ञान और दक्षता की उपेक्षा होती है। इसीलिये इसको नासमझ, अज्ञ तथा अयोग्यों का शासन कहा गया है। प्रो० बार्थलेमी (Prof. Barthelemy) कहते हैं कि 'प्रजातन्त्र की कमजोरी, शासकों की अयोग्यता, राजकार्य में नौसिखियेपन की अधिकता, तथा प्रत्येक व्यक्ति की शासन में भाग लेने की योग्यता

---

१ जे० डब्ल्यू० गार्नर—'पोलिटिकल साइंस एन्ड गवर्मेंट' पृ० ३९३-४०३ (J. W. Garner—Political Science and Government)

के कारण है'। इनके विचार से और शासनों की अपेक्षा प्रजातन्त्र में तो विशेषज्ञों की और अधिक आवश्यकता रहती है, किन्तु मिलते हैं इसमें सब से कम विशेषज्ञ। जेम्स स्टीफेन (James Stephen) का भी यही मत था। उसका कहना था कि शासन-प्रबन्ध के लिये श्रेष्ठ योग्यता और विशेष ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

३—जैसा कि प्रो० ए० जी० सेजविक (Prof. Sedgwick) ने कहा है प्रजातंत्र में ऐसे साधनों का अभाव है जिनसे राजकर्मचारी उत्तरदायी बनाये जा सकें। यह कार्य पदाधिकारियों के सार्वजनिक निर्वाचन, उनके अल्प कार्य-काल तथा पदावर्तन से नहीं हो सकता। हाँ उनके कार्य-काल की सुरक्षिता से सफलता मिल सकती है किन्तु दीर्घ कार्य-काल अप्रजातन्त्रात्मक समझा जाता है।

४—प्रजातन्त्र हानिकर भी समझा जाता है, समाज को विकासोन्मुख करने के स्थान में पतनोन्मुख कर देता है। ट्रीट्स्की (Trietzschke) ने तो यहाँ तक कहा है कि शिक्षा, साहित्य और कला की उन्नति के प्रति यह या तो उदासीन है या उसका विरोधी है।

६—सर हेनरी मेन ने इसको कमजोर माना है। उनका विश्वास है कि 'यह भविष्य में अधिक काल तक नहीं ठहर सकता क्योंकि राजनीतिक शक्ति टुकड़ों में बँट जायगी और प्रत्येक व्यक्ति को एक छुद्र भाग मिलेगा'। उनका यह भी विचार है कि इसमें बौद्धिक विकास अथवा वैज्ञानिक उन्नति नहीं हो सकती क्योंकि यह अस्थायी तथा मूर्खों और अज्ञानियों का शासन होगा।

७—लेकी (Lecky) ने कहा है कि यह महादरिद्रों, मूर्खों और अयोग्यों का शासन है इसलिये यह और अधिक भयानक है। इसने प्रकृति के नियम—योग्यता थोड़े व्यक्तियों में होती है अधिक में नहीं—की उपेक्षा की है। यह स्वतन्त्रता का विरोधी है क्योंकि जन-समूह एक शक्तिशाली नेता के पीछे चलने के लिये सर्वदा तैयार रहता है और उन थोड़े से व्यक्तियों का अनुगमन नहीं करता जो सदैव से स्वतन्त्रता के समर्थक रहे हैं।

फ़ागे (FAGUET) की आलोचना

प्रोफ़ेसर हर्नशा और गार्नर की आलोचनाओं के संक्षिप्त विवरण के पश्चात् हम 'फ़ान्सीसी लेखक फ़ागे के विचारों को भी देख सकते हैं। उसने प्रजातन्त्र को अयोग्यता का मत' (Cult of incompetence) कहा है। चूँकि उसका दृष्टिकोण अत्यधिक मनोरंजक है इसलिये उसके विचारों पर हम विस्तारपूर्वक ध्यान देंगे।

१—विशेषज्ञता

फ़ागे प्रारम्भ में ही कहता है कि प्रत्येक कारखाने तथा व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिये योग्य तथा कौशलसम्पन्न कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। प्राणीजगत में भी भिन्न-भिन्न अंग अपने विशेष कार्यों ही को करते हैं। इसलिये समाज के शासन में भी क़ानून के बनाने तथा फ़ैसला करने के कार्य को विशेषज्ञों ही को दिया

जाना चाहिए। समाज को प्रकृति के ढंग पर चलना चाहिए जिसकी कार्य-प विशेषज्ञता है। वही समाज अधिक से अधिक उन्नति कर सकेगा जहाँ पूर्ण श्रम-विभाजन है और प्रत्येक कार्य का सम्पादन विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है। इस दशा में जन-समूह से यह कहना कि 'तुम्हारा काम शासन करना, क़ानून पास करना और उन्हें लागू करना है' उचित न होगा।

किन्तु आधुनिक राज्यों में जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं करती। वह निर्वाचकों को चुनती है और ये व्यवस्थापकों का चुनाव करते हैं। इस प्रकार जनता के ऊपर दो 'कुलीन-तन्त्रों' की स्थापना हो जाती है लेकिन इनका चुनाव शासन-कार्य की योग्यता पर निभर नहीं। जन-समूह ने यहाँ उस विश्वविद्यालय की भाँति काम किया है जहाँ के अधिकारीवर्ग अयोग्य होते हुए भी दूसरों को योग्यता की उपाधि देते हैं। प्रजातन्त्र राज्यों की जनता, दीक्षा देते हुए कहती है, 'क़ानून के पंडित, समाज-सुधारक और राजनीतिज्ञ तुम्हें मैं दीक्षित करती हूँ।' इसलिये जनता द्वारा किये गये चुनाव में नैतिक और बौद्धिक अयोग्यों का समावेश रहता है क्योंकि जन-समूह कभी भी सोच नहीं सकता, वह केवल मनोभावनाओं से प्रेरित होता है। यह नेतृत्व नहीं कर सकता इसका काम केवल अनुगामी रहना है। इसलिये वही लोग चुनाव में सफल होते हैं जो जन समूह से मिलते-जुलते हों, और जो उसकी भावनाओं और पक्षपातों को दिल में रखते हों। इस भाँति जनता के नेता तथा प्रतिनिधि सर्वोत्तम जानकारी प्राप्त करने के साधन हो सकते हैं परन्तु व्यवस्थापक के रूप में 'घृणा के योग्य' होते हैं।

इसके अतिरिक्त, प्रजातन्त्र कृतिम समानता के पक्ष में प्राकृतिक असमानता की उपेक्षा करता है। बुद्धि, साहस और योग्यता के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं। प्रतिनिधियों का काम केवल जनता के विचारों को सब के सामने रखना और उनका समर्थन करना मात्रा रह जाता है। वे अपने निर्वाचकों के विरुद्ध नहीं जा सकते। न उनका स्वयं का व्यक्तित्व ही रह जाता है और न वे स्वतन्त्र ही रह जाते हैं। इसीलिये प्रजातन्त्र राजनीतिज्ञों के हाथ का खेल हो जाता है। लेकिन ये राजनीतिज्ञ होते हैं कौन ? ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी अपनी कोई राय नहीं होती और न कोई स्वयं का मत होता है। मामूली शिक्षा प्राप्त और साधारण बुद्धि के, इन लोगों की भावनायें जनता की भावनायें होती हैं और इनका एकमात्र पेशा राजनीति है। अगर इन्हें इस पेशे से वञ्चित कर दिया जाय तो ये भूखों मरने लगेंगे। अतः शिक्षित मनुष्य घृणा के पात्र होते हैं क्योंकि वे स्वतन्त्र साबित होंगे न कि पराधीन जिन्हें प्रजातन्त्र पसन्द्र कर सके। इसीलिये प्रजातन्त्र अक्षमता पर जी रही है। फ़ागे के विचार से शासन-कार्य एक कला है किन्तु दुर्भाग्यवश इसका सम्पादन ऐसे लोगों के हाथ में है जो न कला ही जानते हैं और न विज्ञान ही।

इस भाँति प्रजातन्त्र में राज्यकार्यों में शरण न पाकर योग्यता ग़ैर-सरकारी और व्यक्तिगत कम्पनियों का सहारा लेती है। यहाँ डाक्टरों और इञ्जीनियरों की नियुक्ति उनके राजनीतिक विचारों पर नहीं की जाती। किन्तु सभी सामाजिक कार्यों का राष्ट्रीयकरण यहाँ भी अयोग्यता को ला देगा और किसी क्षेत्र में भी मनुष्य स्वाधीन न रह सकेगा।

२—व्यवस्थापक और क़ानून

फ़ागे के मतानुसार व्यवस्थापकों को प्रत्येक प्रमुख राष्ट्र के क़ानूनों का ज्ञान होना चाहिए। उनके लिये आवश्यक है कि वे अपने राष्ट्र के अन्तर्गत रहने वाले मनुष्यों के स्वभाव, प्रकृति, मनोभावना, आवेग, विचार और प्रथाओं तथा परम्परागत रीति-रिवाजों से पूर्णतया भिज्ञ हों। उनको संयत हृदय और मस्तिष्क रखना चाहिए। वे ऐसे व्यक्ति हों जो लोगों के प्रेम, भय, श्रद्धा तथा घृणा के बड़े पात्र न हों, तभी वे न्यायपूर्ण और पक्षपात-रहित हो सकते हैं। किन्तु प्रजातन्त्र में इन सभी गुणों का अभाव रहता है और व्यवस्थापकों में अयोग्यता और अज्ञानता का आदर किया जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप हमारे क़ानून केवल विशेष परिस्थितियों तथा समय के लिये होते हैं। व्यवस्थापिका रूपी कारखानों में केवल नवीनतम सामयिक वस्तुओं का उत्पादन होता है।

३—कार्यकारिणा

केवल इतना ही नहीं, अयोग्यता शेष कार्यों में भी पाई जाती है। कार्यकारिणी का सारा काम नौसिखियों द्वारा किया जाता है। प्रजातन्त्र की कार्यकारिणी में शिक्षा-मन्त्री, वकील होता है, उद्योग-व्यवसाय का मन्त्री लेखक, युद्ध-मन्त्री डाक्टर और जल सेना-विभाग पत्रकार के सिपुर्द किया जाता है। इस भाँति यह कथन कि 'आवश्यकता गणितज्ञ की थी और पद नृत्यकला प्रवीण को दिया गया' किसी दूसरे शासन की अपेक्षा प्रजातन्त्र पर ही लागू होता है।

४—न्याय-विभाग

इसी प्रकार की अयोग्यता न्याय-विभाग में भी पाई जाती है। न्यायाधीश स्वतन्त्र न होकर एक दूषित प्रणाली का अंगमात्र होता है। न्याय के लिये आवश्यक है कि न्यायकारी अपने आत्मा के आदेशों को मान सके। किन्तु यह नैतिक स्वतन्त्रता चुने हुए न्यायाधीशों में कैसे पाई जा सकती है? "पंच भी उस अनभ्यस्त नट की तरह है जो अपने ही जालों में फँस जाता है।"

५—प्रथायें और सदाचार

प्रजातन्त्रात्मक राज्य में अयोग्यता संक्रामक रोग साबित हुई है। इसका प्रभाव केवल राज्य और उसके शासन-विधान पर ही न पड़ कर जाति की समस्त प्रथाओं तथा सदाचारों पर पड़ा है। हमारी कमी और कमज़ोरी की जड़ भ्रान्त धारणा, भूल और योग्यता की उपेक्षा है। अगर शिष्य अध्यापकों का निरादर करते हैं, नवयुवक वृद्धों की उपेक्षा करते हैं, पत्नियाँ पतियों का आदर नहीं करतीं, अनागरिक नागरिकों की श्रद्धा नहीं करते, अभियुक्त न्यायाधीशों से नहीं डरते और लड़के माता-पिता की उपेक्षा करते हैं तो इसका कारण यह है कि योग्यता का सिद्धान्त लुप्त हो गया है। आज हमारे राज्य का ही आधार योग्यता की उपेक्षा और अयोग्यता का आदर है। हम आज अयोग्य के नेतृत्व और शासन की उत्कट अभिलाषा करते हैं।

६—परिवार और स्कूल

इसके बाद फ़ागे महोदय का ध्यान प्रजातन्त्र में पारिवारिक जीवन की अयोग्यता और सामाजिक सम्बन्धों की अनुपयुक्तता की तरफ़ जाता है। परिवार में सर्व प्रथम् नवीनता का आभास हमें स्त्रियों द्वारा समानता की माँग में दिखाई देता है। इसके परिणाम-स्वरूप स्त्रियाँ पुरुषों का अनादर करने लगी हैं। स्त्रियाँ बुद्धि में पुरुषों के बराबर हो सकती हैं किन्तु पारिवारिक जीवन में श्रम-विभाजन दोनों की योग्यया पर आधारित है। इसका कुछ ख्याल न करके लड़कों को शिक्षा दी जाती है कि वे अपने माता-पिता की उपेक्षा करें। उनको परिवार और वंशागत परम्पराओं से अलग कर दिया जाता है। सुकरात के विचारों का समर्थन करते हुए फ़ागे महोदय कहते हैं कि "प्रजातन्त्र नीम हकीम और बच्चों को चुराने वाला है। यह बच्चे को परिवार से अलग कर उसे इतनी दूर ले जाता है जहाँ उसे अपने घर के आदमियों को देखने का अवसर न मिले। वहाँ उसे विचित्र भाषायें पढ़ाई जाती हैं, व्यायाम कराये जाते हैं और उसके मुँह को रंग कर अजीब वस्त्र पहना दिये जाते हैं। उसे नट के काम में निपुण कर दिया जाता है और इस योग्य बना दिया जाता है कि वह समाज में आकर अपने फ़न से लोगों को बहला सके"। इस प्रकार बच्चे अध्यापकों को 'निकम्मा' और 'प्राचीन' समझने लगते हैं किन्तु वास्तव में अध्यापक स्वयं 'प्रजातन्त्र के गुलाम' हैं। शिक्षा ने भी एक दूसरा ही रूप धारण कर लिया है। ज्यादा जोर प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं पर दिया जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप लोग बग़ैर समझे-बूझे पुस्तकीय ज्ञान को रट लेते हैं और चोजों के महत्व को न समझते हुए भी परीक्षाओं में सफल होते हैं। इस प्रकार आज की परीक्षा भी योग्यता को समाज से वहिष्कृत करती है और फ़ागे गर्व के साथ स्वोकार करता है कि वह किसी भी प्रतियोगितात्मक परीक्षा में सफल नहीं हो सका। इसो भांति वृद्ध-जन भी घृणा के पात्र हो जाते हैं क्योंकि वे पराम्पराओं के समर्थक होते हैं जिन्हें प्रजातन्त्र घृणा की दृष्टि से देखता है। यहाँ श्रद्धा और अनुराग को स्थान न मिलकर भक्ति और आवेग का बोल-बाला रहता है क्योंकि जन-समूह कभी भी श्रद्धा नहीं कर सकता यह केवल आवेग, जोश और धर्मान्धता के आगे ही आत्म-समर्पण करता है।

७—चरित्र

अयोग्यता ने समाज के चरित्र को भी प्रभावित किया है। नम्रता के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं क्योंकि दूसरों का आदर करना असमानता का द्योतक प्रतीत होता है और इसलिये अप्रजातन्त्रात्मक है। इसीलिये अशिष्टता प्रजातन्त्रात्मक है। विभिन्न पेशों में भी ज्ञान और योग्यता की अपेक्षा चालाकी और मक्कारी का आदर होता है और अध्यापक परीक्षक ही रहना चाहता है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि परीक्षा लेते हुए वह दूसरों की समालोचना करता है और पढ़ाते वक्त उसी की समालोचना होती है।

संक्षेप में, प्रजातन्त्र ऊपर से नीचे तक अयोग्यता और अज्ञानता से पूर्ण है। इसलिये फ़ाग्येट 'कुलान-तन्त्र' का समर्थन करता है किन्तु यह 'कुलोन-तन्त्र' धन और

वंश का न होकर योग्यता का होना चाहिए। इसमें राज्य के ऐसे लोगों को रहना चाहिए जो चरित्र और योग्यता में सर्वश्रेष्ठ हों।

इन्हीं उपरोक्त कारणों से फ़ागे 'प्रजातन्त्र को अयोग्यता का मत' कहता है[1]।

प्रजातन्त्र की असफलता पर राम्ज़ेम्योर के विचार

हमारे समय में भी प्रजातन्त्र के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया का जन्म हुआ है। विभिन्न देशों में तानाशाही की उन्नति इस प्रतिक्रिया का जीता-जागता प्रमाण है। इससे स्पष्ट है कि लोगों का विश्वास प्रजातन्त्र से हटता जा रहा है। अतः हमारे लिये आवश्यक हो जाता है कि हम उन आधुनिक लेखकों के विचारों पर ध्यान दें जिन्होंने प्रजातन्त्र की असफलता के कारणों को समझने का प्रयत्न किया है। उनमें से राम्ज़े-म्योर एक हैं जिनके विचार निम्नलिखित हैं[2]:—

प्रथम विश्व युद्ध (१९१४-१८) में मित्र राष्ट्रों का उद्देश्य 'संसार को प्रजातन्त्र के लिये सुरक्षित' बनाना था; किन्तु आज इंगलैण्ड में ही पार्लिमेंट की प्रतिष्ठा और सत्ता को बड़ी शीघ्रता से गुप्तरूप से क्षति पहुँच रही है। प्रजातन्त्र के विरोधियों की आलोचना तीन रूप ग्रहण करती है।

१—प्रजातन्त्र में वाद-विवाद की प्रणाली सुस्त और अनिश्चित रहती है जिससे तत्पर और निश्चित निर्णय असम्भव हो जाते हैं। इसलिये यह अच्छा होगा कि सारी

---

[1] संयुक्त-अमेरिकन-राज्य, फ़ान्स, स्विटज़रलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड में प्राप्य प्रजातन्त्र के व्यावहारिक दोषों के लिये ब्राइस की Modern Democracies, Vol. II p. 248, देखिये।

अपनी 'अमेरिकन कामनवेल्थ' (American Common-Wealth) जिल्द २ पृष्ठ ६०३-६२१ में वह कहता है कि प्लेटो से लेकर आज तक के राजनीतिक दार्शनिकों ने प्रजातन्त्र के निम्नलिखित दोष दिखाये हैं :—

१—विशेष अवसरों पर कमज़ोरी। तत्परता तथा निर्णय से काम न कर सकना।

२—अस्थिरता और चंचलता, मतों का प्रायः बदलना और राज्य कार्य तथा अफ़सरों की अत्यधिक तबदीली।

३—आन्तरिक मतभेद, सत्ता का उल्लंघन, हिंसा के प्रयोग का अराजकता और सैनिक-शासन में समाप्त होना।

४—समानता की इच्छा और महानता को न बर्दाश्त करना।

५—बहु-संख्यकों का अल्प-संख्यकों पर अन्याय।

६—नवीनता से अत्यधिक प्रेम जिसके फलस्वरूप पुरानी संस्थाओं और प्रथाओं को बदलने की उत्कट अभिलाषा।

७—अज्ञानता और मूर्खता, जिससे वक्ता लोग जनता को उकसा कर और आवेग में लाकर आसानी से धोखा दे सकते हैं और उन्हें बेवक़ूफ़ बनाते हैं।

ब्राइस की सविस्तर टिप्पणी के लिये कृपया पुस्तक ही को देखिये।

[2] राम्ज़ेम्योर लिखित Is Democracy a Failure? पृष्ठ १४-२०।

शक्ति को एक योग्य पुरुष के हाथों सौंप दी जाय जो अपने निर्णय द्वारा कार्य करने से घबड़ाये नहीं। उसे अधकचरे राजनीतिज्ञों की आलोचना से भी स्वतन्त्र होना चाहिये। इस पर राम्जेम्यार का प्रश्न है कि क्या यह योग्य पुरुष अनुत्तरदायी अधिकार से दूषित नहीं हो जायगा ? क्या इससे लोगों की आत्म-निर्भरता और मौलिकता का ह्रास नहीं होगा ? क्या निरंकुश शासक के अच्छे शासन की अपेक्षा लोगों द्वारा दोषपूर्ण शासन, जिसमें वे उत्तरदायित्व सीख सकें अच्छा नहीं है ? निरंकुश शासक का उत्तराधिकारी कैसा होगा यह कौन जान सकता है ?

२—असंख्य निर्वाचक समुदाय उन जटिल प्रश्नों को, जिन पर उनकी राय ली जाती है कदापि नहीं समझ सकता। इस दलील में कुछ तथ्य मालूम पड़ता है किन्तु यह कैसे माना जा सकता है कि हिंसा के बल पर राज्यशक्ति प्राप्त करने वाला बलोन्मत्त राजनीतिक दल (जैसा कि हमने आधुनिक तानाशाहियों में देखा है) अधिक बुद्धिमान होगा ? वास्तव में प्रजातन्त्र का अभिप्राय है कि निर्वाचक सर्वश्रेष्ठ और योग्य प्रतिनिधियों को चुनें। अगर वे ऐसा नहीं कर पाते तो दोष प्रजातन्त्र के यन्त्र का है, प्रजातन्त्र का नहीं।

३—दलबन्दी से राष्ट्र की एकता का ह्रास होता है। किन्तु इसके निवारण के लिये एक दल द्वारा शासन का समर्थन किया गया है। क्या दवा मर्ज से भी बुरी नहीं है ?

इस प्रकार राम्जे म्योर यह कहकर समाप्त करते हैं कि इन सब दोषों के होते हुए भी आदेश द्वारा शासन की अपेक्षा वादविवाद द्वारा शासन कहीं ज्यादा अच्छा है। परिवर्तन प्रजातन्त्र के यन्त्र में होना चाहिए। प्रजातन्त्र के विरुद्ध प्रचलित असन्तोष के मुख्य तीन कारण हैं :—

१—अच्छे नेतृत्व का अभाव—साधारण योग्यता के लोग अधिकार प्राप्त कर लेते हैं ;

२—निर्वाचकों की सार्वजनिक विषयों के प्रति उदासीनता और

३—पार्लिमेंटरी वादविवाद की स्पष्ट असारता (क्योंकि प्रायः सभी लोक-सभायें गपबाजी के स्थान मात्र हो गई हैं)।

किन्तु ये सभी असन्तोष प्रजातन्त्र के विरुद्ध नहीं हैं; ये केवल प्रजातन्त्र को संस्थाओं के विरुद्ध है जिनके द्वारा प्रजातन्त्र व्यावहारिक रूप में आता है। पार्लिमेंट के कार्यों का संगठन इस प्रकार होता है कि योग्य पुरुष उधर आकर्षित ही नहीं होते। इसलिये प्रजातन्त्र में योग्य पुरुषों का अभाव नहीं है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि चुनाव के नियम तथा कार्यप्रणाली को इस भाँति बनाया जाय कि योग्य पुरुष इसकी ओर आकर्षित हों। दलों के अधिष्ठाता भी प्रायः ऐसे आदमियों को चाहते हैं जो स्वतन्त्र विचार के न होकर उन्हीं की हाँ में हाँ मिलायें। इसीलिये सारी खराबी है। निर्वाचकों में भी उत्तरदायित्व की भावना जागृत करने के लिये चुनाव प्रणाली में परिवर्तन होना चाहिए। इसी तरह वादविवाद द्वारा शासन को वास्तविक बनाने के लिये

कुछ परिवर्तन आवश्यक हैं। विशेषकर राम्जे म्योर[1] चुनाव प्रणाली में ऐसा परिवर्तन चाहते हैं जिससे (१) वे लोग जो देश में अल्प संख्या में हैं पार्लिमेंट में बहुसंख्यक होकर अपनी तानाशाही न स्थापित कर सकें; (२) प्रतिष्ठावान तथा विख्यात लोग पार्लिमेन्ट के सदस्य हो सकें; (३) दलबन्दी की तीव्रता कम हो; और (४) प्रत्येक वोट मताधिकारियों के दृष्टिकोण का भली भाँति प्रतिनिधित्व कर सके। राम्जे म्योर की राय में 'समानुपातिक निर्वाचन' (Proportional Representation) के किसी भी रूप से इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है।

आधुनिक प्रजातन्त्रों की असफलता पर डाक्टर बेनीज़ (Dr. BENES) का विचार

डाक्टर बेनीज़[2] ने प्रजातन्त्र की असफलता के कारणों को चार वर्गों में इस प्रकार रक्खा है :—

१—साम्यवाद ने १९१४-१८ के युद्ध को प्रजातन्त्र का युद्ध न समझ कर श्रमिकों के शोषण पर आधारित मध्यमवर्ग के दो विपक्षी दलों का युद्ध समझा था। उसका विश्वास था कि यह युद्ध दलित-राष्ट्रों के अधिकार और न्याय के लिये नहीं लड़ा गया था। इसीलिये प्रत्येक देश में सामाजिक क्रान्ति कराने का प्रयत्न ही साम्यवादी दलों की युद्धोत्तर नीति रही है।

२—आरम्भ से ही फ़ासिस्तवाद ने प्रजातन्त्र विरोधी नीति का पालन किया और सभी अनुदार शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित किया। इसने राष्ट्रीयता के जोश को बढ़ा कर मध्यमवर्ग वालों को साम्यवाद की सामाजिक क्रान्ति के विरुद्ध अपने पक्ष में कर लिया।

३—व्यक्तिगत प्रजातन्त्रों के दोष, कमज़ोरी और ग़लती। इनमें (अ) दलबन्दी की ज़्यादती, इसकी त्रुटियाँ और अत्युक्ति; (ब) संकटकाल में प्रजातन्त्रात्मक शासन की सुस्ती और अयोग्यता तथा तत्पर और निश्चित निर्णय की आवश्यकता के वक्त इनका अभाव; (स) दूषित दलबन्दी से प्रभावित कर्मचारी वर्ग का पक्षपात, उनकी अयोग्यता तथा घूसख़ोरी; और (द) प्रजातन्त्र के नेताओं की अयोग्यता, साधारण बुद्धि और त्रुटियाँ, प्रमुख हैं।

४—पश्चिमी यूरोप के प्रजातन्त्रात्मक राज्यों की व्यक्तिगत तथा अन्तर्राष्ट्रीय महासभा में युद्धोत्तर वैदेशिक नीति की ख़ामियाँ और त्रुटियाँ।

इन कारणों में से तीसरे और चौथे से हमारा प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध है। प्रजातन्त्र के ये दोष अब भी पाये जाते हैं। हम देखते हैं कि डाक्टर बेनीज़ ने दूसरे लेखकों द्वारा दिखाये गये दोषों को केवल मान लिया है। उन्होंने प्रजातन्त्र में एक और अपमानजनक दोष निकाला है। यह प्रजातन्त्र की कायरता है। जहाँ कहीं भी शक्तिशाली तानाशाही ने इसे निर्णयपूर्वक डराया वहीं प्रजातन्त्र पीछे हट गया है। प्रजातंत्र केवल देखने में ही शक्तिशाली

---

१ रैम्जे म्योर कृत 'इज़ डेमोक्रेसी ए फ़ेलियर?' पृष्ठ २६-२७। अँग्रेज़ी प्रजातन्त्र की सविस्तार आलोचना के लिये कृपया देखिये 'How England Is Governed?' (Ramsay Muir)

२ डाक्टर बेनीज़ 'Democracy Today and Tomorrow,' पृष्ठ ५९-६१।

थे, वास्तव में असावधानता, नैतिक कमजोरी, ऐक्य की कमी, स्वार्थी अहंवाद और निर्बलता के शिकार हो रहे थे। वे आपत्तिकाल में अपनी रक्षा तथा एक दूसरे की सहायता करने को तैयार न थे।

प्रजातन्त्र पर दूसरे आरोप और उनका उत्तर

अन्त में हम इस पर भी ध्यान दे सकते हैं कि आधुनिक युग में प्रजातन्त्र को लक्ष्यहीन, अयोग्य और आर्थिक दृष्टिकोण से अनुचित कहा गया है। पहले आरोप का उत्तर लार्ड हैलीफ़ाक्स (Lord Halifax), (जिन्हें हम हिन्दोस्तान में लार्ड इरविन के नाम से जानते हैं) ने दिया है। उनका कहना है कि प्रजातन्त्र कदापि लक्ष्यहीन नहीं है। इसका लक्ष्य शासन के सभी रूपों से अच्छा है और यह स्वतन्त्र व्यक्तियों का विकास है। अयोग्यता के आरोप के उत्तर में सर विलियम बेवरिज (Sir William Beveridge) कहते हैं कि प्रजातन्त्र में योजनायें उतनी ही सम्भव हैं जितनी किसी अन्य प्रकार के शासन में। तीसरे आरोप के विरुद्ध मेजर एटली (Major Attlee) का दावा है कि पूँजीवादी प्रजातन्त्र में लोगों को अवसर की समानता नहीं प्राप्त होती, किन्तु प्रजातन्त्र तो केवल राजनीतिक साधन है जिसके द्वारा आर्थिक समानता प्राप्त की जायगी।

प्रजातन्त्र के ये गुण-दोष जिन पर हम विचार कर चुके हैं केवल प्रतिनिधि प्रजातन्त्र के गुण-दोष हैं। यद्यपि व्यापक दृष्टि से इसमें प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के गुण-दोष भी आ जाते हैं फिर भी स्पष्टता और आसानी के लिये हम प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रों के गुणों तथा दोषों का विवरण नीचे देते हैं :—

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के गुण

१—प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का पहला और सबसे बड़ा गुण शासनकार्य की उस शिक्षा और अनुभव में है जिसे प्रत्येक नागरिक प्राप्त करता है। वह जीवन की समस्यायों के सम्पर्क में आता है और अपनी जाति तथा देश की सेवा के लिये क्रियाशील और निर्माणशील नागरिक के रूप में तैयार होता है।

२—प्रत्येक प्रस्ताव पर सार्वजनिक रूप से बहस हो जाने के पश्चात् सभी पास किये गये क़ानून हितकर और युक्तिपूर्ण होते हैं। चूँकि क़ानून सभी लोगों की राय से पास किये जाते हैं इसलिये उनके उल्लंघन की सम्भावना नहीं रहती।

३—एक वर्ग द्वारा क़ानून बनाने और अत्याचार करने के अवसर भी बहुत कम हो जाते हैं क्योंकि सभी लोग आसानी से अल्प-संख्यकों द्वारा धोखे में नहीं डाले जा सकते।

४—प्रजातन्त्र हमेशा प्रभुत्व की अपेक्षा स्वतन्त्रता को पसन्द करता है। यह हमेशा स्वाधीनता की स्वच्छ वायु का सेवन करता है और सत्ता द्वारा दूषित वातावरण में दम नहीं घुटाता। चूँकि इसकी उन्नति व्यक्तियों पर निर्भर है इसलिये यहाँ व्यक्तित्व-विकास का अवसर मिलता है।

५—अन्त में, प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में मनुष्य के व्यक्तित्व से बहुत सी आशायें की जाती हैं। क्योंकि प्रत्येक नागरिक को समस्याओं को समझने के लिये योग्य, बुद्धिमान तथा तत्पर रहना आवश्यक है। इस प्रकार यहाँ उत्तरदायित्व की भावना भी जागृत होती है।

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के दोष

किन्तु उपरोक्त अच्छाइयों के अलावा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के कुछ दोष भी हैं।[१]

१—चूँकि लोग अपीलों और मनोभावनाओं से ज्यादा प्रेरित होते हैं इस लिये उनके जोश और सनक से खतरे का अन्देशा रहता है। लोग झूठी प्रतिज्ञाओं और ग़लत प्रचार के शिकार बनते हैं। तर्क के लिये कोई स्थान नहीं रहता और समुदाय प्रवृत्ति (Herd instinct) शक्तिशाली हो जाता है। जनसमूह भेड़ों के झुण्ड की तरह व्यवहार करता है। इसीलिये बर्क (Burke) ने कहा था कि "पूर्ण प्रजातन्त्र संसार की सबसे निर्लज्ज और सबसे निडर वस्तु है।"[२]

२—समानता के आवेश में धनिकों और प्रतिष्ठावान पुरुषों के साथ अन्याय हो जाने की सम्भावना रहती है। इस मानी में प्रजातन्त्र औसत दर्जे के आदमियों का

---

१ प्रजातन्त्र के इन सभी दोषों को स्विज़रलैण्ड ने झूठा साबित कर दिया है। वहाँ दोनों रूप में प्रजातन्त्र सफल रहा है। इसका कारण ब्राइस इस प्रकार देते हैं:—

(अ) वहाँ के 'कम्यून' ने आदि काल से ही लोगों को स्वशासन की कला में शिक्षा दी है। वहाँ के लोग स्थानीय कार्यों में दिलचस्पी ही नहीं लेते वरन् उन्हें अच्छे से अच्छे ढंग से करने का प्रयत्न करते हैं।

(ब) सामाजिक समस्याओं में इस प्रकार की दिलचस्पी होने से वहाँ के लोग अच्छे और निर्माण-शील नागरिक ही नहीं हुए, वरन् वे देशभक्ति और नागरिक कर्त्तव्यों की भावना से ओतप्रोत भी हैं।

(स) लगातार स्थानीय स्वशासन होने के कारण लोगों में राष्ट्रीय चेतना और जागृति आ गई है। यह चेतना वहाँ के राष्ट्रीय मस्तिष्क और चरित्र की एक अंग सी बन गई है। यही कारण है कि इतना जातीय और साम्प्रदायिक भेदभाव के होते हुए भी वहां की राष्ट्रीय एकता में कोई कमी नहीं आई है।

(द) आर्थिक असमानता के अभाव से वहाँ पूँजी और श्रम के झगड़े नहीं हुए हैं। चूँकि अधिकतर लोगों की जीविका-निर्वाह का साधन खेती ही है इसलिये वे लोग स्वभावतः शान्ति के पक्ष में हैं और क्रान्ति नहीं पसन्द करते।

(इ) राजनीतिज्ञ दलबन्दी का उस देश में अभाव रहा है। इसलिये वहाँ वक्ताओं और पेशेवर राजनीतिज्ञों की अधिक नहीं चली है क्योंकि वे लोगों के मनोभावनाओं और आवेशों से नाजायज़ फ़ायदा उठाने में असमर्थ रहे हैं।

—Bryce Modern Democracies, pp. 498—501

2. Burke—"perfect democracy is the most shameless and the most fearless thing in the world."

समर्थन करता है और गुणी तथा असाधारण योग्य पुरुषों की उपेक्षा करता है। इस नीति का बुरा प्रभाव जाति की उन्नति पर पड़ता है।

३—केवल संख्यामात्र पर ज़ोर देने से सारा राजनीतिक और सामाजिक जीवन बरबाद हो जाता है। तर्क और बुद्धि के स्थान पर अज्ञानता का प्रभाव बढ़ता है और चरित्र तथा उत्तरदायित्व का स्थान अशिष्टता द्वारा ले लिया जाता है। इस वातावरण में स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण का अभाव हो जाता है और यह उच्छ्रंखलता का रूप ग्रहण कर लेती है।

४—जोश और दलबन्दी के कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अयोग्य ही नहीं वरन् अस्थिर और क्षण-स्थायी भी हो जाता है। जनता अवसरवादी और स्वार्थी नेताओं के प्रभाव में आकर राज्य के हित को भूल जाती है। इस भाँति राज्य के हित को सदैव क्षति पहुँचती रहती है और राज्य के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियों के उन्नति की कोई आशा दृष्टिगोचर नहीं होती।

तीसरा अध्याय

प्रजान्तत्र और लोकमत

ब्रायन्ट (BRYANT) महोदय के प्रजातन्त्र पर विचार

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि प्रजातन्त्र वह शासन है जिसमें जन-सत्ता सर्वोच्च होती है, जनता सार्वजनिक हित के कार्यों में सक्रिय भाग लेती है और बहुमत तथा लोकमत के अन्तर सर्वसाधारण के हित के लिये समाप्त कर दिये जाते हैं। इसको भली भाँति समझने के लिये आवश्यक है कि हम कुछ और अधिक विचार करें। ब्रायन्ट[1] महोदय ने कहा है कि मनुष्य एक चेतन प्राणी है। उसकी अपनी आवश्यकतायें होती हैं और वह सुख-दुःख तथा आशा-आकांक्षा का अनुभव करता है। उसकी आवश्यकतायें तीन प्रकार की हैं। सर्व प्रथम शारीरिक आवश्यकतायें हैं जैसे भोजन वस्त्र, आश्रय तथा सुरक्षा, दूसरी मानसिक हैं जिनमें चलने फिरने, बोलने सुनने और संसर्ग स्थापित करने की स्वतन्त्रता है। अन्तिम आवश्यकतायें आत्मिक हैं जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होती हैं। इस प्रकार की आवश्यकताओं में धार्मिक स्वतंत्रता और देशभक्ति है। इनके लिये मनुष्य अपनी दूसरी आवश्यकताओं का बलिदान तक कर सकता है। इस प्रकार ब्रायन्ट महोदय का विचार है कि प्रजातंत्र शासन का वह रूप है जिसमें उसके अन्तर्गत रहने वालों को तीनों प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का समुचित अवसर प्राप्त हो। प्रजातन्त्र के अतिरिक्त किसी दूसरे शासन-रूप में यह तीनों कभी भी एक साथ नहीं पूरी हो सकी है।

प्रजातन्त्र के अर्थ पर बैसेट (BASSET) महोदय के विचार

बैसेट[2] महोदय ने प्रजातन्त्र के अर्थ को और भी सरल बनाने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि प्रायः सभी शासन सार्वजनिक हैं तथा सर्वसाधारण के हित के लिये हैं किन्तु उनमें से सभी जनता द्वारा संचालित नहीं हैं। यह बात प्रजातन्त्र के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है परन्तु यहाँ भी हम कठिनाइयों से मुक्त नहीं हैं क्योंकि संभव है कि प्रत्यक्ष शासन भी वास्तविक रूप में प्रजातन्त्रात्मक न हो सके। शासितों की स्वीकृति केवल नाममात्र के लिये हो सकती है और इस पर भी वह सब की नहीं होती। प्रतिनिधियों में भी मतभेद हो सकता है और ऐसे अवसर पर निर्णय बहुमत द्वारा किया जाता है। इससे प्रकट है कि प्रजातन्त्र न तो जनता द्वारा प्रत्यक्ष शासन है

---

१ ब्रायन्ट 'कान्स्ट्रक्टिव डिमोक्रेसी (Constructive Democracy) अध्याय ४—दि एसन्शल्स आव् डिमोक्रेसी (The Essentials of Democracy)

२ वही—अध्याय १ Foundations of Democracy'

और न यह ऐसा ही शासन है जो जनता की राय से होता है। इसको बहुमत-द्वारा शासन कहना भी ठीक न होगा। वास्तव में प्रजातन्त्र एक शासन-प्रणाली है जिसमें प्रत्येक नागरिक को अवसर मिलता है कि वह वादविवाद में भाग लेकर समस्याओं पर स्वतः ऐसे समझौते को निकाल सके जो समाज के लिये हितकर सिद्ध हो। यह व्यवहार रूप में विवाद और सुलह द्वारा समझौता प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न है।

प्रजातन्त्र के मुख्य सिद्धान्त

इस परिभाषा से प्रजातंत्र के निम्नलिखित सिद्धान्त निकलते हैं।

१—यह आवश्यक नहीं कि शासन-प्रबन्ध में राज्य के सभी व्यक्ति भाग लें परन्तु सब को भाग लेने का अवसर अवश्य मिलना चाहिये।

२—राज्य के अन्तर्गत व्यक्तियों की स्वीकृति निष्क्रिय नहीं होनी चाहिये। उन्हें क्रियात्मक ढंग से विचार्य विषयों के निर्णय में भाग लेना चाहिये।

३—जनता की स्वीकृति का अर्थ है जनता का सहयोग, जिसके द्वारा सर्वसाधारण की अधिक से अधिक लाभदायक समस्याओं पर समझौता हो सके। इसका वास्तविक अभिप्राय मतभेदों को समझ कर एक समझौता प्राप्त करना है।

४—इसका अर्थ यह है कि बहुसख्यकों का निर्णय केवल उन्हीं के हित के लिये न होकर सर्वसाधारण के हित के लिये हो।

५—केवल सार्वभौमिक मताधिकार के सिद्धान्त पर मत देना ही पर्याप्त नहीं है। यह अधिकार तो तानाशाही राज्य भी दे सकते हैं। प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली का मूल सिद्धान्त निरन्तर वादविवाद है जिसमें कोई दबाव नहीं पड़ना चाहिये।

संक्षेप में प्रजातन्त्र के सिद्धान्त १—अवसर की समानता, २—सक्रिय सहयोग, ३—सहिष्णुता और समझौता, ४—सार्वजनिक हित और ५—स्वतन्त्र तथा निरंतर वादविवाद है।

प्रजातन्त्र—शासन, राज्य तथा समाज के रूप में

प्रजातन्त्र का वास्तविक अर्थ समझ लेने के पश्चात् हम सामाजिक प्रजातन्त्र, राजनीतिक प्रजातन्त्र तथा आर्थिक प्रजातन्त्र पर विचार कर सकते हैं। सामाजिक प्रजातन्त्र का तात्पर्य है कि प्रजातन्त्र केवल शासन का ही एक रूप नहीं है वरन् यह समाज का भी एक रूप है। इस प्रकार के समाज का आधार समानता है। इस भाँति इस्लाम को हम सामाजिक प्रजातन्त्र के रूप में देखते हैं क्योंकि इसमें प्रत्येक व्यक्ति बराबर समझा जाता है चाहे उसका सामाजिक स्तर कुछ भी हो। सामाजिक प्रजातन्त्र का शासन किसी भी रूप का हो सकता है—एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र। इसके अतिरिक्त राजनीतिक[1] प्रजातन्त्र भी होता है और इस अर्थ में यह राज्य का एक

१ लोबेल का कहना है कि राजनीतिक प्रजातन्त्र लोकप्रिय शासन है और सामाजिक प्रजातन्त्र अवसर की समानता है—'Public opinion and Popular Government, पृ० ५७।

रूप है। इसका अभिप्राय यह है कि राजसत्ता जनता के हाथ में है और वही इस बात का निर्णय करती है कि शासन किस प्रकार का होना चाहिये। इस भाँति इङ्गलैंड के शासन का रूप एकतन्त्रात्मक होते हुये भी राज्य का रूप प्रजातन्त्रात्मक है क्योंकि वहाँ की जनता पार्लिमेंट (लोक-सभा) के द्वारा शासन पर अपना नियंत्रण रखती है। इस प्रकार, जैसा कि प्रो० गिडिंग्स (Prof. Giddings) ने कहा है,'प्रजातन्त्र के तीन रूप हैं :—

(१) यह शासन का एक रूप है जिसमें जनता स्वयं ही शासन प्रबन्ध करती है (जैसा कि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रों में है);

(२) यह राज्य का एक रूप है और

(३) यह समाज का भी एक रूप है।

आर्थिक प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र का एक रूप आर्थिक प्रजातन्त्र है। हॉब्सन (Hobson) ने तो यहाँ तक जोर दिया है कि 'आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक प्रजातन्त्र व्यर्थ है। एक भूखा व्यक्ति स्वतन्त्रता लेकर क्या करेगा। न तो वह इसे खा सकता है और न पी सकता है'। आर्थिक प्रजातन्त्र की माँग ने तीन रूप[१] ग्रहण किये हैं।

सर्व प्रथम इसकी माँग है कि प्रत्येक व्यक्ति को उचित भोजन, वस्त्र तथा आश्रय मिले और व्यक्तित्व के विकास के लिये अधिक से अधिक अवकाश प्राप्त हो।

दूसरे, इसका दावा है कि अल्पसंख्यकों के हाथों पूँजी का संचय राजनीतिक प्रजातन्त्र को बर्बाद कर देगा। उससे बचने के लिये आर्थिक उन्नति के लिये अवसरों की समानता आवश्यक है।

तीसरे, इस बात पर जोर दिया गया है कि उद्योग और व्यवसाय में भी किसी न किसी प्रकार का स्वशासन होना चाहिये (प्रो० जी० डी० एच० कोल ने इस पर सविस्तार लिखा है)।

इनमें से पहिली माँग तो प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा का सार ही है और प्रत्येक प्रजातन्त्रवादी का विश्वास है कि हर एक नागरिक के पास कुछ धन होना आवश्यक है।

प्रजातंत्र का राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक और धार्मिक रूप

इसके अतिरिक्त प्रो० गार्नर[२] कहते हैं कि प्रजातंत्र को लोगों ने राजनीतिक स्तर, नैतिक धारणा और सामाजिक अवस्था भी कहा है। मैजिनी (Mazzini) ने तो प्रजातंत्र को धार्मिक सिद्धान्त भी मान लिया था। राजनीतिक स्तर इस अर्थ में है कि यह शासन और राज्य दोनों का ही रूप है। डिब्री के कथनानुसार 'प्रजातंत्र व्यक्तित्व ही को प्रथम और अन्तिम सत्य मानता है इसलिये यह एक नैतिक धारणा भी है। व्यक्ति-

१—'Constructive Democracy', पृ० २१-२२।

२—जे० डब्लू० गार्नर 'पोलिटिकल साइंस एंड गवर्नमेंट' पृ० ३११

गत उत्तरदायित्व और वैयक्तिक नेतृत्व प्रजातंत्र के मुख्य लक्षण हैं। व्यक्तित्व का यह महत्व प्रजातंत्र के शेष गुणों—समानता, स्वतंत्रता तथा भ्रातृत्व का उद्गम स्थान है। ये तीनों केवल जनता को मंत्रमुग्ध करने के लिये जोशीले नारे ही नहीं, वरन् मनावता के सर्वोत्तम नैतिक आदर्शों के लक्षण हैं जिनका अभिप्राय है कि व्यक्तित्व ही स्थायी महत्व की वस्तु है और प्रत्येक मनुष्य अपना निजी व्यक्तित्व रखता है। सामाजिक अवस्था यह इस अर्थ में है कि इसमें ऊंच-नीच, बुरे-भले, अमीर और ग़रीब का कोई भेद नहीं होता और न किसी को विशेषाधिकार ही प्राप्त होते हैं। सामाजिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य बराबर समझा जाता है। धार्मिक सिद्धान्त के अर्थ में प्रजातंत्र व्यक्ति के नैतिक मूल्य का समर्थक है अतः यह एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है क्योंकि इससे साधारण मनुष्य में विश्वास बढ़ता है। यह उसको सम्मान और प्रतिष्ठा देता है और उसकी नैतिक उन्नति करता है।

प्रजातंत्र के मूल-तत्व

प्रजातंत्र के बारे में विभिन्न दृष्टिकोणों पर विचार करने के पश्चात् हम इनेंशा के राजनीतिक प्रजातंत्र के मूल-तत्वों का अध्ययन कर सकते हैं। ये चार हैं—१—साधारण मनुष्य की स्वाभाविक न्याय प्रियता, २—साधारण मनुष्य का व्यवहारिक ज्ञान, ३—जाति में ऐक्य भाव और ४—सामूहिक विचार का अस्तित्व।

पहले का अभिप्राय है कि प्रजातंत्र औसत मनुष्य को उपेक्षा की दृष्टि से निर्बल नहीं समझता वरन् उसे सार्वजनिक हित के लिये सहायक समझता है। औसत मनुष्य न्याय-प्रिय होता है और कलह नहीं चाहता। हालाँकि हॉब्स का यही विचार था। मनुष्य में निजी न्याय-प्रियता होती है और वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है।

दूसरे का अर्थ यह है कि औसत मनुष्य साधारण बुद्धि रहित् और विवेक शून्य नहीं होता। जनता को मूर्ख समझना ग़लत है। लिंकन (Lincoln) ने ठीक ही कहा था कि आप 'कुछ व्यक्तियों को हमेशा के लिये बेवक़ूफ़ बना सकते हैं, सब को कुछ समय के लिये, परन्तु सभी व्यक्तियों को सदैव के लिये मूर्ख बनाना संभव नहीं है'। इसलिये प्रजातंत्रवाद का विश्वास है कि दैनिक समस्याओं पर लोग बुद्धि से काम लेंगे और इसीलिये प्रजातंत्र में बहुमत के निर्णय पर भरोसा किया जाता है।

जाति में ऐक्य भाव का तात्पर्य है कि वैयक्तिक न्याय-प्रियता और बुद्धि अलग वस्तुएँ नहीं हैं। व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित हैं। लोगों में जाति-चेतना, मेल और एकता का दृढ़ भाव होना चाहिये। कुलों के आपसी कलह, साम्प्रदायिक दलबन्दी, वर्गसंघर्ष और सामाजिक झगड़ों से प्रजातन्त्र कमजोर हो जाता है। इसको जीवित रखने के लिये जनता में एकता की दृढ़ भावना का होना आवश्यक है।

अन्त में जाति के सामूहिक विचार का होना इसलिये आवश्यक है कि लोग आपसी मतभेद के होते हुये भी सार्वजनिक समस्याओं पर एक स्वर से बोल सकें और आपस के मतभेद को जाति की भलाई के लिये भुला सकें। इसके लिये सामूहिक चेतना

का होना आवश्यक है जो सारे जन-समुदाय को एकता के सूत्र में बाँध सके। इसका अभिप्राय है कि समाज में एक ऐसा सार्वजनिक विचार होना चाहिये जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की शुभाकांक्षाओं का समावेश हो। इसका यह भी अर्थ है कि समाज आंगिक समझा जाय और पारस्परिक कलह न हो। यह तभी सम्भव है जब समाज में एक ऐसी सामाजिक चेतना या स्पष्ट लोकमत हो जो पूरे समाज के हित को अपना लक्ष्य बना सके। इसी कारण प्रजातन्त्र को लोकमत का शासन भी कहा गया है।

लोकमत का अर्थ

परन्तु आखिर लोकमत है क्या? इसका आविर्भाव कैसे होता होता है? और इसका स्वभाव क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है। अतः हम लोकमत के अर्थ को समझने का प्रयत्न करेंगे।

ब्राइस का विचार

ब्राइस का कथन है कि 'लोकमत' शब्द का प्रयोग प्रायः सार्वजनिक हितों पर लोगों के एकत्रित विचार को सूचित करने के लिये किया जाता है। इसके अनुसार यह हर प्रकार की विभिन्न धाराओं, भावनाओं, मतों तथा आकांक्षाओं का ढेर होता है। यह अस्पष्ट, असंबद्ध तथा बेडौल होता है और दिन प्रतिदिन, सप्ताह प्रति सप्ताह बदलता रहता है। परन्तु इस अस्पष्टता और विभिन्नता के होते हुये भी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचारों को स्पष्ट करके उनकी एकीकरण किया जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप कुछ विचार अथवा अन्तर्संबन्धित विचार-समूह एक निश्चित रूप धारण कर लेते हैं और राज्य के नागरिक दल-रूप में इनका समर्थन करने लगते हैं। इस प्रकार के विचार समूह को जिनका समर्थन बहुमत करने लगता है लोकमत कहते हैं। लोकमत विभिन्न प्रस्तावों को स्वीकार या अस्वीकार करके शासन के संचालन का अधिकार अपने हाथ में लेता है। समस्त राष्ट्र के मत को हम पृथक-पृथक मनोभावों के प्रवाहों के पृथक-पृथक रूप में भी देख सकते हैं। इनमें से प्रत्येक किसी न किसी विचार या व्यवहारिक प्रस्ताव को अंगीभूत करके उसका समर्थन करता है। इन्हीं में से कुछ अधिक समर्थकों अथवा दृढ़ विश्वास के कारण दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। इस भाँति जब कभी एक विचारधारा सर्वशक्तिशालिनी हो जाती है तो उसे सर्वश्रेष्ठ लोकमत कहा जाता है। ऐसा लोकमत नागरिकों की एक बड़ी सख्या के विचारों को अंगीभूत करता है[1]।

लोवेल का विचार

इसी प्रकार अन्य लेखकों ने भी अपने-अपने ढंग से लोकमत की परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा है लोवेल के विचार से 'लोकमत का स्वनामधन्य होने के लिये तथा प्रजातंत्र की चालक शक्ति बनने के लिये सर्वजनीन होना चाहिये। न बहुमत ही पर्याप्त है और न मतैक्य ही की कोई आवश्यकता

१—ब्राइस-'माडर्न डिमोक्रेसीज़' जिल्द १, पृ० १७१।

है वरन् मत ऐसा होना चाहिये जिसे अल्पसंख्यक अपना न मानते हुये भी स्वीकार कर सकें, डर से नहीं वरन् विश्वास से। यदि प्रजातंत्र पूर्ण है तो अल्पसंख्यकों द्वारा आत्मसमर्पण खुशी से होगा'[1]। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि ब्राइस और लोवेल दोनों ही बहुसंख्यकों के निर्णय को सार्वजनिक मत का प्रकाशन स्वीकार करते हैं। किन्तु लोवेल का दावा है कि लोकमत को वास्तव में सर्वजनीन होने के लिये अल्पसंख्यकों का साथ रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसका तात्पर्य है कि अल्पसंख्यकों के बिना या उनके विरुद्ध लोकमत का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। इसको राष्ट्रीय मत का रूप देने के लिये अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के मतभेदों का अनुकलन आवश्यक है।

लिपमैन (LIPPMANN) का विचार

आधुनिक लेखक वाल्टर लिपमैन ने भी लोकमत की परिभाषा विशेष ढंग से दी है। उसका कथन है कि जिस विश्व से हमको राजनीति के द्वारा निपटना है वह हमारी दृष्टि से ओझल और पहुँच के बाहर है। साधारणतः यह हमारे मस्तिष्क से भी दूर है। इस दशा में इसका अनुसंधान किया जाता है और उसके विवरण के आधार पर कल्पना की जाती है। इसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने मस्तिष्क में बाह्य संसार का एक चित्र अंकित कर लेता है। लिपमैन के अनुसार मनुष्यों के मस्तिष्क में

१—ए० एल० लोवेल—'पबलिक ओपीनियन एण्ड पापुलर गवर्न्मेंट' पृ० १४-१५। लोकमत के पूर्ण अध्ययन के लिये दूसरा और तीसरा अध्याय देखिये।

तीसरे अध्याय में लोवेल ने लोकमत के लिये निम्नलिखित आवश्यकतायें रक्खी हैं:—

(अ) राज्य के निवासियों में सादृश्य होना चाहिये जिससे बहुसंख्यकों के निर्णय को अल्पसंख्यक स्वीकार कर सकें। 'जन-संख्या के सभी अंगों के लक्ष्यों और आकांक्षाओं में सादृश्य होना चाहिये, उनकी राजनीतिक परम्परा एक होनी चाहिये और उनको विचार-विनिमय के लिये तत्पर रहना चाहिये। उनको पारस्परिक मित्रता में अवरोध उत्पन्न करने वाले वंशगत विचारों और पक्षपातों से मुक्त रहना चाहिये तथा उनमें जातीय या साम्प्रदायिक वैर और विरोधी स्वार्थों का अभाव होना चाहिये।'

(ब) सभी को मतभेद प्रकट करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। अल्पसंख्यकों को इस बात का अधिकार होना चाहिये कि वे अपने विचारों का सभी उचित तथा शान्तिपूर्ण साधनों से प्रचार कर सकें। इसके अन्तर्गत भाषण स्वातन्त्र्य, प्रकाशन तथा संगठन के अधिकार हैं।

अपनी पुस्तक 'पब्लिक ओपीनियन इन वार एन्ड पीस'—(Public Opinion in War and Peace) के पृ० ११-१३ में लोवेल लोकमत के अर्थ पर विचार करता है और उसकी निम्नलिखित परिभाषा देता है:—

"मस्तिष्क द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य, दो या अधिक असंगत विचारों में से एक को स्वीकार कर लेना लोकमत है। यदि एक ही विचार तर्क द्वारा सत्य मानने योग्य है तो यह मत न होकर केवल प्रदर्शन का परिणाम है। मत में विभिन्न विवेकपूर्ण विचारों में से चुनाव का समावेश रहता है। इस चुनाव को चाहे जानकर किया जाय या अनजान में।

अंकित ये चित्र जो उनके तथा दूसरों के और उनकी आवश्यकताओं, अभिप्रायों तथा उनके संबंधों के चित्र हैं, उनके लोकमत हैं। ये चित्र जब दल के नाम पर व्यक्तियों के कार्यों के आधार हो जाते हैं तो बड़े अक्षरों में **'लोकमत'** कहे जाने लगते हैं।

आइवर ब्राउन (IVOR BROWN) का विचार

अन्त में हम आइवर ब्राउन[1] के विचार पर ध्यान देंगे। उसका कथन है कि मनुष्य परम्परा का अनुगमन करने वाला प्राणी है, साधारण व्यक्ति प्रायः जनश्रुति प्रथा तथा आदत से प्रेरित होकर कार्य करता है न कि विवेक के आदेशानुसार। अतः लोकमत की जड़ें युक्तिशून्य प्रथाओं और विश्वासों की दृढ़ भूमि में गड़ी हैं। किन्तु यद्यपि प्रथा की दीवाल को तोड़ना कठिन है फिर भी तर्क के तीव्र झोंके इसको छिन्न-भिन्न अवश्य कर सकते हैं, शक्तिशाली तथा दृढ़-संकल्प कुछ अल्पसंख्यक किसी प्रश्न को लेकर आगे बढ़ते हैं, कुछ समय तक अत्याचार और अवज्ञा सहते हैं किन्तु अन्त में बहुसंख्यकों पर विजय प्राप्त करते हैं और उन्हें अपने पक्ष में कर लेते हैं। इस भाँति व्यक्तिगत विचार धीरे-धीरे लोकमत को प्रभावित करते हैं और इसी ढंग से सुधारकों ने विरोध को समाप्त करके विजय प्राप्त की है। स्त्रियों के मताधिकार के अन्दोलन के साथ भी ठीक ऐसा ही हुआ। मुद्रण-यंत्र के आविष्कार ने सस्ते साहित्य और प्रकाशन द्वारा लोकमत को कम परम्परागत बना दिया है। जो लोग स्वयं नहीं सोच सकते उन पर समाचार पत्रों के विचारों का दबाव पड़ता है और इस भाँति लोकमत को मुद्रित शब्दों द्वारा शीघ्र बनाया और बदला जा सकता है। विज्ञापन और प्रचार कला हमें निश्चित रूप से बताती है कि किसी कथन को बार-बार दोहराने से लोग तर्कशक्ति के होते हुये भी उसमें विश्वास करने लगते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकमत पर शिक्षा और अन्दोलन जैसी बाह्य शक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है। लोकमत एक विश्वास नहीं है वरन् आशंकाओं अभिलाषाओं, विश्वासों और नैतिक निर्णयों का अस्पष्ट समूह है। मानसिक आवेग के समय यह असंयत समूह दृढ़ हो जाता है और इसमें व्यापक तीव्रता पैदा हो जाती है। आशंकायें भय का रूप धारण करती हैं, अभिलाषायें आवेग हो जाती हैं, अनिश्चित विश्वास धर्म-विश्वास हो जाते हैं और नैतिक निर्णय कटु और संकीर्ण तिरस्कार का रूप ग्रहण कर लेते हैं। लोककार्य तभी सम्भव है जब प्रस्तुत समस्या पर लोकमत आकार ग्रहण कर स्पष्ट हो जाता है। जब लोकमत किसी भी मूल स्थान से निकल कर किसी भी शक्ति द्वारा दुर्दमनीय होकर बाह्य नियंत्रण को सहन करने से इन्कार करता है और स्वशासन की माँग करता है तो इस दशा में प्रजातन्त्र का आविर्भाव होता है। इस प्रकार 'लोकमत' 'लोकसंकल्प' हो जाता है।

१—आइवर ब्राउन-दि मीनिंग आव डेमोक्रेसी पृष्ठ १३-३६ .

लोकमत के निर्माणक

लोकमत के अर्थ तथा स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् हम उन साधनों[1] को जानने का प्रयत्न करेंगे जिनके द्वारा इसका निर्माण होता है तथा उन शक्तियों पर ध्यान देंगे जिनके द्वारा इसके प्रवाह को समझने में सहायता मिलती है।

प्रथम, ब्राइस[2] के कथनानुसार लोकमत के विकास में तीन प्रकार के लोगों का हाथ रहता है।

(१) सर्व प्रथम वे लोग हैं जो सार्वजनिक समस्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते हैं, चाहे ये व्यस्थापिकाओं के सदस्य हों या पत्रकार अथवा अध्यापक। ऐसे लोग नागरिकता के कर्तव्य का पालन सार्वजनिक हित के लिये करते हैं। किन्तु ये लोग प्राय: बहुत थोड़े ही होते हैं। परन्तु वास्तविक लोकमत को ऐसे ही लोग जन्म देते हैं। ये समस्याओं पर विचार करते हैं और व्याख्यानों तथा लेखों द्वारा जनता के सामने तथ्य और प्रमाण रखते हैं। इनसे जनता प्रभावित होती है।

(२) इसके बाद वे लोग आते हैं जिनकी राजनीति में दिलचस्पी निष्क्रिय रहती है। वे पढ़ने और सुनने के बाद दूसरों के दिये हुये तथ्यों पर अपना निर्णय देते हैं। ये लोग दलबन्दी की राजनीति से संबंधित रहते हैं। इस प्रकार के लोग लोकमत के जन्मदाता नहीं हैं किन्तु ये इसको आकार अवश्य देते हैं।

(३) अन्त में शेष नागरिक हैं जो सार्वजनिक समस्याओं के प्रति उदासीन रहते हैं। ये न अधिक पढ़ते हैं और न सोचते हैं। इनका काम प्रायः अपने वातावरण के मत को मान लेना है चाहे यह मत पड़ोस का हो, वर्ग का हो अथवा दूकान या कारखाने का। इस प्रकार के व्यक्तियों पर व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। ये लोकमत को न तो जन्म देते हैं और न आकार ही इनका काम किसी राजनीतिक दल की संख्या बढ़ाना मात्र है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सबल तथा विधायक मस्तिष्क वाले और नागरिकता के कर्तव्य द्वारा प्रेरित व्यक्ति लोकमत को जन्म देते हैं।

दूसरे, साधारण नागरिक स्वतः सार्वजनिक समस्याओं पर निर्णय नहीं दे सकता किन्तु उसे इस प्रकार की शिक्षा[3] दी जा सकती है कि वह प्रत्येक विषय के औचित्य

---

१ अपनी पुस्तक 'Theory and Practice of Modern Governments,' में फ्राइनर राजनीतिक दलों के अतिरिक्त पुस्तक, समाचारपत्र, स्कूल, क्लब, चर्च, सिनेमा, रेडियो तथा जनश्रुति को लोकमत के निर्माणकों में गिनाते हैं।

२ ब्राइस—'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़' पृ० १७६-७७

३—फ्राइनर साधारण मनुष्य के ज्ञान पर दो प्रकार से विचार करता है।

(१) स्वतः प्राप्त ज्ञान

(२) शिक्षा और समाचार पत्रों द्वारा प्राप्त ज्ञान।

स्वतः प्राप्त ज्ञान ही अच्छा नागरिक होने के लिये पर्याप्त नहीं है—'Theory and Practice of Modern Governments, जि० १ पृ० ४४४-४४६

और अनौचित्य को समझ सके। इस भाँति वह उन समस्याओं को अध्ययन[1] करने योग्य हो जाता है और यह निश्चित कर सकता है कि कौन से कार्य जाति के लिये हितकर होंगे और कौन अहितकर। लोगों की दिलचस्पी बढ़ाने के लिये तथा उनको राजनीतिक ज्ञान देने के लिये प्रौढ़ शिक्षा तथा साक्षरता आन्दोलन अच्छे साधन हैं। इसलिये भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा लोकमत के बनाने के लिये आवश्यक है।

तीसरे प्रेस[2] और सामयिक साहित्य भी जनता की शिक्षा के अच्छे साधन हैं। इसलिये जनसाधारण के ज्ञान के लिये अच्छे समाचार पत्रों तथा सस्ते साहित्य का प्रबन्ध होना चाहिये। रेडियो की भी सहायता ली जा सकती है। रेडियो से गाँव के लिये तो भाषण देना प्रारम्भ ही कर दिया गया है! इस प्रकार ब्राडकास्टिंग सार्वभौमिक बनाई जा सकती है। सिनेमा का भी उपयोग जन-शिक्षा के लिये किया जा सकता है। इस भाँति प्रेस, सामयिक साहित्य, रेडियो तथा सिनेमा विचारों के प्रचार के लिये उपयुक्त साधन हैं।

चौथे, मंच तथा सार्वजनिक सभायें, महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के प्रत्यक्ष साधन हैं। भाषणों तथा व्याख्यानों द्वारा लोगों का ध्यान समस्याओं की ओर लाया जा सकता है और इनका महत्व उन्हें समझाया जा सकता है।

पाँचवें, राजनीतिक दल[3] भी अपने-अपने विचारों का प्रचार[4] करते हैं और

---

१ फ्राइनर ने निर्वाचकों के तीन गुण रक्खे हैं :—

(१) उनको जानना चाहिये कि वे क्या चाहते हैं।

(२) उनको इस योग्य होना चाहिये कि वे अपनी आवश्यकताओं को प्रकट कर सकें।

(३) उनको अपनी आवश्यकताओं में इतनी दिलचस्पी होनी चाहिये कि वे उनकी माँग कर सकें।

वही—जिल्द १ पृ० ४४४

२ सेट अपनी पुस्तक 'American Parties and elections' में कहते हैं कि 'लोकमत का कार्य समय-समय पर वोट देने तक ही सीमित नहीं। यह समुद्र की भाँति अशान्त है। समाचार पत्र, व्यक्तिगत समुदाय और राजनीतिक दल इसकी व्याख्या करने में, इसको बनाने में तथा इसके प्रवाह को मोड़ कर इसकी शक्ति को शासन में लगाने में निरंतर तत्पर रहते हैं।'

३ फ्राइनर की पुस्तक 'The theory and Practice of Modern Government.' जिल्द १ का १३ वाँ अध्याय 'लोकमत और राजनीतिकदल' इस दृष्टिकोण से एक अमूल्य अध्ययन है। प्रत्येक विद्यार्थी को इसे पढ़ना चाहिये।

४ लोवेल आधुनिक युग को विज्ञापन और दलालों का युग कहता है। हम आर्थिक विषयों में ही विज्ञापन और प्रदर्शन से लोगों को आकर्षित नहीं करते और दलालों तथा बैंकरों को साधन नहीं बनाते, वरन् राजनीतिक क्षेत्र में भी अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये विज्ञापन और दलालों की शरण लेते हैं—Public Opinion and Popular Government, पृ० ५८-६४

सभी उचित अथवा अनुचित साधनों को प्रयोग में लाते हैं। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी दलों के विरोधी सिद्धान्त लोगों के सामने रक्खे जाते हैं और चूँकि उन्हें वोट देना रहता है इसलिये वे अपना निर्णय किसी न किसी पक्ष में करते हैं। ऐसी दशा में यह भी सम्भव है कि लोग आदर्श-वाक्यों, पक्षपात तथा धर्म-हठ के फेर में पड़ जायँ। अपीलें प्रायः दलीलों पर नहीं क़ायम रहतीं, उनके पीछे झूठे वादे और नारे रहते हैं जो जनता में भावुकता उकसा कर उसे बहकाने का प्रयास करते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि लोगों को वास्तविक जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिले। इसीलिये लिपमैन ने 'तथ्यान्वेषी संस्थाओं' को स्थापित करने की राय दी है जो झूठे प्रचार के प्रभाव को नष्ट कर सकें।

अन्त में, आज हमारा समाज विभिन्न प्रकार के—राजनीतिक, आर्थिक और बौद्धिक समुदायों का जाल हो गया है। इसके परिणाम-स्वरूप नागरिकों के कर्त्तव्य अस्पष्ट तथा विरोधी प्रतीत होते हैं। प्रत्येक समुदाय अपने ध्येय को सम्मुख रख उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस दशा में जब कि समाज इस प्रकार स्थान-स्थान पर विभक्त है प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य होना चाहिये कि वह अपने कर्त्तव्यों को भली भाँति समझ सके और विभिन्न समुदायों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्णय कर सके। उसके लिये आवश्यक है कि वह प्रत्येक समुदाय के प्रचार की गहराई तक जाय। इसी दशा में वह सफल नागरिक बन सकता है क्योंकि कर्त्तव्यों का यथायोग्य पालन ही आधुनिक नागरिकता का महत्वपूर्ण विषय है।

विरोध अथवा एकीकरण

किन्तु यदि किसी समाज विशेष में इस प्रकार का विरोध निरन्तर जारी रहता है और जाति, सम्प्रदाय तथा वर्ग के भेद-भावों का बोलबाला रहता है तो उसमें सार्व-जनिक शासन अपने सच्चे रूप में न रह कर निकृष्टतम शासन का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रजातन्त्र तभी सफल हो सकता है जब विभिन्न मतभेदों का अनुकलन करके एक स्वस्थ लोकमत को जन्म दिया जाय। यह एकीकरण तथा समझौते पर आधारित है। जैसा कि ब्राइस ने कहा है, 'वास्तविक राष्ट्रीय देशभक्ति आपत्तिकाल में आपसी मतभेदों को समाप्त कर देती है और शान्तिकाल में भी कुछ विषयों को राजनीतिक दलबन्दी से दूर रखती है। ऐसी देशभक्ति को प्रत्येक देश में दृढ़ करना चाहिये और यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक नागरिक इस योग्य बना दिया जाय कि वह दूसरे के स्वभाव तथा लक्ष्य को भली भाँति समझ सके। उसे इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि समाज के किसी भी वर्ग की उन्नति से उसकी उन्नति होती है'।

प्रजातन्त्रवादी का विश्वास

हमने देखा, कि प्रजातन्त्र लोकमत द्वारा परिचालित शासन है। हमने उन साधनों पर भी ध्यान दिया है जो स्वस्थ लोकमत को जन्म देते हैं। अब हम अरनेस्ट साइमन[1] (Ernest Simon) द्वारा दिये गये प्रजातन्त्रवादी के विश्वास का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

---

१ अरनेस्ट साइमन—'Constructive Democracy' अध्याय १।

सर्वप्रथम, प्रजातन्त्रवादी व्यक्ति में विश्वास रखता है। व्यक्ति के नैतिक मूल्य और उसकी मूल महत्ता में विश्वास प्रजातन्त्रवाद का सार है। इसका दावा है कि राज्य मनुष्य के लिये है न कि मनुष्य राज्य के लिये। मनुष्य स्वयं लक्ष्य है, किसी लक्ष्य का साधन मात्र नहीं। वह ऐसा व्यक्ति है जिसके अधिकार और कर्त्तव्य हैं। राज्य उसके व्यक्तित्व को लुप्त नहीं कर सकता। अत: प्रजातन्त्र व्यक्ति के महत्व और समानता पर ज़ोर देता है।

दूसरे, जब व्यक्ति की महत्ता पर विश्वास किया जाता है तो स्वभावतः सम्पूर्ण मानवजाति इस विश्वास के अन्दर आ जाती है। इसका अर्थ है कि साधारण मनुष्य पर्याप्त शिक्षा तथा अनुभव प्राप्त करने के बाद अपने कर्त्तव्यों का पालन व्यक्तिगत सम्बन्धों में ही नहीं वरन् नागरिकता के कर्त्तव्यों का भी पालन करता है।

तीसरे, एक प्रजातन्त्रवादी का विश्वास व्यक्ति की प्रतिष्ठा के आधार पर बनाई गई सामाजिक व्यवस्था के प्रति भी होता है। उसका विश्वास है कि समानाधिकार-प्राप्त स्वतन्त्र मनुष्य वाद-विवाद और आपस के समझौते के आधार पर एक ऐसे शासन को जन्म देंगे जिसमें प्रत्येक नागरिक को सुन्दर जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल सकेगा।

चौथे, प्रजातन्त्रवादी आत्म-निर्णय में विश्वास रखता है और उसका मत है कि अच्छा शासन स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता।

पाँचवें, प्रजातन्त्रवादी अपने महान जीवन में भी विश्वास रखता है क्योंकि यह 'दूसरों के दुख में दुख और दूसरों के सुख में सुख' के सिद्धान्त पर आधारित हैं।

अन्त में, सुन्दर जीवन के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक को उचित भोजन, वस्त्र, रक्षा तथा अवकाश प्राप्त हों।

प्रजातंत्र और तानाशाही के विरोधी दर्शन

अन्त में हम प्रजातंत्रवादी और तानाशाह के विश्वासों की तुलना करेंगे। यहाँ हमें इन दो दर्शनों के आपसी विरोध का आभास मिलता है।

प्रजातंत्र	तानाशाही
१—मनुष्य स्वयं लक्ष्य है। राज्य उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक मात्र है।	१—मनुष्य लक्ष्य का एक साधन मात्र है। उसका अस्तित्व राज्य की शक्ति तथा ख्याति के लिये है और उसका विकास तानाशाह और अपने राज्य की सेवा के द्वारा होता है।
२—संसार की प्रत्येक मूल्यवान वस्तु मनुष्यों और राष्ट्रों के मेल-भाव तथा शान्ति पर आधारित है।	२—शक्ति और युद्ध से ख्याति प्राप्त होती है। 'शान्ति की वार्ता प्रजातंत्र की मानव हितवादी दुर्बलता है।'

प्रजातन्त्र	तानाशाही
३—प्रजातंत्र में मस्तिष्क से काम लेना पड़ता है और प्रत्येक वादविवाद तथा समालोचना को समझ कर निर्णय देना पड़ता है। प्रजातंत्र के ये साधन ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं। ये विज्ञान के मार्ग हैं।	३—तानाशाही में केवल विश्वास की आवश्यकता पड़ती है। इसमें किसी एक महत्वपूर्ण उद्देश्य के लिये उत्तेजना, साहस तथा त्याग को काम में लाया जाता है।
४—प्रजातंत्र साधारण मनुष्य की सदाशयता और बुद्धि पर आधारित है इसलिये इसमें झूठा प्रचार अत्यन्त हानिकर सिद्ध होता है क्योंकि इससे उचित निर्णय असम्भव हो जाता है।	४—तानाशाह के लिये प्रचार अत्यन्त हितकर है। इसके द्वारा विश्वास उत्पन्न करने में सहायता मिलती है। प्रचार तानाशाही नियंत्रण का साधन, शासन का ढंग और तानाशाह की शक्ति की आत्मा है।
५—प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण विकास प्रजातंत्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति है।	५—तानाशाही में व्यक्ति का सबसे बड़ा गुण पूर्ण आत्मसमर्पण करना और राज्याज्ञा पालन करना है।
६—प्रजातंत्र स्वतंत्रता का समर्थक है।	६—तानाशाही अनुशासन तथा त्याग का समर्थक है।
७—प्रजातंत्र अधिकारों पर जोर देता है।	७—तानाशाही कर्तव्यों पर जोर देती है।
८—प्रजातन्त्र न्याय सहिष्णुता तथा लोकहित के लिये अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह है।	८—तानाशाही व्यक्तिगत स्वतंत्रता और नेतृत्व को समाप्त करती है और आलोचना नहीं सहती। यह लोगों के बौद्धिक विकास को रोकती है, उनके मुँह को बन्द करती है और उनको अन्धा बना देती है।
९—प्रजातन्त्र केवल शासन का रूप ही नहीं है वरन् यह एक जीवन मार्ग है जो अल्पसंख्यकों के हित के लिये न होकर सार्वजनिक हित के लिये है।	९—तानाशाही केवल शासन का एक रूप है। यह जीवन-मार्ग न होकर अन्याय और अत्याचार का पथ है और यह किसी एक व्यक्ति अथवा दल की शक्ति पर आधारित है।
१०—प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का समर्थक है: मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा हुआ है और उसे सुख और सम्पत्ति प्राप्त करने का	१०—तानाशाही का आधार दासता, और निर्विवाद आज्ञापालन, अल्पसंख्यक दल का शासन करने का अधिकार और वर्ग वैमनस्य है। इसके सिद्धान्त के

प्रजातन्त्र	तानाशाही
अधिकार है। इसका अर्थ हुआ कि वह राज्य से काम और उचित अवकाश की माँग कर सकता है। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के ये अधिकार तभी प्राप्त हो सकते हैं जब लोग स्वयं शासन करते हों।	अनुसार मनुष्य का जन्म आज्ञापालन के लिये हुआ है और असमानता जन्मजात है। केवल कुछ चुने हुये व्यक्ति ही सार्वजनिक हित को भली-भाँति समझ सकते हैं।
११—प्रजातन्त्र मानव स्वभाव और सर्वसाधारण की सच्चाई तथा ईमानदारी पर विश्वास रखता है। इसके सिद्धान्त के अनुसार साधारण मनुष्य प्रयत्नों तथा अपनी भूलों से अनुभव प्राप्त करके स्वशासन के उत्तरदायित्व को भली भाँति समझ सकेगा और उसे निभा सकेगा। जनता की सेवा करने का यही सर्वोत्तम मार्ग है।	११—तानाशाही बहुसंख्यकों को पशु और प्रजातंत्रवाद को पागलपन समझती है। इसके अनुसार साधारण मनुष्य मूर्ख और स्वार्थी होता है और असंख्य जन-समुदाय वक्ताओं के प्रभाव से मंत्रमुग्ध होकर बुद्धिहीन पशुसमूह हो जाता है। इसलिये साधारण मनुष्य को शिक्षा तथा अनुशासन की आवश्यकता रहती है। वह केवल आज्ञापालन करने के योग्य होता है—एक यंत्र की भाँति जो विशेषज्ञों द्वारा जिस दशा में चाहें घुमाया जा सके। उसका कर्तव्य केवल सुनना है आलोचना करना नहीं। नेताओं को स्वाभाविक बुद्धि, ज्ञान और प्रेरणा प्राप्त रहती है इसलिये वे सर्वसाधारण का नेतृत्व भली-भाँति कर सकते हैं। अतः साधारण व्यक्ति आलोचना करने पर जेल में रक्खा जाने योग्य है।
१२—प्रजातन्त्रात्मक राज्य में सहिष्णुता का विकास होता है और क़ानून तथा स्वतन्त्रता साथ-साथ पाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र विचार और कार्य का अवसर मिलता है। सहिष्णुता के परिणाम-स्वरूप क़ैदियों, पागलों, ग़रीबों तथा दूसरे अभागों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाने लगता है। लोकमत दयालु हो जाता है और मानव-हितवाद, शिक्षा	१२—तानाशाही में असहिष्णुता और अत्याचार का बोलबाला रहता है। इसमें क़ानून और स्वतन्त्रता निरर्थक शब्द हैं। तानाशाह की इच्छा ही क़ानून तथा नियम है। इसके परिणाम-स्वरूप अन्याय और सन्देह इतना बढ़ जाता है कि साधारण शासन के लिये गुप्तचरों की एक बहुत बड़ी संख्या की आवश्यकता पड़ती है। उत्पीड़न, अत्याचार और यंत्रणा ही शासन के

प्रजातन्त्र	तानाशाही
का प्रसार, और स्वतंत्रता का विकास होता है।	साधन बनते हैं और विद्वानों तथा वैज्ञानिकों को आइन्सटाइन (Einstein) और ट्रॉट्स्की (Trotsky) की भाँति या तो स्वयं ही देश छोड़ना पड़ता है या वे जबरदस्ती निकाल दिये जाते हैं।
१३—प्रजातन्त्र का ध्येय उच्च-जीवन है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह व्यक्ति के मूल्य को समझता है और भाई-चारे पर ज़ोर देता है। इसके आधार राजनीतिक और सामाजिक अधिकार हैं। मानवहित के दृष्टिकोण से यह न केवल मित्रों के लिये वरन् समस्त मानव-जाति के लिये सहानुभूति का समर्थक है। दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रजातंत्र आत्म-दर्शन पर आधारित है। इसमें उचित कार्य केवल इसलिये किया जाता है कि वह उचित है; सत्य जानने की अभिलाषा केवल सत्य के लिये की जाती है और सुन्दर वस्तु का निर्माण केवल सौन्दर्य के लिये किया जाता है। इस प्रकार उच्च-जीवन व्यतीत करना ही प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य हो जाता है। वह अपने मित्रों से सहयोग और पड़ोसियों से प्रेम करता है।	१३—तानाशाही में इन सभी गुणों का अभाव रहता है। धृष्ठता, क्रूरता और दबाव इसके आवश्यक लक्षण हैं। सहानुभूति पर आधारित उच्च-जीवन का यहाँ स्थान नहीं क्योंकि सारा सामाजिक जीवन संदेह, अविश्वास और धोखे पर निर्मित है। यह तर्क और स्वतंत्रता पर विश्वास नहीं रखती। यह एक प्रकार का ऐसा धर्म है जिसकी नींव अन्धविश्वास है।
१४—प्रजातंत्र विकासात्मक है।	१४—तानाशाही का उदय यकायक होता है। इसकी जड़ें लोगों की परम्परा और परिपाटी में नहीं पाई जातीं।
१५—प्रजातंत्र में सुधार वादविवाद और विश्वास उत्पन्न करके किये जाते हैं।	१५—तानाशाही अपने लक्ष्य साधन के लिये हिंसा और शक्ति का प्रयोग करती है।
१६—'सुशासन स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता' यह प्रजातंत्र का आदर्श वाक्य है।	१६—स्वशासन अर्थात् बहुसख्यकों द्वारा शासन निरर्थक है। केवल कुछ ही व्यक्ति ठीक तरह से शासन कर सकते हैं।

प्रजातन्त्र	तानाशाही
	शासन लोगों के हित के लिये होना चाहिये लोगों द्वारा नहीं ।
१७—सभात्मक प्रजातंत्र में कम-से-कम दो राजनीतिक दल आवश्यक हैं । इसमें विरोधी पक्ष सदैव शासन की आलोचना करने के लिये रहता है । यह केवल विरोध के लिये विरोधी नहीं है वरन् भावी शासक वर्ग है । इस प्रकार शासन में परिवर्तन बिना हिंसा और क्रान्ति के हो जाता है ।	१७—तानाशाही में एक ही राजनीतिक दल रहता है । इसमें विरोधी पक्ष को कमजोर ही नहीं किया जाता वरन् उसे समाप्त ही कर दिया जाता है । यदि शासन असंतोषजनक हो जाता है तो वह हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा ही बदला जा सकता है ।
१८—प्रजातंत्र की परिभाषा हम तीन नकारात्मक वाक्यों में दे सकते हैं :— (१) उस देश में, जहाँ प्रत्येक नागरिक जो कहना चाहे नहीं कह सकता प्रजातंत्र का अभाव रहता है । (२) यदि देश में शासन परिवर्तन के लिये शान्तिपूर्ण साधन नहीं हैं तो वहाँ प्रजातंत्र नहीं है । (३) यदि किसी देश में शासकवर्ग का लक्ष्य राज्य-विस्तार और अपनी ख्याति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो वह प्रजातंत्रात्मक नहीं है । प्रजातंत्र का लक्ष्य प्रत्येक नागरिक का हित और सुख है और वह सम्पूर्णजाति की महानता और सुयश का समर्थक है ।	१८—तानाशाही अपने विरुद्ध आलोचना करने वालों को समाप्त कर देती है । इसमें शान्तिपूर्ण परिवर्तन असम्भव है । यह लोगों का ध्यान आन्तरिक शासन से हटाकर बाह्य विजय और राज्य-विस्तार पर लगाती है । इसके फलस्वरूप नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता और वे तानाशाह के हाथ की पुतलियाँ बन जाते हैं ।

चौथा अध्याय

राज्य का विधान

दूसरे अध्याय में हमने बतलाया था कि आधुनिक राज्यों का वर्गीकरण उनके शासन विधानों की प्रकृति पर आधारित है। यहाँ हम विधानों के अर्थ तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के विधानों के विशेष लक्षणों का अध्ययन करेंगे।

अरस्तू

अरस्तू पहला व्यक्ति था जिसने कहा था कि 'राज्य का रूप उसके (शासन) विधान के अधीन है।' और उसके लिये विधान 'सत्ता की व्यापक प्रणाली है जिसके द्वारा राज्य-कार्य संचालित होते हैं। शासन के विभिन्न अंगों की संख्या तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का निश्चय और सर्वोच्च सत्ता या राज-सत्ता के निवास-स्थान का निर्णय विधान द्वारा किया जाता है।'

आधुनिक लेखकगण

अरस्तू का अनुसरण करते हुए आधुनिक लेखकों ने भी शासन विधान की परिभाषा अपने-अपने ढंग से की है :

(१) डाइसी का कथन है कि 'सभी नियम जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से राज-सत्ता के प्रयोग तथा वितरण को प्रभावित करते हैं, मिलकर विधान बनते हैं।'

(२) लास्की महोदय ने राज्य तथा शासन की परिभाषा देते हुए विधान की भी परिभाषा दी है। उनके विचार से राज्य ऐसे व्यक्तियों का समाज है जो (आवश्यकतानुसार बलप्रयोग से भी) एक निश्चित प्रकार के जीवन-निर्वाह के लिये बाध्य हैं। समाज के सभी आचरण उसी प्रणाली के अनुसार होने चाहिये। वे नियम जो इस प्रणाली के स्वभाव को तय करते है राज्य के क़ानून हैं और स्पष्ट रूप से शेष नियमों में मुख्य हैं। समाज के वे व्यक्ति जो इन क़ानूनों को बनाते और लागू करते हैं शासक कहे जाते हैं और क़ानून का वह भाग जो यह तय करता है कि (क) इस भाँति के नियम किस प्रकार बनाये जायँगे, (ख) किस प्रकार बदले जायँगे और (ग) उन्हें कौन बनायेगा, राज्य का विधान कहा जाता है।

(३) ऊल्जे शासन-विधान की परिभाषा इस प्रकार देता है : 'उन सिद्धान्तों के संग्रह को जिनके अनुसार शासन की शक्ति और शासितों के अधिकारों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों को तय किया जाता है, राज्य का विधान कहते हैं।'

(४) ब्राइस के मतानुसार विधान राजनीतिक समाज का ढाँचा है जिसका संगठन क़ानून द्वारा होता है यानी जिस में क़ानून ने स्थायी संस्थाओं को स्थापित कर दिया है तथा जिनके स्वीकृत कर्तव्य और निश्चित अधिकार हैं। उसका यह भी कथन है

कि विधान स्थापित नियमों का एक समूह है जो शासन के कर्तव्यों को अंगीभूत करते हुए उनकी कार्य-प्रणाली का निर्देश करता है।

(५) चार्ल्स बोरगां (Charles Borgeaud) के विचार से 'विधान वह बुनियादी या प्राथमिक क़ानून है जिसके अनुसार किसी राज्य के शासन का संगठन होता है और व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को तय किया जाता है। यह एक क़ानूनी लेखपत्र के रूप में हो सकता है जिसमें एक या कुछ निश्चित मूल वाक्य हों जिन्हें किसी सर्वोच्च सत्ता ने एक ही समय में बनाया हो। यह व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये क़ानून, (Legislative Acts), विशेष कालीन क़ानून (Ordinance), न्यायाधीश के निर्णय (Judicial decisions) तथा विभिन्न प्रकार की उत्पत्ति और महत्व वाली नज़ीरों और प्रथाओं का समावेशित रूप हो सकता है।

विधान का स्वभाव

ऊपर दी हुई परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विधान राज्य के रूप को निश्चित करता है और इसलिये यह वह बुनियादी क़ानून है जो शासन की विभिन्न शक्तियों तथा शासितों के अधिकारों को निर्धारित करता है। यह कदापि आवश्यक नहीं है कि इस बुनियादी क़ानून को एक ही समय बनाया जाय और एक ही लेखपत्र के अंगीभूत कर दिया जाय। विधान सदियों के विकास का फल हो सकता है। प्रो० स्ट्रांग ने इस दृष्टिकोण को बड़ी स्पष्टता से रक्खा है। उनका कथन है कि 'विधान एक ही समय लिपिबद्ध किया जा सकता है या वह एक लेखपत्र के रूप में होते हुए भी ऐसा हो सकता है जिसमें आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन किया जा सके। वह विधान विभिन्न प्रकार के ऐसे क़ानूनों का संग्रह भी हो सकता है जिनका एक विशेष महत्व रहता है और जो विधान के क़ानून कहे जाते हैं। इसके अलावा विधान के आधार दो-एक बुनियादी क़ानून बन सकते हैं और परम्परायें और प्रथायें उसकी नियंत्रक शक्ति हो जाती हैं[१]।

उदाहरण

उदाहरणों की सहायता से हम इस दृष्टिकोण को आसानी से समझ सकते हैं। अमेरिका के संयुक्त-राज्य का शासन-विधान १७८७-८६ में बनाया गया था और एक लेखपत्र के अंगीभूत कर दिया गया था। लेकिन तब से आज तक उसमें बहुत से छोटे बड़े परिवर्तन आ गये हैं। किन्तु हमारे आज के भारतवर्ष में इस प्रकार के शासन-विधान का अभाव है। १६१६ और १६३५ के क़ानूनों के अनुसार यहाँ शासन किया जाता है—केन्द्रीय शासन १६१६ के क़ानून के अनुसार है और तथाकथित प्रान्तीय स्वराज (Provincial Autonomy) १६३५ के क़ानून द्वारा स्थापित किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यही दो क़ानून भारतवर्ष के शासन-विधान को निर्धारित

१ स्ट्रांग—मार्डन कान्स्टीट्यूशन्स (Modern Constitutions), पृष्ठ १०।

करते हैं। इंगलैण्ड में सारी स्थिति बिल्कुल दूसरी है। बेशक वहाँ भी महान स्वतंत्रता-पत्र (Magna Charta), अधिकार-बिल (Bill of Rights), उत्तराधिकार-क़ानून (Act of Settlement) और १९११ का पार्लिमेन्टीय-क़ानून हैं किन्तु इंगलैण्ड में शासन के विभिन्न अंगों के अधिकार प्रायः प्रथाओं और रीति-रिवाजों द्वारा ही निर्देशित हैं।

विधान के उद्देश्य

प्रो० स्ट्रांग के कथनानुसार 'विधान का कोई भी रूप क्यों न हो, उसमें निम्नलिखित तथ्य अवश्य पाये जायँगे। वे हैं :

(१) शासन के विभिन्न अंगों का किस प्रकार संगठन होता है ?;

(२) किस अंग को क्या अधिकार सौंपा गया है ? और

(३) इन अधिकारों को किस प्रकार प्रयोग में लाया जायगा ?

जिस प्रकार हमारे शरीर के ढाँचे के अन्तर्गत विभिन्न अवयव हैं जो स्वस्थ दशा में आपस में मिलकर कार्य करते हैं और अस्वस्थ हो जाने पर नहीं उसी प्रकार एक राज्य या राजनीतिक समाज का भी विधान (ढाँचा) होता है जिसके विभिन्न अंग आपस में मिलकर स्वतन्त्रता से कार्य सम्पादन करते हैं और किसी बाहरी निरङ्कुश व्यक्ति से आदेश नहीं लेते। विधान का उद्देश्य स्वेच्छाचारी शासन को रोकना है अथवा दूसरे शब्दों में शासितों को कुछ न कुछ अधिकार देना है। संक्षेप में यह राज-सत्ता के वास्तविक रूप का निर्णय करता है'।[१] इस भाँति शासन-विधानों का प्रमुख कार्य स्वेच्छाचारी तथा निरङ्कुश शासकों के अधिकारों को सीमित करना है। विशेषतः ऐसा इंगलैण्ड में हुआ था और वहाँ की पार्लिमेन्ट को स्वतन्त्रता का युद्ध अपने बादशाहों से ही लड़ना पड़ा था जो उसके बग़ैर शासन करना चाहते थे। अन्त में पार्लिमेन्ट सफल रही और सन् १६८८ की क्रान्ति के बाद इंगलैण्ड में वैधानिक शासन की स्थापना हुई।

वैधानिक-शासन

अतः वैधानिक शासन का यह अर्थ है कि शासन-कार्य किसी व्यक्ति विशेष की इच्छाओं और सनक के अनुसार न होकर क़ानून द्वारा नियमित है। यह क़ानून का शासन है, व्यक्तियों का नहीं। वैधानिक शासन लोगों के हित का ध्यान रखता है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को क़ायम रखता है। इस भाँति राज-सत्ता जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में आ जाती है और बादशाह तथा दूसरे स्वेच्छाचारी शासक मनमानी नहीं कर सकते। वे एक अर्थ में जनता के सामने उत्तरदायी होते हैं क्योंकि उनके मन्त्री सार्वजनिक कार्यों के लिये जनता के सामने ज़िम्मेदार हैं। जनता उन्हें जब चाहे हटवा सकती है। किन्तु आज के युग में भी अरब का बादशाह इब्न सऊद वैधानिक राजा नहीं है क्योंकि उस देश में राजा की इच्छा ही क़ानून है और लोगों का कोई अपना संगठन नहीं है जिससे वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें। वहाँ मन्त्री अपने कार्य के लिये बादशाह

---

१ स्ट्रांग—'Modern Constitutions,' पृष्ठ १०।

के सामने उत्तरदायी होता है और वह उसे जब चाहे हटा सकता है। वह किसी भी मनुष्य की गिरफ़्तारी का हुक्म बिना कोई कारण दिखाये दे सकता है। लेकिन इसके प्रतिकूल अँग्रेजी शासन वैधानिक है। वहाँ का बादशाह पार्लिमेन्ट के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। बादशाह को अकारण किसी व्यक्ति को जेल भेजने का भी अधिकार नहीं है। वहाँ के नागरिक बग़ैर मुक़दमे में अभियोगी साबित हुए जेल नहीं भेजे जा सकते।

तानाशाही और वैधानिक शासन

किन्तु आधुनिक युग में तो तानाशाही भी अपने को वैधानिक कहने लगी थी। तानाशाहों का दावा था कि उनका शासन जनता की इच्छा पर आधारित था। हिटलर अपनी रीख को (Reich) को वैधानिक 'जर्मन राज्य' कहता था। वास्तविकता यह है कि बाह्य-रूप से ये शासन वैधानिक प्रतीत होते थे किन्तु आन्तरिक स्थिति इसके प्रतिकूल थी। वे अवैधानिक और स्वेच्छाचारी शासन थे। न वे जनता के हित को ध्यान में रखते थे और न वहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ही उपलब्ध थी। इसलिये यह कहना कि मूल रूप में स्वेच्छाचारी होते हुए तानाशाही वैधानिक शासनों की श्रेणी में आती है उपयुक्त न होगा। इनका झुकाव जनता की स्वतन्त्रता की ओर न होकर स्वेच्छाचारी-शक्ति की ओर था। इसलिये वास्तविक वैधानिक राज्य प्रजातन्त्रात्मक ही हो सकते हैं। यह सच है कि इन तानाशाही शासनों का प्रादुर्भाव राष्ट्रीय राज्यों ही में हुआ था किन्तु वे राष्ट्रीय प्रजातन्त्र-राज्य कदापि नहीं कहे जा सकते। तथाकथित वैधानिक राज्यों का अस्तित्व राष्ट्रीय प्रजातन्त्रात्मक राज्यों ही में सम्भव हो सकता है।

क्या भारतवर्ष एक वैधानिक राज्य है ?

हमारा देश भी दो कारणों से वैधानिक राज्य नहीं कहा जा सकता:—

(१) यह अब भी राष्ट्रीय प्रजातन्त्रात्मक-राज्य नहीं है क्योंकि भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल इंगलैण्ड के बादशाह का प्रतिनिधि है और वह अपने कामों के लिये इंगलैण्ड की पार्लिमेन्ट के सम्मुख उत्तरदायी है न कि भारतीय व्यवस्थापिका के।

(२) गवर्नर-जनरल भारतवर्ष का शासन स्वनिर्मित क़ानूनों द्वारा कर सकता है जो जनता की राय से बनाये हुए नियमित क़ानून नहीं हैं। प्रान्तीय स्वराज भी एक ढकोसला ही है क्योंकि वाइसराय की भाँति सूबों के गवर्नर[1] भी विधान को स्थगित कर सकते हैं और मन्त्रियों को हटा कर जनता की अनुमति के बग़ैर शासन कर सकते हैं। इसलिये, यद्यपि भारतवर्ष में वैधानिक शासन की शुरूआत हो गई है किन्तु पूर्णरूप से वैधानिक-शासन अभी स्थापित नहीं हो पाया है।

---

१ अक्टूबर १९४२ में सिन्ध के गवर्नर ने स्वर्गीय श्री अल्लाबख्श को सूबे के प्रधान-मंत्री के पद से दफ़ा ५१ के अन्तर्गत हटा दिया था। अप्रैल १९४४ में पंजाब के गवर्नर ने सरदार शौकत हयात खाँ को जो वहाँ के मंत्रि-मंडल में थे हटा दिया था।

लिखित और अलिखित विधान

WRITTEN AND UNWRITTEN CONSTITUTIONS

विधान तथा वैधानिक शासन के अर्थ और उद्देश्य को समझ लेने के पश्चात् अब हम विधान की क़िस्मों पर ध्यान दे सकते हैं।

सर्वप्रथम, विधानों का वर्गीकरण लिखित और अलिखित विधानों में किया गया है। जिन देशों में शासन के विभिन्न अंगों के कार्य तथा कार्य-क्षेत्र एक या एक से अधिक लेखपत्रों पर अंकित हैं और उन्हीं के अनुसार शासन-कार्य का सम्पादन होता है वहाँ के विधान लिखित कहे जाते हैं। अलिखित विधान ऐसे देशों में पाये जाते हैं जहाँ शासन के अंगों का कार्य-क्षेत्र लिखे हुए क़ानूनों द्वारा नियमित न होकर प्राचीन परम्पराओं और रस्म-रिवाजों पर निर्भर रहता है। लेकिन इसके यह मानी नहीं कि विधान पूर्णतया लिखित या अलिखित होते हैं। सभी विधानों में कुछ लिखित और कुछ अलिखित बातें होती हैं,[1] अन्तर केवल मात्रा का होता है।

स्ट्रांग का विचार

हमारे कथन का समर्थन प्रो० स्ट्रांग भी निम्नलिखित शब्दों में करते हैं :—

'प्रायः विधान लिखित और अलिखित क़िस्मों में विभाजित किये जाते हैं। वास्तव में यह विभाजन ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी विधान ऐसा नहीं है जो पूर्णरूप से लिखित अथवा पूर्णरूप से अलिखित हो। प्रायः ऐसे विधान को लिखित विधान कहते हैं जो एक लेखपत्र के रूप में हो और जिसकी विशेष महत्ता समझी जाती हो। ऐसे विधान को जो लिखित क़ानूनों की अपेक्षा रीतियों और परम्पराओं पर विकसित हुआ है अखिलित विधान कहते हैं।' स्ट्रांग के अनुसार इस प्रकार के विभाजन से तीन ग़लत धारणाओं की सम्भावना रहती है[2]।

सर्वप्रथम इस विभाजन से हमें यह ग़लत धारणा होती है कि अलिखित विधान प्रथाओं, रीतियों और परम्पराओं पर आधारित है और लिखित विधान में ये चीज़ें नाममात्र के लिये भी नहीं पाई जातीं। किन्तु वास्तव में तो जैसा हमने कहा है कोई भी विधान पूर्णरूप से लिखित अथवा अलिखित नहीं होता। प्रत्येक लिखित विधान में कुछ अलिखित परम्पराओं का समावेश रहता है और अलिखित में कुछ लिपिबद्ध क़ानून और नियम रहते हैं।

---

१ ब्राइस के विचार से ये शब्द उपयुक्त नहीं हैं यद्यपि जिस अन्तर को ये प्रकट करना चाहते हैं वह वास्तविक है। विधानों की इन दो क़िस्मों को पृथक् करने वाली रेखा स्पष्ट नहीं है क्योंकि लिखित विधानों में कुछ अलिखित बातें होती हैं और अलिखित में कुछ लिखित। यद्यपि अलिखित विधानों का आरम्भ परम्पराओं और प्रथाओं से होता है फिर भी उनमें कुछ लिपिबद्ध नियम अवश्य ही रहते हैं।—Studies in History and Jurisprudence–जिल्द १ पृष्ठ १४८।

२ स्ट्रांग—'Modern Constitutions', पृष्ठ ६३।

दूसरे, इस प्रकार के विभाजन से हमें यह धारणा हो जाती है कि विधान नामक लेखपत्र के अन्तर्गत लाये हुए क़ानूनों के अलावा विधान के दूसरे क़ानून नहीं होते।

तीसरे, इससे हमें यह विश्वास हो जाता है कि क़ानून को हमेशा लिखितरूप में ही होना चाहिए। रीति-रिवाजों की शक्ति को, जिनका पालन क़ानून ही की भाँति किया जाता है, हम भूल जाते हैं।

प्रो० स्ट्रांग स्वयं लिखित विधान को प्रामाणिक (documontary) और अलिखित को अप्रामाणिक (non-documentary) कहना ज्यादा पसन्द करते हैं[1]।

गार्नर का विचार

इसी भाँति प्रो० गार्नर[2] का भी कथन है कि तथाकथित अलिखित विधान वह है जिसमें काफ़ी नियम लिपिबद्ध करके एक या एक से अधिक प्रमाण पत्रों के अंगीभूत नहीं किये गये हैं। यह परम्पराओं, रीतियों और न्यायाधीशों के निर्णयों तथा विभिन्न अवसरों पर पास किये गये विधि-बद्ध क़ानूनों को मिलाकर बनता है। इस क़िस्म के विधान एक ही समय पर किसी विधान-निर्मात्री परिषद् अथवा अन्य सभा द्वारा नहीं तैयार किये जाते। सर जेम्स मैकिन्तोश (Sir James Mcintosh) का कथन है कि विधानों का विकास होता है, वे बनाये नहीं जाते। अलिखित विधान इस मत के उपयुक्त उदाहरण हैं। इसके प्रतिकूल लिखित विधान वह है जिसमें काफ़ी व्यवस्थायें एक या एक से अधिक क़ानून-पत्र में लिपिबद्ध कर दी जाती हैं। यह एक निश्चित समय में मंत्रणा करके बनाया जाता है और शासन के संगठन तथा संचालन करने के नियम निर्धारित कर दिये जाते हैं। प्रो० गार्नर लिखित और अलिखित विधानों के अन्तर को प्रकार का भेद न मान कर केवल मात्रा का मानते हैं। सभी लिखित विधान कालान्तर में कितने ही अलिखित नियमों, प्रथाओं और न्यायाधीशों की व्याख्या को अपने में समावेश कर लेते हैं और इसी भाँति तथाकथित अलिखित विधानों में कितने ही लिखे हुए नियम और क़ानून आ जाते हैं[3]। इस प्रकार अगर प्रो० स्ट्रांग इस विभाजन

---

१ स्ट्रांग—'Modern Constitutions' पृष्ठ ६४।

२ गार्नर—'Political Science and Government' पृष्ठ ५०८।

३ 'लिखित विधान प्रथाओं से काफ़ी प्रभावित हुए हैं। इसका उदाहरण अमरीका के विधान में मिलता है। इसी प्रकार इंगलैण्ड के (अलिखित) विधान में लिखे हुए नियम काफ़ी तादाद में आ गये हैं। आज वे विधिबद्ध क़ानून उत्तराधिकार, मताधिकार और निर्वाचन के नियम निर्धारित करते हैं, कार्यकारिणी और न्याय-कारिणी की कार्यप्रणाली तथा पार्लिमेन्ट की अवधि और दोनों सभाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित करते हैं।...............१६०६ के बजट (आय व्यय का ब्यौरा) के ऊपर जो संघर्ष हुआ था उसके फलस्वरूप पार्लिमेन्ट ने क़ानून पास करके कुछ मसलों पर कामन-सभा को लार्ड-सभा की सम्मति के बिना भी क़ानून बनाने तथा पास करने का अधिकार दे दिया था। विधिबद्ध क़ानूनों की शक्ति बढ़ती ही जा रही है।'

ई० एम० सेट—'Political Institutions' पृष्ठ ३२६।

को ग़लत, भ्रमोत्पादक और भ्रान्तिपूर्ण कहते हैं। प्रो० गार्नर इसे अस्पष्ट और अवैज्ञानिक कहते हैं[1]। किन्तु कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो इस विभाजन को क़ायम रखना चाहते हैं और लिखित विधानों को विधिबद्ध और निर्मित विधान कहते हैं तथा अलिखित को सार्वजनिक क़ानून, विकसित अथवा विकास-शील और ऐतिहासिक विधान कहते हैं।

उदाहरण

आधुनिक युग में अधिकतर राज्यों में लिखित-विधान पाये जाते हैं। इस प्रकार अमरीका के संयुक्त राज्य, जापान, स्विटजरलैण्ड, टर्की, ब्रिटिश डोमीनियनों और भारत-वर्ष के विधान लिखित हैं। हमारे देश के विधान का लिखित अंश सन् १६१६ और १६३५ के क़ानूनों को मिलाकर बनता है। किन्तु दूसरे देशों की भाँति इस देश में भी अलिखित वैधानिक प्रथाओं का विकास होना आरम्भ हो गया है। इस भाँति यहाँ के विधान के अनुसार वाइसराय और गवर्नर-जनरल की नियुक्ति केवल पाँच साल के लिये होती है किन्तु उसकी कार्यकारिणी के सदस्यों की अवधि के बारे में विधान में कुछ भी नहीं लिखा हुआ है। वैधानिक प्रथा के अनुसार केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों की नियुक्ति भी पाँच ही साल के लिये होती है। अलिखित विधान का केवल एक ही सर्वोत्तम उदाहरण हमें इंगलैण्ड के विधान में मिलता है। यह अधिकतर राजनीतिक प्रथाओं पर आधारित है और डाइसी के शब्दों में यह समझौतों, रिवाजों, परि-पाटियों और वैधानिक प्रथाओं को मिलाकर बना है। ये लिखित और क़ानून के रूप में न होते हुए भी राजसत्ता तथा इसके विभिन्न अंगों का नियन्त्रण करते हैं और उनका कार्यक्षेत्र नियत करते हैं परन्तु न्यायालय इनको लागू नहीं करते[2]। लेकिन हेबियस कार्पस एक्ट, अधिकार-बिल, मताधिकार से सम्बन्धित विभिन्न क़ानून और १६११ का पार्लिमेंट-क़ानून तथा मन्त्रियों के पुनः निर्वाचन का क़ानून (१६१६) इंगलैण्ड के विधान के लिखित अंग के रूप हैं।

लिखित और अलिखित विधानों पर डाक्टर फ़ाइनर का विचार

लिखित और अलिखित विधान की सारी समस्या को डाक्टर फ़ाइनर ने निम्न-लिखित ढंग से रक्खा है :—

---

१ ई० एम० सेट का कथन है कि 'यह सच है कि वकील लोग 'अलिखित' शब्द को सार्वजनिक क़ानून के अर्थ में, जो कि न्यायाधीशों के निर्णयों से बना है, प्रयोग करते हैं किन्तु इस शब्द को विधिबद्ध क़ानूनों के सम्बन्ध में प्रयोग करने का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। इंगलैंड के विधान में काफ़ी मात्रा विधिबद्ध क़ानूनों की है। इन कारणों से ऐसे शब्दों का प्रयोग ज्यादा अच्छा होगा जो अभिप्रेत भेदों को भलो भाँति प्रकट कर सकें। इसलिये इंगलैंड के विधान को हम 'विकीर्ण' (Scattered) और अमरीका के विधान को जिसका विशेष लक्षण यह है कि वह एक ही स्थान पर लेखबद्ध है 'विधिबद्ध' कह सकते हैं।'—'Political Institution', पृष्ठ ६२३।

२ डाइसी 'Law of the Constitutions' पृष्ठ २३।

'लिखित और अलिखित विधानों के अन्तर को जानने के लिये आवश्यक है कि हम अलिखित विधान वाले केवल एक देश इंगलैण्ड की तुलना और देशों की स्थिति से करें। यह अन्तर कैसा है? इंगलैण्ड की मौलिक राजनीतिक संस्थायें जिनसे राजसत्ता प्रवाहित होती है लिखे हुए क़ानूनों की शक्ति पर नहीं क़ायम हैं[1]। इन पर निम्नलिखित का नियन्त्रण रहता है।

१—न्यायाधीशों के निर्णय जो प्राचीन राजाओं की प्रतिज्ञाओं, सार्वजनिक क़ानूनों और पार्लिमेण्ट के प्रस्तावों के अनुसार होते हैं।

२—कुछ विधिबद्ध क़ानून जो वादविवाद और प्रवचन के फलस्वरूप पास किये जाते हैं (जैसे उत्तराधिकार का क़ानून, मताधिकार के क़ानून और सन् १९११ का पार्लिमेन्ट का क़ानून)।

३—अलग-अलग विकसित राजनीतिक प्रथायें तथा परिपाटियाँ। ये तो शासन के अधिकतर कार्यों को नियमित करती हैं। पार्लिमेण्ट की सर्वोच्च सत्ता तथा मन्त्रिमंडल का पार्लिमेण्ट और जनता के सामने उत्तरदायित्व इन्हीं प्रथाओं के द्वारा निश्चित किये गये हैं। तुलनात्मक ढंग से देखते हुए 'अलिखित' शब्द का प्रयोग जब इंगलैण्ड के विधान के सम्बन्ध में किया जाता है तो इसका तात्पर्य है कि (१) प्रत्येक वस्तु विधान में लिपिबद्ध नहीं है। कितनी ही चीजें जो और विधानों में लिखी हुई मिलती हैं यहाँ के विधान में नहीं रक्खी गई हैं और (२) विधान पहले से निश्चय करके किसी विशेष अवसर पर नहीं बना लिया गया है और साधारण क़ानून तथा वैधानिक क़ानून में कोई विशेष अन्तर नहीं है। लेकिन फिर भी हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि लिखित और अलिखित विधानों के अन्तर केवल सापेक्षित हैं और केवल एक की दूसरे से तुलना करने पर ही अन्तरों का पता लगता है'[2]।

१—ब्राइस अपनी पुस्तक 'Studies in History and Jurisprudeuce' जिल्द १, पृष्ठ १५६-५७ में लिखते हैं कि जिसे हम इंगलैण्ड का विधान कहते हैं वह लोगों के मस्तिष्क में व्याप्त अथवा विधिबद्ध दृष्टान्तों, शासन कार्य से सम्बन्धित वकीलों अथवा राजनीतिकों के कथन, प्रथाओं, परिपाटियों, समझौतों, विश्वासों तथा बहुत से कानूनों का समूह है। परन्तु क़ानून भी इन्हीं दृष्टान्तों, प्रथाओं और परिपाटियों के अधीन हैं। इनके बिना वे कार्यान्वित नहीं हो सकते थे। यदि होते भी तो उनका वर्तमान रूप न रहता।'

इसी प्रकार एच० आर० स्पेन्सर (H. R. Spenser) अपनी पुस्तक 'Governments and Politics Abroad' पृष्ठ १८ में ब्रिटिश विधान को 'एक जीवन-प्रणाली' कहते हैं। इसमें लिखे हुए कानून अवश्य हैं किन्तु विधान का अधिकांश परंम्परा पर आधारित है कि कार्यप्रणाली कैसी रही है।

२—फ़ाइनर—'Theory and Practice of Modern Governments,' जिल्द १, पृष्ठ १८३-८५

लिखित और अलिखित विधानों के तुलनात्मक लाभ

इसके अतिरिक्त डाक्टर फ़ाइनर[1] का यह भी कथन है कि लिखित विधान अलिखित की अपेक्षा ज़्यादा अच्छा और लाभकारी नहीं होता। इस प्रकार वे कहते हैं कि

(१) यह समझना ठीक न होगा कि लिखित विधान वाले देश में अलिखित की अपेक्षा अच्छा शासन होता है। यह कहना कि लिखित विधानों का आदर अलिखित की अपेक्षा ज़्यादा किया जाता है और भी ग़लत होगा।

(२) लिखित विधान में उतने ही वादविवाद उठ सकते हैं जितने अलिखित में। इसलिये लिखित विधानों के होते हुए भी न्यायाधीशों को निर्णय के आवश्यकता पड़ेगी।

(३) यद्यपि लिखित विधान में प्रत्येक शब्द के अर्थ को निश्चित करने का भरसक प्रयत्न किया जाता है फिर भी समय और वातावरण में परिवर्त्तन होने के साथ यह प्रयत्न असफल ही रहता है। इसलिये लिखित विधान इस अर्थ में भी कोई विशेष गुण नहीं रखता।

(४) अन्त में, लिखित विधान किसी युग विशेष का प्रतिबिम्ब मात्र ही हो सकता है। दस साल के बाद यह प्राचीन हो जाता है और अपना महत्व खो बैठता है। इसलिये विधान को केवल लिपिबद्ध कर देने से ही कोई स्थायी लाभ नहीं प्राप्त होता।

परिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनशील विधान

FLEXIBLE AND RIGID CONSTITUTIONS

चूंकि विधानों का लिखित और अलिखित क़िस्मों में वर्गीकरण असन्तोषजनक

कृपया मुनरो की पुस्तक Governments of Modern Europe पृष्ठ ८-१० भी देखिये। इसमें वे ब्रिटिश विधान के निम्नलिखित अङ्ग गिनाते हैं।

(अ) बड़े बड़े अधिकार-पत्र तथा अन्य उल्लेखनीय घटनायें।

(ब) विधि-बद्ध कानून।

(स) न्यायाधीशों के निर्णय।

(द) सार्वजनिक कानून।

(ई) विधान की प्रथाएँ।

इसके पश्चात् कहते हैं : 'तो इंगलैण्ड का विधान क्या है? यह संस्थाओं, सिद्धान्तों और परम्पराओं का जटिल संमिश्रण है; यह अधिकार-पत्रों और विधि-बद्ध कानूनों, न्यायाधीशों के निर्णय, सार्वजनिक कानूनों और प्रथाओं तथा रिवाजों का मिला हुआ रूप है। यह एक लेखपत्र के रूप में नहीं है वरन् हजारों को मिलाकर बना है। इसका उद्गम स्थान एक नहीं है। यह एक निर्मित वस्तु न होकर विकास शील चीज है जो बुद्धि और संयोग के फलस्वरूप विकसित हुई है।

१—अच्छा होगा कि डाक्टर फ़ाइनर के विचारों को विद्यार्थी स्वयं पढ़े। इसके लिये कृपया 'The Theory and Practice of Modern Governments' जिल्द १ पृष्ठ १६१-, १६३ देखिये।

सिद्ध हुआ इसलिये लार्ड ब्राइस ने विधानों का विभाजन परिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनशील विधानों में किया है। परिवर्त्तनशील[१] विधान उसे कहते हैं जो सरलतापूर्वक साधारण क़ानून-निर्माण-प्रणाली द्वारा बदला जा सके। इसके विपरीत जिस विधान का बदलना कठिन हो और जिसके संशोधन के लिये किसी विशेष प्रणाली की आवश्यकता पड़े उसे अपरिवर्त्तनशील विधान कहते हैं। जैसा कि ई० एम० सेट लिखते हैं: 'परिवर्त्तनशील विधान में वैधानिक क़ानून तथा साधारण क़ानून में कोई अन्तर नहीं रहता क्योंकि दोनों एक ही ढंग और एक ही व्यवस्थापिका द्वारा पास किये जाते हैं। किन्तु अपरिवर्त्तनशील विधान में वैधानिक क़ानूनों तथा साधारण क़ानूनों में काफ़ी अन्तर रहता है और विधान आसानी से नहीं बदला जा सकता[२]।'

इस अर्थ में भी हम देखते हैं कि इंगलैण्ड का विधान परिवर्त्तनशील है और

१—बार्कर महोदय कहते हैं कि 'परिवर्त्तनशीलता उस विधान में रहती है जो आसानी से लोगों की इच्छानुसार या उनके प्रतिनिधियों की इच्छा से बदला जा सके। अगर ऐसा नहीं होता तो विधान में अपरिवर्त्तनशीलता रहती है। हमारी परिवर्त्तनशीलता के अर्थ हैं कि राज्य जनता की इच्छा के अनुसार कार्य करता है; यह हमारे लिये आवश्यक भी प्रतीत होता है क्योंकि इसके अभाव में गतिरोध या क्रान्ति होने का अन्देशा रहता है।'—'Plato and Aristotle' पृष्ठ १७०

२ ई० एम० सेट 'Political Institutions—A Preface पृष्ठ २३१।

डाइसी का कथन अधिक स्पष्ट है। वह कहता है कि परिवर्त्तनशील विधान वह है जिसमें किसी 'कानून को आसानी से नियमानुकूल एक ही सभा तथा एक ही कायदे से बदला जा सके। हमारे विधान की परिवर्त्तनशीलता इस बात में है कि 'ताज' (Crown) और पार्लिमेंट को किसी भी कानून को बदलने का अधिकार है। वे उत्तराधिकार के नियम तथा (स्काटलैण्ड से) संयोग-क़ानून को ठीक उसी तरह बदल सकते हैं जिस प्रकार वे किसी कम्पनी को आक्सफोर्ड से लन्दन तक सड़क बनाने का ठेका दे सकते हैं। इसलिये हमारे यहाँ कानून वैधानिक इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध राज्य की मौलिक संस्थाओं से है और इसलिये नहीं कि वे मुश्किल से बदले जा सकते हैं। वास्तव में इंगलैंड में 'वैधानिक' क़ानून का प्रयोग लिपिबद्ध क़ानूनों के लिये मुश्किल से ही किया जाता है। अपरिवर्त्तनशील विधान उसे कहते हैं जिसमें कुछ वैधानिक या विशेष क़ानून होते हैं और वे साधारण क़ानूनों की भाँति नहीं बदले जा सकते। बेल्जियम और फ्रान्स के विधान अपरिवर्त्तनशील हैं क्योंकि वहाँ की व्यवस्थापिकायें कुछ क़ानूनों और नियमों को जो वैधानिक कहे जाते हैं अपनी साधारण हैसियत में नहीं बदल सकतीं। अपरिवर्त्तनशील विधान में 'वैधानिक' शब्द एक विशेष अर्थ रखता है और इस प्रकार के क़ानूनों और नियमों तथा साधारण क़ानूनों के बीच काफ़ी अन्तर रहता है। न तो ये साधारण क़ानूनों की भाँति बनाये ही जा सकते हैं, और न बदले ही जा सकते हैं'।—'Law of the Constitution', पृष्ठ १२०२—१२३ (कृपया मैरियट की पुस्तक 'The Mechanism of the modern State' भी देखिये जिल्द १, पृष्ठ ४१)

अमरीका का अपरिवर्तनशील[१] क्योंकि इंगलैण्ड का विधान पार्लिमेन्ट की किसी भी साधारण बैठक में बदला जा सकता है किन्तु अमरीकी-विधान में विधान को बदलने तथा उसमें संशोधन लाने के लिये चार विशेष प्रणालियाँ निर्धारित की गई हैं : (१) व्यवस्थापिका की दोनों सभाओं के दो तिहाई सदस्य संशोधन का प्रस्ताव रख सकते हैं। (२) दो तिहाई प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभायें मिलकर कांग्रेस से प्रार्थना कर सकती हैं कि विधान-संशोधन के लिये महासभा (Convention) बुलाई जाय। इन संशोधनों का पुष्टीकरण (३) तीन चौथाई प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभाओं या (४) तीन चौथाई प्रान्तों की महासभा द्वारा होना आवश्यक है।

परिवर्त्तनशील और अलिखित तथा अपरिवर्त्तनशील और लिखित विधानों के विभाजन को समझने में गड़बड़ी

विधानों को परिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनशील में विभाजित करने से बहुत

[१] वास्तव में अमरीकी विधान केवल सिद्धान्त में ही अपरिवर्त्तनशील है; व्यवहार में तो यह इतना परिवर्त्तनशील साबित हुआ है जितना इसके निर्माताओं ने सोचा भी न था। यह 'निहिताधिकार के सिद्धान्त' (doctrine of implied powers) के कारण ही सम्भव हो सका है। सर्वप्रथम उडरो विल्सन ने इसकी परिवर्त्तनशीलता पर ज़ोर दिया। उन्होंने कहा कि 'हमारा विधान ब्रिटिश विधान से कम जीवित नहीं है। माना कि इसकी जड़ें अलिखित क़ानूनों में न होकर लिखित में हैं किन्तु विधान केवल 'महा स्वतंत्रता पत्र' और 'अधिकार-बिल' की भाँति शासन पद्धति का जीवन-केन्द्र मात्र है। शासन-पद्धति में कितनी ही चीज़ें नई आ गई हैं जिनका विधान में नाम तक नहीं है। शासन-सम्बन्धी कितनी ऐसी प्रथाओं का विकास हो गया है जिनसे शासन-कार्य बहुत बढ़ गया है, किन्तु विधान में न होते हुए भी इन प्रथाओं ने विधान के शब्दों को किंचित मात्र भी नहीं बदला है।'

मैरियट ने अमरीकी विधान के इस परिवर्त्तनशील लक्षण को निम्नलिखित ढंग से रक्खा है।

'अध्यक्ष के निर्वाचन के लिये जो नियम था उसमें आये हुए परिवर्त्तन पर ध्यान देना आवश्यक है। इसके अलावा परिवर्त्तन द्वारा ही अमरीका की सेनेट संसार की द्वितीयसभाओं (Second Chambers) में सब से शक्तिशालिनी हो गई है। निरन्तर विकास ने ही वहाँ के संघ-शासन को अधिक शक्तिशाली बना दिया है और विधान द्वारा सोचे गये प्रतिबन्धों को लगाने में प्रान्तीय शक्तियाँ असफल रहीं। निहिताधिकार के सिद्धान्त ने तो अमरीका के वैधानिक विकास में गत्यात्मक शक्ति का काम किया है। संगठित दलबन्दी ने भी शासन पद्धति के रूप को बदल ही दिया है और आज अमरीका की अध्यक्षात्मक प्रणाली में संगठित दल का होना उतना ही आवश्यक है जितना इंगलैंड की सभात्मक प्रणाली में।'—The Mechanism of the Modern State जिल्द १, पृष्ठ १२०-१२१,

ई० एम० सेट ने अमरीकी विधान की प्रथाओं पर ज़ोर देते हुए कहा है कि प्रथाओं ने अध्यक्ष के चुनाव, उप-अध्यक्ष के कर्त्तव्य, मन्त्रि-मंडल, दलों,······ ··तथा सेनेट के अधिकारों को प्रभावित किया है। इन्हीं की वजह से अध्यक्ष तथा संघशासन की शक्तियों में वृद्धि हुई है—Political Institutions, A Preface, पृष्ठ ३२६

लेखकों ने यह मान लिया है कि परिवर्तशील विधान अलिखित होते हैं और अपरिवर्त्तनशील लिखित। इस प्रकार गिल्क्राइस्ट (Gilchrist) लिखते हैं: 'एक क़िस्म को परिवर्त्तनशील कहते हैं, क्योंकि यह लचकदार होता है और इसके मूल लक्षण को क़ायम रखते हुए भी विभिन्न ढंगों से मोड़ा जा सकता है। दूसरी क़िस्म को परिवर्त्तनशील कहते हैं क्योंकि यह निश्चित और स्थिर होता है। परिवर्तनशील विधान की क़िस्में पुरानी हैं और दूसरे वर्गीकरणों में इसे अलिखित, ऐतिहासिक या विकसित कहते हैं। आधुनिक काल में परिवर्त्तनशील विधान प्रायः समाप्त ही हो गये हैं। इसका एक उदाहरण हमें इंगलैण्ड के विधान में मिलता है। आस्ट्रिया और हंगरी के विधान महायुद्ध (प्रथम) के पूर्व परिवर्त्तनशील थे लेकिन अब वे लुप्त हो गये हैं[1]।' यद्यपि यह कहना ठीक है कि सभी अलिखित विधान परिवर्त्तनशील होते हैं किन्तु यह मान लेना कि सभी लिखित विधान अपरिवर्त्तनशील होते हैं ग़लत होगा। ऐसा कह कर हम डाक्टर फ़ाइनर के कथन का कि 'किसी विधान का सार उसकी अपरिवर्त्तनशीलता है[2]' खंडन नहीं करते। प्रत्येक लिखित विधान का तात्पर्य है कि अस्पष्ट और अनिश्चित नियमों को कुछ निश्चित या अपरिवर्त्तनशील रूप दे दिया गया है। लेकिन यह कहना कि सभी लिखित विधान अपरिवर्त्तनशील होते हैं अत्युक्ति होगी। वास्तव में हमारे युग की प्रवृत्ति लिखित किन्तु परिवर्त्तनशील विधानों की ओर है और 'परिवर्त्तनशील' शब्द का प्रयोग लिखित विधानों के सम्बन्ध में जिनमें संशोधन लाने के नियम जटिल नहीं हैं, किया जा सकता है।

प्रो० स्ट्रांग भी इसी विचार को इन शब्दों में रखते हैं: 'वास्तव में विधानों का विभाजन उनके लक्षण के अनुसार परिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनशील क़िस्मों में ही हो सकता है। प्रायः लोग प्रामाणिक और अप्रामाणिक क़िस्मों को इसी विभाजन का दूसरा रूप समझते हैं। अर्थ एक ही है भेद केवल शब्दों का है। लेकिन यह धारणा ग़लत है। यह सच है कि एक अप्रामाणिक विधान परिवर्त्तनशील होता है किन्तु एक प्रामाणिक विधान के लिये सम्भव हो सकता है कि वह अपरिवर्त्तनशील न हो। फिर कौन-सी ऐसी वस्तु है जो एक विधान को परिवर्त्तनशील अथवा अपरिवर्त्तनशील बनाती है? सारा अन्तर इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि

१—गिलक्राइस्ट 'Principles of Political Science' पृष्ठ ११६-११४

२—फ़ाइनर 'The Theory and Practice of Modern Government', जिल्द १, पृष्ठ १६१

फ़ाइनर के इस कथन का अर्थ अक्षरशः नहीं लेना चाहिये। नहीं तो इसके माने हो जायँगे कि (१) केवल लिखित विधान ही विधान कहलाने योग्य हैं और (२) लिखित विधान ज़रूर ही अपरिवर्त्तनशील होता है। पहले अर्थ से हम यह मानने लगेंगे कि अलिखित विधान हो ही नहीं सकते क्योंकि दि ताँकेविल (De Toqueville) ने कहा है कि इंगलैण्ड में कोई विधान नहीं है। दूसरे अर्थ से हम यह समझेंगे कि लिखित विधान परिवर्त्तनशील हो ही नहीं सकते। ये दोनों धारणायें कमज़ोर और ग़लत हैं।

वैधानिक क़ानून और साधारण क़ानून बनाने की पद्धति एक-सी है या भिन्न। जिस विधान में संशोधन या परिवर्त्तन करने के लिये किसी विशेष पद्धति की आवश्यकता पड़ती है वह अपरिवर्त्तनशील विधान कहा जाता है।' सबसे पहले स्ट्रांग इंगलैण्ड के विधान का उदाहरण देते हैं। वहाँ का विधान परिवर्त्तनशील है क्योंकि इसमें परिवर्त्तन साधारण क़ानून पास करने की पद्धति से लाया जा सकता है। फिर इटली का विधान है। यह प्रामाणिक होते हुए भी बग़ैर किसी विशेष पद्धति को काम में लाये बदला जा सकता है। १९३६ से १९४५ तक में मुसोलिनी ने विधान के शब्दों को बग़ैर बदले हुए ही इसकी आत्मा को बिल्कुल बदल दिया था। इससे स्पष्ट है कि १८४८ का इटली का विधान पूर्णतया परिवर्त्तनशील था। इसके बाद स्ट्रांग अमरीका के विधान की तरफ़ संकेत करते हैं। यहाँ का विधान अपरिवर्त्तनशील है क्योंकि यहाँ संशोधन लाने के लिये विशेष पद्धतियों को प्रयोग में लाना पड़ता है। यहाँ विधान में संघ-शासन के कार्यों को निश्चित कर दिया गया है और अगर इसके प्रतिकूल कोई चीज़ की जाती है तो विधान मोड़ा नहीं जाता वरन् तोड़ा जाता है। संक्षेप में, वह विधान जो बग़ैर तोड़े हुए न मोड़ा जा सके अपरिवर्त्तनशील विधान है[1]'।

सारांश

जो कुछ भी हमने ऊपर अध्ययन किया है उसका सारांश निम्नलिखित है :—

(१) अलिखित विधान हमेशा परिवर्त्तनशील होते हैं;

(२) लिखित-विधान भी परिवर्त्तनशील हो सकते हैं;

(३) परिवर्त्तनशील को अपरिवर्त्तशील विधान से अलग करने वाला मुख्य अन्तर उनके संशोधन-प्रणाली में होता है। अगर किसी विधान को साधारण क़ानून पास करने के ढंग से बदला जा सके तो वह परिवर्त्तनशील है, अगर ऐसा नहीं हो सकता और किसी विशेष नियमित प्रणाली का प्रयोग आवश्यक होता है तो वह विधान अपरिवर्त्तनशील है। ऐसा विधान संकट तथा असाधारण घटनाओं के समय भंग हो सकता है।

(४) विधान का लिखित होना ही उसे अपरिवर्त्तनशील नहीं बनाता। जैसा कि फ़ाइनर ने कहा है : 'विधानों को परिवर्त्तन से बचाने के लिये उनका लिखित होना ही नहीं आवश्यक, वरन् उनमें संशोधन लाने के रास्ते में प्रतिबन्ध ज़्यादा ज़रूरी हैं।' इसलिये विधान के स्वभाव को वास्तव में संशोधन-प्रणाली ही निश्चित करती है। किन्तु विधान की अपरिवर्त्तनशीलता कुछ और बातों पर भी निर्भर है जो इस प्रकार है :—

(अ) जनता की राजनीतिक प्रकृति,

(ब) विधान के नियमों की उदारता और उनका लचीलापन तथा

(स) इसकी व्याख्या करने वालों की नीति।

१—स्ट्रांग—'Modern Constitutions' पृष्ठ ६४-६५

ब्राइस ने भी कहा है कि यद्यपि इटली का विधान लिखित था किन्तु क़ानूनों द्वारा उसमें इतना परिवर्त्तन लाया गया था कि उसे परिवर्त्तनशील विधान कहना अनुचित न होगा।

परिवर्त्तनशील विधान के गुण तथा अपरिवर्त्तनशील के दोष

परिवर्त्तनशील तथा अपरिवर्त्तनशील विधानों के अन्तर को समझ चुकने के पश्चात् अब हम इनके गुण-दोष पर भी विचार कर सकते हैं। परिवर्त्तनशील विधान के मुख्य गुण तथा अपरिवर्त्तन के दोष निम्न ढंग से दिये जा सकते हैं :—

(१) परिवर्त्तनशील विधान का पहला गुण उसका लचीलापन है। यह समयानुकूल बदलता और विकसित होता रहता है। इसी गुण के कारण इंगलैण्ड के विधान में इतना महान् परिवर्त्तन सम्भव हो सका है। इस भाँति विधान की परिवर्त्तन-शीलता राज्य की प्रगति में सहायक होती है। जैसा कि ब्राइस ने कहा है : 'परिवर्त्तनशील विधान को आवश्यकतानुसार फैलाया और मोड़ा जा सकता है। जब आवश्यकता नहीं रह जाती तो यह फिर अपने पुराने रूप में आ जाता है। इस क़िस्म के विधान उस पेड़ की भाँति हैं जिसकी डालों को बग़ैर काटे हुए किसी सवारी को ले जाने के लिये ऊपर उठा लिया जाता है और जो बाद में अपने स्थान पर पहुँच जाती हैं[1]।'

एम० एमली बोटमी (M. Emile Boutmy) ने इंगलैण्ड के विधान के विकास की प्रशंसा निम्नलिखित शब्दों में की है :—

'अंग्रेजों ने अपने विधान के विभिन्न अंगों को ठीक उसी स्थान पर रहने दिया है जहाँ इतिहास के प्रवाह ने उन्हें छोड़ा था। उन्होंने कभी भी यह प्रयत्न नहीं किया कि इन अंगों को एकत्रित करके उनका वर्गीकरण करें और उन्हें संगत रूप में रक्खें। इस प्रकार के विधान में नियमों की व्याख्या करने वालों की तथा कठिनाई उत्पन्न करने वाले की नहीं चलती·········और इसी साधन से 'उपयुक्त असंबद्धता' और 'लाभदायक असंगति' को क़ायम रक्खा जा सकता है। इनकी उपस्थिति से सामाजिक शक्तियों को बल मिलता है किन्तु ऐसी शक्तियाँ अपने नियमित क्षेत्र से बाहर नहीं आ सकतीं और पूर्ण समाज के ढाँचे को नहीं हिला सकतीं। इसी कारण से अंग्रेज लोग अपने विधान पर गर्व करते हैं और उन्होंने कभी भी इसे लेखबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है[2]।'

(२) चूँकि इस प्रकार के विधान बिना किसी कठिनाई के आसानी से बदले जा सकते हैं इसलिये संकटकाल में देश क्रान्ति से बच जाता है। अपरिवर्त्तनशील विधान में परिवर्त्तन आसानी से नहीं किये जा सकते इसलिये जनता में असन्तोष बढ़ने के समय क्रान्ति का भय रहता है और विधान पूर्णरूप से नष्ट किया जा सकता है। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के समय ऐसा ही हुआ था और थोड़े ही समय में कितने विधान बने और बिगड़े। इंगलैण्ड के विधान को ऐसा धक्का कभी नहीं लगा और इसीलिये इसका एक विशेष लक्षण अविरत विकास है।

अतः फ्रीमैन (Freeman) का कहना है कि यहाँ का राष्ट्रीय जीवन पिछले चौदह हज़ार वर्षों से वाह्य आक्रमणों और आन्तरिक क्रान्तियों की परवाह न करके

१—ब्राइस 'Studies in History and Jurisprudence' जिल्द पृष्ठ १६८।

२—इसका उल्लेख मैरियट ने अपनी पुस्तक 'The Machanism of the Modern State' जिल्द १ के पृष्ठ १५३ पर किया है।

अटूट रहा है। किसी क्षण भी वहाँ भूत और वर्त्तमान का सम्बन्ध नहीं टूटा और कभी भी अंग्रेजों ने किसी सिद्धान्त के आवेग में आकर एक सम्पूर्ण नये विधान की रचना करने का प्रयत्न नहीं किया। हमारे विकास में प्रत्येक क़दम पहले क़दम के परिणाम-स्वरूप उठा है। 'हमारे बिधान और क़ानून में जितने परिवर्त्तन हुए हैं वे बिल्कुल नये न होकर पुराने रूपों पर उन्नति मात्र रहे हैं[1]।'

(३) एक अलिखित परिवर्त्तनशील विधान राष्ट्रीय मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब है। इसमें हम राष्ट्र की ऐतिहासिक अविच्छिन्नता और समयानुकूल परिवर्त्तनों को देख सकते हैं। अपरिवर्त्तनशील विधानों में व्यवस्थापकगण एक प्रमाण-पत्र में राष्ट्र के किसी विकास काल के सिद्धान्तों और व्यवहारों को संक्षेप में लिख देते हैं जो कालान्तर में नीरस और बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार ऐसे राष्ट्रों की उन्नति रुक जाती है और वे रूढ़िवादी और जीवनहीन हो जाते हैं। इसके प्रतिकूल परिवर्त्तनशील विधान वाले राष्ट्र हमेशा विकसित होते रहते हैं और जीवित तथा स्वस्थ रहते हैं।

अपरिवर्त्तनशील विधान के गुण तथा परिवर्त्तनशील के दोष

अपरिवर्त्तशील विधान के प्रमुख गुण तथा परिवर्त्तनशील के दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) अपरिवर्त्तनशील विधान अलिखित विधान की भाँति अस्पष्ट और अस्थायी न होकर दृढ़ तथा स्थायी होता है। यह प्रायः लिखित और निश्चित होता है क्योंकि अधिकतर यह वाद-विवाद और प्रौढ़ विचार के बाद एक लेखपत्र के अंगीभूत कर दिया जाता है।

(२) चूँकि अपरिवर्त्तनशील विधान आसानी से नहीं बदला जा सकता इसलिये यह दलबन्दी के दूषित प्रभाव से मुक्त रहता है। राजनीतिक दल अपने उद्देश्य को हल करने के लिये इसे नहीं बदल सकते। इसके प्रतिकूल अलिखित क़िस्म का परिवर्त्तनशील विधान ऐसे दूषित प्रभावों से प्रभावित होने के अलावा न्यायाधीशों के हाथ का खिलौना बन जाता है; वे अपनी इच्छानुसार इसका अर्थ लगाते हैं। स्वर्गीय लार्ड बरकेनहेड (Lord Birkenhead) ने अँगरेज़ी शासन-विधान को 'अनियन्त्रित विधान' कहना ज़्यादा पसन्द किया था क्योंकि यह पार्लिमेन्ट की इच्छानुसार बदला जा सकता है। इसके प्रतिकूल लिखित और अपरिवर्त्तनशील विधान को वे 'नियन्त्रित-विधान' कहते थे।

(३) लिखित तथा अपरिवर्त्तशील विधान सभी प्रकार के लोगों के लिये उपयुक्त होता है। इसके अनुसार शासन-कार्य चलाने के लिये यह आवश्यक नहीं होता कि जनता बुद्धिमान, अनुभवी तथा उत्तरदायित्व की भावना से पूर्ण हो। किन्तु जैसा कि ब्राइस ने कहा है परिवर्त्तनशील विधान को चलाने के लिये तीन शर्तें अति आवश्यक हैं :

(अ) राजनीतिक शिक्षा प्राप्त तथा ईमानदार अल्पसंख्यकों के हाथ में सत्ता होना चाहिए।

---

१ फ़्रीमैन 'English Constitution,' पृष्ठ १६।

(ब) अधिकांश लोगों को राजनीति से परिचित रहना चाहिए तथा इसमें भाग लेना चाहिए। लोगों की राजनीति में दिलचस्पी केवल विशेष अवसरों पर न होकर हमेशा होनी चाहिए।

(स) यद्यपि वैधानिक रूप से जनता सर्वप्रधान है किन्तु इसका काम केवल शासन के नियमों तथा सिद्धान्तों को निर्धारित करने तक का है। शासन के विस्तृत कार्यों का सम्पादन शिक्षित अल्प संख्यकों द्वारा ही होना चाहिए। इसी लेखक का कहना है कि परिवर्त्तनशील विधानों के विकास का अच्छा उदाहरण उन राष्ट्रों में मिलता है जो रूढ़िवादी हैं, प्राचीन वस्तुओं का आदर करते हैं, जो दृष्टान्तों को पसन्द करते हैं और उसी परिपाटी के अनुसार काम करना चाहते हैं जिसके अनुसार उनके बुजुर्गों ने किया है। इस क़िस्म के राष्ट्रीय चरित्र से परिवर्त्तनशील विधानों का विकास सम्भव होता है। चूंकि विधान में परिवर्त्तन करने का अधिकार सदैव रहा है और बुरी तरह से इस्तेमाल नहीं किया गया है इसलिये व्यवस्थापिका सँभल-सँभल कर पैर उठाती है और अनावश्यक परिवर्त्तन नहीं करती।

परिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनशील विधानों के तुलनात्मक गुण

दोनों प्रकार के विधानों के गुणों का वर्णन करते हुए हमने तुलनात्मक ढंग से उनके दोषों की तरफ भी संकेत किया था किन्तु दोनों में से कौन अच्छा है यह तय करना आसान काम नहीं। इस प्रश्न पर जज जेम्सन (Judge Jameson) का विचार सबसे उपयुक्त मालूम पड़ता है। उनका कथन है कि 'इन दो प्रकार के विधानों के गुणों और दोषों का विचार करते हुए यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि कौन अच्छा है। एक ऐसी जाति के लिये जिसकी राजनीतिक शिक्षा उच्च श्रेणी की हुई है अलिखित विधान उपयुक्त होगा। इस प्रकार की शिक्षा के दो अंग ऐसे हैं जो उस प्रणाली की रक्षा के लिये आवश्यक हैं: (१) नागरिकों को अपने राजनीतिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का ज्ञान और (२) विधान के उल्लंघन को पता लगाने तथा उसको रोकने के लिये उनकी सजगता। इन दोनों के बग़ैर राज्य-कर्मचारी शक्ति को अपने हाथों में करके पूरी प्रणाली को नष्ट कर देंगे। किन्तु एक ऐसी जाति के लिये जिसकी राजनीतिक शिक्षा अधूरी रही है और जो बराबर राजनीतिक उदासीनता और सुधारों के तीव्र आवेग का शिकार होती है लिखित विधान अच्छा रहेगा। चूंकि यह आसानी से नहीं बदला जा सकता इसलिये इसमें यह सम्भव नहीं कि राज्य के कर्मचारी शक्ति को जबरदस्ती हस्तगत कर लेंगे। यह इतना सरल और स्पष्ट होता है कि नियम भंग करने से और अपने कार्यक्षेत्र से बाहर जाते हुए कर्मचारी स्वयं डरते हैं। अगर वे ऐसा करें भी तो लोगों का विरोध उन्हें ऐसा नहीं करने देगा। ऐसे विधान की अच्छाई केवल इस बात में है कि स्थिरता बुराइयों के होते हुए भी अवैधानिक या विवेकशून्य प्रगति से कम खतरनाक होती है[१]।'

---

१ गार्नर ने इसका उल्लेख अपनी पुस्तक 'Political Science and Government,' के पृष्ठ २८ में किया है।

व्यवस्थापिका-प्रधान तथा न्यायकारिणी-प्रधान विधान

विधानों को लिखित और अलिखित तथा परिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनशील क़िस्मों में विभाजित करने के अतिरिक्त कुछ लेखकों ने वर्गीकरण का एक तीसरा आधार रक्खा है। यह विधान में क़ानूनों की प्रधानता है। वे विधान जिनमें क़ानूनों का आधिपत्य माना जाता है एक क़िस्म के हैं। क़ानूनों का आधिपत्य तभी कायम हो सकता है जब शासन के प्रत्येक अंग कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका और न्यायकारिणी इनका आदेश मानें। इस आधार के अनुसार विधान दो श्रेणी में आते हैं—ऐसे विधान जिनमें विधान के नियमों का आधिपत्य रहता है और ऐसे जिनमें व्यवस्थापिका के क़ानूनों का। पहली श्रेणी के विधानों में न्यायकारिणी सर्वप्रधान रहती है क्योंकि विधान के नियमों की व्याख्या न्यायकारिणी द्वारा ही की जाती है। दूसरी श्रेणी के विधानों में व्यवस्थापिका सर्वप्रधान होती है और यह तय करती है कि शासन के विभिन्न अंगों के कार्य वैधानिक हैं या नहीं। विधान-प्रधान देश का सबसे उपयुक्त उदाहरण अमरीका है। वहाँ की प्रधान न्यायालय (Supreme Court) विधान के नियमों के संरक्षक के रूप में है और इस प्रकार न्यायकारिणी ही सर्वशक्तिशालिनी है। इंगलैण्ड के विधान में हमें व्यवस्थापिका की प्रधानता का उदाहरण मिलता है। वहाँ की पार्लिमेन्ट प्रत्येक क्षेत्र में सर्वोच्च है। १८७१-७५ का फ्रान्सीसी विधान जो १९३९ तक चला व्यवस्थापिका-प्रधान था क्योंकि वहाँ की राष्ट्रीय सभा (National Assembly) शासन के सभी अंगों में प्रधान थी। किन्तु विधान ने दो बातों में इसके अधिकार को नियन्त्रित कर दिया था—न तो यह शासन के रूप को बदल सकती थी और न राजवंश में से अध्यक्ष चुन सकती थी। इसलिये फ्रान्स की व्यवस्थापिका पूर्ण रूप से सर्वोच्च नहीं थी और इंगलैण्ड की पार्लिमेन्ट की भाँति सर्वशक्तिशालिनी नहीं थी।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विधान के विभिन्न रूपों में अन्तर उनकी मौलिकता के कारण होते हैं। यह मौलिकता तीन प्रकार की है :—(१) विधान के लिखित रूप में (२) संशोधन-विधि में तथा (३) वैधानिक नियमों की व्याख्या में।

लिखित विधान की मुख्य विशेषतायें

विभिन्न प्रकार के विधानों के गुणों और दोषों पर विचार करने के पश्चात हम लिखित विधान की विशेषताओं तथा उसके दूसरे पहलू पर ग़ौर कर सकते हैं क्योंकि आधुनिक युग में लिखित विधान ही साधारण रूप से प्रचलित हैं। आज हम देखते हैं कि इंगलैण्ड को छोड़कर समस्त संसार के राज्यों में लिखित विधान ही पाये जाते हैं। गेटेल (Gettel) के अनुसार लिखित विधान की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :—

(१) इसका रूप निश्चित होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो लिखित विधान में अस्पष्ट वाक्यों तथा शब्दों का अभाव रहना चाहिए। इसके उद्देश्यों का उल्लेख स्पष्ट रूप से होना चाहिए।

(२) राजनीतिक संगठन को विवादपूर्ण समस्याओं से बचाने के लिये विधान को विस्तीर्ण[1] होना चाहिए जिससे शासन के विभिन्न अंगों के कार्यक्षेत्र स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिये जायँ। शासन संगठन के पूर्ण क्षेत्र में विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके अधिकारों का साफ़ तौर से वर्णन होना चाहिए।

(३) विधान को न बहुत संक्षिप्त होना चाहिए और न बहुत लम्बा ही। अगर यह बहुत संक्षिप्त है तो अस्पष्ट हो जायगा और यदि बहुत लम्बा है तो इसमें शासन की ऐसी छोटी-छोटी बातों की विस्तृत व्याख्या रहेगी जो समय के परिवर्त्तन के साथ प्राचीन और बेकार हो जाती हैं और समाज के विकास तथा प्रगति में बाधक होने लगती है। इससे असन्तोष बढ़ता है और समय के प्रवाह में लोग पूरे विधान को नष्ट करने के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं। इनसे स्पष्ट है कि यदि संक्षिप्त विधान में अस्पष्टता और गड़बड़ी रहती है तो बहुत लम्बे विधान में अनावश्यक अपरिवर्त्तनशीलता आ जाती है।

लिखित विधान के मूलतत्व

किन्तु लिखित विधान की ये विशेषतायें इसके मूलतत्व नहीं हैं। वे तो केवल इसकी प्रकृति को निश्चित करते हैं। इसके मूलतत्व तीन हैं :—

सर्वप्रथम, प्रत्येक लिखित विधान में एक अधिकार-पत्र होना चाहिए जो नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर सके।

दूसरे, इसमें राज्य की विभिन्न शक्तियों के संगठन की रूपरेखा होना चाहिए।

तीसरे, विधान में संशोधन करने का नियम होना चाहिए।

बर्जेस (Burgess) के शब्दों में पहली विशेषता नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा करती है, दूसरी राज्य के शासन को निर्मित करती है और तीसरी राज-सत्ता के निवास-स्थान तथा उसको प्रयोग में लाने वाली शक्तियों को निश्चित करती है। इस भाँति लिखित विधान स्वतन्त्रता, शासन और राज-सत्ता का एकीकरण करता है।

लिखित विधान के मूल आधार

जब हम देखते हैं कि लिखित विधान की आवश्यकता राजाओं के अत्याचार को रोकने के लिये पड़ी तो ऊपर लिखे कथन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसलिये लिखित विधान का वास्तविक आधार नागरिकों के अधिकारों की रक्षा तथा जनता द्वारा स्वयं शक्ति ग्रहण करने की आवश्यकता है।

१—आधुनिक संसार के लिखित विधानों में १९३५ का भारत-सरकार-क़ानून सबसे बड़ा है। 'अखिल-देश-विधान' (Constitutions of all Countries) जिल्द १ में (ब्रिटिश साम्राज्य) यह ८६ पृष्ठों में आता है (२४३-३२९)। इससे स्पष्ट है कि यह एक विस्तृत लेखपत्र है संक्षिप्त नहीं है।

इस प्रकार लिखित विधान के मूल आधार निम्नलिखित हैं :—

१—राजनीतिक शक्ति का प्रश्न; २—धार्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति; ३—सम्पत्ति रक्षा (जिसका प्रारम्भ 'बग़ैर प्रतिनिधित्व के कर नहीं' के साथ हुआ) और ४—स्वतन्त्रता (जिसके अर्थ हैं (अ) गिरफ़्तारी और नज़रबन्दी से स्वतन्त्रता यानी राजकर्मचारियों की स्वेच्छाचारिता से रक्षा; (ब) वाद-विवाद, भाषण तथा मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता और (स) पंचनिर्णय तथा क़ानून के सम्मुख समानता) ।

प्रारम्भिक विधानों में अपरिवर्त्तनशीलता और आधुनिक में परिवर्त्तनशीलता का आधिक्य

आरम्भ में लिखित-विधान प्रायः अपरिवर्त्तनशील थे। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् जनता सरकार का अधिकार-क्षेत्र लिखकर भली भाँति स्पष्ट कर देना चाहती थी जिससे शासक-वर्ग विधानों की अवहेलना करके अधिकारों का अनुचित प्रयोग न कर बैठें। किन्तु आधुनिक प्रवृत्ति इस प्रकार के लिखित-विधानों की ओर है जो परिवर्त्तनशील रहते हैं। कारण यह समझा जाता है कि विधान को सदैव वास्तविक परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिये और समयानुसार उसमें परिवर्तन होने चाहिये। इसको ऐसा अपरिवर्त्तनशील न होना चाहिये कि इसे कभी एकदम टूटना पड़े परन्तु इसमें अवसर और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन की गुंजाइश होनी चाहिये। प्रो० गिलक्राइस्ट ने कहा है कि आजकल अपरिवर्त्तनशील विधान अच्छे समझे जाते हैं और इस प्रकार ऐसा मालूम होता है कि 'अपरिवर्त्तनशील शासन-विधान, अपरिवर्त्तनशील शासन-विधानों का स्थान ग्रहण कर लेंगे'[१]। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं जान पड़ती। प्रो० विलोबी[२] (Prof. F. W. Willoughby) यह स्वीकार करते हैं कि आरम्भ के विधान अपरिवर्त्तनशील थे और वे उनकी अपरिवर्त्तनशीलता के निम्नलिखित कारण देते हैं :—

१—आरम्भ में राजनीतिक विचार-धारा प्रकृति-नियम के अधीन थी। लोग समझते थे कि कुछ अधिकार और राजनीतिक सिद्धान्त प्रत्येक समय और परिस्थिति के लिये सत्य हैं इसलिये उनकी उपयोगिता सार्वभौमिक है। 'इसी विश्वास पर विधान-निर्मातागण इन अधिकारों और सिद्धान्तों को विधान में केवल सम्मिलित ही नहीं कर लेना चाहते थे वरन् इस प्रकार सम्मिलित करना चाहते थे कि ये अलग न किये जा सकें और यदि किये भी जायँ तो बड़ी कठिनता से।'

२—उस समय तक संसार विकास के सिद्धान्त से नहीं प्रभावित हुआ था। लोगों ने यह नहीं सोचा था कि भूत वर्तमान को जन्म देता है और वर्तमान भविष्य का आधार है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने यह नहीं अनुभव किया था कि शारीरिक तथा राजनीतिक जीवन में वृद्धि और अविच्छिन्नता का सिद्धान्त वर्तमान है। अतः ज(

---

१ गिल क्राइस्ट—'प्रिन्सिपिल्स आफ़ पोलिटिकल साइंस' पृ० २२१।

२ विलोबी—दि गवर्नमेन्ट आफ़ माडर्न स्टेट्स' पृ० १३५-३६।

उन्होंने विधान का मसविदा तैयार करना आरम्भ किया तो उसको स्थायी कला-कृति समझा जो उनके विचार से उनके समय की विशेष देन थी और प्रत्येक काल के लिये सत्य थी।

३—आरम्भ के विधानों द्वारा स्वैरतंत्र के स्थान में सार्वजनिक शासन की स्थापना की गई थी इसलिये विधान-परिवर्त्तन में बड़ी-बड़ी अड़चनें डाल दी गई थीं। स्वैरतंत्र को सार्वजनिक शासन ने हटा तो दिया था किन्तु यह धारणा जोर पकड़ गई थी कि स्वेच्छाचारी शासन के पुनर्स्थापन का डर समाप्त नहीं हुआ है। इसके साथ-साथ दूसरा भय यह था कि कहीं लोग असंयम के शिकार होकर 'राजनीतिक प्रजातंत्र' न स्थापित कर बैठें। विधान-निर्माताओं की दृष्टि में यह देश को असंयत जन-समूह के शासन की विषमताओं के हवाले करना था।

आधुनिक काल में लिखित-विधान निर्माण करने के कारण

ऐसा जान पड़ता है कि उपरोक्त कथन के समय प्रो० गिलक्राइस्ट ने यह मान लिया था कि लिखित शासन-विधान अनिवार्य रूप से अपरिवर्त्तनशील होता है किन्तु यह भी विचार, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, ठीक नहीं है। इसलिये उसने जो कारण अपरिवर्त्तनशील विधान के निर्माण के बताये हैं वे वास्तव में लिखित-विधान के निर्माण के कारण हैं।

निम्नलिखित दलीलों से यह स्पष्ट हो जायगा कि आधुनिक काल में लिखित शासन विधान तैयार करने की ओर सार्वभौमिक झुकाव है[1]।

(१) आधुनिक प्रजातंत्र-राज्यों के नागरिक शासन के प्रभुत्व को सीमित करके अपने अधिकारों को सुरक्षित रखना चाहते हैं। इसीलिये वे अपने अधिकारों को स्पष्ट और निश्चित रूप में लिखा रखना चाहते हैं जिससे कोई संशय न रह जाय।

(२) स्वायत-शासन के प्रजातंत्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार कुछ अधिकार स्थानीय मंडलों जैसे नगर-मंडलों (म्युनिसपल बोर्ड) जिला-मंडलों (डिस्ट्रिक्ट बोर्ड) को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं इसलिये यह आवश्यक हो गया है कि अस्पष्टता रोकने के लिये ये प्रदत्त अधिकार लिख दिये जायँ।

१—ब्राइस ने भी लिखित-विधान तैयार करने के निम्नलिखित उद्देश्य बताये हैं :—

(१) नागरिकों की स्वेच्छाचारी शासक से अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने की इच्छा।

(२) जनता की अथवा शासक की, शासन प्रणाली को निश्चित रूप देकर, जनता को प्रसन्न करने की इच्छा।

(३) शासन-प्रणाली को स्थायी रखने के लिये तथा उसको सार्वसाधारण के समझने योग्य बनाने के लिये राजनीतिक समाज की स्थापना करने वालों की इच्छा।

(४) अब तक अलग-अलग रहनेवाले प्रान्तों की, संयुक्त तथा व्यक्तिगत अधिकारों और स्वार्थों को सुरक्षित रखने की इच्छा (संघात्मक शासनों में)।

ब्राइस—'स्टडीज़ इन हिस्ट्री एण्ड जूरिसप्रूडेन्स जिल्द १, पृ० १०१

(३) जब एक राष्ट्र अपने शासन के रूप को बदलता है तो वह नये शासन के आधार को स्पष्ट कर देना चाहता है। यह तभी सम्भव है जब नये शासन की स्थापना के सिद्धान्त निश्चित रूप में लिख लिये जायँ।

(४) संघात्मक शासन की प्रगति से लिखित विधानों को और अधिक प्रोत्साहन मिला है क्योंकि केन्द्रीय और प्रान्तीय शासनों के अधिकारों का अलग-अलग निर्देश आवश्यक है। यही नहीं यदि शासन अध्याचारात्मक है तो शासन के अंगों—व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी और न्याय कारिणी के अधिकारों और कर्तव्यों की सीमा को पूर्णरूप से निश्चित करना आवश्यक है।

विधान-निर्माण की प्रणालियाँ

आधुनिककाल में लिखितविधान तैयार करने के कारणों को देखने के बाद उन विभिन्न प्रणालियों[1] को जान सकतें है जिनके द्वारा विधानों का निर्माण किया गया है और अब भी किया जा रहा है।

पहली प्रणाली तो सदैव क्रान्ति का पथ रही है। जनता अपने शासकों के अत्याचारों और उनकी अयोग्यता से तंग आकर विद्रोह करती है और एक नया शासन स्थापित करती है। इस प्रकार इंगलैण्ड की 'गौरवपूर्ण राज्यक्रान्ति' का परिणाम हुआ 'अधिकार-पत्र', अमरीका की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् संयुक्त राज्य का वर्तमान विधान तैयार हुआ, फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति (१७८९) के परिणाम स्वरूप फ्रांस में कई शासन-विधान बने और रूसी क्रान्ति (१९१७) का परिणाम सन् १९१८ का सोवियत-विधान हुआ (१९३६ में इसमें कुछ परिवर्तन किया जा चुका है)।

दूसरे, राजा की स्वीकृति-स्वरूप भी शासन-विधान बनते हैं। जापान का वर्तमान शासन विधान मिकाडो का दिया हुआ है। कनाडा, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका इत्यादि के शासन-विधान भी इंगलैंड की लोकसभा पार्लिमेंट के मंजूर किये हुये हैं।

१—ब्राइस ने भी लिखा है कि निम्नलिखित चार प्रणालियों में से, किसी एक के द्वारा विधान का निर्माण हो सकता है :—

(१) राजा अपनी प्रजा को शासन-विधान मंजूर कर सकता है। (इंगलैंड और जापान)

(२) कोई राष्ट्र क्रान्ति के द्वारा एक विधान निर्मित कर सकता है। (अमेरिका का संयुक्त राज्य और सोवियत रूस)

(३) एक राष्ट्रात्मक समुदाय, जो अब तक राज्य रहित था और अब एक राज्य स्थापित करता है, शासन विधान का निर्माण कर सकता है (पोलैंड और ज़ेकोस्लोवाकिया सन् १९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध के बाद)

(४) जब क़रीब-करीब स्वतंत्र राज्य (प्रान्त) एक नवीन राज्य में संगठित होते हैं तब एक नये शासन विधान का जन्म होता है। इस प्रकार एक राष्ट्र-संघ, संघराज्य बन जाता है। (अमेरिका का संयुक्त राज्य)

—ब्राइस, 'स्टडीज़ इन हिस्ट्री एंड जूरिसप्रूडेंस,' जिल्द १ (पृ० २०१-२०४)

तीसरे, कोई जाति स्वयं अपने विधान का स्वरूप निर्माण करती है। जब अंग्रेजों ने अमरीका में उपनिवेश स्थापित करना आरम्भ किया था तो वहाँ उन्होंने अपनी इच्छानुसार शासन विधान तैयार किया। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८) के समय में जेकोस्लोवाकिया के लोगों ने अपना एक अलग शासन विधान तैयार किया।

अन्त में, शासन-विधानों का धीरे धीरे विकास भी होता है। केवल इंगलैंड का ही शासन विधान नहीं वरन डोमीनियन-शासन-विधान भी विकास के परिणाम हैं और वर्तमान स्वरूप धारण करने के पहिले 'अधिकार-पत्र' मंजूर किये गये थे तथा क़ानून पास करने पड़े थे। भारत का शासन-विधान मंजूर तो अवश्य किया गया है किन्तु धीरे धीरे यह विकास का रूप ग्रहण करता जा रहा है। यह क्रम 'नियामक क़ानून' (Regulating Act) और पिट के 'भारत-क़ानून' (India Act) से आरम्भ होकर १९३५ के क़ानून की दशा तक पहुँच गया है। यदि १९४२ के क्रिप्स-प्रस्ताव अस्वीकृत न किये जाते तो दूसरा क़ानून पास होता और भारत वैधानिक विकास की दूसरी अवस्था को पहुँच जाता।

संशोधन की प्रणालियाँ: (१) परिवर्तनशील विधानों में

अब शासन-विधानों के संशोधन की प्रणालियों के अनुशीलन की आवश्यकता है क्योंकि एक विधान सदैव के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। राजनीतिक जीवन की परिवर्तनशील अवस्थाओं में विधान-संशोधन भी आवश्यक है। अलिखित अथवा **परिवर्तनशील विधानों में संशोधन के** लिये किसी असाधारण प्रणाली का उपयोग नहीं किया जाता है। एक साधारण क़ानून पास करके संशोधन किया जाता है जैसा कि इंगलैंड और इटली में होता है। इंगलैंड के विषय में डा० फ़िनर का कहना है कि साधारण रूप से ब्रिटिश-शासन पद्धति में कोई भी संस्था, चाहे बुनियादी हो या ग़ैर बुनियादी, चाहे वह पार्लिमेंट अथवा न्याय कारिणी के निर्णयों द्वारा ही बुनियादी क्यों न मान ली गई हो, एक साधारण क़ानून पास करके बदली जा सकती है। इतना ही नहीं पूर्णरूप से समाप्त भी की जा सकती है। अर्थात् इस कार्य के लिये लोक-सभा (House of Commons) के केवल एक छोटे से बहुमत और लार्ड-सभा के पार्लिमेंट द्वारा विहित साधारण सहयोग की आवश्यकता है। लार्ड-सभा के प्रधान अधिकारों को खत्म करने के लिये अथवा मजदूर-संघ (Trade Union) के अधिकारों को सीमित करने के लिये क़ानून उसी प्रणाली से पास किया जा सकता है जिसके द्वारा विधवाओं की पेन्शन के लिये अथवा सार्वजनिक स्वास्थ्य या शिक्षा के लिये क़ानून पास किया जाता है। यह परिवर्तनशीलता की चरम सीमा है। दूसरे शासन विधान किसी न किसी हद तक अपरिवर्तनशील हैं।[1]

प्रो० स्ट्रांग ने फ़िनलैंड और न्यूज़ीलैंड के शासन विधानों की भी परिवर्तनशीलता दिखलाई है (इटली के शासन विधान के प्रति उनकी राय इसी अध्याय में दिखायी

१—Finer—The Theory and Practice of Modern Governments vol. I pp. 193-194

जा चुकी है)। फ़िनलैंड के विधान में, जो सन् १९१९ ई० में बना था, संशोधन प्रणाली का कोई उल्लेख नहीं है। इसका अर्थ यह है कि फ़िनलैंड की व्यवस्थापिका रीशटाग (Reichstag) साधारण क़ानून पास करने की विधि से विधान में संशोधन कर सकती है। इसी प्रकार न्यूज़ीलैंड के शासन विधान में, संशोधन की किसी विशेष विधि का उल्लेख नहीं है। न्यूज़ीलैंड का शासन १८५२ ई० के क़ानून के अनुसार तैयार किया गया था। इसकी ६८ वीं धारा के अनुसार 'सार्वजनिक सभा' (General Assembly—न्यूज़ीलैंड की व्यवस्थापिका) को क़ानूनी अधिकार है कि वह एक या कई क़ानून पास करके विधान में परिवर्तन कर सकती है। प्रो० स्ट्रांग का कथन है कि 'परिवर्तनशील विधानों में न्यूज़ीलैंड का विधान बेजोड़ है। जैसा कि हम जानते हैं इंगलैंड का शासन विधान एक ही समय में लिखकर तैयार नहीं किया गया है इसलिये साधारण विधि से इसमें संशोधन या परिवर्तन किया जा सकता है, इटली का विधान भी लिखित होने के कारण प्रमाणित है किन्तु संशोधन-विधि का वर्णन ही नहीं है। परन्तु न्यूज़ीलैंड का शासन विधान लिखित तो है ही उसमें संशोधन-प्रणाली का भी उल्लेख है जिसके अनुसार व्यवस्थापिका इच्छानुसार शासन विधान में परिवर्तन ला सकती है। केवल यही एक शासन-विधान है जिसमें विधान-संशोधन के अधिकार का सविस्तार उल्लेख है।[1]

(२) अपरिवर्तनशील विधानों में

उपरोक्त कथन से यह और स्पष्ट हो गया है कि लिखित विधान के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह अपरिवर्तनशील हो। यह परिवर्तनशील भी हो सकता है।[2] इसलिये अपरिवर्तनशील विधान वे हैं जिनमें साधारण क़ानून पास करने की विधि से परिवर्तन

१—स्ट्रांग-'मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्स' पृष्ठ १४० (यहाँ पर इटली के शासन-विधान से उस विधान से तात्पर्य है जो (१९३९-४५) वाली लड़ाई के पहिले काम में लाया जाता था)। ई. एम. सेट ने भी अपने 'पोलिटिकल इन्सीट्यूशन्स—ए प्रीफ़ेस' १९३८—में लिखा है कि लिखित शासन-विधानों में न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी अफ़्रीका, आयरलैंड और फ़िनलैंड के विधान परिवर्तनशील हैं।

२—लिखित विधानों की इस विशेषता के कारण परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील विधानों के अन्तर की भी आलोचना की गई है। इ. एम. सेट ने निम्नलिखित दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है :—

(१) प्रेसीडेन्ट लोवेल का कथन है कि यद्यपि अन्तर 'काफी महत्वपूर्ण' है परन्तु मध्यवर्ती रूपों के निकल आने से 'पृथक-पृथक समुदायों के बीच की असमानता समाप्त हो गई है,' केवल मात्रा का अन्तर माना जा सकता है प्रकार का नहीं।

(२) प्रो० मेकबेन और प्रो० मुनरो ने इसको इसलिये ठीक नहीं समझा क्योंकि जहाँ तक संशोधन का प्रश्न है अमेरिका का शासन विधान अंग्रेजी शासन-विधान की भाँति कार्यान्वित हुआ है। इसलिये उनकी राय में यह अन्तर बनावटी है।

(३) व्हेयर महोदय इसको 'लाभ शून्य' और असन्तोषजनक मानते हैं।

(४) हारविल महोदय इसको इसलिये ठीक नहीं समझते क्योंकि इसका आधार मौलिक न होकर आकस्मिक है।

या संशोधन सम्भव न हो। उनमें संशोधन की विशेष प्रणालियाँ होनी चाहिये। आधुनिक अपरिवर्तनशील शासन विधानों में चार प्रणालियाँ पाई जाती हैं[1] :—

प्रथम, कुछ प्रतिबन्धों के अन्तर्गत साधारण क़ानून पास करने की विधि द्वारा संशोधन किया जाता है। जैसे किसी-किसी विधान में संशोधन पर विचार करने के लिये सदस्यों की एक निश्चित संख्या (Quorum) और उसको पास करने के लिये विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है। उदाहरण-स्वरूप बेल्जियम में (१६३६-४५ के युद्ध के पहिले) संशोधन पर विचार करने के लिये व्यवस्थापिका में प्रत्येक सभा के दो तिहाई सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी और उसको पास करने के लिये दो तिहाई बहुमत आवश्यक था। यह शासन-विधान की १३१ वीं धारा से स्पष्ट है। वह निम्नलिखित है :—

'व्यवस्थापिका को यह घोषित करने का अधिकार है कि ऐसी वैधानिक व्यवस्थाओं का संशोधन जिसकी सूचना वह देगी, नियमानुकूल है।

इस घोषणा के बाद दोनों सभायें तदनुसार भंग हो जायेंगी। इसके अनन्तर ७१ वीं धारा के अनुसार दो नई सभायें बुलाई जायेंगी (इसके अनुसार राजा को दोनों सभाओं को एक साथ या अलग-अलग भंग करने का अधिकार होगा। भंग करने के पश्चात् क़ानून के अनुसार चालीस दिन के अन्दर नया निर्वाचन होगा और दो महीने के अन्दर दोनों सभायें बुलाई जायेंगी)।

ये सभायें राजा की स्वीकृति प्राप्त होने पर संशोधन के लिये दिये गये विषयों पर विचार करेंगी।

ऐसी दशा में जब तक प्रत्येक सभा के दो तिहाई सदस्य उपस्थित नहीं रहेंगे तब तक सभायें परामर्श नहीं करेंगी और कोई संशोधन कार्यान्वित नहीं किया जायगा जब तक कि कम से कम दो तिहाई मत इसके पक्ष में न हों।'

दूसरे, विधान में संशोधन करने के लिये एक विशेष सभा का निर्माण किया जा सकता है जैसा कि अमरीका के संयुक्त-राज्य में है। जैसा कि पहिले इस अध्याय में दिखाया जा चुका है इसके लिये एक राष्ट्रीय महासभा (Convention) को बुलाने की आवश्यकता पड़ती है और कांग्रेस का दो तिहाई और राज्यों का तीन चौथाई बहुमत आवश्यक है।

तीसरे, विधान में संशोधन 'सूचना' (Referendum) द्वारा भी कार्यान्वित किया जाता है। इस प्रणाली में जनता के बहुमत का निर्णय माना जाता है। यह प्रणाली आस्ट्रेलिया, स्विट्ज़रलैंड और आयरलैंड में प्रचलित है। आस्ट्रेलिया के

१—ब्राइस—स्टडीज़ इन हिस्ट्री एंड जूरिसप्रूडेन्स, जिल्द १, पृ० २१०-२१३।

कृपया 'इण्डियन जर्नल आफ़ पोलिटिकल साइंस (जूलाई-सितम्बर १६१४) में डा० बूलचन्दकृत 'दि अमेन्डिन्ग प्रोसेस आफ़ दि इण्डियन कान्स्टीट्यूशन' देखिये।

विधान की १२८ वीं धारा में इसमें संशोधन अथवा परिवर्त्तन करने की शर्तों का सविस्तार उल्लेख है। उसका प्रारम्भ निम्न प्रकार से होता है :—

'यह विधान निम्नलिखित प्रणाली के अतिरिक्त किसी अन्य विधि से परिवर्तित नहीं किया जा सकेगा।'

'संशोधन के लिये प्रस्तावित क़ानून पार्लिमेंट की दोनों सभाओं में स्पष्ट बहुमत से पास होना चाहिये। पार्लिमेंट की दोनों सभाओं में पास होने के बाद दो महीने बीत जाने पर परन्तु छः महीने व्यतीत होने के पहिले, प्रस्तावित क़ानून की सूचना प्रत्येक राज्य के निर्वाचकों को दी जायगी और वे प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को चुनेंगे।'

इसी प्रकार स्विटज़रलैंड के शासन-विधान में ११८ से लेकर १२३ तक की धाराओं में विधान-संशोधन पर विचार किया गया है। इन धाराओं में से १२० वीं और १२१ वीं धारायें विशेष महत्वपूर्ण हैं। १२० वीं धारा में है कि 'जब संघ-सभा (Federal Assembly) का कोई भाग शासन-विधान में पूर्ण संशोधन करने के लिए प्रस्ताव पास करता है और दूसरा भाग इससे सहमत नहीं होता अथवा स्विटज़रलैंड के ५००० निर्वाचक पूर्ण संशोधन की माँग करते हैं तो इस प्रश्न को सुलझाने के लिये कि विधान में संशोधन किया जाय कि नहीं, प्रस्ताव से लोगों को परामर्शार्थ परिचित करा दिया जाता है। वे इसके पक्ष में अथवा विपक्ष में मत देते हैं। यदि किसी भी दशा में स्विटज़रलैंड के नागरिक एक बड़ी संख्या में पक्ष में मत देते हैं तो संशोधन को कार्यान्वित करने के लिये दोनों सभाओं का फिर से चुनाव होगा।'

इसी प्रकार १२१ वीं धारा में आंशिक संशोधन की विधि का वर्णन है।

अन्त में, संघराज्य के राज्यों के बहुमत के द्वारा भी विधान में परिवर्त्तन किया जाता है। इसलिए यह प्रणाली संघराज्यों में लागू होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि विधान में किसी भी संशोधन के लिये प्रत्येक राज्य से परामर्श करना आवश्यक है। यह प्रणाली स्विटज़रलैंड, आस्ट्रेलिया और अमरीका के संयुक्त-राज्य में पाई जाती है। स्विटज़रलैंड के शासन-विधान की १२३ वीं धारा के अनुसार 'संघ-शासन का संशोधित-विधान अथवा उसका एक भाग, तभी लागू किया जा सकता है जब इसको स्विटज़रलैंड के निर्वाचक नागरिकों की एक बड़ी संख्या ने मान लिया हो और राज्यों के बहुमत ने भी स्वीकार कर लिया हो।' इसी प्रकार आस्ट्रेलिया के विधान की १२८ वीं धारा निम्नलिखित है :—

'पार्लिमेंट की किसी भी सभा में किसी भी राज्य का समानुपातिक प्रतिनिधित्व कम करने के लिये, प्रतिनिधि-सभा में राज्य के सदस्यों की संख्या कम करने के लिये, किसी राज्य की सीमा घटाने अथवा बढ़ाने के लिये अथवा किसी भी प्रकार विधान की लिखित व्यवस्था में परिवर्त्तन करने के लिये प्रस्तावित संशोधन तब तक क़ानून नहीं बन सकता जब तक एक राज्य में मत देने वाले निर्वाचकों का बहुमत स्वीकार न कर ले।'

इंगलैंड के शासन-विधान को प्रथाओं पर एक टिप्पणी

प्रथाओं के विषय में डाइसी के विचार—

डाइसी पहला व्यक्ति है जिसने अपनी पुस्तक 'ला आफ़ दि कान्स्टीट्यूशन' में विधान की प्रथाओं का आलोचात्मक ढंग से उल्लेख किया है। उसका कहना है कि ये वे नियम हैं जो बताते हैं कि राजा (या मंत्रियों के रूप में राजा के नौकर) को अपने स्वतंत्र अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिये। वह जनता अथवा निर्वाचकों के प्रभुत्व को सिद्ध करना चाहता था। इन विशेषाधिकार के नियमों के साथ साथ उसने पार्लिमेंट की परिपाटी तथा कामन-सभा और लार्ड-सभा के संबंध पर भी विचार किया है। उसके अनुसार और दूसरी प्रथाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं:—

(१) कम से कम वर्ष में एक बार पार्लिमेंट अवश्य बुलाई जानी चाहिये।

(२) यदि मंत्रिमंडल कामन-सभा का विश्वास खो दे तो उसे इस्तीफ़ा दे देना चाहिये परन्तु मंत्रिमंडल को यह भी अधिकार है कि वह कामन-सभा के भंग करने की सलाह राजा को दे दे।

(३) पार्लिमेंट की दोनों सभाओं द्वारा पास किये हुये क़ानून के लिये राजा को अवश्य स्वीकृति देनी चाहिये।

(४) मंत्रि मंडल संयुक्त रूप से पार्लिमेंट के प्रति उत्तरदायी है।

(५) कामन-सभा में बहुसंख्यक दल का नेता ही प्रधान मंत्री बन सकता है और वह अपने सहकारियों के चुनाव में स्वतंत्र है।

(६) पार्लिमेंट की इच्छा के विरुद्ध देश की पर-राष्ट्र नीति का निर्णय नहीं हो सकता। कामन-सभा की इच्छा के विरुद्ध मंत्रिमंडल न युद्ध की घोषणा कर सकता है न सन्धि कर सकता है।

जैसा डाइसी का कहना है ये तथा दूसरी प्रथायें वास्तविक क़ानून[1] नहीं हैं क्योंकि

१—जेनिंग्स और कीथ ने क़ानून और प्रथा के मध्य बहुत से अन्तर दिखलाये हैं वे इस प्रकार हैं:—

(१) क़ानूनों में स्वीकृति की भावना काफ़ी मात्रा में रहती है, उनका उल्लंघन सरलता से नहीं किया जा सकता। क़ानून का आज्ञा-पालन बुनियादी कर्तव्य है।

(२) क़ानून न्यायालयों के द्वारा मनवाये जाते हैं किन्तु प्रथाओं के साथ ऐसी बात नहीं है।

(३) क़ानून पूर्ण रूप से निश्चित और लिपिबद्ध होते हैं। प्रथाओं को लेखबद्ध करने की किसकी ग़र्ज़ पड़ी है। वे अव्यवहार्य हो जाती हैं।

(४) क़ानून एक स्पष्ट उद्देश्य के लिये पास किया जाता है किन्तु प्रथा विशेष अवसर की आवश्यकता को प्रकट करती है।

देखिये Jennings—Cabinet Governments pp. 3-5 और Keith—The British Cabinet System pp. 4-5

उनके न मानने पर न्यायालय कोई कार्रवाई नहीं करते। फिर भी इनका पालन किया जाता है। डाइसी के द्वारा दिये गये प्रथाओं के पालन किये जाने के कारणों पर हम बाद में विचार करेंगे। यहाँ हम यह देखेंगे कि उसका प्रथाओं को केवल 'विशेषाधिकारों को काम में लाने के नियम' और 'पार्लिमेंट की परिपाटी' कहना ठीक है या नहीं।

प्रथाओं के विस्तृत क्षेत्र पर जेनिंग्स के विचार

डाइसी ने १९ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक विकसित शासन-विधान की व्याख्या की है। उस समय तक भी राज्य के कर्त्तव्य सीमित थे। परन्तु सर्व प्रथम डाइसी ही ने इंगित किया था कि क़ानून समाजवादी रुख ग्रहण कर रहे हैं। उसके जीवन काल ही में शासन का हस्तक्षेप काफ़ी बढ़ गया था किन्तु वह शासन-प्रबन्ध और सामाजिक जीवन में बढ़ते हुये प्रथाओं के प्रभाव पर ग़ौर नहीं कर सका। क़ानून के शासन (Rule of Law) के ज़ोरदार समर्थन के सामने वह, सामाजिक कार्यों, आर्थिक योजना तथा आन्तरिक शासन के नये पहलुओं से संबंधित व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये क़ानून को वह भूल गया था। प्रथाओं के विस्तृत क्षेत्र पर विचार करते हुये जेनिंग्स[1] लिखता है कि 'वे जटिल शासन-यंत्र को सरल बना देती हैं.............मन्त्रिमंडल की अपनी एक सत्ता है। यह केवल विशेषाधिकारों पर ही दृष्टि नहीं रखता वरन् यह भी देखता है कि ये अधिकार क़ानूनी हैं कि नहीं। यह शासन-विभागों की नीतियों में समता लाता है और वैधानिक व्यवस्था में एकता उत्पन्न करता है,[2]। राज्य के कार्य बढ़ने के कारण मंत्रिमंडल के अन्दर और बाहर उप-समितियाँ बनाने की आवश्यकता पड़ गई है। मंत्रिमंडल के अन्तर्गत गृह-शासन और परराष्ट्र-नीति संबंधी उपसमितियाँ हैं और इसके बाहर दूसरे विभाग-संबंधी उपसमितियाँ हैं। कभी. कभी सामाजिक तथा शासन-प्रबंध संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिये राजकीय कमीशन नियुक्त किये जाते हैं। इनमें से बहुत से तो प्रथानुसार हैं परन्तु उनकी रिपोर्टों की उपेक्षा नहीं की जाती। वास्तव में नीति और क़ानून उन्हीं की सिफारिशों पर आधारित होते हैं।

प्रथाओं पर वाडे के विचार

डाइसी के 'विशेषाधिकार के नियम,' 'पार्लिमेंट की परिपाटी' और जेनिंग्स की शासन-प्रबंध संबंधी उपसमितियों के साथ वाडे[3] (Wade) ने डोमीनियनों और इंगलैंड तथा उनके आपस के संबंध पर प्रकाश डालने वाली चौथी प्रथा सम्मिलित कर

१. जेनिंग्स ने अपनी पुस्तक 'दि ला एन्ड दि कान्स्टीट्यूशन' के तीसरे अध्याय में इस विषय पर विशेष विचार किया है।

२. Jennings—The Law and the Constitution PP. 86-88

३. डाइसी की पुस्तक Law of the Coustitution के सन् १९३९ वाले संस्करण की वाडे द्वारा लिखित भूमिका (पृ० xcix—cix)

दी है। उसने दिखाया है कि १९३१ ई० की 'वेस्टमिंस्टर-व्यवस्था' (Statute of Westminster) के पहिले डोमीनियनों को कानून पास करने की स्वतंत्रता थी परंतु इसका भी आधार हस्तक्षेप न करने की प्रथा थी। इस प्रथा के अनुसार डोमीनियनों के आंतरिक मामलों में इंगलैंड की पार्लिमेंट हस्तक्षेप नहीं करती थी यद्यपि ऐसा संबंध सन् १८६५ के औपनिवेशिक क़ानून (Colonial Laws of Validity) के प्रतिकूल था। इस क़ानून के द्वारा डोमीनियन की व्यवस्थापिक सभा द्वारा पास किये क़ानून को अस्वीकार किया जा सकता था। अब 'वेस्टमिंस्टर-व्यवस्था' ने इस हस्तक्षेप न करने की प्रथा को क़ानूनी रूप दे दिया है जिस प्रकार इंगलैंड के सन् १९११ के क़ानून ने शताब्दियों पुरानी प्रथा को क़ानून मान लिया है कि लार्ड सभा 'राष्ट्रीय-धन' (National Finance) संबंधी बिल को अस्वीकृत नहीं कर सकती[१]।

प्रथाओं को पालन करने के कारण

प्रथाओं के इस विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन करने के पश्चात् डाइसी द्वारा दिखाये हुए प्रथाओं को पालन करने के कारणों का अनुशीलन कर सकते हैं। उसका दावा है कि जो कोई भी शासन के मूल सिद्धान्तों और उसको स्पष्ट करने वाली प्रथाओं का उल्लंघन करेगा उसका यह कार्य देश के क़ानून विरुद्ध सिद्ध होगा। इसी कारण राजनीतिक क्षेत्र में अत्यधिक मनमानी करने वाले भी इनको पालन करने के लिये बाध्य हैं। डाइसी के अनुसार प्रत्येक मंत्रि-मंडल ने उनका पालन किया है। इसका प्रथम कारण 'उत्तराधिकार-क़ानून' का डर है क्योंकि प्रत्येक मंत्रि-मंडल जानता है कि वैधानिक शासन को चलाने के लिये आवश्यक सिद्धान्तों की भाँति परम्परा से उनका पालन होता आ रहा है इसलिये वह नहीं चाहता कि प्रथाओं के विरुद्ध चलकर जनता का विश्वास तथा अपना प्रभाव खो दे क्योंकि उनके विरुद्ध जाने पर राज्य के जटिल शासन के संचालन में गड़बड़ी हो सकती है।

दूसरे, यदि मंत्रिमंडल कामन-सभा की इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है तो धन व्यय करने का उसका क़ानूनी अधिकार खतम हो जाता है और 'वार्षिक स्थल तथा वायु सेना क़ानून' (Annual Army and Air Force Act) के रद्द होने पर फ़ौजों को रखना ग़ैर क़ानूनी हो जाता है।

तीसरे, अब न्यायकारिणी कार्य-कारिणी से बिल्कुल स्वतन्त्र है और राजा के बिल्कुल अधीन नहीं हैं। इसलिये वह ग़ैर क़ानूनी कार्यों में मंत्रिमंडल का किसी भी दशा में पक्ष नहीं ग्रहण कर सकती। मंत्रिमण्डल को इस्तीफ़ा देना पड़ेगा और शासन प्रबन्ध स्थगित हो जायगा।

चौथे, राजा स्वयं मनमानी करने वाले मन्त्रिमण्डल को अलग कर देगा क्योंकि विधान को बनाये रखने के लिए वह बाध्य है।

रिजेज (Ridges) और कीथ के शब्दों में 'क़ानून के ज़ोर पर ही प्रथाओं

१. वही—विशेष अध्ययन के लिये पृ० cxv—cxxvi देखिये।

का पालन होता है और जब यह कहा जाता है कि प्रथायें देश के क़ानून के आश्रित हैं तो इसका उपरोक्त ही अर्थ होता है।[१]

कीथ और वांग्टेह यू के विचार

किन्तु प्रथाओं को पालन करने के इन कारणों को अधुनिक लेखक नहीं स्वीकार करते। कीथ ने भी अपनी पुस्तक 'दि कैबिनट सिस्टम' में लिखा है कि प्रथाओं का पालन उनकी उपयोगिता के कारण होता हैं।[२] चीनी लेखक वांग्टेह यू (Wangteh Yu) भी अपनो पुस्तक 'दि इंगलिश कैबिनट सिस्टम' में लिखता है कि क़रीब क़रीब सभी प्रथाओं का पालन सुविधा के अनुसार किया जाता है और इसलिए यह राजनीतिज्ञ के व्यक्तिगत दृष्टिकोण और परिस्थितियों के अधीन होता है।[३]

लास्की का विचार

इनके अतिरिक्त लास्की और जेनिंग्स भी डाइसी के विचारों से असहमत हैं। लास्की का दावा है कि 'डाइसी की भाँति दलील पेश करना कि उनका पालन अवश्य होना चाहिए नहीं तो क़ानून भंग होगा, बिल्कुल ग़लत है। पार्लिमेंट को बुलाने के लिये 'सेना क़ानून' (Army Act) को हर साल पास करने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रीय कार्यों के लिये एक साल के स्थान में दो साल के लिये आर्थिक प्रबन्ध बड़ी आसानी से किया जा सकता है। यदि सरकार ने एक बार अपना बजट पास कर लिया है और रक्षात्मक सेना के अनुशासन सम्बन्धी क़ानूनों को पास कर लिया है तो वह पराजित होने पर भी साल भर शासन की बागडोर अपने हाथ में लिये रह सकती है। चूँकि परिस्थितियाँ इन प्रथाओं को आवश्यक और अलंघनीय बनाती रही हैं अर्थात् शासन के लिये लाभदायक सिद्ध हुई हैं इसीलिये ये आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। उसका कहना है कि सन् १९३१ में मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तर दायित्व सम्बन्धी प्रथा कुछ काल के लिये रद कर दी गयी थी और ऐसा किसी भी संकट काल में किया जा सकता है। इसलिये उसका विचार है कि प्रत्येक समय में प्रबल प्रचलित विश्वास के अनुसार इन प्रथाओं का अर्थ निकाला जायगा। जब राजनीतिक वातावरण शान्त होता है तब इनका अर्थ बड़ी उदारता से लगाया जाता है किन्तु जब वातावरण अशान्त होता है तो इनके अर्थ को सीमित कर दिया जाता है यहाँ तक कि एक दल का निकाला हुआ अर्थ दूसरे की समझ में ही नहीं आता।'[४]

१—Ridges and Keith—Constitutional Law of England pp. 4-9

२—Keith-The British Cabinet System विशेष अध्ययन के लिये १—४१ पृष्ठदेखिये।

३—Wangteh Yu-The English Cabinet System पृ० ३६८

४—Laski—The Parliamentary Government in England पृ० ५२—७०

सामूहिक उत्तरदायित्व की प्रथा को अस्थायी रूप से सन् १९३१ में आयात-कर-बिल (Import Duties Bill) के कारण रद होना पड़ा था क्योंकि मंत्रि-मंडल एक मत नहीं हो

जेनिंग्स के विचार

डा० जेनिंग्स का भी यही विचार है। उनका कहना है कि 'प्रत्येक कानून मिसाल है किन्तु प्रत्येक मिसाल नियम नहीं बना सकती। यदि लार्ड-सभा एक बार कामन-सभा से सहमत हो जाय तो इसका यह अर्थ नहीं कि यह हमेशा सहमत रहे। मिसालों से इसलिये नियम बन जाता है क्योंकि यह मान लिया गया है कि मिसालों से नियम बन जाता है। फिर भी एक साधारण मिसाल बड़े पुराने नियम को तोड़ फेंकती है। ऐसा सन् १६३२ में हुआ था जब कि मंत्रिमंडल में 'मतभेद के लिये समझौता' हुआ था। क्या इसका यह मतलब था कि सदैव के लिये सामूहिक उत्तरदायित्व का अन्त हो गया ? नहीं। संकट-काल में असाधारण परिस्थितियों के कारण माने हुये नियम भी अस्थायी रूप से तोड़े जा सकते हैं। इस प्रकार इस मिसाल से सामूहिक उत्तरदायित्व का साधारण नियम नहीं बदला। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रथाओं की अपनी कोई अहमियत नहीं होती है वरन् उनका अस्तित्व इसलिये है कि उनका संबंध तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों और विचारों से है। वे नियम बना देती हैं क्योंकि वे आवश्यक हैं और नियम उन्हीं मिसालों से स्थापित होते हैं जो वैधानिक शासन के विकासशील सिद्धान्तों के अनुकूल हैं। वैधानिक प्रथा को, मिसालों के द्वारा ही नहीं वरन् तर्क के द्वारा भी ठीक समझना आवश्यक है[1]।'

अतः यह स्पष्ट हो गया कि डाइसी का विचार कि प्रथायें क़ानून के बल पर मानी जाती हैं ठीक नहीं है। उनका पालन लाभ और सुविधा के दृष्टिकोण से, उनकी समय और परिस्थितियों के प्रति उपयुक्तता के लिये तथा राष्ट्र की इच्छा प्रकट करने के साधन होने के कारण (अर्थात् इसलिये कि लोकमत उनके पक्ष में है) होता है[2]।

सका। उसका निर्णय जो 'मतभेद का समझौता, (Agreement to Differ) कहलाता है निम्नलिखित है :—

'मंत्रि-मंडल ने अपनी समिति की रिपोर्ट को सामने रख कर उस पर काफ़ी वाद-विवाद किया किन्तु समिति की सिफ़ारिशों के ऊपर एक मत नहीं हो सका।

विश्व और देश की भयानक समस्याओं के सामने राष्ट्रीय एकता को क़ायम रखने की महत्ता को मंत्रि-मंडल खूब समझता है।

इसलिये इसने निश्चय किया है कि मंत्रि-मंडल की प्रचलित प्रणाली में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है और इसने निर्णय किया कि वे मंत्री जो अपने सहकारियों के बहुमत से प्रस्तावित प्रश्न पर असहमत हैं, भाषण तथा मत द्वारा अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

मंत्रि-मंडल और मामलों में पूर्णरूप से एक है इसलिये उसका विश्वास है कि इस विशेष विधि द्वारा वह राष्ट्र की इच्छा और समयकी अवश्यकताओं को पूर्णरूप से स्पष्ट कर रहा है'।

१—Jennigs—Cabinet Government पृ०६-१२

२—अधिक अध्ययन के लिये वेड के Introduction to Dicey's Law of the Constitution में cxxxvl—exlvi पृष्ठ देखिये।

पाँचवाँ अध्याय

शासन के एकात्मक और संघात्मक रूप

राज्य का प्रादेशिक विभाजन

आधुनिक विधानों के लिखित तथा अलिखित, परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील और न्यायकारिणी-प्रधान तथा व्यवस्थापिक-प्रधान रूपों के अनुशीलन के पश्चात् अब हम शासन के एकात्मक और संघात्मक रूपों का अध्ययन करेंगे। शासन के इन रूपों का आधार राज्य का प्रादेशिक विभाजन है क्योंकि बिना केन्द्रीय और प्रान्तीय शासनों के पारस्परिक संबंध के ज्ञान के इनकी प्रकृति नहीं समझी जा सकती।

प्रादेशिक विभाजन का अर्थ

प्रादेशिक विभाजन का अर्थ है कि प्रत्येक आधुनिक राज्य विस्तृत-देशीय-राज्य होने के कारण शासन-प्रबन्ध को सुचारु रूप से चलाने के लिये छोटे-छोटे क्षेत्रों में बाँटा जाता है। प्राचीन नगर-राज्य में, जैसा कि नाम ही से स्पष्ट है, देश के और अधिक विभाजन की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि जहाँ तक अच्छे शासन-प्रबन्ध का प्रश्न था नगर की देखभाल और उपका नियंत्रण सरलता से हो सकता था। परन्तु आधुनिक राज्य इतना बड़ा होता है कि इसमें विस्तृत भूभाग सम्मिलित रहते हैं। इसलिये यह छोटे-छोटे प्रदेशों में विभाजित किया जाता है। भारतवर्ष में ऐसा विभाजन प्रान्तों तथा और छोटे उप-विभागों में, इंगलैंड में काउन्टियों में तथा स्थानीय जिलों में, स्विटजरलैंड में कैन्टनों में तथा स्थानीय क्षेत्रों में, फ्रान्स में डिपार्टमेंटों तथा और छोटे प्रदेशों में और अमेरिका के संयुक्त राज्य में राज्यों तथा दूसरे भूभागों में किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय शासन और प्रान्त, काउन्टी, केन्टन, डिपार्टमेंट अथवा राज्य के शासन हैं। स्थानीय शासन-प्रबन्ध के लिये ये भी परगनों में विभाजित हैं। इनमें से केन्द्रीय शासन पूरे राज्य से सम्बन्ध रखने वाले मामलों की देखभाल करता है क्योंकि सुरक्षा, शान्ति और समरूपता के लिये थलसेना, जलसेना तथा वायुसेना ऐसे विषयों का प्रबन्ध देश की सर्वोच्च अथवा एक ही सत्ता के हाथ में रहना चाहिये। इस शक्ति के विभाजन से राज्य निर्बल तथा अस्थायी हो जावेगा। शिक्षा, सार्वजनिक कार्यों तथा स्वच्छता का प्रबन्ध प्रान्तीय शासनों के हाथ में रहता है क्योंकि केन्द्रीय शासन को कमजोर किये बिना ये विषय सरलता से प्रान्तीय अथवा स्थानीय शासन-प्रबन्ध के अन्दर किये जा सकते हैं। स्थानीय शासन प्रान्तीय शासन के सब से छोटे क्षेत्रों का प्रबन्ध करता है और अपने कर्तव्यों के पूर्ण पालन के लिये प्रान्तीय शासन के सामने उत्तरदायी रहता है।

एकात्मक और संघात्मक शासनों का आधार
प्रान्तीय विभागों की प्रकृति

इस प्रकार राज्य के प्रादेशिक विभाजन का अर्थ है राज्य का केन्द्रीय और प्रान्तीय विभाजन (स्थानीय विभाजन प्रान्तीय विभाजन का एक अङ्ग है)। आधुनिक राज्य का यह दोहरा विभाजन ही एकात्मक और संघात्मक शासनों के स्वरूप का आधार है। परन्तु जैसा प्रान्तीय विभाजन होगा उसी के अनुसार शासन का रूप निश्चित होगा। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं सभी देशों में मिलाकर दो प्रकार का प्रान्तीय विभाजन है। पहले विभाजन में भारतीय प्रान्त, अंग्रेजी काउन्टियाँ और फ्रांस के डिपार्टमेंट आते हैं और दूसरे में स्विटजरलैंड के कैन्टन और अमेरिका के संयुक्त राज्य के राज्य आते हैं। पहले वाले भागों का अस्तित्व केन्द्रीय शासन के हाथ में है और यह उनको अपनी इच्छानुसार बदल सकता है या बिल्कुल खत्म कर सकता है। दूसरे वाले केन्द्रीय शासन के इतने अधीन नहीं हैं। दोनों के कार्य-क्षेत्र अलग अलग हैं और एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। पहले प्रकार का विभाजन एकात्मक शासन में और दूसरे प्रकार का संघात्मक शासन में होता है।

एकात्मक और संघात्मक शासनों में प्रकार का भेद

किन्तु सर जॉन सीली एकात्मक और संघात्मक राज्यों के बीच कोई बड़ा भेद नहीं मानते। उनके विचार से उनके बीच 'प्रकार' का अन्तर नहीं है और यदि है भी तो केवल 'मात्रा' का है। और वह भी स्थानीय शासन के सिद्धान्त के उपयोग की सीमा के आश्रित है। इसके विरुद्ध प्रो० स्ट्रांग[1] इस अन्तर को बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं, उनके विचार से यह केवल दिखाऊ और शाब्दिक ही नहीं है। मेरियट[2] महोदय जोरदार शब्दों में कहते हैं कि अन्तर केवल 'मात्रा' का नहीं है 'प्रकार' का भी है। शासन के इन दोनों रूपों का अर्थ समझने के पश्चात् विषय स्पष्ट हो जायगा।

एकात्मक शासन का अर्थ

एकात्मक शासन वह है जिसमें केन्द्रीय शासन सर्वशक्तिशाली होता है। यह पुराने प्रान्तों और जिलों को खत्म कर सकता है और नये बना सकता है। इस प्रकार बिना किसी रोक और क़ैद के प्रान्तीय तथा दूसरे स्थानीय क्षेत्रों के विभाजन में परिवर्तन कर सकता है या नया विभाजन कर सकता है[3]। प्रामाणिक लेखकों ने भी निम्नलिखित परिभाषायें दी हैं।

(१) फिनर का कथन है कि 'एकात्मक राज्य वह है जिसमें सम्पूर्ण सत्ता और शक्ति एक ही केन्द्र के हाथ में हो और जिसकी इच्छा तथा जिसके कार्यकर्ता सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्वशक्तिमान हों'।

---

१. Strong—Modern Constitutions p. 60

२. Marriot—The Mechanism of the Modern State Vol. II. p. 382.

३. डा० फिनर इस विभाजन को राज्य का 'केन्द्रीय स्थानीय प्रादेशिक ढाँचा' कहते हैं।

(२) डाइसी के अनुसार एकात्मक शासन वह है जिसमें 'एक केन्द्रीय शक्ति के हाथ नैतिक रूप से क़ानून बनाने का सर्वोच्च अधिकार हो'।

(३) विलोवी के विचार से 'एकात्मक शासन में शासन-प्रबन्ध के सम्पूर्ण अधिकार एक ही केन्द्रीय सरकार के हाथ में होते हैं। इसके पश्चात् यदि वह ठीक समझती है तो इन अधिकारों को प्रादेशिक भागों में स्वतंत्रता से बाँट सकती है। एकात्मक-शासन, शासन-प्रबन्ध की सीमा के अन्दर आने वाले तथा अपने ही द्वारा निश्चित किये हुये अधिकारों को कार्यान्वित करने के लक्ष्य से एक ठोस संगठन से सहायता प्राप्त करने के लिये, क़ानूनी तथा सर्व प्रधान शक्ति के निर्णय का प्रतिनिधित्व करता है।'

(४) प्रो० स्ट्रांग इसकी यह परिभाषा देते हैं कि 'एकात्मक राज्य वह है जो एक ही केन्द्रीय शासन में संगठित हो। अर्थात् केन्द्रीय शासन-क्षेत्र के ज़िलों के अधिकार केन्द्रीय शासन के अधीन होते हैं। इसकी सत्ता सर्वोच्च होती है। इसके हिस्सों को विशेष अधिकार स्वीकृत करने वाला क़ानून भी इस पर नियंत्रण नहीं रख सकता।'

(५) गार्नर के अनुसार जहाँ शासन विधान द्वारा किसी एक ही केन्द्रीय अंग या अंगों को शासन-शक्ति सौंप दी जाती है और किसके हाथ से स्थानीय शासन अपने अधिकार, स्वतंत्रता यहाँ तक कि अपना अस्तिव भी पाते हैं वहाँ एकात्मक शासन-रूप होता है।

लक्षण

इन सब परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इसका प्रथम प्रधान लक्षण यह है कि इसकी केन्द्रीय सरकार सर्वशक्तिमान होती है और देश की एकता क़ायम रखती है। दूसरा इसी का उपसिद्धान्त है जिसके अनुसार इसके प्रान्त या विभाग इसकी सत्ता को सीमित नहीं कर सकते। वे इसके आश्रित अंग हैं जिनका अस्तित्व उसकी इच्छा, आवश्यकता अथवा सुविधा पर निर्भर है।

उदाहरण

इसके उदाहरणों में आजकल इंगलैंड, जापान इत्यादि के शासनों का नाम लिया जा सकता है। इंगलैंड की पार्लिमेंट देश के भीतर सर्वशक्तिमान है और इसका प्रभुत्व किसी प्रान्तीय अथवा स्थानीय शक्ति से सीमित नहीं है। ऐसा ही जापान में है। और फ्रान्स में भी सन् १९३९-४५ के युद्ध के पहिले ऐसा ही था। भारतवर्ष में भी सन् १९१९ के सुधार-क़ानून तक एकात्मक शासन था क्योंकि भारतीय सरकार अपनी सुविधा के के अनुसार किसी भी प्रान्त को समाप्त कर सकती थी या उसमें परिवर्त्तन कर सकती थी। किन्तु सन् १९१९ के क़ानून के साथ विकेन्द्रीकरण का क्रम आरम्भ हो गया था और सन् १९३५ के क़ानून के अनुसार भारत में संघात्मक-शासन होना चाहिये। अभी सन् १९३५ का क़ानून पूर्णरूप से कार्यान्वित नहीं किया गया इसलिये भारतीय शासन एकात्मक और संघात्मक शासनों के बीच में है। न्यूज़ीलैंड और दक्षिणी अफ्रीका का संघ दोनों ही एकात्मक राज्य हैं क्योंकि उनके केन्द्रीय शासन अपने-अपने क्षेत्रों में सर्व-शक्तिमान हैं। नये विधान के अनुसार जो दिसम्बर सन् १९३७ में कार्यान्वित किया गया था, आयरलैंड भी एकात्मक राज्य बन गया है।

संघात्मक शासन

एकात्मक शासन की भाँति संघात्मक शासन में पूर्ण सत्ता केन्द्रीय सरकार के हाथ में नहीं रहती। इसमें केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में सत्ता बँटी रहती है और ये अपने अलग-अलग नियत क्षेत्रों में कार्य संचालन करती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकार के मामलों में न हस्तक्षेप करती है और न कर सकती है। प्रान्तीय सरकारें भी केन्द्रीय सरकार के उन मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं जिनका प्रबन्ध उसके सुपुर्द कर दिया जाता है। इसीलिए संघात्मक-शासन को 'दोहरा-शासन[1]' कहते हैं। इसमें आन्तरिक राज-सत्ता दो शक्तियों में बँटी रहती है। एक ओर केन्द्रीय या संघ-सरकार होती है और दूसरी ओर प्रान्तीय सरकारें। प्रामाणिक लेखकों ने संघात्मकता (एकात्मकता के विरुद्ध) को निम्नलिखित ढंगों से समझाया है।

(१) मान्टेस्क्यू के अनुसार 'शासन का यह रूप एक समझौता है जिसके द्वारा छोटे-छोटे राज्य उस बड़े राज्य के सदस्य बन जाते हैं जिसको वे स्थापित करना चाहते हैं।'

(२) डाइसी का विचार है कि 'संघात्मक राज्य एक राजनीतिक साधन है जिसके द्वारा राष्ट्रीय-सत्ता और एकता का, सदस्य-राज्यों के अधिकारों के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाता है।'

(३) फिनर का कहना है कि 'संघात्मक राज्य वह है जिसमें सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय क्षेत्रों को सौंप दिया जाता है और दूसरा केन्द्रीय संस्था को जिसको स्थानीय क्षेत्र स्वयं मिलकर बनाते हैं।

(४) सर हरबर्ट सेमुएल (Sir Herbert Samuel) ने इसकी परिभाषा दी है कि 'यह वह राज्य है जिसमें एक केन्द्रीय शक्ति होती है जो पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है, विदेशी मामलों में अपना निर्णय देता है तथा सर्वसाधारण के हितों से संबंध रखने वाले आन्तरिक प्रश्नों को सुलझाती है। दूसरी ओर इसमें प्रान्तीय सरकारें होती हैं जिनको विधान द्वारा प्रदत्त-क्षेत्र के भीतर क़ानून पास करने और शासन-संचालन के अधिकार प्राप्त रहते हैं।'

(५) प्रो० स्ट्रांग का कथन है कि 'संघात्मक-राज्य वह है जिसमें समान राज्य एक दूसरे से सम्बन्धित उद्देश्यों के लिये एक हो जाते हैं। इसमें इन उद्देश्यों के लिये एकत्रित होने वाले इन राज्यों के कुछ अधिकारों की रक्षा के लिये केन्द्रीय अथवा संघ सरकार की सत्ता को सीमित कर दिया जाता है। इस दशा में एक ऐसी शक्ति होनी चाहिये जो इस अधिकार-विभाजन को संपादित करे। यह शक्ति स्वयं शासन-विधान होता है और संघ-विधान एक संधि के रूप में रहता है।

(६) गार्नर कहता है कि संघात्मक शासन वह प्रणाली है जिसमें शासनात्मक शक्ति-योग को राष्ट्रीय-विधान या इसका निर्माण करने वाली पार्लिमेंट का क़ानून केन्द्रीय

१—मेरियट ने संघात्मक राज्य को 'मिश्रित-राज्य' (Composite Government) कहा है और विलोवी इसको 'एकाधिक शासन' (Multiple Government) कहता है।

सरकार और प्रान्तों अथवा दूसरे संघ स्थापित करने वाले प्रादेशिक विभागों की सरकारों में बाँटता है।'

एकात्मक और संघात्मक शासनों की तुलना

एकात्मक और संघात्मक शासनों की इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि आधुनिक शासनों के इन दोनों रूपों के बीच महान् अन्तर है।

सर्वप्रथम, 'एकात्मक राज्य में सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहती है परन्तु संघात्मक-राज्य में अधिकार केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में बँटे रहते हैं। जैसा गार्नर कहता है आश्रित प्रान्तीय सरकारों और केन्द्रीय सरकार में अधिकारों का कोई वैधानिक वितरण या विभाजन नहीं होता। संक्षेप में इसमें अधिकारों का उद्गम-स्थान एक है और केवल एक सामूहिक विचार। शासन-प्रबन्ध की सुविधा के लिये वास्तव में सभी एकात्मक राज्य क्षेत्रों या जिलों में विभाजित रहते हैं (प्रान्त, डिपार्टमेंट, काउन्टी, कम्यून इत्यादि)। इनमें से प्रत्येक को एक सीमा तक स्वराज्य तथा स्वायत्त-शासन के सीमित अधिकार प्राप्त होते हैं किन्तु ये स्थानीय क्षेत्र विधान द्वारा नहीं वरन् केन्द्रीय सरकार की इच्छानुसार परिवर्तित अथवा बनाये जाते हैं और जो कुछ भी स्वराज और स्वायत्त-शासन के अधिकार इनके पास रहते हैं उनको केन्द्रीय सरकार देती है और अपनी इच्छानुसार इनको घटा-बढ़ा भी सकती है'। इसलिये केन्द्रीय सरकार के अंग होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। फिर गार्नर के शब्दों में 'संघात्मक राज्य में स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की बनाई हुई नहीं होतीं। बहुत से संघ-शासनों में इसका बिलकुल उल्टा है अर्थात् संघ-क़ानून द्वारा संघ के सदस्य बनने वाले राज्यों ने केन्द्रीय सरकार का निर्माण किया है। ऐसी दशा में उनका स्थान केन्द्रीय संगठन के अंगों अथवा एजेन्टों से ऊँचा है। उनके स्वराज की सीमा केन्द्रीय सरकार नहीं निर्धारित करती वरन् संघ का विधान निश्चित करता है, अथवा अंग्रेजी डोमीनियनों की भाँति राजकीय पार्लिमेंट का क़ानून, जो विधान का काम करता है।'

दूसरे, एकात्मक राज्य में शासन के बहुत्व का अभाव रहता है परन्तु संघात्मक राज्य में एकत्व का अभाव रहता है, इसमें दोहरा शासन रहता है। पहले में स्थानीय शासन मिल कर एक हो जाते हैं और उसका अस्तित्व केन्द्रीय शासन की सुविधा पर निर्भर करता है किन्तु दूसरे में वे अपने व्यक्तित्व को नहीं खोते और कुछ अधिकारों का प्रयोग करते हैं जिनमें केन्द्रीय अथवा संघ-शासन हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इससे प्रकट है कि वे शासन-प्रबन्ध की सुविधा के लिये केवल ऐजंट नहीं हैं; उनको एक सीमा तक स्वराज प्राप्त है, उनका अपना कार्य-क्षेत्र है जिसका वे शासन-प्रबन्ध करते और जिसके लिये क़ानून बनाते हैं। इस प्रकार संघ-शासनों में दो प्रकार की व्यवस्थापिका सभायें होती हैं पहिली 'संघ व्यवस्थापिका सभा,' दूसरी राज्य या प्रान्त व्यवस्थापिका सभायें। प्रत्येक का एक निश्चित कार्य-क्षेत्र होता है और उसके भीतर अपने अधिकारों का प्रयोग करती तथा कानून बनाने का कार्य करती हैं। इस प्रकार वे समान हैं एक दूसरे के अधीन नहीं हैं। परन्तु एकात्मक शासनों में केन्द्रीय व्यवस्थापिका

सभा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के ऊपर होती है और ये प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभायें केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की अधीनता में क़ानून बनाती हैं। उनको केन्द्रीय के बराबर अधिकार नहीं प्राप्त होते। यदि स्थानीय शासनों को काफी स्वराज भी प्राप्त हो जैसा कि इंगलैंड में है, तो भी प्रो० स्ट्रांग के शब्दों में वे क़ानून बनाने वाले संगठन न होकर उप-नियम बनाने वाले होते हैं। किन्तु संघात्मक शासन में वे 'सहायक स्वतंत्र-संगठनों के समान हैं, सहायक व्यवस्थापिका · सभाओं के समान नहीं'। प्रो० स्ट्रांग का कथन है कि जो हमने 'सहायक व्यवस्थापिका सभाओं' और 'सहायक स्वतत्र संगठनों' में अन्तर देखा है वह एकात्मक राज्य के स्थानीय शासनों और संघात्मक राज्य के प्रान्तों के बीच का अन्तर है। (संघात्मक राज्य में) प्रान्तीय शासनों के अधिकारों को संघ-शासन न घटा सकता है न बढ़ा सकता है।

तीसरे, संघात्मक विधान एक संधि अथवा समझौते के समान है जिसके द्वारा कुछ स्वतंत्र राज्य मिलकर कुछ एक दूसरे से संबंध रखने वाले उद्देश्यों के लिये एक नये राजनीतिक संगठन का निर्माण करते हैं किन्तु अपने कुछ अधिकार सुरक्षित रखते हैं। इसलिये विधान को, न संघ-शासन की व्यवस्थापिका सभा और न प्रान्तों की व्यवस्थापिका सभायें संशोधित कर सकती हैं। विधान में परिवर्तन, संशोधन की किसी एक विशेष प्रणाली द्वारा किया जाता है। परन्तु एकात्मक राज्य का विधान किसी तरह से भी संधि नहीं समझा जा सकता और इसकी सर्वोच्च व्यवस्थापिका शक्ति इसमें संशोधन सरलता से कर सकती है। संघात्मक राज्य के विधान में परिवर्तन करने के लिये प्रत्येक प्रान्त या राज्य की अनुमति या सम्मति बहुत जरूरी है परन्तु एकात्मक राज्य में इसी कार्य के लिये स्थानीय शासनों की कुछ भी पूछ नहीं होती।

चौथे, संघात्मक राज्य में साधारणत: प्रान्तीय शासनों और संघ-शासन के बीच झगड़ों को तय करने के लिये एक अलग से शक्ति रहती है। इसको संघ-न्यायालय कहते हैं। एकात्मक राज्य में किसी ऐसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती।

पाँचवें, संघात्मक शासन में नागरिक को दो प्रकार के क़ानूनों का पालन करना पड़ता है। उनमें से पहले संघ-शासन के क़ानून होते हैं और दूसरे अपने राज्य के। परन्तु एकात्मक शासन में तो उसको केवल केन्द्रीय सरकार के बनाये हुये क़ानूनों को मानना पड़ता है। इस प्रकार संघात्मक शासन में संघ को बनाने वाले राज्यों के क़ानून भिन्न भिन्न हो सकते हैं किन्तु एकात्मक शासन के प्रान्तों में ऐसी बात नहीं हो सकता, वहाँ केवल केन्द्रीय सरकार के बनाये हुये क़ानून माने जाते हैं। उदाहरण स्वरूप एक अंग्रेज इंगलैंड में केवल एक क़ानून मानता है परन्तु अमरीका के संयुक्त-राज्य तथा स्विटजरलैंड में नागरिकों को दो प्रकार के क़ानून का पालन करना पड़ता है—पहला संघ-शासन का क़ानून जो सब नागरिकों के लिये एक-सा लागू होता है, दूसरा प्रत्येक राज्य या केन्टन का क़ानून जो प्रत्येक राज्य या केन्टन में भिन्न भिन्न हो सकता है।

संघात्मकता का अर्थ

एकात्मक और संघात्मक शासनों की तुलना करने के पश्चात् अब हम यह जानने का प्रयत्न कर सकते हैं कि संघात्मक-शासन कहाँ तक दूसरे संगठनों से भिन्न है।

इसके बिना हम संघराज्य का असली अर्थ नहीं समझ सकते। पहले हम संघात्मकता-के अर्थ से आरम्भ करेंगे।

संघात्मकता (Federalism)[1] का तात्पर्य है एकत्र होने का भाव अर्थात् संधि या समझौता। आधुनिक संघराज्य की यह विशेषता है कि दो या दो से अधिक स्वतंत्र राज्य एक नया राज्य स्थापित करने के लिये समझौता करते हैं।[2] परन्तु विभिन्न राज्यों के सभी आपसी समझौतों और संधियों से नया राज्य नहीं बनता। इसीलिये लीकॉक महोदय ने कहा है कि विशद अर्थ में संघ के माने दो या दो से अधिक स्वतंत्र राज्यों का किसी भी प्रकार का मेल है....जब हम अलग-अलग राज्यों को आपस में जोड़ने वाले मेलों पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे क्रमानुसार बढ़ने वाली निकटता को प्रकट करते हैं। इसलिये आरम्भ में ही एक नया राज्य बनाने वाली संघात्मकता और अज्ञानवश संघात्मक कहे जाने वाले मेल के दूसरे सभी रूपों के बीच के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता

इस दृष्टिकोण से सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता विचारणीय है। यह मेल का सबसे कमजोर रूप है। इसमें दो या दो से अधिक स्वतंत्र राज्य किसी विशेष नीति का अनुसरण करने के लिये अथवा आक्रमणात्मक और रक्षात्मक मित्रता के लिये मिल सकते हैं किन्तु इससे कोई ऐसा संगठन नहीं बनता है जो इनमें से किसी को एक विशेष कार्य-क्रम को पालन करने के लिये बाध्य कर सके। यूरोपीय राज्यों के राष्ट्रीय और प्रजातंत्रात्मक आंदोलनों को दबाने के लिये सन् १८१५ में आस्ट्रिया, रूस और प्रशा के सम्राटों ने आपस में 'पवित्र मित्रता' (Holy Alliance) स्थापित को थी; सन् १९०२ की ऐंग्लो-जापानी मित्रता से इंगलैंड और जापान ने सुदूर-पूर्व-नीति के महत्वपूर्ण मामलों में सहयोग स्थापित किया गया था और इंगलैंड, फ्रान्स तथा रूस की मित्रता (Triple Entente) और जर्मनी, आस्ट्रिया तथा इटली की मित्रता (Triple Alliance) ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप को दो सशस्त्र दलों में बाँट दिया था क्योंकि एक मित्र-दल के राष्ट्रीय स्वार्थ दूसरे के राष्ट्रीय स्वार्थों के विरुद्ध पड़ते थे। लेकिन ये सब मित्रतायें केवल राष्ट्रीय स्वार्थों की सिद्धि हो जाने के समय तक कायम रहीं। इसके बाद जैसा कि हमने अपने समय में देखा है राज्यों ने इच्छानुसार एक पक्ष का साथ छोड़ कर दूसरे का साथ ग्रहण किया है। आज जापान इंगलैंड के विरुद्ध है, वही इटली जो सन् १९१४-१८ के युद्ध में इंगलैंड और फ्रान्स के साथ था और सन् १९३९-४५ के युद्ध के आरम्भ में जर्मनी का घनिष्ट मित्र था सन् १९४४ में मुसोलनी के पतन के बाद ही संयुक्त राष्ट्रों के पक्ष में आ गया। इन उदाहरणों

१. फेडरलिज़्म (Federalism) लैटिन भाषा के फ़ोडस (Foedus) शब्द से निकला है जिसका अर्थ संधि या समझौता है।

२—Gilchrist—Principles of Political Science p. 342

से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय मित्रतायें बहुत ही कमजोर होती हैं और साधारणतः उनकी नींव बालू की सी होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्धात्मक संघ

अन्तर्राष्ट्रीय मित्रताओं के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्धात्मक संघ हैं जो अपना एक संगठन स्थापित करते हैं (जो साधारणतः एक ब्यूरो या कमीशन होता है।) वह अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सार्वजनिक हितों से सम्बन्धित मामलों की देखभाल करता है। साधारणतः ये संघ अन्तर्राष्ट्रीय कानफ्रेंसों अथवा सभाओं के द्वारा स्थापित किये जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक हितों की देखभाल करते हैं। १८७४ में स्थापित 'सार्वभौमिक-डाक-संघ' (Uuiversal Postal Union) और १८८३ में स्थापित 'औद्योगिक-सम्पत्ति-रक्षा-संघ' (The Union for the protection of Industrial Property) ऐसे संघों के अच्छे उदाहरण हैं। साधारणतः ये संघ सदस्य-राष्ट्रों के चन्दों से चलाये जाते हैं।

वैयक्तिक संयोग

इसके पश्चात् वैयक्तिक संयोगों (Personal Unions) और वास्तविक संयोगों (Real Unions) पर विचार करना है। मेरियट ने इन दोनों के बीच अन्तर नहीं दिखाया परन्तु ब्लंटशली ऐसे लेखकों ने अन्तर दिखाने का प्रयत्न किया है। अतः यदि एक ही व्यक्ति दो अलग-अलग राज्यों का उत्तराधिकारी हो जाता है तो इन दो राज्यों के मेल को वैयक्तिक संयोग कहते हैं। केवल राजा अथवा सम्राट ही दोनों देशों को मिलाने का कार्य करता है नहीं तो दोनों राज्यों की अलग-अलग संस्थायें होती हैं। चार्ल्स पंचम (१५२०-५६) जो वास्तव में स्पेन का राजा था मेक्जीमिलियन की मृत्यु के पश्चात् आस्ट्रिया का भी सम्राट हो गया था। इसी प्रकार इंगलैंड और हनोवर का सन् १७१४ से १८३७ तक का संयोग केवल वैयक्तिक था क्योंकि इंगलैंड के हनोवरवंशीय राजे हनोवर के भी राजा होते थे। परन्तु विक्टोरिया के सिंहासनारूढ़ होते ही यह संयोग भंग हो गया क्योंकि हनोवर के उत्तराधिकार-नियम के अनुसार कोई स्त्री सिंहासन पर नहीं बैठ सकती थी। सब लेखकों ने ऐसे संयोग को अपूर्ण और अस्थायी कहा है। मेरियट ने तो यहाँ तक कह डाला है कि वैयक्तिक संयोग दो या दो से अधिक स्वतंत्र राज्यों को मिलाने का सबसे कमजोर साधन है तथा मिश्रित राज्यों का सबसे ज्यादा कमजोर रूप है।

वास्तविक संयोग

इसके विरुद्ध वास्तविक संयोग में एकत्व की भावना अधिक रहती है। ब्लंटशली का कहना है कि इसमें केवल राजा ही एक नहीं होता है वरन् सर्वोच्च सरकार भी एक होती है। यहाँ तक कि उसके अधिकार क्षेत्र में शासन और कानून भी रहते हैं। बाह्य मामलों में ये राज्य मिलकर एक ही भाँति कार्य करते हैं यद्यपि आन्तरिक शासन-प्रबन्ध के लिये

अलग-अलग क़ानून और संस्थायें रहती हैं। ऐसे संयोग का सबसे अच्छा उदाहरण आस्ट्रिया और हंगरी का दोहरा-एकतंत्र (Dual Monarchy) था। यह संयोग सन् १८६७ में स्थापित हुआ था जो १९१९ तक रहा और १९१४-१८ के युद्ध के बाद भंग हो गया। नार्वे और स्वीडन का भी संयोग ऐसा ही था। यह १८१५ में स्थापित हुआ था। इसके अनुसार स्वीडन का राजा नार्वे का भी राजा मान लिया गया था लेकिन आन्तरिक शासन-प्रबन्ध के लिये उसकी अपनी संस्थायें थी। लेकिन यह संयोग १९०५ में भंग हो गया था क्योंकि नार्वे अपना अलग राजनीतिक प्रतिनिधित्व चाहता था।

राज्यसंघ और संघराज्य

(CONFEDERATION AND FEDERATION)

वैयक्तिक और वास्तविक संयोगों के बाद राज्यसंघ आता है जिसको जर्मन 'स्टाटेनबन्ड[1]' (Staatenbund) कहते हैं। ब्लंटशली के शब्दों में 'यह राज्यों का एक समूह है वास्तविक राज्य नहीं। क्योंकि इसमें क़ानून बनाने, उनको पालन कराने और उनको तोड़ने वालों को दंड देने वाले अंगों का अभाव रहता है। यह स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता और विधिवत् निर्माणित राज्य के बीच का रूप है इसलिये अपूर्ण या अस्थायी है। इसके अन्तर्गत एक सीमा तक समान लोग आ सकते हैं किन्तु इसमें वास्तविक संयुक्त-राष्ट्र को स्थान नहीं है और सामूहिक जीवन और शक्ति का विकास बड़ी कठिनता से होता है।' संघराज्य में जिसको जर्मन 'बन्डेस्टाट[2]' (Bundestaat) कहते हैं एक नये राष्ट्र और एक नये राज्य की स्थापना रहती है। यह इकाइयों के समूह से भिन्न है। 'राष्ट्रों के मध्य में इसका एक पूर्ण राजनीतिक व्यक्तित्व है; यह केवल विभिन्न राज्यों के बीच का संबन्ध नहीं है वरन् यह स्वयं एक राज्य है। राज्य-संघ और संघ-राज्य में केवल एक समानता है। दोनों की स्थापना बिलकुल स्वतंत्र राज्यों के सम्मिलन से होती है। परन्तु राज्यसंघ में ये राज्य व्यवहार रूप में अलग और स्वतंत्र रहते हैं और संघराज्य में वे मिलकर एक राज्य और एक राष्ट्र का रूप धारण कर लेते हैं। अतः स्पष्ट है कि राज्यसंघ राज्यों का केवल एक समूह है और संघराज्य एक वास्तविक योग है जिसका परिणाम एक नवीन अस्तित्व है। राज्यसंघ और संघराज्य के अन्तर विभिन्न लेखकों ने इस प्रकार दिखाये हैं:—

(१) लीकॉक का कथन है कि 'राज्यसंघ एक राज्य नहीं है। कुछ शर्तों के साथ कुछ विशेष उद्देश्यों के लिये निर्मित पूर्ण स्वतंत्र राज्यों का एक समूह है। इनमें से प्रत्येक राज्य जब चाहे तब राज्यसंघ से क़ानूनन अलग हो सकता है। अतः राज्यसंघ स्थायी

१—जर्मन भाषा में 'स्टाट' (Staat) का अर्थ होता है राज्य। इसलिये इसके बहुवचन स्टाटेन (Staaten) का अर्थ हुआ कई राज्य। बन्ड (Bund) का अर्थ है संघ। अतः स्टाटेन-बन्ड' का अर्थ हुआ 'राज्यसंघ' यानी राज्यों का संघ।

२—'बन्डेस्टाट' (Bundestaat) में 'स्टाट' (Staat) राज्य के एकवचन के लिये प्रयोग किया गया है इसलिये इसका अर्थ राज्यों का संघ नहीं वरन् संघरूपी राज्य या संघराज्य है।

और अटूट नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा हो तो अंगीभूत राज्यों की राजसत्ता ही समाप्त हो जाय। संघराज्य एक पूर्ण राज्य है। इसके अधीन भाग संयोग स्थापित होने के पूर्व (यद्यपि आवश्यक रूप से नहीं) पूर्ण स्वतंत्र राज्य रह सकते हैं परन्तु संघराज्य स्थापित होने के पश्चात् वे स्वतंत्र नहीं रह सकते। जहाँ तक अलग-अलग राज्यों के शासनों को या केन्द्रीय शासन की नीति का संबंध है ऐसा संयोग क़ानूनन अटूट हो जाता है[1]।' जैसा कि विल्सन महाशय कहते हैं संघराज्य में 'सम्मिलित होने वाले राज्यों को एक दूसरे से स्वतंत्र होकर अन्तस्संबन्धी मामलों में कार्य करने के अधिकार का समर्पण करना पड़ता है और इसके परिणाम-स्वरूप अन्तस्संबन्धी प्रश्नों के लिये एक राज्य में आत्मसात हो जाते हैं। राज्य एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व में घुले-मिले रहते हैं, उनको अलग-अलग करने की बाहरी सीमायें कोई नहीं होतीं सब आन्तरिक ही होती हैं[2]।'

(२) संघराज्य में एक नयी राजसत्ता का जन्म होता है परन्तु राज्यसंघ में ऐसा होना सम्भव नहीं क्योंकि वह स्वतंत्र राज्यों का केवल एक समूह होता है। गार्नर का कथन है कि 'जहाँ संघराज्य में एक राजसत्ता होती है वहाँ राज्यसंघ में एक न होकर कई राजसत्तायें होती हैं, जितने राज्य इसमें सम्मिलित होते हैं उतनी ही राजसत्तायें होती हैं। साधारणतः प्रत्येक सदस्यराज्य का एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व होता है, यह विदेशी राज्यों से सन्धि कर सकता है, यहाँ तक कि दूसरे सदस्यों से पृथक रह कर युद्ध भी कर सकता है। यदि उनमें से दो या दो से अधिक के बीच युद्ध छिड़ जाता है तो वह गृहयुद्ध न होकर अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होता है[3]।' यदि ऐसा युद्ध संघराज्य के अंगीभूत राज्यों के बीच छिड़ता है तो यह गृह-युद्ध होगा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध नहीं। संघराज्य के सदस्यों की राजसत्ता सीमित कर दी जाती है। लीकॉक का कहना है कि संघराज्य के स्थापित होने के पश्चात् सदस्य-राज्यों की सत्ता का बिल्कुल अन्त हो जाता है। न यह सीमित हो जाती है और न बंट जाती है[4] वरन् पूर्ण रूप से समाप्त हो

१—Leacock—Element of Politics, p. 227.

२—Wilson—The state, p. 545.

३—Garner—Political Science and Government, p. 274-75.

४—सभी लेखकों का यह विचार नहीं है कि संघराज्य में अंगीभूत राज्यों की सत्ता का पूर्ण अन्त हो जाता है। विल्सन का कहना है कि 'राजसत्ता की नई धारणा का जन्म होता है। राजनीतिकशक्ति के कार्यों का विभाजन हो जाता है। कुछ विषयों के लिये संघ-सरकार को क़ानून बनाने का अधिकार होता है और वे क़ानून देश के सर्वोच्च क़ानून होते हैं। दूसरे विषयों के संबंध में सदस्य-राज्य स्वतंत्र राज्यों की भाँति अपने अधिकारों को काम में लाते हैं। पहिली शक्ति पूर्ण स्वतंत्र होती हैं क्योंकि यह सब के ऊपर होती है और अपने अधिकारों की सीमा स्वयं निर्धारित करती है। दूसरी कक्षा की शक्तियाँ अपना पूर्ण प्रभुत्व क़ायम रखती हैं यद्यपि संकीर्ण क्षेत्र में। इनके अन्तर्गत अधिकार अनियंत्रित होते हैंऔर स्वतः पूर्ण। संघ-सरकार के न ये दिये हुये होते हैं और न यह इन्हें छीन सकती है। इनका प्रयोग इच्छानुसार किया जा सकता है।' (दि स्टेट, पृ० ५४५) किन्तु यह विचार भी पूर्णतः ठीक नहीं है क्योंकि यह उन संघराज्यों के

जाती है। क्योंकि राजसत्ता या तो होती है या होती ही नहीं। किन्तु नये राज्य में राजसत्ता केन्द्रीय सरकार के हाथ में नहीं होती किन्तु उस संगठन के हाथ में रहती है जिसे विधान-परिवर्तन का अधिकार रहता है। यह राजशक्ति संघ को बिल्कुल तोड़ सकती है और प्रत्येक सदस्य-राज्य को उसकी पुरानी स्वतंत्रता वापस कर सकती है। यह संबंध-विच्छेद कर लेने के समान नहीं है, परन्तु कानूनन संघ बिल्कुल भंग किया जा सकता है। दूसरी ओर राज्यसंघ में प्रत्येक राज्य पूर्ण स्वतंत्र होता है और जब चाहे संबंध-विच्छेद कर सकता है।

(३) संघराज्य में एक नया सर्वप्रधान क़ानून बनता है परन्तु राज्यसंघ में प्रत्येक राज्य का क़ानून सर्वोच्च रहता है। विल्सन का कहना है कि संघराज्य में संघक़ानून और एक विशेष न्याय-विज्ञान होता है जिनमें राष्ट्रीय सत्ता और संयुक्त राज्य का स्पष्टीकरण होता है। यह क़ानून सदस्य-राज्यों की सम्मति का परिणाम नहीं होता वरन् यह समाज का स्पष्ट विचार होता है[१]।

लीकाक के शब्दों में 'राज्यसंघ में संघात्मक क़ानून नहीं होता। राज्यसंघ की केन्द्रीय शक्ति कोई ऐसा नियम बनाती है जो राज्यों के सभी नागरिकों पर लागू होता है। यह उन नागरिकों के लिये क़ानून का काम करता है क्योंकि राज्य उसको क़ानून मान लेते हैं[२]। संघराज्य में व्यवस्थापक कानून बनाते हैं परन्तु राज्यसंघ में प्रत्येक राज्य के राजदूत नियम बनाते है। संघराज्य में प्रतिनिधियों का दोहरा प्रतिनिधित्व रहता है। सर्वप्रथम, जनता का प्रतिनिधित्व प्रथम व्यवस्थापिका सभा (Lower House) में रहता है और दूसरे राज्यों का द्वितीय व्यवस्थापिका सभा (Upper House) में। राज्य संघ में ऐसा प्रतिनिधित्व नहीं रहता। उसमें प्रत्येक प्रतिनिधि अपने राज्य के किसी विशेष उद्देश्य के लिये आता है।

(४) संघराज्य में एक नयी नागरिकता का जन्म होता है। इसलिये इसमें दोहरी नागरिकता रहती है। पहिली नागरिकता संघराज्य की और दूसरी प्रत्येक सदस्य-राज्य को। ऐसा राज्यसंघ में नहीं होता; उसमें प्रत्येक राज्य के नागरिक केवल अपने ही राज्य के नागरिक रहते है। इस प्रकार राज्यसंघ केवल एक राज्य समूह होता है और इसमे कोई अन्तस्संबंधी कार्यकारिणी अथवा सबों के लिये एक ही सरकार नहीं होती। संघराज्य में एक नये राज्य का जन्म होता है अतः इसमे सम्पूर्ण क्षेत्र के लिय एक ही कार्यकारिणी या एक ही सरकार का निर्माण होता है। इस प्रकार विभिन्न राज्यो के भी लोग मिलकर एक संगठन स्थापित करते है और इससे एक नये राष्ट्र का जन्म होता

लिये नहीं लागू हो सकता जहाँ अवशेष अधिकार सदस्य राज्यों के हाथों में होते हैं। प्रो० स्ट्रांग का विचार सर्वश्रेष्ठ जान पड़ता है कि आन्तरिक विषयो में संघराज्य की राजसत्ता विभाजित रहती है परन्तु बाह्य विषयों के संबंध में संघराज्य राजसत्ता की एकता को क़ायम रखता है। (देखिये 'माडर्न कान्स्टीच्यूशन्स' पृ० ७६)।

१—Wilson—The State, p. 545.

२—Leacock—Element of Politics, p. 228.

है। इसका यह अर्थ है कि संघराज्य का अस्तित्व दो शर्तों पर क़ायम है। वे हैं एक राष्ट्र होने की भावना और साथ रहने की आकांक्षा यदि पूर्ण रूप से घुलमिल जाने की नहीं[1]।

सारांश

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि

(१) संघराज्य एक नया राज्य होता है और राज्यसंघ राज्यों का केवल एक गुट्ट।

(२) संघराज्य एक नयी राजसत्ता का निर्माण करता है और राज्यसंघ में उतनी राजसत्तायें रहती हैं जितने राज्य उसमें सम्मिलित रहते हैं।

(३) संघराज्य में सदस्य-राज्यों के क़ानून के अतिरिक्त एक संघ-क़ानून रहता है अर्थात् संघराज्य के क़ानून के दो पहलू रहते हैं परन्तु राज्यसंघ में प्रत्येक राज्य का अपना क़ानून होता है।

(४) संघराज्य दोहरी नागरिकता को जन्म देता है परन्तु राज्यसंघ में प्रत्येक राज्य की अपनी अलग नागरिकता होती है।

१—डाइसी पहला लेखक है जिसने स्पष्ट रूप से निम्नलिखित शर्तों को आवश्यक समझा है:—

'सर्व प्रथम देशों का एक ऐसा समूह होना चाहिए जो स्थान, इतिहास, जाति इत्यादि की दृष्टि से एक दूसरे के इतने अत्यन्त निकट हों (जैसे स्विटज़रलैंड के केन्टन, अमरीका के उपनिवेश अथवा कनाडा के प्रान्त) कि इनके निवासी एक ही राष्ट्रीय भावना का अनुभव करें। साधारणतः यह देखा जाता है कि वे भूभाग जो एक संघराज्य में है एक अवस्था में कभी गहरी मित्रता अथवा किसी एक ही राजा के अधीन होने के कारण आपस में बंधे थे। दूसरी शर्त जो संघराज्य स्थपित करने के लिये अत्यधिक आवश्यक है वह उन देशों के निवासियों की एक विशेष भावना है जो संघ स्थापित करना चाहते हैं। उनमें मेल स्थापित करने की इच्छा होनी चाहिए बिल्कुल एक हो जाने की नहीं।....प्रस्तावित राज्यों के लोगों में बहुत से उद्देश्यों के लिये एक राष्ट्र बनाने के लिये आकांक्षा होनी चाहिए परन्तु अपने राज्यों अथवा केन्टनों के व्यक्तिगत अस्तित्व को समर्पण करने की भावना नहीं होनी चाहिये। संघराज्य स्थापित करने की भावना क़रीब-क़रीब एक से राज्यों के नागरिकों की एक इच्छा है। इसके दो पहलू हैं जो एक सीमा तक एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। पहला पहलू है राष्ट्रीय एकता की इच्छा और दूसरा प्रत्येक राज्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को क़ायम रखने का निश्चय।'—पूर्ण अध्ययन के लिये 'ला ऑफ़ दि कान्स्टीट्यूशन' पृ० १३७-१३६ पढ़िये।

इन्हीं क़ैदों के कारण डाइसी ने संघराज्य को 'राष्ट्रीय एकता और सत्ता तथा राज्यों के अधिकारों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का राजनीतिक साधन कहा है।

प्रो० स्ट्रांग कृत मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्स पृ० १६६-२०० भी देखिये।

(५) संघराज्य एक नये राष्ट्र को जन्म देता है परन्तु राज्यसंघ एक सामूहिक जीवन तथा सत्ता से युक्त राष्ट्र का नहीं निर्माण करता।

(६) संघराज्य में सदस्य-राज्य सरलता से अलग नहीं हो सकते परन्तु राज्य-संघ में संबंध-विच्छेद में कोई रुकावट नहीं होती।

(७) संघराज्य में सदस्य-राज्यों के मध्य युद्ध, गृहयुद्ध कहलाता है जैसा कि सन् १८१२ में अमरीका के संयुक्तराज्य के उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच हुआ था, परन्तु राज्यसंघ के राज्यों के बीच का युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध कहलाता है।

(८) संघराज्य में वास्तविक व्यवस्थापिका सभा क़ानून बनाती है परन्तु राज्य-संघ के राज्यों के मार्गदर्शन के लिये साधारणतः उन राज्यों के सम्मेलन में नियम और उपनियम बनते हैं। अर्थात् पहले में क़ानून बनाने का कार्य, व्यवस्थापकों का है और दूसरे में सभी राज्यों के पथप्रदर्शन के लिये नियम बनाना उन राज्यों के प्रतिनिधि राजदूतों का कार्य है।

राज्यसंघ और संघराज्य के पीछे शक्ति

परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि साधारणतः राज्यसंघ संघराज्य के पहिले आता है क्योंकि पहिला कमज़ोर अथवा ढीला सम्पर्क है। इसकी स्थापना किसी विशेष आवश्यकता या अवसर जैसे आत्मरक्षा की समस्या के संबंध में की जाती है। परन्तु जब राज्यसंघ के सदस्यों से सम्बन्ध रखने वाला प्रश्न खतम हो जाता है तो यह किसी समय टूट सकता है। परन्तु संघराज्य में, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, मेल के पीछे कुछ स्थायी स्वार्थ होने चाहिए। ऐसा एक स्थायी राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक स्वार्थ एक राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देता है।

राज्यसंघ के उदाहरण

प्रत्येक काल के इतिहास से राज्यसंघ के सैकड़ों उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं। उनमें से कुछ निम्न लिखित है:—

(१) यूनान में बहुत से राज्यसंघ थे। उनमें से 'डेलोस राज्य संघ' (Confederacy of Delos) और 'एचीन राज्यसंघ' (Achaen League) बहुत प्रसिद्ध थे। लेखकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि दूसरा राज्य संघ की अपेक्षा संघ-राज्य के अधिक निकट था। इसका कारण यह था कि इसकी परिषद (Assembly) ने सम्मिलित व्यवस्थापिका का और इसके अध्यक्ष अथवा प्रधानाधिकारी (Chief Magistrate) ने कार्यकारिणी का रूप ग्रहण कर लिया था; यहाँ तक कि एक सम्मिलित न्यायालय की भी स्थापना हो गई थी। इसके साथ-साथ प्रत्येक सदस्य-राज्य का अपना अलग शासन-यंत्र था। फ्रीमैन महोदय तो इसको 'एचीन राष्ट्र' कहते हैं।

(२) मध्य युग में सत्तर नगरों का 'रेनिश-राज्यसंघ (Rhenish Confederation) और 'हेनसीटिक राज्यसंघ, (Hanseatic League) थे। 'पवित्र

रोमन साम्राज्य (Holy Roman Enpire) भी सदस्य-राज्यों का एक ढीला राज्य-संघ था। सन् १२९१ में स्विटजरलैंड में भी तीन केन्टनों—यूरी (Uri), स्विज (Schwyz) और युन्टरवाल्डन (Unterwalden)—ने सामूहिक रक्षा के लिये एक राज्यसंघ स्थापित किया था। कालान्तर में इसमें दूसरे केन्टन भी शामिल हो गये जिसके परिणाम-स्वरूप स्विटजरलैंड एक विस्तृत राज्यसंघ हो गया।

(३) आधुनिक काल के राज्यसंघ का पहला नमूना हमें नीदरलैंड में मिला है। सन् १५७० में पाँच सूबों ने स्पेन के विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध एक 'शाश्वत मेल' की स्थापना की थी। किन्तु श्रेष्ठ आधुनिक उदाहरण जर्मन राज्यसंघ (१८१५-१८६७) और अमरीका का राज्यसंघ (१७८१-१७८९) हैं। जर्मन राज्यसंघ की स्थापना बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा के लिये हुई थी। इसका कार्य-संचालन आस्ट्रिया की अध्यक्षता में एक 'डाइट' (Diet—सभा) के द्वारा होता था। सदस्य-राज्य सन्धि तो कर सकते थे किन्तु युद्ध की घोषणा नहीं कर सकते थे। यह कार्य डाइट के सुपुर्द था। अमरीका के राज्यसंघ की स्थापना भी सामूहिक आत्मरक्षा के लिये हुई थी परन्तु प्रत्येक सदस्य-राज्य की अपनी राजसत्ता थी और वह पूर्ण स्वतन्त्र था। इन आधुनिक राज्यसंघों में से डच राज्यसंघ, जैसे ही स्पेन का डर दूर हो गया, टूट गया परन्तु स्विटजरलैंड, जर्मनी अमरीका के राज्यसंघ, संघराज्य हो गये। इनमें से स्विटजरलैंड और अमरीका का संयुक्तराज्य अब भी हैं परन्तु जर्मन संघराज्य, जो बढ़कर जर्मन साम्राज्य का संघराज्य हो गया था और सन् १९१८ तक रहा, सन् १९१९ में लोकतंत्रात्मक जागरण के होते हुये भी नात्सीवाद के अन्दर खत्म हो गया। स्विटजरलैंड और अमरीका के संयुक्त-राज्य के साथ-साथ दूसरे देशों जैसे आस्ट्रेलिया और कनाडा में भी संघराज्य की स्थापना हुई। सन् १९३५ के क़ानून के अनुसार हमारा भी देश संघराज्य की ओर अग्रसर होगा।

अंग्रेजी साम्राज्य

इसके अतिरिक्त सन् १८८० से अंग्रेजी साम्राज्य को एक 'राजकीय संघराज्य' (Imperial Federation) में परिवर्तित कर देने की बातचीत आरम्भ हुई थी। यहाँ तक कि सम्मेलनों में तथा एकान्त में इसकी योजनाएँ भी बनाई गई थीं और उन पर वादविवाद भी हुआ था। परन्तु डोमीनियनों के पृथक-पृथक राष्ट्रों में विकसित होने से तथा 'राजकीय-सहयोग' (Imperial Co-operation) के विचार का जन्म होने से विशेष कर १९१७ के बाद से संघराज्य की योजना को एक गहरा धक्का पहुँचा। इसके परिणाम स्वरूप १९२६ के 'राजकीय सम्मेलन' (Imperial Conference) में इसको दफ़न होना पड़ा। फिर भी यदि साम्राज्य को संघराज्य का रूप देने का प्रयत्न भी किया जाता तो सफलता न मिलती क्योंकि साम्राज्य इतना विस्तृत है कि संघराज्य की आवश्यकतायें न पूरी होतीं। ये आवश्यकतायें ब्रिटिश साम्राज्य में कहाँ तक पूरी होती हैं संक्षेप में यहाँ हम देख सकते हैं।

संघराज्य की सफलता की आवश्यकतायें

(१) संघराज्य में सम्मिलित होने वाले क्षेत्रों में भौगोलिक सम्पर्क[1] आवश्यक है। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य में, ब्रिटिश द्वीप समूह, मिस्र, भारतवर्ष, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका और दूसरे अधिकृत प्रदेशों को दूसरे देशों और समुद्रों ने एक दूसरे से बहुत दूर कर रक्खा था।

(२) संघराज्य के लिये एक ही रक्त, विश्वास, भाषा और संस्कृति वाली जाति आवश्यक हैं। इसके स्वार्थ तथा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समुदाय भी एक होने चाहिए। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य[2] में इनका अभाव है। जहाँ तक रक्त, भाषा धर्म अथवा संस्कृति का सम्बन्ध है डोमिनियन यूरोपीय कुल के कहे जा सकते थे (यदि इंगलिश-कुल का संकीर्ण अर्थ में न प्रयोग किया जाय) परन्तु भारतवर्ष और मिस्र इसमें नहीं आ सकते थे। इसी प्रकार दूसरे पहलुओं से भी सामूहिक भावना और जीवन को स्थान नहीं मिल सका क्योंकि संस्कृतियाँ, हित तथा समुदाय प्रत्येक देश में तथा प्रत्येक राष्ट्र में भिन्न-भिन्न थे।

(३) संघराज्य स्थापित करने वाले प्रदेशों में एकत्व की भावना होनी चाहिये। साम्राज्य में इसका भी अभाव था। यहाँ तक कि ब्रिटिश डोमिनियन भी बड़े परिश्रम से प्राप्त अपनी स्वतंत्रता के सामने संघराज्य में सम्मिलित होने से हिचकिचाते थे। वास्तव में यदि कोई भावना थी भी तो वह थी अपने विकास की राष्ट्रीय भावना। साम्राज्य को एक करने की भावना तो थी ही नहीं। अतः भारतवर्ष और मिस्र को भी ऐसी कृत्रिम एकता के लिये दबाया नहीं जा सका।

(४) संघराज्य स्थापित करने के समय इसमें सम्मिलित होने वाले पक्षों के मध्य कोई असाधारण असमानता नहीं होनी चाहिए। अर्थात् अंगीभूत प्रदेशों में एक सीमा तक समानता[3] होनी चाहिए। इसका भी ब्रिटिश साम्राज्य में अभाव था।

१—'संघ में सम्मिलित होने वाले देशों में प्राकृतिक सम्पर्क अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि संघ-शासन की सफलता की पहिली शर्त है' (डाइसी-लॉ ऑफ़ दिकान्स्टट्यूशन) परन्तु आधुनिक समय में जल तथा वायु के द्वारा यातायात के साधनों की वृद्धि तथा रेडिओ के अविष्कार से इस तर्क का ज़ोर कम हो गया है।

२—'साम्राज्य मे ऐसे देश सम्मिलित हैं जो भौगोलिक दृष्टि से एक नहीं हैं। इनकी जलवायु, भूमि, निवासी तथा धर्म भिन्न-भिन्न हैं। उन समुदायों में भी, जिन्होंने स्वराज प्राप्त कर लिया है, अकेले जाति और भाषा की बिना पर संयुक्त करने की शक्ति का अभाव है। —एसक्रिथ।

३—संघराज के शासन की सफलता के लिये सम्पत्ति, जनसंख्या, ऐतिहासिक स्थान की यदि पूर्ण समानता नहीं तो निकटतम समानता अंगीभूत प्रदेशों के लिये आवश्यक ही है। कारण इसका स्पष्ट है। संघराज्य के पीछे यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक राज्य को निकटतम समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये जिससे वह अपनी सीमित स्वतंत्रता को कायम रख सके क्योंकि संघ-

क्योंकि क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से भारतवर्ष और मिस्र का स्थान अधिक ऊँचा[1] रहता और अंग्रेजी भाषा-भाषी डोमिनियनों का भी इतने छोटे ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की अपेक्षा अधिक जोर रहता है।

(५) 'भागीदार राज्यों में से किसी को इतना शक्तिशाली न होना चाहिए कि यह केवल अकेले ही विदेशी आक्रमणों को रोक सके और अपनी स्वतंत्रता क़ायम रख सके'। यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्य में न कोई डोमीनियन न भारतवर्ष और न मिस्र ही किसी शक्तिशाली शत्रु के सामने ठहर सकता था परन्तु पहिले कही गई आवश्यकताओं के अभाव से संघराज्य नहीं स्थापित हो सका। आस्ट्रेलिया के राज्यों ने इसीलिये संघराज्य स्थापित किया था कि वे प्रशान्त द्वीपसमूह में जर्मनी की शक्ति के सामने नहीं ठहर सकते थे।

(६) संघराज्य की स्थापना के लिये सदस्य राज्यों के निवासियों में एक उच्च-कोटि के राजनीतिक मस्तिष्क का होना आवश्यक है क्योंकि उन्हें अपने-अपने राज्यों के अन्तर्गत तथा नवनिर्मित राज्य (संघराज्य) के अन्तर्गत अपने अधिकारों और कर्तव्यों को जानना चाहिये। ब्रिटिश साम्राज्य में इसका भी अभाव था। अंग्रेजी भाषा-भाषी डोमिनियनों को स्वायत्त-शासन की कुछ शिक्षा मिली भी थी परन्तु भारतवर्ष और मिस्र को यह भी सुविधा नहीं प्राप्त थी।

अतः अब स्पष्ट है कि ब्रिटिश साम्राज्य कभी भी संघराज्य नहीं हो सकता था। अधिक से अधिक यह एक ही राजा के नीचे एक शिथिल राज्य संघ था। यही दशा अब भी है।

राष्ट्रसंघ

ब्रिटिश साम्राज्य के पश्चात् राष्ट्रसंघ (League of Nations) पर विचार कर सकते हैं। इसकी स्थापना सन् १९२० में हुई थी। इसके कार्य-संचालन के लिये एक समिति (Council) और एक परिषद् (Assembly) थी। कालान्तर में लगभग

राज्य के समझौते के अनुसार उसकी रक्षा आवश्यक है। इसीलिये अमरीका के संयुक्त राज्य के विधानानुसार प्रत्येक राज्य को दो से अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं है। चाहे कोई राज्य इतना घना आबाद, विस्तृत तथा धनी हो जैसे न्यूयार्क अथवा इतना छोटा हो जैसे रोड द्वीप जिसमें थोड़े ही नागरिक हैं। बेजहट (Baghot) का कथन है कि 'सेनेट में छोटे और बड़े राज्य का समान अधिकार कुछ दृष्टिकोणों से बुरा है फिर भी ऐसी व्यवस्था संघ भावना के अनुकूल है'। यदि संघराज्य का एक राज्य जनसंख्या और धन में अधिक बढ़ जाय तो संघ-राज्य को दो भयों का सामना करना पड़ेगा। प्रभुत्वशाली सदस्य संघराज्य की समानता के विरुद्ध जाने वाली शक्ति का उपयोग कर सकता है। परन्तु दूसरी ओर यदि दूसरे राज्यों को विधानानुसार प्रभुत्वशाली सदस्य के बराबर अधिकार या राजनीतिक शक्ति प्राप्त हैं तो वे मिल कर कर या दूसरे ढंगों के द्वारा शक्तिशाली राज्य के भार को अनुचित रूप से बढ़ा सकते हैं। डाइसी—लॉ आफ़ दि कान्स्टीट्यूशन।

१—इस दलील के लिये वर्सफोल्ड (Worsfold) की पुस्तक 'दि इम्पायर आन दि ऐनविल' देखिये।

संसार के ५६ राष्ट्र इसके सदस्य हो गये थे। इस प्रकार इसमें उन सभी आवश्यकताओं की कमी थी जिनका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। अतः यह एक राज्यसंघ से अधिक कुछ नहीं था क्योंकि कोई भी राज्य किसी भी समय इससे सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता था। सन् १९३० और १९३९ के अन्दर जर्मनी, इटली, जापान इत्यादि बहुत से राज्य इससे अलग हो गये थे।

आधुनिक प्रवृत्ति

हमारे समय में सन् १९३९-४५ के युद्ध के आरम्भ में ही जर्मनी ने पश्चिम में डेनमार्क, नार्वे, हालैंड, बेल्जियम और फ्रांस को तथा दक्षिण-पूर्व में पोलैंड और बाल्कन राज्यों को पददलित कर दिया था। इसी नाश और अधिकार-काल में जब फ्रांस की बारी आई तो इंगलैंड ने जून १९४० में फ्रांस और इंगलैंड के संघराज्य का प्रस्ताव रक्खा। संघराज्य के इतिहास में यह एक नयी घटना थी। क्योंकि भिन्न-भिन्न संस्कृति तथा परम्परा वाले राज्यों ने कभी एक संघ नहीं स्थापित किया। उस समय से लेकर स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों के संघराज्य के लिये बहुत सी योजनायें रखी जा चुकी हैं।

इस प्रकार सबसे पहिले यूरोप में 'प्रादेशिक संघराज्यों' के लिये सुझाव पेश किये गये हैं जैसे 'पश्चिमीय यूरोप संघराज्य' 'बाल्कन-संघराज्य'[1] इत्यादि। इसका एक कारण है। अब यह समझा जाने लगा है कि छोटे-छोटे राष्ट्र अकेले जीवित नहीं रह सकते। उनको सदैव अपने शक्तिशाली तथा महत्वकांक्षी पड़ोसी राष्ट्रों से खतरा रहता है। ऐसी दशा में यदि वे एक बड़े संघराज्य के सदस्य बन जाते हैं तो उनकी रक्षा भी हो सकेगी और प्रतिष्ठा भी बढ़ जायगी। प्रो० डब्लु० आर० जेनिंग्स ने अपनी पुस्तक 'ए फ़ेडरेशन फ़ार वेस्टर्न यूराप' में जर्मनी, बेल्जियम, हालैंड, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडेन, फिनलैंड, आयर, ग्रेट ब्रिटेन, आइसलैंड, फ्रांस, लक्जमवर्ग और स्विटज़रलैंड के लिये एक संघराज्य की शिफ़ारिश की है।

दूसरे, मि० आर० डब्लु० जी० मैके ने अपनी पुस्तक 'पीस एम्स एन्ड दि न्यु ऑर्डर' में एक 'यूरोपीय संघराज्य' की योजना सुझाई है (यद्यपि इसमें रूस सम्मि-

---

१—बाल्टिकीय भूमध्यसागरीय ऐसे राज्यों के लिये भी संघयोजना पेश की जा सकती है। ५ जून सन् १९४५ को सुना गया था कि मध्य अमरीका के प्रजातंत्र राज्यों में से दो खूब घने आबाद राज्य ग्वाटेमाला और सालव्हेडोर एक देश हो गये हैं। ग्वाटेमाला के लाक्रिसन (Lachrisson) का कथन था कि 'ग्वाटेमाला और सालव्हेडोर के बीच की सीमा का अन्त हो गया है, सेनायें वापस कर ली गई हैं और आवागमन के लिये स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है, एक ही भाषा, धर्म और समस्याओं वाले हम लोग एक राष्ट्र हो गये हैं।' उसने यह भी कहा था कि दोनों अध्यक्ष (Presidents) इस्तीफ़ा दे देंगे और बाद में निर्वाचन द्वारा 'संयुक्त मध्य अमरीकी जनतंत्र के गवर्नरों' (Governors of the Federated Central American Republic) की नियुक्ति होगी। इस योजना का संबंध हांडूरास, निकारेग्वा और कोस्टा रीका को भी अन्त में संघ में सम्मिलित कर लेने के इरादे से था।

लित नहीं है) यहाँ तक कि उसने अपने 'यूरोप के संयुक्तराज्य' के लिये शासन-विधान का एक मसविदा भी तैयार कर दिया है। एशिया के बारे में उसका विचार है कि जब तक एशियाई राज्यों में प्रजातंत्र की स्थापना नहीं होती तब तक यूरोपीय राज्यों के संघराज्य का आधार एशियाई राज्यों में सरलता से नहीं प्राप्त हो सकता। मार्च सन् १९४३ ई० में चर्चिल ने भी एक अस्पष्ट सुझाव प्रस्तुत किया था कि एक 'यूरोपीय परिषद्' और एक 'एशियाई परिषद' होनी चाहिये। दिसम्बर सन् १९४४ में सोवियट रूस के कालिनिन महोदय ने सुरक्षा का प्रादेशिक आधार सुझाया था। उसने संसार को चार भागों में बाँटा था—यूरोपीय, अमरीका, एशिया-प्रशान्तीय तथा अफ्रीकी। किन्तु ये सुझाव मित्रता के निकट अधिक थे, इनका स्वभाव संघात्मक नहीं था।

तीसरे, एस० जी० वेल्स ऐसे लेखकों ने एक 'नवीन विश्व-व्यवस्था' पर विचार किया है। उसने अपनी पुस्तक 'दि ओपिन कान्सपिरेसी' में बहुत पहिले ही अटलांटिक जातियों के संघराज्य की सिफ़ारिश की थी। उसका विचार था कि इससे विश्व-शांति संभव हो सकेगी। उसने अपने लेख 'दि ए० बी० सी० आफ़ वर्ल्ड पीस' में सुझाया था कि विश्व-शांति का आरम्भ कम से कम दो अंग्रेजी भाषा-भाषा देशों से किया जा सकता है।

चौथे, एक दूसरे आधुनिक लेखक सी० के० स्ट्रीट ने अपनी पुस्तक 'यूनियन नाउ' में विश्व-शांति के लिये प्रजातंत्रों राज्यों के एक संघराज्य की शिफ़ारिश की है। उसी के शब्दों में 'अब मुक्ति का मार्ग प्रजातंत्र राज्यों का संघराज्य है जिसमें उत्तरी अटलांटिक के बहुत से प्रदेश सम्मिलित होते देख पड़ते हैं। इन राष्ट्रों के इस संघात्मक जनतंत्र का आधार और उद्देश्य सर्वअभिमेत सिद्धान्त व्यक्ति गत स्वतंत्रता होगी।' वह संघराज्य को पसन्द करता है क्योंकि 'महान विश्व राज्य' (World Super State) कठोर शासन का रूप होगा जिससे व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता असंभव हो जायगी। राष्ट्र-संघ[1] के विरुद्ध भी वह संघराज्य का पक्ष ग्रहण करता है क्योंकि :—

(१) संघराज्य में मनुष्य या व्यक्ति इकाई है परन्तु राष्ट्रसंघ में राज्य इकाई है। इस प्रकार संघराज्य जनता का शासन है और राष्ट्रसंघ सरकारों का शासन है ;

(२) संघराज्य जनता द्वारा परिचालित शासन है परन्तु राष्ट्रसंघ सरकारों द्वारा संचालित व्यवस्था है। पहिले में जनता के प्रतिनिधि क़ानून बनाते हैं परन्तु दूसरे में सरकारों के द्वारा भेजे हुये व्यक्ति उनकी ओर से बोलते हैं;

(३) संघराज्य जनता के हित के लिये होता है परन्तु राष्ट्रसंघ सरकारों के लिये होता है। पहिले में व्यक्ति के अधिकार और उसकी स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है परन्तु दूसरे में प्रत्येक राज्य के अधिकारों और उसकी स्वतंत्रता की रक्षा की जाती है।

१—सी० के० स्ट्रीट—'यूनियन नाउ' पृ० २३-२४। ऐसे ही विचारों के लिये डब्लू० बी० करी की पुस्तक 'दि केस फ़ार फ़ेडरल यूनियन' पृ० १२७-१३० देखिये।

संक्षेप में संघराज्य प्रजातंत्रात्मक है क्योंकि इसमें जनता अपने हित के लिये अपने ढंग से अपना शासन करेगी परन्तु राष्ट्रसंघ अप्रजातंत्रात्मक है क्योंकि इसमें सरकारें अपने हित के लिये अपने ढंग की व्यवस्था करेंगी।

अतएव प्रजातंत्र राज्यों का संघराज्य निम्नलिखित उद्देश्यों से प्रेरित है :—

(१) प्रजातंत्रात्मक विश्व में उन क्षेत्रों में एक संयुक्त शासन की स्थापना के लिये जहाँ राज्यों की स्वतंत्रता की अपेक्षा लोगों की स्वतंत्रता अधिक सुरक्षित रहे;

(२) दूसरे क्षेत्रों में राष्ट्रीय शासनों को क़ायम रखने के लिये जहाँ लोगों की स्वतंत्रता सुरक्षित रहे और

(३) एक ऐसे केन्द्रीय विश्व-शासन के निर्माण के लिये जो आगे चल कर सार्वभौमिक विश्व-शासन का रूप धारण कर ले।

स्ट्रीट महोदय के अनुसार इस केन्द्रीय विश्व-शासन का आरम्भ उत्तरी अटलान्टिक के दस या पन्द्रह प्रजातंत्र राज्यों के संघराज्य से हो सकता है। इसमें अमरीका का संयुक्त राज्य, इंगलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैंड, दक्षिणी अफ्रीक़ा, आयरलैंड (अब आयर) फ्रान्स, बेल्जियम, हालैंड, स्विट्ज़रलैंड, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडेन और फ़िनलैंड होंगे। वह इसको निम्नलिखित कारणों से पसन्द करता है:—

(१) भौगोलिक दृष्टि से लगभग सभी देश एक ही समुद्र पर स्थित हैं अत: इनके बीच यातायात सरल है।

(२) सांस्कृतिक दृष्टि से एकदूसरे के निकट हैं और उनके भ्रमण, अध्ययन और मनोरंजन के स्थान लगभग एक ही हैं।

(३) आर्थिक दृष्टि से ये देश एक-दूसरे के बाजार हैं, इनके आयात और निर्यात ने इनको एक में बाँध दिया है।

(४) राजनीतिक दृष्टि से ये सब प्रजातंत्र राज्य हैं और मनुष्य की विभिन्न स्वतंत्रताओं—प्रेस, सम्मिलन, भाषण, धर्म इत्यादि—के समर्थक हैं।

(५) ऐतिहासिक दृष्टि से सौ वर्ष से अधिक वे आपस में नहीं लड़े। इस शांतिमय सम्पर्क के कारण वे प्रतिद्वन्दता, द्वेष और दूसरी बहुत सी बुराइयों से जिनका जन्मदाता युद्ध है, मुक्त रहे हैं:—

इन कारणों को देने के पश्चात् उसने प्रजातन्त्र राज्यों के संघराज्य के पाँच आधार बतलाये हैं।

(१) संघीय नागरिकता; (२) संघीय रक्षा-सेना, (३) संघीय करमुक्त आर्थिक व्यवस्था, (४) संघीय मुद्रा और (५) संघीय डाक तथा यातायात-साधन-व्यवस्था। परन्तु डब्लु० बी० करी ने इनको निम्नलिखित नौ अधारों[1] में विस्तृत कर दिया है—

---

१. डब्लु० बी० करी—दि केस फ़ार फ़ेडरल यूनियन, अध्याय ६

(क) सभी देशों के वर्त्तमान पर राष्ट्र-विभाग समाप्त कर दिये जाने चाहिये और उनका कार्य विश्व-सत्ता के हाथ में चला जाना चाहिये।

(ख) सभी सशस्त्र सेनाओं का एकीकरण होना चाहिये और स्वतंत्र राष्ट्रीय-हथियार बन्दी का अधिकार नहीं होना चाहिये।

(ग) राज्यों के आर्थिक संबंध पर विश्व-समाज की सत्ता का नियंत्रण होना चाहिये।

(घ) कारोबार में लगा हुआ अन्तर्राष्ट्रीय धन तथा बाहर लगा हुआ राष्ट्रीय धन विश्व-सत्ता के अधिकार में आ जाना चाहिये।

(ङ) उपनिवेशों के लिये एक नियंत्रक बोर्ड की स्थापना होनी चाहिये और फिलहाल उनके निवासियों के हितों को दृष्टि में रखते हुये उनका शासन-प्रबन्ध अन्तर्राष्ट्रीय कमीशनों के द्वारा होना चाहिये। परन्तु इसके साथ-साथ मानव-जाति के अन्य समुदायों के अधिकारों की भी रक्षा होनी चाहिये।

(च) सभी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के साधनों का नियंत्रण विश्व-सत्ता के हाथ में सौंप दिया जाना चाहिये।

(छ) मुद्रा-नियंत्रण अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिये।

(ज) मनुष्यों के एक देश से जाकर दूसरे में बसने का प्रश्न भी विश्व-संघ के नियंत्रण में आना चाहिये। मनुष्य देश-सीमाओं के बाहर और भीतर गेंद की भाँति नहीं उछाले जाने चाहिये।

(झ) अन्त में विश्व-समाज को लोकमत के विकास के साधनों को सुरक्षित करना चाहिये।

इन आधारों पर प्रजातंत्रराज्यों का संघराज्य अराजकता के विरुद्ध विश्वशान्ति के लिये केवल एक संयुक्त-शासन ही नहीं होगा वरन् यह प्रत्येक प्रजातंत्रराज्य को अपने आन्तरिक शासन के विकास के लिये पूर्ण अवसर देगा, चाहे ये शासन अध्यक्षात्मक या मंत्रि-मण्डलात्मक सरकारों से युक्त जनतंत्र अथवा एकतन्त्र हों, चाहे इनकी आर्थिक व्यवस्था समाजवादी हो अथवा पूँजीवादी। इससे यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार संघ-शासन ने राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता और सत्ता का सामञ्जस्य राज्यों के अधिकारों की रक्षा के साथ सम्भव कर दिया है उसी प्रकार विश्व-संघ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विश्व-सत्ता और एकता का सामञ्जस्य राज्यों की अधिकार-रक्षा के साथ कर सकेगा। संक्षेप में विश्व-संघ विश्व-व्यवस्था और राज्यों की स्वतंत्रता के बीच सामञ्जस्य स्थापित करेगा। इस विचार को स्पष्ट रूप से किन्तु संक्षेपतः मि० डब्लु० बी० करी ने इस प्रकार रक्खा है—'सम्पूर्ण प्रजातंत्रात्मक विश्व के लिये संघराज्य-प्रणाली ही उपयुक्त है। मानव-समाज को पहिले ही इसका ज्ञान हो गया था कि स्वतंत्रता और शान्ति की स्थापना के लिये यही एक मार्ग है। सम्पूर्ण मानव से जाति संबंध रखने वाले मामलों को अपने नियंत्रण

में लेने से विश्व-संघ-शासन 'महान विश्व-राज्य' के समान ही लाभदायक होगा। स्थानीय मामलों को उनके हाथों में छोड़ कर राष्ट्रीय शासनों को क़ायम रखने से अधिक से अधिक स्वतंत्रता रहेगी और स्थानीय अपनापन भी क़ायम रह सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति को प्रजातंत्रात्मक अधिकार देकर उसको अपने राष्ट्रीय राज्य तथा संघ-क्षेत्र का नागरिक बनाने से उसमें संघराज्य के प्रति राजभक्ति का विकास होगा। ऐसा होने से एक पृथक राज्य और संघ-शासन के बीच संघर्ष असम्भव हो जायगा।[1]

डम्बार्टन ओक्स प्रस्ताव

परन्तु नवीन विश्व-व्यवस्था की इन सब तजवीजों का आधार संघात्मकता थी। व्यवहारिक राजनीति में ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व-संघ की स्थापना अब भी एक स्वप्न है क्योंकि संयुक्तराष्ट्रों के अक्टूबर १९४४ वाले 'डम्बार्टन ओक्स प्रस्तावों में विश्व-संघराज्य का आदर्श नहीं स्वीकार किया गया था। यहाँ तक कि प्रादेशिक संघराज्यों की व्यवहारिक महत्ता की भी उपेक्षा की गई थी। इनके स्थान में प्रादेशिक सुलहों[2] की शिफ़ारिश की गई थी। उन्होंने 'सुरक्षा-परिषद्' की व्यवस्था करके गुटबन्दी को मजबूत किया था और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का आधार पूर्ण-स्वतंत्र राज्य रक्खा था।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय संघराज्य सफल हो सकते हैं?

तथापि विद्वत्ता के दृष्टिकोण से जोनिंग्स, मेके और स्ट्रीट की अन्तर्राष्ट्रीय संघ-राज्यों की तजवीजों का अपना मूल्य है। हमें अब यह देखना है कि ये तजवीजें कहाँ तक सफल संघराज्य की आवश्यकताओं को पूर्ति करती हैं जैसा कि हम ब्रिटिश साम्राज्य के संबन्ध में देख चुके हैं।

सर्व प्रथम, पश्चिमी यूरोप के संघराज्य अथवा सम्पूर्ण यूरोप के संघराज्य में (रूस को छोड़ कर) हमको भौगोलिक सम्पर्क मिलता है। परन्तु अटलांटिक प्रजातंत्र-राज्यों के सम्बन्ध में बिखरे हुये प्रदेशों का प्रश्न सामने आयेगा। क्योंकि अमरीका के संयुक्त राज्य, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका को इंगलैंड, स्केन्डेनोविया, डेनमार्क इत्यादि के साथ संघराज्य में सम्मिलित करना पड़ेगा। परन्तु उनके प्रतिपादकों का कथन है कि आज के संसार में ऐसा प्रश्न व्यर्थ है। क्योंकि पृथ्वी, समुद्र और वायु में यातायात के

१—डब्लु, बी, करी-दिकेस फ़ार फ़ेडरल यूनियन, पृ० १३३

२—'प्रादेशिक सुलहों' को शान्ति-यन्त्र का एक अंग मानते हुये (डम्बार्टन ओक्स प्रस्ताओं में) मार्च सन् १९४५ में अरब राज्यों—सीरिया, ईराक़, ट्रान्सजार्डन, सौदी अरब, लोबानीज़ जनतंत्र राज्ज मिस्र और येमान के गुट की सुलह हुई थी। इस सुलह का आधार प्रत्येक राज्य की स्वतंत्रता और राजसत्ता है। इस प्रकार प्रादेशिक गुटबन्दी के सामने प्रादेशिक संघराज्य की उपेक्षा की गई है।

साधनों के विकास और टेलीग्राफ तथा रेडिओ के प्रसार ने संसार को इतना छोटा कर दिया है कि अमरीका निवासी प्रत्यक्ष रूप से एक ही समय आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका अथवा स्केन्डेनेविया के निवासियों से बातचीत कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि संसार के बिखरे हुये मनुष्य एक दूसरे के निकट हैं और दूरी उनकी एकता में रुकावट नहीं है।

दूसरे, जहाँ तक, संघराज्य की सफलता के लिये एक ही, रक्त, विश्वास, भाषा, संस्कृति हित इत्यादि वाली जाति का प्रश्न है स्ट्रीट ने पहले ही बताया है कि अटलांटिक प्रजातंत्रराज्यों की एक ही संस्कृति है तथा उनका एक ही राजनीतिक विश्वास है और आर्थिक क्षेत्र में भी वे एक दूसरे के अधीन हैं। कठिनता केवल भाषा की की है क्योंकि लगभग आठ या नौ भाषाओं की समस्या सुलझानी पड़ेगी। डब्लु० बी० करी का कहना है कि यह कठिनता अजेय नहीं है। क्योंकि स्विटज़रलैंड में सब काम तीन भाषाओं में होता है और आलोचकों ने व्यर्थ ही में भाषा के प्रश्न पर इतना अधिक जोर दिया है। परन्तु बहुतों[1] की राय में यह वास्तविक कठिनाई है। क्योंकि किस प्रकार एक बड़ी सभा में इतनी भाषाओं का प्रयोग किया जायगा तथा किस प्रकार इतनी भाषाओं में कार्य की लिखा-पढ़ी होगी। इस प्रकार जब तक एक भाषा न होगी तब तक अन्तर्राष्ट्रीय संघराज्यों को भाषा की कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। सन् १६४५ का अरब-गुट को, यदि यह एक संघराज्य का रूप धारण कर ले, भाषा की कोई कठिनाई नहीं होगी।

तीसरे, अटलांटिक प्रजातंत्रराज्यों के संघराज्य में एक बड़ी असमानता रहेगी। क्योंकि अमरीकी संयुक्त राज्य और इंगलैंड का जनसंख्या, शक्ति और धन की दृष्टि से बोल बाला रहेगा। हाँ, पश्चिमी यूरोप के संघराज्य में ऐसी असमानता नहीं रहेगी।

चौथे, जहाँ तक 'एकता की भावना' का सम्बन्ध है वह अटलांटिक प्रजातंत्र राज्यों और पश्चिमी यूरोप दोनों के संघराज्यों में रहेगी क्योंकि सब की सुरक्षा संघराज्य के पीछे रहेगी।

अन्त में, अटलांटिक प्रजातंत्रराज्यों के संघराज्य में अथवा पश्चिमी यूरोप के संघ राज्य में सम्मिलित होने वाले राज्यों का ऊँचा 'राजनीतिक मस्तिष्क' पर्याप्त विकसित है। इसलिये जब उनमें संघराज्य स्थापित करने की दृढ़ भावना है तो वे अपने राष्ट्रीय स्वार्थ और नवनिर्मित अन्तर्राष्ट्रीय संघराज्य के स्वार्थ के मध्य सामञ्जस्य भी स्थिर कर सकेंगे।

१— श्री वी० के० एन० मेनन का 'दि मेकेनिज़्म ऑव् मल्टीलिंगुअल फ़ेडरेशन' नामक लेख 'दि इण्डियन जर्नल आफ पॉलेटिकल साइंस' (अक्टूबर-दिसम्बर) पृ० १२७-१३२ में देखिये।

इस प्रकार इस व्याख्या से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय संघराज्यों की स्थापना में दो वास्तविक कठिनाइयों[1] का सामना करना पड़ेगा। पहिली कठिनाई होगी भाषा संबंधी और दूसरी होगी असमानता की। यदि यह मान भी लिया जाय कि बड़े राज्य दबाव नहीं डालेंगे फिर भी उनका नेतृत्व और प्रभाव अधिक रहेगा ही।

संघात्मक शासन के आवश्यक तत्व

राज्यसंघों का प्रकृति, उनके ऐतिहासिक विवरण, उनके संघराज्य से अन्तर तथा अन्तराष्ट्रीय संघराज्यों के विभिन्न सुझावों की व्याख्या के पश्चात् हम अब संघराज्य की व्यवस्था के आवश्यक अंगों का दिग्दर्शन करेंगे :—

सर्वप्रथम, एक शासन-विधान आवश्यक है जो राज्य के अधिकारों को स्पष्ट करे।

दूसरे, संघीय शासन और स्थानीय शासनों के मध्य अधिकार विभाजन आवश्यक है।

तीसरे, एक स्वतंत्र न्यायालय होना चाहिये जो संघीय शासन और अंगीभूत राज्यों के बीच के झगड़ों का निपटारा करे।

१—वास्तव में प्रादेशिक राज्यसंघों की कठिनाइयों के सम्बन्ध में हम कोई सिद्धान्त नहीं बना सकते। हम पहले की देख चुके हैं कि अरब संघराज्य में कोई ऐसी कठिनाई नहीं होगी। बाल्कन संघराज्य में धार्मिक तथा भाषा सम्बन्धी महान कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। यही नहीं आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों में भी संघर्ष होगा। बाल्टिक संघराज्य में केवल भाषा की ही कठिनाई नहीं होगी वरन् आर्थिक और राजनीतिक आदर्शों में भी असमानता रहेगी। क्योंकि रूस की अपनी एक अलग व्यवस्था है। यदि सारे बाल्टिक राज्य समाजवादी भी हो जायँ जैसा कि लटेविया और लिथूनिया ने स्वयं १९३९-४५ के युद्ध में घोषणा की थी तिस पर भी उन्हें सर्वदा रूस के दबाव का डर लगा रहेगा। फिर भी पूर्वीय बाल्टिक समाजवादी संघराज्य की स्थापना सम्भव है क्योंकि रूसी संघराज्य में सबसे बड़ी बात यह है (जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे) कि सदस्य-राज्य अपनी इच्छानुसार इससे सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है और अलग से सन्धियाँ भी कर सकता है। परन्तु भूमध्यसागरीय संघराज्य में बहुत बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी क्योंकि इसमें दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका के देश सम्मिलित होंगे जिनकी संस्कृति और सभ्यता भिन्न हैं; और यदि इन दो सभ्यताओं के दो अलग-अगल भी संघराज्य स्थापित किये जायँ तो उत्तरी अफ्रीका के राज्य अरब संघराज्य में सम्मिलित हो जायगे परन्तु दक्षिणी यूरोप के राज्यों में भाषा तथा आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों की कठिनाइयाँ सामने आयेंगी।

विशेष अध्ययन के लिये डा० बी० एम० शर्मा के लेख 'एसेन्शल्स ऑव् ए वर्ल्ड फ़ेडरेशन' को 'दि इन्डियन जर्नल ऑव् पॉलिटिकल साइन्स' (जुलाई-सितम्बर १९४१) में देखिये।

मेरियट के पाँच सिद्धान्त

परन्तु मेरियट ने उपरोक्त सिद्धान्तों की संख्या बढ़ा कर पाँच कर दी है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) संघीय विधान, राजनीतिक व्यवस्था के मंत्रणात्मक और सोचे-समझे हुये कार्य का परिणाम होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि इसका विकास अज्ञात रूप से नहीं हो सकता।

(२) इस प्रकार इससे यह परिणाम निकला कि इस मंत्रणात्मक और सोचे-समझे हुये कार्य के परिणामों को एक प्रामाणिक पत्र में लिपिबद्ध कर लेना आवश्यक है। 'संघीय विधान पूर्ण स्वतंत्र राज्यों के मध्य संधि के समान होता है और यह स्पष्ट है कि संधि की शर्तें लेखबद्ध होनी चाहिये। जब तक कि संघराज्य के सदस्य स्वयं न चाहें यह भी उचित नहीं है कि शर्तें बदल दी जायं।'

(३) इसका अर्थ यह हुआ कि संघीय विधान को आवश्यक रूप से अपरिवर्तनशील होना चाहिये। यद्यपि भिन्न-भिन्न विधानों में अपरिवर्तनशीलता की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है।

(४) इससे यह फल निकलता है कि प्रत्येक संघीय विधान में एक ऐसी न्यायात्मक शक्ति की आवश्यकता है जिसको क़ानूनी लेखपत्र अथवा विधानकी रक्षा करने तथा इसकी शर्तों की व्याख्या करने का पूर्ण अधिकार हो।

(५) अन्त में एक ओर संघीय शासन के विभिन्न अंगों—कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका तथा न्यायकारिणी के मध्य और दूसरी ओर संघीय शासन और अंगीभूत राज्यों के शासनों के मध्य एक निश्चित अधिकार-वितरण होना चाहिये।

(१) शासन-विधान की सर्वप्रधानता

विधान को संघराज्य की प्रथम आवश्यकता मानने का अर्थ है कि शासन के विभिन्न अंगों के मध्य तथा संघीय शासन और अंगीभूत राज्यों अथवा प्रान्तों के मध्य मतभेदों या झगड़ों के संबंध में विधान प्रधान निर्णायक समझा जाना चाहिये। इसको 'विधान की सर्वप्रधानता' कहते हैं। जैसा कि पहिले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि संघराज्य की स्थापना सम्मिलित होने वाले राज्यों के मध्य एक समझौता या संधि है जिसमें वे अपने संघ की लेखबद्ध शर्तें अंगीभूत कर लेते हैं। अतएव संघविधान 'वास्तव में संघराज्य और राज्य की सत्ताओं के अधिकारों और कर्तव्यों का प्रामाणिक पत्र है। ये अधिकार और कर्तव्य उचित अनुपात में रक्खे जाने चाहिये'। किसी भी सत्ता के कर्तव्य अथवा अधिकार विधान में दी हुई तालिका के बाहर नहीं जाने चाहिये। इसका अर्थ यह है कि न संघीय शासन और न राज्य-शासन ही अनियंत्रित हैं; उनकी शक्ति निश्चित, सीमित, और आवृत है। अतएव विरोध की अवस्था में शासन-विधान का निर्णय माननीय है।

१—मेरियट—दि मेकेनिज़्म ऑव् माडर्न स्टेट, जिल्द २, पृ० ४०९-४१०।

(२) अधिकार-विभाजन

दूसरे, जैसा कि अभी कहा जा चुका है विधान राज्य के विभिन्न अधिकारों को निर्धारित करता है। यह 'अधिकार-विभाजन' नये समझौते का आधार है और विधान में इसका पूर्णरूप से निर्देश रहता है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि संघीय शासन और राज्य शासनों के मध्य यह अधिकार-विभाजन अकस्मात नहीं कर दिया जाता। अधिकार-विभाजन के व्यापक सिद्धान्त होते हैं और लीकॉक[1] के अनुसार ये निम्नलिखित हैं :—

(१) संघराज्य का मुख्य ऐतिहासिक उद्देश्य रक्षा रहा है। अतः केन्द्रीय अथवा संघीय शासन के अधिकार में स्थलसेना नौसेना तथा वायुसेना का रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसका यह अर्थ हुआ कि विदेशी नीति भी इसके नियंत्रण में रहनी चाहिये क्योंकि यह दूसरे राज्यों के सामने एक पूर्ण राज्य की भाँति खड़ा होगा न कि विभक्त रूप में। इसके अतिरिक्त संघराज्य के पास राजस्व के अपने साधन होने चाहिये क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध और शान्ति के लिये पर्याप्त और निश्चित आय की आवश्यकता होती है। संक्षेप में ये तीन कार्य—युद्ध तथा रक्षा, विदेशी नीति का नियंत्रण और कर लगाने का अधिकार अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके बिना संघराज्य क़ायम नहीं रह सकता।

(२) इसके पश्चात् वे कार्य आते हैं जिनके लिये क़ानून तथा निरीक्षण की एक रूपता आवश्यक है। वे 'मुद्रा-नियंत्रण, लेखकों और आविष्कारों की स्वाधिकार-रक्षा-व्यवस्था तथा डाक प्रबन्ध हैं।'

(३) इसके पश्चात् वे कार्य आते हैं जिनके लिये पूर्ण एकरूपता की आवश्यकता नहीं होती परन्तु जो 'राष्ट्रीय उन्नति' में सहायक होते हैं। वे हैं रेल, नहर, तार का नियंत्रण, बैंक-प्रणाली का नियमन तथा आयात-निर्यात पर कर लगाने की एक व्यवस्था। क्योंकि यदि सदस्य-राज्य आयात निर्यात पर कर लगाने का अधिकार अपने हाथों में रक्खेंगे तो एक सुदृढ़ राष्ट्रीय जीवन के विकास में बाधा पहुँचेगी।

(४) चौथी श्रेणी में वे विषय आते हैं जिनका प्रबन्ध संघीय शासन और प्रत्येक राज्य के शासन में से किसी के हाथ में, परिस्थितियों और लोकमत को दृष्टि में रखते हुये सौंपा जा सकता है। इसकी सूची में ब्याह और तलाक़ व्यवस्था, सार्वजनिक शिक्षा का नियंत्रण इत्यादि आ सकते हैं।

(५) अन्त में, वे विषय आते हैं जो स्थानीय महत्व के कारण अंगीभूत राज्यों के हाथों छोड़ दिये जाते हैं। वे सार्वजनिक कार्य, सार्वजनिक दान, शराब-नियंत्रण इत्यादि हैं।

अधिकार-वितरण की तीन प्रणालियाँ

संसार के वर्तमान विधानों में अधिकार-वितरण को निम्नलिखित तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं :—

१—लीकॉक—एलिमेंट्स ऑव् पॉलिटिक्स, पृ० २३१-२३३

सर्व प्रथम, इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख रहता है कि लिखित अधिकार केन्द्रीय अथवा संघीय-शासन के हाथ में रहेंगे और शेष राज्य अथवा प्रान्तीय शासनों के। यह 'अविशिष्ट अधिकार' (Residuasry Power) पारिभाषिक रूप में 'अधिकार संरक्षण' (Reserve of Power) कहा जाता है।

दूसरे, राज्य अथवा प्रान्तीय शासनों को दिये गये अधिकारों का पूर्ण रूप से उल्लेख रहता है। 'अधिकार-संरक्षण' संघीय शासन के लिये स्वीकृत किया जाता है।

तीसरे, संघराज्य और राज्य-शासनों के अधिकारों का अलग-अलग पूर्ण निरूपण रहता है। उन विषयों का भी उल्लेख रहता है जो एक ही समय दोनों के अधिकार क्षेत्र[1] के अन्तर्गत होते हैं।

उदाहरण

अमरीका के संयुक्त-राज्य के विधान में संघीयशासन के अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख है। अवशिष्ट अधिकार सदस्य-राज्यों के हाथों में रहते हैं। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया के विधान में ३९ विषय संघीय शासन को सौंप दिये गये हैं इसलिये शेष विषयों पर राज्यों का एकछत्र नियंत्रण है। सन् १९३६ वाले सोवियट विधान में भी संघराज्य के अधिकारों का पूर्ण विवरण दिया है। परन्तु कनाडा की दूसरी ही बात है। वहाँ १६ विषय निश्चित रूप से अंगीभूत प्रान्तों के हाथों में सौंप दिये गये हैं और यहाँ तक कि २९ विषय डोमानियन व्यवस्थापिका को भी दे दिये गये हैं। परन्तु वहाँ के

१—यद्यपि संघराज्य के विधानानुसार संघीय शासन और सदस्य-राज्यों के शासनों के मध्य अधिकारों का वितरण रहता है और प्रत्येक शासन अपने अधिकार-क्षेत्र में स्वतंत्र रहता है फिर भी संघीय शासन को अंगीभूत राज्यों के कुछ मामलों में हस्तक्षेप करने तथा उन पर नियंत्रण करने के कुछ सीमित अधिकार प्राप्त रहते हैं। उदाहरण स्वरूप अमरीका के संयुक्त राज्य के विधानानुसार (१) संघीय शासन को यह अधिकार है कि वह देखे कि सदस्य-राज्य केवल प्रजातंत्रात्मक शासन स्थापित करते हैं। (२) दूसरे, किसी सदस्य-राज्य में गड़बड़ी होने की सम्भावना के समय या संघीय क़ानून और न्यायालयों के निर्णयों को मनवाने के लिये अथवा अन्तर्राज्य-व्यापार में बाधा पहुँचने पर विधानानुसार संघ-कार्यकारिणी अथवा अध्यक्ष को हस्तक्षेप करने का अधिकार रहता है।

स्विटज़रलैंड के विधानानुसार भी केन्टन में आन्तरिक गड़बड़ी होने पर किसी केन्टन के ज्यादती करने पर अथवा केन्टन के लोकतंत्र प्रणाली छोड़ने पर संघीय शासन हस्तक्षेप कर सकता है।

इसके अतिरिक्त संयुक्त अधिकार-क्षेत्र में, जिसके अन्दर आने वाले विषयों के लिये स्थानीय शासन तथा संघीय शासन दोनों ही क़ानून बना सकते हैं, यदि संघीय शासन और स्थानीय शासनों के बनाये हुये कानूनों में असामञ्जस्य होता है तो संघीय क़ानून ही माना जाता है।

स्विटज़रलैंड तथा १९१९ के जर्मनी के वीनरी विधानानुसार कुछ विषयों से संबंधित संघीय शासन के कुछ सिद्धान्त हैं जिनका पालन स्थानीय शासनों द्वारा अवश्य होना चाहिये।

विधान में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि वे विषय जो प्रान्तों के लिखित अधिकारों के अन्तर्गत नहीं आते वे निश्चित रूप से डोमीनियन व्यवस्थापिका के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत होंगे। इससे स्पष्ट है कि कनाडा के विधान में अधिकारों का वितरण अधिकार-वितरण की दूसरी और तीसरी प्रणालियों द्वारा हुआ है। भारतवर्ष में विशेषकर सन् १९३५ क़ानून के अनुसार, अधिकार-वितरण की तीसरी प्रणाली अपनायी गई है। सन् १९१९ के क़ानून के अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय शासनों के मध्य अधिकार-विभाजन का प्रयत्न किया गया था; प्रान्त-संबंधी विषय प्रान्तीय शासनों को दे दिये गये थे और अखिल भारतवर्षीय विषय केन्द्रीय शासन के हाथ में दे दिये गये थे। परन्तु संघराज्य को प्रारम्भ करने के लिये सन् १९३५ के क़ानून के अनुसार सभी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज स्थापित होना था इसलिये दोनों के अधिकारों का निरूपण आवश्यक था। इस प्रकार ५९ विषय स्पष्ट रूप से संघीयशासन के सिपुर्द कर दिये गये थे और ५३ विषय प्रान्तों के। ३६ विषय दोनों के अधिकार-क्षेत्र में थे।

परन्तु चूँकि प्रान्तीय शासनों तथा संघीयशासन में 'विशेष उत्तरदायित्व' गवर्नरों तथा गवर्नर-जनरल के हाथों में सौंप दिये गये हैं अतः वास्तव में 'अधिकार संरक्षण' केन्द्रीय शासन के हाथ में है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह ब्रिटिश पार्लिमेंट के हाथ में है। सन् १९३७—३९ में प्रान्तीय स्वराज के काल में कांग्रेस सरकार व्यवसायों या पेशों पर आय-कर लगाना चाहती थी। इसके परिणाम-स्वरूप सन् १९३५ के भारत-क़ानून में संशोधन करना पड़ा और यह स्पष्ट कर दिया गया कि प्रान्तीय शासनों को ऐसे कर लगाने का अधिकार नहीं है।

आधुनिक प्रवृत्ति

आधुनिक काल में, यहाँ तक कि अमरीका के संयुक्त राज्य तथा आस्ट्रेलिया मे भी, केन्द्रीय अथवा संघीय शासन की शक्ति बढ़ाने की ओर प्रवृत्ति है। इस कार्य का सम्पादन, विशेषकर अमरीका के संयुक्त राज्य में 'निहिताधिकार[1]' के सिद्धान्त द्वारा होता है और न्यायालयों ने विधान की इतनी उदारता से व्याख्या की है कि इसमें ऐसे विषय आ गये हैं जो इसके शाब्दिक अर्थ में कभी सोचे भी नहीं गये। 'दक्षिणी अफ्रीका के संघ' में भी केन्द्रीय शासन की शक्ति बढ़ाने की ओर प्रवृत्ति है। इससे विधान संघात्मक रहने की अपेक्षा एकात्मक हो जायेगा। लीकॉक[2] के अनुसार इस प्रवृत्ति के निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) पहला कारण 'संगठनात्मक' है। जब संघराज्य के सदस्यों में एक बार सम्पर्क स्थापित हो जाता है तो उनके विकास की एक धारा हो जाती है और वे एक संयुक्त संगठन में बंधते चले जाते हैं। प्रारम्भिक ईर्ष्या और पृथकत्व समाप्त हो जाते हैं और राष्ट्रीय जीवन के विकास के साथ-साथ एक उदार दृष्टिकोण का जन्म होता है।

१—पेटरसन—अमेरिकन गवर्नमेन्ट, पृ० १४४-१४७ और १२४-१२८

२—लीकॉक—एलिमेंट्स ऑव् पॉलिटिक्स

संघराज्य के केन्द्रीय शासन को प्रत्येक नागरिक अपना समझता है और उसके हृदय में केवल अपने वर्ग या समुदाय की स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा के स्थान में उदार देश-प्रेम जागरित होता है।

(२) संघीय शासन के शक्ति-संवर्धन का दूसरा कारण आधुनिक जीवन की भौतिक परिस्थितियों में मिलता है। आजकल माल इधर से उधर ले जाने के तेज साधन उपलब्ध हैं; टेलीग्राफ का लाभ प्राप्त हैं तथा उत्पादन और व्यापार इतने ऊँचे पैमाने पर है कि विधान निर्माताओं को इनका ध्यान भी न रहा होगा। इनके परिणाम-स्वरूप वे अर्थिक रोकें जो किसी समय थीं खतम हो गई हैं। जो जातियाँ पहले आर्थिक और सामाजिक जीवन में पूर्णरूप से अलग-अलग थीं अब उनका पूर्णरूप से औद्योगिक एकीकरण हो गया है। प्रत्येक दूसरे के हित का ध्यान रखती है और बदले में लाभ भी प्राप्त करती है। जहाँ उद्योग और व्यापार एक ही अर्थिक जीवन में घुल मिल गये हैं वहाँ उनके नियंत्रण को प्रान्तों में अलग-अलग कर देना बिल्कुल असम्भव है। इसलिये यह अत्यावश्यक हो जाता है कि संघीय शासन के अधिकार इस प्रकार स्पष्ट कर दिये जायँ या उनकी इस प्रकार से व्याख्या की जा सके कि सदस्य-राज्यों की सीमा को पारकर राष्ट्रीय रूप धारण करने वाले आर्थिक जीवन को अपने क्षेत्र में कर सकें। इसी कारण से संघीय शासन की शक्ति भविष्य में बढ़ती जा रही है। जबरदस्ती प्रवेश करने वाली औद्योगिक सभ्यता की धाराओं के सामने राज्यों की सीमायें व्यर्थ हो रही हैं।

(३) हाल की प्रवृत्ति तो यह रही है कि 'एक अधिकार-क्षेत्र' की योजना अपना ली जाय और इसको केन्द्रीय शासन के हाथ में छोड़ दिया जाय। इस आशा पर कि राष्ट्रीय विकास के साथ-साथ केन्द्रीय शासन का अधिकार-क्षेत्र भी बढ़ता जायेगा। ऐसी प्रवृत्ति जर्मनी के १६१६ वाले तथा आष्ट्रिया के विधानों में पाई जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप संशोधन करने में कठिनाइयों तथा कानूनों की कड़ी व्याख्या के सामने भी केन्द्रीय शासन के शक्ति संवर्धन के लिये मार्ग खुला है। दूसरे यह भी धारणा जोर पकड़ती जा रही है कि केन्द्रीय शासन आजकल के महत्वपूर्ण समस्याओं को सुलझा सकती है इस-लिये राज्यों के अधिकारों का विचार ही मस्तिष्क से निकला जा रहा है।

न्यायात्मक सर्वप्रधानता

'विधान की सर्वप्रधानता' और 'अधिकार-विभाजन' के अतिरिक्त जिनके अर्थ तथा जिनकी महत्ता को हम अभी देख चुके हैं, संघीय शासन का तीसरा आवश्यक अंग एक स्वतंत्र न्यायालय की स्थापना है जो संघीय शासन और अंगीभूत राज्यों के बीच के झगड़ों का निपटारा कर सके। यह 'न्यायात्मक सर्वप्रधानता' भी कहलाती है क्योंकि यह केवल विभिन्न अधिकारों के बीच समता ही नहीं क़ायम किये रखती वरन् वास्तव में, यह स्वयं विधान की भी रक्षा करती है।[१] इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम आरम्भ अमरीका के संयुक्त राज्य में हुआ था क्योंकि इसके शासन

१—स्ट्रांगकृत मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्स, पृ० १०१-१०२ भी देखिये।

का ढाँचा सबसे पहिला आधुनिक संघ था। परन्तु फिर बहुत से संघराज्यों ने किसी न किसी हद तक इसकी नक़ल की। यहाँ तक कि एकात्मक शासनों में भी स्वतंत्र न्यायालय के सिद्धान्त की महत्ता स्वीकार कर ली गई है जिससे यह कार्यकारिणी अथवा व्यवस्थापिका के नियंत्रण या अधीनता में न रहे। यह केवल विधान ही को नहीं क़ायम रखता वरन् नागरिकों को कार्यकारिणी के कठोर शासन से भी बचाता है। इस अर्थ में स्वतंत्र न्यायकारिणी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का संरक्षण करती है।

संघराज्य के आवश्यक तत्वों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् हम यह देख सकते हैं कि वे आधुनिक संघराज्यों में कहाँ तक पाये जाते हैं।

उदाहरण : (१) अमरीकी संयुक्त राज्य

आधुनिक काल में संघराज्य का सर्वोत्तम और पहिला उदाहरण अमरीकी संयुक्त-राज्य है। इसमें उपरोक्त सभी विशेषतायें पाई जाती है। इसमें विधान की सर्वप्रधानता हैं क्योंकि यह संधि के समान है। यह संधि तेरह स्वतंत्र राज्यों के बीच एक नये राज्य के निर्माण के उद्देश्य से हुई थी। यह विधान सोच-समझ कर निर्मित किया गया था और इसकी प्रकृति अपरिवर्तनशील है। इसमें एक स्वतंत्र न्यायकारिणी के लिये भी स्थान है। इस प्रकार अमरीकी संयुक्तराज्य का 'प्रधान न्यायालय' (Supreme Court) वैधानिक प्रमाण-पत्र का संरक्षक है और इसे इसकी शर्तों की व्याख्या करने का पूर्ण अधिकार है। अन्त में इस संघराज्य में केवल कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका तथा न्यायकारिणी के ही मध्य अधिकार विभाजन नहीं है वरन् संघीय-शासन और प्रान्तीय शासनों के बीच भी है।

(२) स्विटज़रलैंड और आस्ट्रेलिया

अमरीकी के बाद दूसरे अच्छे उदाहरण स्विटज़रलैंड और आस्ट्रेलिया के संघराज्य हैं। स्विटज़रलैंड का विधान स्पष्ट रूप से कहता है कि 'जहाँ तक केन्टनों की राजसत्ता संघ-विधान से सीमित नहीं है वहाँ तक वे पूर्ण स्वतंत्र हैं। इस प्रकार वे उन अधिकारों का प्रयोग कर सकते हैं जो संघीय-शासन को नहीं सौंप दिये गये।' इसी भाँति आस्ट्रेलिया में संघराज्य के अंगीभूत राज्य 'रक्षित अधिकारों' का प्रयोग करते हैं क्योंकि विधान में संघीय-शासन के ही अधिकारों का उल्लेख है और शेष राज्यों के हाथों में छोड़ दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि इन संघराज्यों के अंगीभूत राज्य अर्ध-स्वतंत्र हैं जैसे कि हमें अमरीकी संयुक्त-राज्य में मिलते हैं। परन्तु जहाँ तक न्यायकारिणी का सम्बन्ध है कुछ अन्तर अवश्य है। स्विटज़रलैंड का 'प्रधान न्यायालय' (Supreme Court) विधान का संरक्षक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह संघीय शासन के किसी क़ानून को इस बिना पर नाजायज़ नहीं घोषित कर सकता कि वह विधान के विरुद्ध है। यह अधिकार केवल संघ-व्यवस्थापिका को है। हाँ आस्ट्रेलिया में प्रधान-न्यायालय को विधान की व्याख्या करने का उतना ही अधिकार है जितना अमरीकी संयुक्त राज्य में।

(३) सोवियत रूस

समकालीन विधानों में सन् १९३६ का सोवियत विधान भी संघात्मक है। इसको 'सोवियत समाजवादी जनतंत्र-राज्यों का संघ (The Union of Soviet Socialist Republics) कहते हैं। तेरहवीं धारा में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'सोवियत समाजवादी जनतंत्र राज्यों का संघ एक संघराज्य है जिसके निर्माण का आधार सोवियत समाजवादी जनतंत्र राज्यों का इच्छा-जात सम्मेलन और समानधिकार का सिद्धान्त है'। उपरोक्त देशों के ही समान इसमें भी संघीय शासन और राज्य शासनों के बीच शक्ति-विभाजन है क्योंकि 'अवशिष्ट अधिकार' अंगीभूत राज्यों को प्राप्त हैं। चौदहवीं धारा में संघ-शासन के अधिकारों का उल्लेख है और संघराज्य में सम्मिलित होने वाले राज्यों के अधिकारों का विवरण देने वाली २५वीं धारा इस प्रकार है: 'संघ के जनतंत्र-राज्यों की सत्ता केवल 'सोवियत समाजवादी जनतंत्र-राज्यों के संघ के विधान की १४वीं धारा से सीमित है। इसके बाहर प्रत्येक संघ-जनतंत्र राज्य स्वतंत्रतापूर्वक अपनी सत्ता का प्रयोग करता है। सोवियत समाजवादी जनतंत्र राज्यों का संघ जनतंत्र-राज्यों के स्वतंत्र अधिकारों की रक्षा करता है।' इतना ही नहीं, विधान की १७वीं धारा के अनुसार 'प्रत्येक संघ प्रजातंत्र-राज्य को सोवियत समाजवादी जनतंत्र-राज्य के संघ से संबन्ध-विच्छेद कर लेने का पूर्ण अधिकार है'। पहली फरवरी, सन् १९४४ को संघ के अंगीभूत राज्यों को अलग-अलग सुरक्षा तथा परराष्ट्र विभाग खोलने का अधिकार मिल गया था। इसलिये अब संघ का प्रत्येक जनतंत्र-राज्य अपनी सेना रख सकता है और विदेशी राज्यों से संबंध स्थापित कर सकता है। इस प्रकार सोवियत रूस संघराज्य के सिद्धान्त से गिरकर केवल राज्यसंघ के समान हो गया है।

(४) कनाडा

कनाडा की दशा उपरोक्त विधानों से कुछ भिन्न है। इसका कारण यह है कि 'अवशिष्ट अधिकार अमरीकी संयुक्त राज्य, स्विटजरलैंड और आस्ट्रेलिया में अंगीभूत राज्यों या कैन्टनों को दे दिये गये हैं परन्तु कनाडा में ये अधिकार संघीयशासन के हाथ में हैं। अंगीभूत प्रादेशिक इकाइयाँ 'प्रान्त' कहलाती हैं और उनको इतनी स्वतंत्रता नहीं प्राप्त जितनी अमरीकी संयुक्त-राज्य या आस्ट्रेलिया के राज्यों को। इसीलिये प्रो० स्ट्रांग[1] ने कहा है कि कनाडा के डोमीनियन को केवल 'सीमित संघात्मकता' प्राप्त है। प्रिवीकौंसिल की न्याय-समिति ने तो 'यहाँ तक कह डाला है कि कनाडा के डोमीनियन में असली संघात्मक लक्षण पाया ही नहीं जाता क्योंकि संघराज्य में सम्मिलित होने वाले उपनिवेश अपने असली विधान तथा मर्यादा को कायम नहीं रख सके।' परन्तु यह अतिशयोक्ति है। सर जॉन बारो-

१—स्ट्रांग-मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्स, पृ० ११३

नट की (Sir John Bourinot) जिनसे मेरियट[1] महोदय भी सहमत हैं, दृढ़ धारणा है कि प्रान्त कभी भी अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को नहीं खोना चाहते थे क्योंकि 'संघ-सत्ता ने प्रान्तीय शासनों का निर्माण नहीं किया वरन् प्रान्तीय शासनों ने संघोय-शासन को जन्म देकर उसको अपनी शक्ति, सम्पत्ति और राजस्व का एक भाग सौंप दिया है।' मेरियट महोदय का कहना है कि प्रिवीकौंसिल का निर्णय संघराज्य के दो रूपों के अन्तर को नहीं स्पष्ट कर सका। परन्तु यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राज्य और आस्ट्रेलिया के विधान संघराज्य के पूर्णरूप को प्रकट करते हैं और कनाडा का विधाम उसके अपूर्ण रूप को प्रकट करता है।

(५) दक्षिणी अफ्रीका का संघ

दक्षिणी अफ्रीका के संघ में, जिसको हम पहले ही एकात्मक शासन की श्रेणी में रख चुके हैं, संघराज्य का लक्षण बिल्कुल नहीं पाया जाता। प्रो० कीथ का कहना है कि इसका विधान 'असली अर्थ में संघात्मक नहीं है[2]। इसका कारण यह है कि इसके विधान में स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका का क़ानून केवल तभी तक जारी रह सकता है जब तक वह संघ-व्यवस्थापिका के द्वारा पास किये कानून का विरोधी नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रान्तों को स्वराज नहीं प्राप्त है और संघ में सम्मिलित होने वाले उपनिवेश उत्तमाशा अन्तरीप, नेटाल, ट्रान्सवाल और आरेन्ज फ्री-स्टेट अपने पुराने विधानों और अधिकारों की रक्षा नहीं कर सके।

संघराज्य के दो रूप

उपरोक्त उदाहरणों से अब स्पष्ट हो गया कि संघराज्यों के दो रूप मिलते हैं, पहला अमरीकी रूप और दूसरा कनाडी रूप।

अमरीकी रूप

अमरीकी रूप से हमारा यह तात्पर्य है कि संघराज्य स्थापित होने के पूर्व अमरीका में स्वतंत्र राज्य थे जिनका अपना-अपना शासन था और जिन्होंने बाद में आपस में समझौता करके संघराज्य को जन्म दिया। स्वभावतः वे अपनी स्वतंत्रता पूर्ण रूप से नहीं खोना चाहते थे इसलिये उन्होंने कम से कम उतने ही अपने अधिकार संयुक्त शासन को दिये जितने से उसका कार्य चल सकता था और भविष्य में संघीय शासन के नियंत्रण में रहने वाले विषयों को सीमित कर दिया। अतएव अधिकारावशिष्ट (Residue of Powers) सदस्य-राज्यों के हाथ में रहा। इससे डाइसी के कथन का, 'कि संघ-शासन, राज्यों के अधिकारों की सुरक्षा के साथ, राष्ट्रीय एकता और सत्ता का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये एक राजनीतिक साधन है,

१—मेरियट—दि मेकेनिज़्म ऑव् दि मॉडर्न स्टेट, जिल्द २ पृ० ४११-१२.

२—ऐसे ही दृष्टिकोण के लिये स्ट्रांग कृत 'माडर्न कान्स्टीट्यूशन' पृ० ६० देखिये।

अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इससे यह भी साफ़ जाहिर है कि संघीयशासन में सदस्य-'राज्य' पूर्ण स्वतंत्र नहीं होते वे केवल अर्ध-स्वतंत्र राज्य हैं। पारिभाषिक रूप से उनको 'राज्य' कहना ग़लत है।

कनाडी रूप

कनाडी रूप में अधिकार-विभाजन के लिये बिल्कुल दूसरी प्रणाली काम में लायी जाती है। कुछ निश्चित विषय प्रान्तों के नियंत्रण में कर दिये जाते हैं और फिर केन्द्रीय शासन इनमें हस्तक्षेप नहीं करता। परन्तु अधिकारावशिष्ट केन्द्रीय शासन के ही हाथ में रहता है। इससे स्पष्ट है कि कनाडा के 'प्रान्त' एकात्मक राज्यों के प्रान्तों की भाँति, अपने अस्तित्व के लिये केन्द्रीय शासन के आश्रित नहीं है; वे एक सीमा तक स्वतंत्र हैं।

गार्नर का विचार

प्रो० गार्नर ने इन दोनों रूपों के निर्माण के संबंध में बड़े सुन्दर ढंग से इस प्रकार कहा है: 'संघराज्यों की स्थापना दो प्रकार की रीतियों से हुई है, पहिली प्रचलित रीति है जिसके अनुसार कुछ स्वतंत्र राज्यों ने इच्छाजात सम्मेलन से उनकी स्थापना की है। दूसरी रीति विकेन्द्रीकरण है। इसके अनुसार एक पाक्षिक वैधानिक क़ानून के द्वारा एकात्मक राज्य के प्रान्तों को स्वतंत्रराज्यों का रूप दे दिया गया है और एकात्मक राज्य की सत्ता तथा उसके अधिकारों में नवनिर्मित राज्यों का भी भाग लगा दिया गया है। इस अवस्था में संघ-प्रणाली की स्थापना अंगीभूत सदस्यों के सम्मिलित कार्य का परिणाम नहीं है वरन् यह एकात्मक राज्य के केन्द्रीय शासन के नेतृत्व का फल है जो संघीय शासन का रूप धारण कर लेता है। इस दूसरी रीति का उदाहरण हमको ब्राज़ील में मिलता है। सन् १८८९ में ब्राज़ील साम्राज्य के प्रान्तों को मिला कर संघात्मक-जनतंत्र-राज्य की स्थापना की गई थी। इसी से मिलता-जुलती रीति के द्वारा ब्रिटिश उत्तरी अमरीका के उपनिवेशीय प्रान्तों तथा आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों को क्रमश: १८६७ और १९०० में संघराज्य का रूप दिया गया था। इन दोनों अवस्थाओं में संघ-राज्य का निर्माण, पहले से वर्तमान स्वतंत्र-राज्यों को मिला कर नहीं किया गया था जैसा कि अमरीकी संयुक्त राज्य और जर्मनी में किया गया था वरन् अधीन उपनिवेशों के समूह में से किया गया था।'[१]

भारतवर्ष

भारतवर्ष भी इस दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत है। यहाँ भी सन् १९३५ के क़ानून के अनुसार संघराज्य का 'निर्माण' इसके विभिन्न प्रान्तों को मिला कर होता है। परन्तु चूँकि देशी राज्य भी इस संघराज्य के अंग होंगे इसलिये इसमें अर्ध-स्वतंत्र प्रादेशिक इकाइयाँ भी इसमें सम्मिलित रहेंगी। इस प्रकार यदि भारतीय संघराज्य की स्थापना होती है तो इसमें संघराज्य के दोनों रूपों के लक्षण मिलेंगे।

१—गार्नर—पॉलिटिकल साइंस एन्ड गवर्नमेंट, पृ० २९१

संघराज्य के गुण

संघात्मक शासन के इन सब महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार करने के पश्चात्, अन्त में हम संघात्मक और एकात्मक शासनों के गुण-दोष का भी अध्ययन कर सकते हैं। संघात्मक-शासन के निम्नलिखित गुण हैं:—

सर्वप्रथम, इस संघ-प्रणाली के ही द्वारा छोटे-छोटे राज्य मिलकर एक बड़ा राज्य स्थापित करने में सफल हुये हैं और यदि वे ऐसा न कर सकते तो सम्भव था कि उनमें से बहुतों को पड़ोसी शक्तिशाली राज्य जीत कर हड़प कर जाते या ये राज्य आपस में स्वयं लड़ते-झगड़ते रहते। ऊपरी तौर से यह देख पड़ता है कि इन राज्यों ने अपनी 'स्वतंत्रता' एक राष्ट्रीय अस्तित्व के लिये खो दी है परन्तु वास्तव में इन्होंने अपनी स्वतंत्रता को जबरदस्त और महत्वाकांक्षी राज्यों के द्वारा कुचले जाने से 'बचा' लिया है। आपस में संघ स्थापित करके अपनी एक दूसरे के प्रति इर्षा और वैमनस्य को खतम कर दिया है। यदि वे अलग-अलग रहते तो कमजोर रहते; एक हो जाने से शक्तिशाली और ऐश्वर्य-शाली हो गये हैं। उदाहरण के लिये हम अमरीकी संयुक्त राज्य को ले सकते हैं। अमरीकी संघराज्य का प्रत्येक राज्य अलग रह कर कमजोर हो जाता और उदाहरण स्वरूप कनाडा का सामना न कर पाता और यदि दूसरे राज्यों से लड़ता तो या तो हार होता, या अधीनता स्वीकार करनी पड़ती अथवा दूसरे राज्य के द्वारा हड़प लिया जाता। संक्षेप में अमरीकी राष्ट्र का न कभी जन्म ही हुआ होता और न यह प्रतिष्ठा जो उसे आज संसार के राज्यों के मध्य प्राप्त है नसीब होती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संघ-सिद्धान्त के उदय ने युद्ध का राज्य-विस्तार के साधन के रूप में खतम कर दिया है और राज्य को शान्ति द्वारा विस्तृत करने के लिये यह एक अत्युत्तम साधन सिद्ध हुआ है। इस उपाय द्वारा केवल स्थानीय स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा ही नहीं क़ायम रह सकी वरन् राष्ट्रीय स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा की भी रक्षा हो सकी है। 'राजनीतिक सङ्गठन में संघ-सिद्धान्त की उपयोगिता इसी में है कि इसमें 'समझौते' का समावेश है क्योंकि यही सदस्यों की समस्त शक्तियों का एकत्र करके अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा तथा सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिये एक नये राज्य को जन्म देता है। परन्तु इसके साथ यह अंगीभूत इकाइयों के व्यक्तिगत जीवन और उनकी राजनीतिक भावनाओं का बलिदान नहीं होने देता। इसी कारण सन् १६३६-'४५ के युद्ध के आरम्भ में जब जर्मनी ने एक ओर डेनमार्क, बेल्जियम और हालैंड को तथा दूसरी ओर बालकन प्रायद्वीप को अपने अधीन कर लिया था तो यह विचार उत्पन्न हुआ कि जबरदस्त तथा शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों से अपने को अच्छी प्रकार न बचा सकने वाले छोटे-छोटे राज्यों के पुनरुद्धार की अपेक्षा 'नवीन विश्व-व्यवस्था में 'प्रादेशिक संघराज्यों' की स्थापना ही अधिक उपयोगी होगी।

दूसरे, आर्थिक दृष्टि से भी संघराज्य बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है क्योंकि १६वीं शताब्दी के मध्य में जब जर्मनी में अलग-अलग राज्य स्थापित थे तो उनके बीच 'चुंगी-युद्ध' (Tariff wars) छिड़े रहते थे। परन्तु 'आर्थिक संघ' (Zollverin) की

स्थापना ने राजनीतिक एकता के लिए भी मार्ग प्रशस्त कर दिया। प्रत्येक राज्य में चुंगी लगाने से केवल राष्ट्रीय एकता ही को हानि नहीं पहुँचती वरन् राष्ट्र की आर्थिक शक्ति को भी धक्का पहुँचता है क्योंकि राष्ट्रीय उन्नति के लिये सम्पूर्ण साधनों को एकत्र करना असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त राज्यों के अलग-अलग रहने से यातायात के साधनों में एकरूपता नहीं आ पाती। इससे केवल व्यापार के समरूप विकास को ही हानि नहीं पहुँचती वरन् विभिन्न प्रदेशों की एकसूत्रता भी असम्भव हो जाती है। उदाहरण-स्वरूप किसी देश में रेलवे बनवाने के लिये, प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न नीति का अनुसरण करने की अपेक्षा एक सी नीति की आवश्यकता पड़ती है। जब तक आस्ट्रेलिया के प्रदेशों ने मिल कर वर्तमान संघराज्य का रूप नहीं धारण किया था तब तक वहाँ भी ऐसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ा था। अन्त में, संघराज्य स्थापित करने से आर्थिक लाभ भी होता है क्योंकि यदि संघराज्य न स्थापित किया जाय तो प्रत्येक राज्य को अलग-अलग राजनीतिक सलाहकार और दूसरे अधिकारियों को विदेशी राजधानियों में नियुक्त करना पड़ेगा और इस प्रकार व्यर्थ में व्यय-भार उठाना पड़ेगा। परन्तु इसकी स्थापना से केवल एक विदेश विभाग की आवश्यकता रहेगी और वह सभी राज्यों के हित के लिये काफ़ी होगा।

तीसरे, संघीय शासन और राज्य-शासनों के मध्य अधिकार-विभाजन भी लाभदायक सिद्ध हुआ है। यह राज्यों या प्रान्तों की स्वतंत्रता स्वीकार कर उनको केवल संतुष्ट ही नहीं रखता वरन् योग्यता को प्रोत्साहित करता है। आजकल इंगलैंड में लोग अनुभव कर रहे हैं कि पार्लिमेंट के ऊपर बहुत भार है। इसीलिये यह सोचा जा रहा है कि शासनाधिकार वेल्स और स्काटलैंड की स्थानीय पार्लिमेंटों में विकेन्द्रित कर दिये जायं। परन्तु अमरीकी संयुक्त राज्य के केन्द्रीय शासन को कोई ऐसी परेशानी नहीं है क्योंकि विधान द्वारा उसके अधिकार नियत हैं। राज्य-शासन अपने कर्तव्य स्वयं पालन करते हैं और राज्यों के निवासी अपने-अपने राज्यों के अन्तर्गत सुयोग्य शासन के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

इन गुणों के अतिरिक्त, ब्राइस महोदय ने संघात्मकशासन[1] के पक्ष में नीचे लिखी हुई दलीलें पेश की हैं:—

(१) संघात्मकशासन में प्रजातंत्र राज्यों को बिना अपने शासन, व्यवस्थापिका तथा स्थानीय देश-प्रेम को त्यागे हुये, एक राष्ट्रीय शासन के नीचे एक राष्ट्र में परिणत होने का अवसर मिलता है।

(२) संघात्मक शासन एक नये और विस्तृत देश की उन्नति के लिये सर्वोत्तम साधन प्रस्तुत करता है।

१—ब्राइस—अमेरिकन कामन वेल्थ, जिल्द १, पृ० ३५०-३५३। पूर्ण व्याख्या के लिये ३०वाँ अध्याय देखिये।

(३) संघात्मक शासन नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा उनके अधिकारों को हड़प जाने वाली स्वेच्छारिणी केन्द्रीय सरकार के उदय को रोकता है।

(४) संघात्मक शासन लोगों को कानून तथा शासनप्रबन्ध में प्रयोग करने का अवसर प्रदान करता है। यह एक विस्तृत केन्द्रीय देश में सरलता से सम्भव नहीं।

(५) संघात्मक शासन, यदि एक ओर एक राष्ट्र की सामूहिक शक्ति को कम करता है तो दूसरी ओर इसके विस्तार तथा इसके अंगों की विभिन्नताओं से उत्पन्न होने वाले खतरों का भी कम करता है। इस प्रकार विभक्त राष्ट्र एक ऐसे जहाज़ के समान होता है जिसके कमरे एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अगल बने होते है। यदि एक कमरे में नीचे छेद हो भी जाय तो केवल उसी में रक्खा हुआ माल खराब होगा परन्तु दूसरे कमरे सूखे रहेंगे और जहाज को तैराते रहेंगे। अतः यदि सामाजिक अनैक्य अथवा आर्थिक संकट के कारण संघराज्य के किसी एक राज्य में गड़बड़ी पैदा होती है या अज्ञानपूर्ण क़ानून बनते है तो यह बुराई उसके सीमान्त ही में रुक जायगी और पूरा राष्ट्र दूषित होने से बच जायगा।

(६) संघात्मक शासन में कई स्थानीय व्यवस्थापिकायें बनती है; उनको काफ़ी अधिकार प्राप्त रहते हैं; वे राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के शासन-कार्य के बोझ को बाँट लेती हैं। इस प्रकार शासन-प्रबन्ध आसानी से और जल्दी होता है और केन्द्रीय परिषद् को अखिल देशीय समस्यों पर मंत्रणा करने का अवसर मिलता है।

(७) संघात्मक शासन में स्वराज का स्थान नियत है। इससे स्थानीय समस्याओं में लोगों की दिलचस्पी बढ़ती है; स्थानीय राजनीतिक जीवन का पोषण होता है; नागरिकों को अपने दैनिक जीवन में कर्तव्यों की शिक्षा मिलती है और उनको यह उपदेश मिलता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामूहिक उन्नति का मूल्य तत्परता, परिश्रम और अपने समय का बलिदान है।

(८) संघात्मक शासन में स्वराज के कारण स्थानीय मामलों का प्रबन्ध भली भाँति होता है क्योंकि इसमें प्रत्येक क्षेत्र के निवासियों को स्थानीय प्रबन्ध के लिये समुचित अधिकार मिलते है। इसीलिये लोग अब एकात्मक तथा केन्द्रीभूत राज्यों में अधिकारों का विकेन्द्रीकरण चाहते है।

दोष

परन्तु यदि संघात्मकशासन में इतने गुण हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें बुराइयाँ नहीं है। हम पहले देख चुके है कि यह केवल मेल है, इसमें एकत्व की भावना नहीं है। इसलिये यह आवश्यक है कि ऐसी प्रणाली में कुछ अन्तर्वर्ती कमजोरियाँ हों।

सर्वप्रथम, यह शासन का कमज़ोर रूप कहा गया है। संघात्मक-शासन में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के मध्य अधिकार-विभाजन तथा शासन के समपदस्थ विभागों के मध्य नियंत्रण और संतुलन से एक सीमा तक शक्ति का व्यर्थ व्यय होता है। परन्तु एकात्मक शासन में ऐसा नहीं होता क्योंकि सत्ता एक सर्वप्रधान शक्ति में केन्द्रित

रहती है। डाइसी का कथन है कि 'एकात्मक विधान की तुलना में संघात्मक विधान एक कमजोर शासन का रूप है......वास्तविक संघात्मकशासन का आधार अधिकार-विभाजन है। इसका अर्थ है संघराज्य के एक राज्य का दूसरे के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये राजनीतिज्ञता का सतत प्रयत्न'। उसने स्पष्टता के लिये का उदाहरण दिया है कि 'विभिन्न-राज्यों के बीच लाभ-संतुलन क़ायम रखने स्विटजरलैंड के लिये' सदैव एक प्रवृत्ति काम करती रहती है। 'प्रतिभा-सम्पन्न' के सिद्धान्त का प्रयोग संघराज्य में असम्भव है क्योंकि वह संतुलन में विक्षेप डाल सकता है। अतएव प्रत्येक केन्टन का समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिये सीमाबन्धन आवश्यक है।

दूसरे, उस देश में, जहाँ अंग्रेजी विचारों का प्रचार है, संघात्मकशासन की स्थापना का अर्थ होगा वैधत्व की प्रधानता। दूसरे शब्दों में हम इसे न्यायालयों की प्रभुत्व शीलता के सामने झुकना अर्थात् विधान में न्यायकारिणी का प्राधान्य कह सकते हैं। क़ानून के प्रति श्रद्धा हमें अमरीकी संयुक्तराज्य के नागरिकों में एक बड़े रूप में मिलती है। परन्तु राजनीतिक विरोध और दल-राजनीति के बीच फ्रान्स ऐसे देशों में यह सम्भव नहीं हो सकता। और फिर भी 'प्रत्येक संघात्मक शासन में आवश्यक रूप से व्यक्तियों की एक संस्था होना चाहिये जो बता सके कि संघात्मक विधान की शर्तें मानी गई हैं या नहीं'। अतः यह सम्भव है कि वर्ग के स्वार्थों के सामने न्यायात्मक पक्षपात-शून्यता को झुकना पड़े और क़ानून की उपेक्षा हो। इससे स्पष्ट है कि संघात्मक शासन सभी राष्ट्रों के लिये उपयुक्त नहीं होता है। यह क़ानून की जगह मुक़दमा बाजी को प्रोत्साहन दे सकता है। क़ानून के प्रति श्रद्धा रखने वाले लोग ही इसे सफल बना सकते हैं।

तीसरे, 'संघात्मकशासन में राजभक्ति बंट जाती है। यह अवश्यम्भावी तथा अत्यन्त विपत्तिजनक कमजोरी है क्योंकि ऐसे शासन में एक नागरिक की अपने राज्य के प्रति राज-भक्ति और उसका संघराज्य के प्रति राज-भक्ति के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। इंगलैंड, स्काटलैंड और आयरलैंड के निवासी सैनिकों के रूप में संयुक्त झंडे के प्रति सदैव सच्चे रहे हैं। स्विटजरलैंड में 'सान्डरबन्ड' और अमरीकी संयुक्तराज्य में संबंध-विच्छेद का सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है कि उस समय उदार सैनिकों को भी कितनी भारी उलझन का सामना करना पड़ा था जब उनसे अपने देश के प्रति भक्ति और अपने केन्टन या राज्य के प्रति प्रेम में से किसी एक को चुनने के लिये कहा गया था'।

चौथे, संघात्मकशासन एक दोहरी शासन प्रणाली है इसलिये शासन के प्रत्येक क्षेत्र में दोहरापन रहता है। दोहरे राज-कर्मचारी, दोहरे शासन-यंत्र दोहरे निरीक्षक वर्ग तथा दोहरे संगठन रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि देश को व्यर्थ में दोहरा खर्च उठाना पड़ता है। इसी दोहरेपन के कारण सबसे बड़ी बुराई यह आ जाती है कि अभिप्राय और उद्देश्य की एकता का अन्त हो

जाता है। परन्तु एकात्मक शासन की एक बड़ी विशेषता यही है कि इसमें अभिप्राय और उद्देश्य की एकता पाई जाती है। एक ही केन्द्रीय नियंत्रण और निर्देश के कारण एकात्मक शासन में संघात्मक शासन की अपेक्षा शासनात्मक कार्य में अधिक तत्परता और शीघ्रता पाई जाती है क्योंकि संघात्मक शासन में दोहरा उत्तरदायित्व रहता है और बिना पूर्णरूप से परामर्श किये हुये कोई काम नहीं हो सकता। ऐसा करने में अधिकार-क्षेत्र में संघर्ष अथवा व्याख्या में मतभेद पैदा होना केवल संभव ही नहीं है वरन् वास्तव में ये सभी संघराज्यों में पैदा होते हैं।

पाँचवें, संघराज्य में सदैव सम्बन्ध-विच्छेद का डर लगा रहता है परन्तु एकात्मक राज्य में कभी कोई ऐसी समस्या नहीं उत्पन्न होती। अमरीकी संयुक्तराज्य में सन् १८१२ में उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच सम्बन्ध-विच्छेद का युद्ध हुआ था। इससे भी बुरी दशा भारतवर्ष में होती यदि मार्च-अप्रैल, १९४२ वाले क्रिप्स प्रस्ताव मान लिये जाते। इसके अनुसार भारतीय संघ को किसी भी प्रादेशिक इकाई को संघराज्य से अलग होने का अधिकार रहता यद्यपि यह भी सुविधा कर दी गई थी कि कोई भी राज्य यदि चाहे तो भविष्य में भी संघ में सम्मिलित हो सके। परन्तु भारतीयसंघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों को सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार देना कोई नयी सूझ नहीं थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'सोवियत समाजवादी जनतंत्र-राज्यों के संघ के सन् १९३६ वाले विधान की १७वीं धारा के अनुसार प्रत्येक जनतंत्र-राज्य को सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार प्राप्त है।

छठवें, यह भी डर बना रहता है कि संघराज्य के कुछ राज्य मिलकर दूसरों को दबा न लें। यही कारण है कि भारतवर्ष में काफी लोग एक अलग मुस्लिम संघ-राज्य स्थापित करने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि यह विचार किया जाता है कि यह योजना केवल गृह-युद्ध ही नहीं ला सकती है वरन् इससे एक राज्य को दूसरे को दबाने के लिये मौक़ा मिल सकता है।

सातवें, संघात्मक शासन रूढ़िवादिता को प्रोत्साहित करता है क्योंकि इसका विधान अपरिवर्तनशील होता है जिसका संशोधन सरलता से नहीं हो सकता। अतएव इसकी शर्तें पवित्र समझी जाने लगती हैं, उनके प्रति लोगों में एक अन्धश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

एकात्मक शासन के गुण

संघात्मक शासन के गुण और दोषों[1] की विवेचना के पश्चात् और यह अध्याय समाप्त करने के पहिले हम शासन के एकात्मक रूप के गुणों को अलग से देख सकते हैं

१—इनके अतिरिक्त ब्राइस ने संघ-प्रणाली में निम्नलिखित दोष दिखाये हैं:—

(क) परराष्ट्रनीति के संचालन में कमज़ोरी।

(ख) आन्तरिक शासन में कमज़ोरी अर्थात् अंगीभूत राज्यों तथा व्यक्तिगत नागरिकों के ऊपर अपूर्ण सत्ता।

क्योंकि आप पहिले पढ़ चुके हैं कि हाल ही में संघराज्यों की स्थापना में भी 'एकात्मकता' की ओर प्रवृत्ति हो रही है। पहिले से स्थापित संघराज्यों में से आस्ट्रेलिया में तो एकात्मक शासन की स्थापना के लिये आन्दोलन चल ही रहा है। अमरीकी संयुक्त राज्य के विषय में तो एफ० जी० गुडनाउ (F. G. Goodnow) ने तो यहाँ तक दावा किया है कि 'यदि इस समय अमरीका के लोगों को संघात्मक शासन की एक योजना तैयार करने के लिये कहा जाय तो वे ऐसी योजना प्रस्तुत करेंगे जो कई मानी में उससे भिन्न होगी जिसके नीचे आज हम रहते हैं। यह जर्मनी अथवा कनाडा की योजना से मिलती-जुलती होगी; इसमें विधान के संशोधन की सरल और पर्याप्त व्यवस्था होगी और इसके द्वारा अमरीका के संयुक्त राज्य के वर्तमान विधान की अपेक्षा, जैसा कि बहुतों का विचार है, राष्ट्रीय शासन को अधिक अधिकार दिये जायंगे'। विलोवी[1] ने एकात्मक शासन के निम्नलिखित गुण दिखाये हैं :—

(१) 'एकात्मक रूप शासनात्मक संगठन की सबसे मजबूत क़िस्म होता है। वास्तव में यह बताना कठिन है कि यह शासन के किस विषय में संघात्मक ऐसे रूपों से श्रेष्ठ नहीं है। सर्वप्रथम, जब एकात्मक शासन को स्थापित करने का निश्चय कर लिया जाता है तो शासन-सङ्गठन की समस्या एक बड़ी सीमा तक सुलझ जाती है। विधान-निर्मात्री-परिषद् के पास केवल एक काम रह जाता है। वह है देश के शासन-प्रबन्ध के लिये शासन प्रणाली का रूप निश्चित करना। इसका न देश को राजनीतिक विभागों में विभक्त करने की विधि से सम्बन्ध रहता, न ऐसे विभागों के बीच शासन-प्रबन्ध को ठीक से चलाने के लिये शासनाधिकारों के विभाजन से। परन्तु जब संघात्मक शासन की स्थापना की जाती है तो विधान-निर्मात्री-परिषद् को केवल दो या इससे अधिक शासनों को तैयार करने की ही परेशानी नहीं उठानी पड़ती वरन् उनके बीच सम्पूर्ण शासनात्मक अधिकारों के विभाजन की विधि भी निश्चित करनी पड़ती है।' वास्तव में यह बड़ी कठिन समस्या है। विलोवी का कथन है कि अमरीकी संयुक्त

(ग) राज्यों के संबंध-विच्छेद अथवा विद्रोह द्वारा संघ के भंग होने की सम्भावना।

(घ) अंगीभूत राज्यों में अलग-अलग दलबन्दी हो जाने से इनके समूहों में विभक्त हो जाने की सम्भावना।

(ङ) कुछ ऐसे विषयों पर क़ानून बनाने की अधिकार-शून्यता जिनके लिये संघ भर में एकरूप क़ानून की आवश्यकता होती है।

(च) राज्यों के क़ानूनों तथा शासन प्रबन्ध में एकरूपता का अभाव।

(छ) क़ानून बनाने और शासन-प्रबन्ध की दोहरी प्रणाली की जटिलता के कारण परेशानी, व्यय, और देरी।

—अमेरिकन कामन वेल्थ, जिल्द १, पृ० ३४१। पूर्ण जानकारी के लिये पूरा २६ वाँ अध्याय पढ़िये।

१—डब्लु० एफ़० विलोवी-दि गवर्न्मेंट ऑव् मॉडर्न स्टेट्स्, पृ० १७४-७५

राज्य में सवा शताब्दी के बाद भी दो शासनों के अधिकार-क्षेत्रों में अब भी विषम संघर्ष होता रहता है।

दूसरे, संघात्मक शासन की अपेक्षा एकात्मक अधिक परिवर्तनशील रहता है। संघात्मक शासन में केन्द्रीय शासन और अंगीभूत राज्यों के अधिकार-क्षेत्र विधान द्वारा बिल्कुल निश्चित कर दिये जाते हैं। इनमें परिवर्तन तभी सम्भव है जब शासन-विधान संशोधित कर दिया जाय। परन्तु एकात्मक विधान नयी परिस्थितियों के अनुसार सरलता से संशोधित किया जा सकता है। चूँकि एकात्मक शासन को पूर्ण अधिकार प्राप्त रहते हैं इसलिये वह किसी समय भी अपने आन्तरिक शासन की योजना को परिवर्तित कर सकता है और आवश्यकतानुसार अधिकार-विभाजन में संशोधन कर सकता है। चूँकि विधान की अपरिवर्तनशीलता के कारण अमरीका के संयुक्त राज्य का शासन सदैव घाटे में रहा है अतः उसको अनिवार्यतः 'निहिताधिकार' के सिद्धान्त की शरण लेनी पड़ी है। इससे स्पष्ट है कि एकात्मक शासन नवीन परिस्थितियों के अनुसार सरलता से निभ सकता है।

तीसरे, व्यवहारिक दृष्टिकोण से इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसका एकत्व है। शासन के सभी अधिकार एक ही शासन संगठन में केन्द्रित रहते हैं। शासन के सभी अंग एक ही शासन-यंत्र के भाग होते हैं। इस प्रकार शासन की सम्पूर्ण शक्ति शासन-प्रबन्ध की प्रस्तुत समस्याओं की ओर लगायी जा सकती है। अधिकारों का संघर्ष नहीं हो सकता, उत्तरदायित्व में गड़बड़ी नहीं हो सकती, अधिकार-क्षेत्र को लांघा नहीं जा सकता, प्रबन्ध अथवा संगठन में दोहरापन नहीं आ सकता जिससे सामञ्जस्य न स्थापित किया जा सके। परन्तु संघात्मक शासन में अभिप्राय, उद्देश्य अथवा संगठन की एकरूपता का अभाव रहता है। इसमें केवल अधिकार, सत्ता, स्वार्थ तथा पद का संघर्ष ही नहीं रहता वरन् आपसी सहयोग का भी अभाव रहता है। इसका परिणाम होता है विलम्ब और असुरक्षितता।

छठवाँ अध्याय

शासन के सभात्मक और अध्यक्षात्मक रूप

कार्यानुसार राज्य का विभाजन

शासन के एकात्मक और संघात्मक रूपों का निरूपण करने के पश्चात् हम आधुनिक शासन के सभात्मक (Parliamentary) और अध्यक्षात्मक (Presidential) रूपों पर विचार कर सकते हैं। शासन के रूपों का यह विभाजन प्रादेशिक न होकर शासन संगठन तथा कार्यानुसार हुआ है। इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक शासन का कार्य इसके भिन्न-भिन्न अंगों द्वारा अलग-अलग किया जाता है। ये अंग व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्यायकारिणी के रूप में होते हैं और यही शासन के तीन अंग कहे जाते हैं। पहले अंग का काम क़ानून बनाना है, दूसरे का क़ानूनों को लागू करना है और तीसरे का काम क़ानून की व्याख्या करनी है। इस भांति इन तीनों अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुसार विशेष कर व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के सम्बन्धानुसार शासन का वर्गीकरण सभात्मक और अध्यक्षात्मक रूपों में किया गया है।

राजनीतिक विचारधारा के इतिहास में शासन-कार्यों का विभाजन

याद रखना चाहिये कि शासन-कार्यों का विभाजन हमारे युग की चीज़ नहीं है। वास्तव में हमें यह विभाजन राजनीतिक विचार धारा के प्रारम्भ से ही मिलता है।

यूनान

इस प्रकार अरस्तू, मन्त्रणात्मक अंग, प्रबन्धात्मक व्यवस्था और न्याय-विभाग का उल्लेख करता है। इनमें से पहला तो केवल नागरिकों की व्यवस्थापिका सभा था और दूसरे का संबंध कार्यकारणी के उन सदस्यों के साथ था जो व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किये गये क़ानूनों को लागू करते थे। न्यायविभाग पंच-न्यायालय था जो अपनी आत्मा और न्याय भावना के आदेशानुसार मुक़दमों का फैसला करता था और क़ानूनों की व्याख्या करता था।

रोम

शासन के कार्यों में ठीक इसी प्रकार का विभाजन हमें रोम में भी मिलता है। वहाँ सेनेट (व्यवस्थापिका सभा), ट्रिब्यून (न्यायविभाग) और कांसल (कार्यकारिणी का अध्यक्ष) अपने अपने क्षेत्र में कार्य सम्पादन करते थे।

यह निश्चित रूप से सत्य अवश्य है कि इस विभाजन के अनुसार शासन के इन तीनों अंगों के कार्य पूर्ण रूप से पृथक-पृथक नहीं कर दिये गये थे क्योंकि कार्यकारिणी विभाग के कांसल कभी कभी विशेष क़ानूनों को पास करके व्यवस्थापिका सभा का काम करते थे। किन्तु जैसा कि पोलिवियस कहता है यह सब अकस्मात ही नहीं होता था, सारी व्यवस्था शासन के विभिन्न अंगों में 'नियन्त्रण तथा सन्तुलन' क़ायम रखने के सिद्धान्त पर की गई थी। इस प्रकार के संगठन से कोई भी अंग सम्पूर्ण राज्य-शक्ति को हस्तगत नहीं कर सकता था। अगर कांसल को सेना पर पूरा अधिकार था तो सेना की रसद के लिये सेनेट की अनुमति आवश्यक होती थी। शासन की दूसरी शाखाओं में भी इस प्रकार की रोक-थाम आवश्यक थी।

मध्यकाल तथा आधुनिक युग का प्रारम्भ

मध्यकाल में जन साधारण तथा दार्शनिक धार्मिक समस्याओं और साम्राज्य तथा चर्च के झगड़ों में इतना व्यस्त रहे कि उन्हें शासन-यन्त्र पर विचार करने का अवसर ही न मिला। इसलिये आधुनिक युग के प्रारम्भ में पवित्र रोमन साम्राज्य के अधःपतन के कारण स्पेन, फ्रान्स तथा इंगलैण्ड में स्वेच्छाचारी राजाओं का प्रादुर्भाव होना आरम्भ हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के प्रारम्भ के साथ राज्यशक्ति का केन्द्रीकरण हुआ और राजाओं ने व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्यायकारिणी के सभी कार्यों को अपने हाथों में ले लिया। फ्रान्स, स्पेन तथा कुछ और देशों में उनकी स्वेच्छाचारिता सफलता पूर्वक चलती रही (यहाँ तक कि फ्रान्स के बादशाह लुई चौदहवें ने तो यह कहना शुरू कर दिया कि 'मैं ही राज्य हूँ')। किन्तु इंगलैण्ड की परम्परा प्रारम्भ से ही कुछ ऐसी थी कि वहाँ इस प्रकार की स्वेच्छाचारिता नहीं चल सकी और जनता तथा राजा में संघर्ष शुरू हो गया।

इंगलैण्ड—एंग्लो-सैक्सन काल

एक समय इंगलैण्ड भी रोमन साम्राज्य का एक अंग था। किन्तु आंग्ल तथा सैक्सनों के आगमन से रोम वालों को हटना पड़ा। रोम वालों के स्थान पर ट्यूटानिक आक्रमणकारियों का बोलबाला हुआ। उनका राजा वही होता था जो युद्ध में नेतृत्व करता था और उसको क़बोले के 'सरदार' या 'वृद्धगण' चुनते थे। पूरे क़बोले की सभा को 'जनसभा' (Folkmoot) कहा जाता था और ऐसी सभाओं का सभापतित्व राजा द्वारा किया जाता था। यह जनसभा क़ानून पास करती थी, युद्ध और शान्ति-काल की नीति निश्चित करती थी और गावों तथा प्रान्तों के झगड़ों को तय करती थी। राजाओं को चुनने तथा पदच्युत करने का काम भी इसी सभा द्वारा किया जाता था। जब कई छोटे-छोटे राज्य मिल कर एक हो गये तो सभा लोगों का एक स्थान पर एकत्र होना असम्भव जान पड़ा। अब केवल राज्य के योग्य तथा बुद्धिमान व्यक्ति ही एकत्रित हो सकते थे और उनकी सभा 'बुद्धिमान सभा' (Witenagemot) के नाम से

प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार प्रारम्भ ही से 'बुद्धिमान सभा' प्रतिनिधि सभा थी और इसका प्रमुख कार्य राजा का चुनाव करना था।

नार्मन काल

नार्मनों की विजय के पश्चात इंगलैण्ड में सामन्तशाही (Feudalism) की स्थापना हुई और 'महान् सभा' (Grect Counail) में वही लोग आने लगे जिनके पास काफी जमीन होती थी। इस सभा में बैरन, अर्ल, तथा बड़े-बड़े सरदारों के अलावा आर्च बिशप (बड़े पादरी) और एबट (मठधारी) भी रहते थे। इस प्रकार बुद्धिमान सभा परिवर्तित होकर राज्य की 'महान सभा' के रूप में होगई। इसी सभा से आगे चल कर पार्लिमेन्ट, मन्त्रिमंडल और प्रिवीकौंसिल का विकास हुआ। चूंकि इस सभा के सदस्यों की संख्या अधिक थी इसलिये इसकी बैठक साल में केवल तीन ही बार हो सकती थी। इस हालत में राज्य कार्य के लिये एक स्थायी संस्था की आवश्यकता हुई। राजा ने सरकारी अफसरों में से कुछ को चुन कर कार्य चलाना आरम्भ किया। ये मिलकर 'स्थायी परिषद् के नाम से पुकारे जाने लगे। यह परिषद् शासन के सभी कार्यों को करती थी। सन् ११०० ई० में हेनरी प्रथम ने अपनी प्रजा को कुछ स्वतन्त्रता प्रदान की। किन्तु राजकीय स्वेच्छाचारिता पर वास्तविक नियन्त्रण सन् १२१५ ई० में लगा जब बैरनों तथा पादरियों ने मिलकर राजा जान को 'महास्वतन्त्रता पत्र' (Magna carta) स्वीकार करने के लिये विवश किया। यह अधिकार पत्र अंग्रेजों की स्वतन्त्रता तथा उनके अधिकार की नींव की 'पहली ईंट' समझा जाता है। पहली बार विधान के मुख्य नियम लिपि बद्ध किये गये और जनता तथा राजा के कर्त्तव्य स्पष्ट रूप से प्रकट किये गये। इसीलिये मैकाले कहता है कि 'अंग्रेजी राष्ट्र के इतिहास का प्रारम्भ यहीं से होता है।' नार्मन बैरन वास्तविक अंग्रेज हो गये और विदेशी निरंकुश राजा जान इंगलैण्ड का वैधानिक राजा हुआ। उसने न केवल 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं' के सिद्धान्त को स्वीकार किया वरन् वह अपनी जनता की स्वतन्त्रता तथा पंच-निर्णय के अधिकार को भी मानने को तैयार हुआ।

हेनरी तृतीय तथा साइमन डि मान्टफोर्ट

किन्तु हेनरी तृतीय ने फिर अधिक कर लगाना तथा उद्धत नीति का पालन करना आरम्भ किया। इसके परिणाम-स्वरूप जनता में असन्तोष की ज्वाला भभक उठी। १२६५ ई० में साइमन डि मान्टफोर्ट ने जो पार्लिमेन्ट बुलाई उसमें बैरनों तथा बिशपों के अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त तथा नगर से आम जनता के भी प्रतिनिधि बुलाये गये। इस प्रकार सर्वप्रथम राष्ट्रीय महासभा बुलाई गई। यहीं से कामन-सभा का प्रारम्भ होता है और इसीलिये साइमन डि मान्टफोर्ट को कामन-सभा का जन्मदाता कहते हैं। इसी तिथि से इंगलैण्ड का आधुनिक विधान जिसमें राजा, लार्ड तथा कामन (साधारणजन) का

समावेश है, शुरू होता है और इस पार्लिमेन्ट से इङ्गलैण्ड के विधान ने अपने विशेष लक्षणों सहित आज का रूप ग्रहण किया।

एडवर्ड प्रथम और आदर्श पार्लिमेन्ट

१२६४ ई० में एडवर्ड प्रथम ने 'महास्वतंत्रता पत्र' (मेग्ना कार्टा) को स्वीकार किया और कर लगाने के अधिकार तथा राजकोष को पूर्णरूप से पार्लिमेन्ट के हाथों सौंप दिया। सन् १२६५ में उसने जो पार्लिमेन्ट बुलाई उसे अंग्रेज़ 'आदर्श पार्लिमेन्ट' के नाम से पुकारते हैं। इसमें धार्मिक लार्ड जैसे बिशप और आर्च बिशप, बड़े-बड़े अर्ल तथा बैरन और प्रत्येक प्रान्त से दो सरदार और प्रत्येक प्रदेश और नगर से नागरिकों तथा मध्य श्रेणी के पादरियों के प्रतिनिधियों का समावेश था। इसी कारण के यह कहा गया है कि इंगलैंड के विधान को जो रूप प्रथम एडवर्ड ने दिया वही दो शताब्दियों तक बिना किसी परिवर्त्तन के क़ायम रहा। इतना ही नहीं, एक आधुनिक इतिहासकार ने तो यहाँ तक कहा है कि 'एडवर्ड प्रथम के शासन के साथ आधुनिक इंगलैंड का आरम्भ होता है—वह इंगलैण्ड जिसमें हम रहते हैं।' राजा ने राष्ट्र को इसकी स्वीकृति के बग़ैर कर लगाने के अधिकार को त्याग दिया और इसके उपरान्त अंग्रेज़ी स्वतंत्रता तथा अधिकार की नींव पड़ी। वह यह है कि 'राजा बिना जनता को विशेषाधिकार दिये हुए कर नहीं लगा सकता, वह बग़ैर शिकायतों को दूर किये हुए कर नहीं लगा सकता और एक साल से अधिक के लिए धन नहीं दिया जा सकता।'

राजकीय प्रभुत्व पर पाँच नियन्त्रणों का विकास

एडवर्ड प्रथम के बाद एडवर्ड द्वितीय राजा हुआ किन्तु पार्लिमेन्ट ने उसे १३२७ ई० राजच्युत कर दिया और एडवर्ड तृतीय के राजकाल में केवल दो मंत्रियों पर अभियोग लगाकर पार्लिमेन्ट ने उन पर मुक़दमा ही नहीं चलाया वरन् नगरों से आने वाले सदस्य अपनी बैठक लार्ड सभा से अलग करने लगे। इस प्रकार लार्ड सभा से भिन्न एक कामन-सभा का जन्म हुआ। रिचार्ड द्वितीय के कुशासन से इंगलैण्ड में एक ऐसी पार्लिमेन्टीय क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप लंकास्टर वंश का हेनरी चतुर्थ इंगलैण्ड का राजा हुआ। वह पैतृक अधिकार तथा विजय के आधार पर नहीं वरन् पार्लिमेन्ट की स्वीकृति के आधार पर राजा हुआ था। इस प्रकार, जैसा कि हेलम महोदय का कहना है, इस समय तक राजकीय प्रभुत्व पर पाँच मूल नियन्त्रणों की नींव पड़ चुकी थी। वे निम्नलिखित थे :—

(१) कर—राजा पार्लिमेन्ट की स्वीकृति के बिना नये कर नहीं लगा सकता था।

(२) क़ानून पास करना—प्रत्येक नये क़ानून को पास करने के पूर्व पार्लिमेन्ट की स्वीकृति आवश्यक थी।

(३) व्यक्तिगत स्वतंत्रता—कोई भी व्यक्ति क़ानून के विरुद्ध गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता था।

(४) पंचों द्वारा निर्णय—सार्वजनिक न्यायालय में जुर्म का साबित होना आवश्यक था।

(५) मन्त्रियों का उत्तरदायित्व—राजा के हुक्म की आड़ में मंत्री शरण नहीं ले सकते थे।

ट्यूडर काल और पार्लिमेन्ट की अधीनता

'गुलाबों के युद्ध' से लंकास्टर वंश का अन्त हुआ और यार्क वंश के एडवर्ड चतुर्थ और पंचम एक के बाद दूसरे इंगलेंड के राजा हुए। किन्तु शीघ्र ही ट्यूडर वंश का हेनरी सप्तम १४८५ ई० में उन्हें पदच्युत करके स्वयं राजा हुआ। ट्यूडर काल निरंकुश शासन का समय था। इस काल में हम पार्लिमेन्ट को अधीनता की अवस्था में पाते हैं। लेकिन फिर स्टुअर्ट-काल में जिसका पहला राजा जेम्स प्रथम हुआ राजा तथा पार्लिमेन्ट का झगड़ा प्रारम्भ हुआ और निरन्तर चलता रहा।

स्टुअर्ट राजाओं का पार्लिमेन्ट से झगड़ा

जेम्स प्रथम के राज-काल में पार्लिमेन्ट की स्वीकृति के बग़ैर कर लगाने के अधिकार पर आपत्ति की गई। इतना ही नहीं, राजा के मन्त्रियों पर अभियोग लगाने तथा उन्हें दण्ड देने की प्रथा का फिर से जन्म हुआ। किन्तु राजा इन सबसे किञ्चित-मात्र भी प्रभावित न हुआ। उसने घोषणा की कि वह सर्वसाधारण की भलाई के लिये शासन कर सकता है, किन्तु उनकी राय से शासन करने को वह तैयार नहीं। जेम्स के पुत्र तथा उत्तराधिकारी चार्ल्स प्रथम ने भी अपने पिता के पद-चिन्हों का अनुसरण किया। उसने पार्लिमेन्ट की अनुमति के बिना कर लगाना तथा बिना न्यायालय में मुक़दमा चलाये और जुर्म साबित किये लोगों को क़ैद करना आरम्भ कर दिया। इसके परिणाम-स्वरूप अधिकार-याचना (Petition of Rights) द्वारा इन अवैधानिक कार्यों को बन्द करने की माँग पेश की गई। मैकाले ने इस अधिकार-याचना को अंग्रेजों की स्वतंत्रता का द्वितीय महा अधिकार पत्र कहा है। राजा जॉन के महास्वतंत्रता-पत्र के पश्चात् प्रजा तथा पार्लिमेन्ट के अधिकारों की इसी नियम के द्वारा रक्षा हुई। चार्ल्स ने इसको मान तो अवश्य लिया किन्तु उसने शीघ्र ही इसकी धाराओं का उल्लंघन करना आरम्भ कर दिया और बिना पार्लिमेन्ट के ही शासन करना शुरू किया। राजा तथा पार्लिमेन्ट का झगड़ा बराबर चलता रहा और इसने भयंकर रूप धारण कर लिया। पार्लिमेन्ट ने राज-मन्त्रियों पर अभियोग लगाना शुरू किया। इस पर राजा ने पार्लिमेन्ट के बहुत से सदस्यों को गिरफ़्तार करने का प्रयत्न किया जिसके परिणाम-स्वरूप इंगलैण्ड का गृह-युद्ध आरम्भ हुआ जो १६४४ ई० से लेकर १६४६ ई० तक चलता रहा। अन्त में राजा का वध हुआ और इंगलैण्ड जनतंत्र-राज्य घोषित कर दिया गया। क्रॉमवेल लार्ड संरक्षक (Lord Protector) हुआ। लेकिन शासन कार्य आसानी से न चल सका और १६६० ई० में चार्ल्स द्वितीय वापस बुलाया गया और राजकीय शासन की

पुनः स्थापना हुई। जैसा कि मैरियट का कहना है, इससे यह स्पष्ट हो गया कि अगर वैधानिक राजकीय शासन के लिये पार्लिमेन्ट आवश्यक थी तो सभात्मक शासन के लिये राजा भी उतना ही आवश्यक था। इसलिये १६६० ई० में राजकीय शासन की पुनः स्थापना के साथ सभात्मक शासन की भी पुनः स्थापना हुई। फिर भी, चार्ल्स द्वितीय के काल में मन्त्रियों पर अभियोग चलाने की प्रथा जारी रही। राजनीतिक दलों का भी जन्म इसी समय हुआ। क्योंकि 'प्रार्थियों' (Petitioners) ने एक दल के रूप में होकर राजा से नई पार्लिमेन्ट बुलाने की माँग की किन्तु 'घृणालु' (Abhorrers) राजा के विरुद्ध कुछ भी करने के विचार को घृणा की दृष्टि से देखते थे। शीघ्र ही दलों के इन नामों ने ह्विग और टोरी का नाम ग्रहण किया। मन्त्रिमंडल द्वारा शासन की भी नींव इसी काल में पड़ी क्योंकि 'केबाल' (Cabal) वास्तव में प्रिवी कौंसिल में से चुने हुए कुछ मन्त्रियों की 'समिति' मात्र ही थी।

गौरवपूर्ण राज्यक्रान्ति तथा पार्लिमेन्ट की सत्ता

चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् जेम्स द्वितीय राजा हुआ। इसके समय सात पादरियों पर चलाया गया अभियोग गौरवपूर्ण राज्यक्रान्ति का कारण हुआ। विलियम बुला कर राजा बनाया गया। वह इंगलैण्ड का पहला वैधानिक राजा हुआ और उसे 'अधिकार-पत्र' (Bill of Rights) के सिद्धान्तों को मानना पड़ा। प्रारम्भ में तो वह अपने मन्त्रियों को दोनों दलों से चुनता था किन्तु बाद में सन्डरलैण्ड ने राजा को केवल ह्विग दल से ही मन्त्रियों को चुनने की सलाह दी क्योंकि यही दल पार्लिमेन्ट में बहुसंख्यक था। राजा ने इसको मान लिया और १५६७ ई० का सन्डरलैण्ड-मन्त्रिमंडल पहला मन्त्रिमंडल था जिसमें एक ही दल के मन्त्री थे। इस प्रकार इससे आधुनिक मन्त्रिमंडल के विकास का एक महत्वपूर्ण अध्याय आरम्भ होता है। लेकिन इसमें इस समय भी दो सिद्धान्तों का अभाव था। यह एक राजनीतिक नेता के आधिपत्य में नहीं था और राजा अब भी सिद्धान्त तथा व्यवहार रूप में शासन का प्रधान था। फिर भी पार्लिमेन्ट सर्वोच्च व्यवस्थापिका सभा तथा राज्य की प्रधान शक्ति हो गई थी। 'सैनिक विद्रोह क़ानून' (Mutiny Act) के पास होने से सेना पर भी पार्लिमेन्ट का अधिकार हो गया था। संक्षेपतः १७ वीं शताब्दी में पार्लिमेन्ट की शक्ति बढ़ती ही गई। गृह-युद्ध में इसने एक राजा का बध किया, राजकीय शासन की पुनःस्थापना के समय इसने राजा को बाहर से बुलाया और राज्यक्रान्ति के अवसर पर इसने एक राजा को भगा कर दूसरे को चुना। अंग्रेजी वैधानिक शासन के कुछ सिद्धान्तों का निश्चित रूप से प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से वैधानिक राजत्व सेना तथा व्यय पर पार्लिमेन्ट का नियन्त्रण; सार्वजनिक अपराधों के लिये मन्त्रियों को दण्ड से बचाने के लिये राजा के हुक्म की असमर्थता; राजनीतिक दलों द्वारा शासन तथा बहुसंख्यक दल में से मन्त्रियों के चुनाव के सिद्धान्त प्रमुख हैं।

जार्ज प्रथम और मन्त्रिमंडल प्रणाली का पूर्ण रूप

स्टुअर्ट काल का अन्त रानी एन की मृत्यु के साथ होता है। एन के बाद हनोवर वंश का जार्ज प्रथम इंगलैण्ड का राजा हुआ। जर्मन होने के कारण वह अंग्रेजी भाषा तथा अंग्रेजी राजनियमों से परिचित न था। अतः उसने शासन का भार मन्त्रियों पर ही छोड़ दिया और मन्त्रिमंडल की बैठक में भी भाग नहीं लेता था। राजा की अनुपस्थिति में उसका मुख्य मन्त्री वालपोल मन्त्रिमंडल का सभापतित्व ग्रहण करता था। इस प्रकार प्रधान मन्त्री का नेतृत्व[1] मन्त्रिमंडल-पद्धति के शासन की एक नई विशेषता हुई। चुनाव की समस्या पर वालपोल की हार तथा उसके पदत्याग ने यह भी स्थापित कर दिया कि कामन-सभा के विश्वास को खो चुकने के पश्चात् मन्त्रिमंडल को इस्तीफा दे देना चाहिए। इस प्रकार वालपोल के मन्त्रित्व में सभात्मक शासन (या उत्तरदायी अथवा मन्त्रिमंडल-शासन) ने अपना आधुनिक रूप ग्रहण किया। इसीलिये वालपोल को इंगलैण्ड का प्रथम प्रधान मन्त्री कहा गया है।

हर्न महोदय अपनी पुस्तक 'गवर्न्मेंट ऑफ इंगलैण्ड, में वालपोल-मन्त्रिमंडल के महत्व के संबंध में लिखते हैं कि 'सर्व प्रथम वालपोल ने अपने विचार से हमारी राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार शासन किया। सर्व प्रथम वालपोल ने देश के कार्यों का संचालन कामन-सभा में किया। सर्व प्रथम वालपोल ने उस कार्य संचालन के लिये राज्य के उन सभी कर्मचारियों के सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया जो पार्लिमेंट के सदस्य थे। वालपोल ही के काल में कामन-सभा राज्य में सर्वशक्तिशालिनी हुई और योग्यता, प्रभाव तथा वास्तविक शक्ति में लार्ड सभा से बढ़ गई। वालपोल ने ही कामन-सभा के विश्वास को खो चुकने के पश्चात् राजा का प्रेमपात्र होने के बावजूद भी पद त्याग करने के उदाहरण को रक्खा'।

मन्त्रिमंडल प्रणाली या सभात्मक शासन के मुख्य लक्षण

इस प्रकार जैसा कि ट्रेल महोदय का कहना है १८वीं शताब्दी के अन्त में मन्त्रिमंडल[2] के बारे में यह राजनीतिक धारणा हो गई थी कि मंत्रिमंडल (केबिनेट)

१—कृपया इस अध्याय के अन्त में प्रधान मन्त्री के नेतृत्व पर दी गई टिप्पणी को देखिये।

२—वान्टेह यू अंग्रेजी मन्त्रिमंडल की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख करते हैं:—

(१) प्रधान मन्त्री का आधिपत्य।

(२) सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त।

(३) इसकी बैठकों में की गई बातचीत को गुप्त रखने की शपथ।

(४) इसके सदस्यों का प्रधान मन्त्री द्वारा पार्लिमेन्ट के बहुसंख्यक दल में से चुनाव।

(५) कामन-सभा और निर्वाचकों के प्रति इसका उत्तरदायित्व।

(६) पार्लिमेन्ट को विसर्जन करने का अधिकार।

—दि इंगलिश केबिनेट सिस्टम, पृष्ठ ३६७।

(क) व्यवस्थापिका सभा के ही सदस्य रह सकते हैं; (ख) उनके एक से राजनीतिक विचार होने चाहिए और उनका चुनाव कामन-सभा के बहुसंख्यक दल में से होना चाहिए; (ग) उन्हें एक ही नीति का पालन करना चाहिए; (घ) उनमें संयुक्त उत्तरदायित्व होना चाहिए और पार्लिमेन्ट के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास होने पर उन्हें एक साथ पदत्याग करना चाहिए और (ङ) प्रधान मन्त्री के नेतृत्व को मानना चाहिए। संक्षेप में ये विशेषतायें एकता, समानता, उत्तरदायित्व तथा एक प्रधान का नेतृत्व हैं।

शक्ति-विभाजन पर बोदाँ का मत

इंगलैण्ड में सभात्मक शासन के विकास को देख चुकने के पश्चात् हम पुनः आधुनिक युग के प्रारम्भिक काल पर ध्यान देंगे। हमने देखा था कि आधुनिक युग के प्रारम्भ में फ्रान्स, इङ्गलैण्ड तथा स्पेन में स्वेच्छाचारी शासकों ने सारी शक्तियों का केन्द्रीकरण अपने हाथों में कर लिया था। फ्रान्स में बोदाँ प्रथम लेखक हुआ जिसने उस समय के राजाओं को पहचाना और राजसत्ता की परिभाषा उसने 'क़ानूनों से अनियन्त्रित प्रजा तथा नागरिकों के ऊपर सर्वोच्च शक्ति' के रूप में दी थी। किन्तु इस दावे के होते हुए भी उसने इस बात को स्वीकार किया कि राजा के लिये भी कुछ मौलिक क़ानून हैं। उसने यहाँ तक कहा कि राजा को स्वयं न्याय नहीं करना चाहिए वरन् यह कार्य एक स्वतन्त्र न्यायालय को सौंप देना चाहिए। एक साथ व्यवस्थापक तथा न्यायाधीश होना न्याय तथा दया के विशेषाधिकार को एक में मिला देना है, एक साथ क़ानून-पालन तथा स्वेच्छा चारिता है।

शक्ति के केन्द्रीकरण पर हॉब्स

इङ्गलैण्ड में, जैसा कि हम देख चुके हैं ट्यूडर काल में हेनरी सप्तम, अष्टम और एलिज़बेथ के राज्यकाल में पार्लिमेन्ट अधीन रही। स्टुअर्ट काल में गृहयुद्ध के भय से हॉब्स ऐसे लोगों ने स्वेच्छाचारी शासन के प्रति विशेष स्वीकृति प्रकट करना आरम्भ किया। उनके विचार से राजा की शक्ति अनियमित और अविभाज्य होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार की राजसत्ता अंग्रेजों की प्रकृति के विरुद्ध थी और उन्होंने स्वेच्छाचारी स्टुअर्ट राजाओं के शासन के प्रति असन्तोष प्रकट करना प्रारम्भ किया। इन विचारों के संघर्ष से अन्त में १६८८ ई० की गौरवपूर्ण राज्यक्रान्ति हुई जिसके परिणाम-स्वरूप इङ्गलैंड में वैधानिक शासन की स्थापना हुई।

इंगलैण्ड में उत्तरदायी शासन का आरम्भ

इस प्रकार लॉक का प्रमुख कार्य शक्ति के केन्द्रीकरण का सैद्धान्तिक समर्थन करना न होकर देश में पाई जाने वाली वास्तविकता का विश्लेषण करना हो जाता है। इस समय तक राजा को अधिकार-घोषणा (जो बाद में अधिकार-पत्र

हुई) में दी हुई शर्तों को मानने पर विवश किया जा चुका था और सभी विषयों में पार्लिमेन्ट सर्वशक्तिशालिनी हो चुकी थी। इसके अर्थ हुए कि वह कार्यकारिणी जो अब तक सभी शक्तियों को केन्द्रीभूत करके हस्तगत किये थी अब अपने उच्च स्थान से नीचे आ चुकी थी और व्यवस्थापिका के अधीन हो गई थी। इस प्रकार इंगलैण्ड में उत्तरदायी शासन का प्रारम्भ हुआ था।

पार्लिमेन्ट और जनता के संबंध में लॉक के विचार

इसलिये जब लॉक को सीमित शासन का दार्शनिक कहा जाता है तो इसका यह संकेतपूर्ण अर्थ है कि उसने अपने समय के स्थापित वैधानिक शासनों की केवल व्याख्या भर की। उसके अनुसार सर्वोच्च सत्ता जनता की सम्पत्ति है। इसीलिये, 'समाज या उसके (जनता) द्वारा बनाई गई व्यवस्थापिका सभा की शक्ति सार्वजनिक हित से आगे नहीं बढ़ सकती...और जिस किसी के भी हाथ में किसी राज्य की क़ानून बनाने तथा शासन-प्रबन्ध की सर्वोच्च शक्ति है उसे जनता द्वारा निर्मित तथा स्वीकृत, स्थापित और घोषित नियमों के अनुसार शासन करना पड़ता है। शासन, अस्थायी विशेष क़ानूनों तथा ऐसे निष्पक्ष और ईमानदार न्यायाधीशों के अनुसार भी नहीं कि चलाया जा सकता जिनका काम इन्हीं (विशेष) क़ानूनों के अनुसार झगड़ों को तय करना है। इसके अलावा शासन को जाति की शक्ति द्वारा इन क़ानूनों को लागू करना पड़ता है और समयानुकूल देश को बाहरी आक्रमणों से बचाना पड़ता है और विदेशी अन्यायों को दूर कराना पड़ता है।' इस उद्धरण से शासन के क़ानून-निर्माणात्मक अधिकारों की सीमा स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है। डाइसी के शब्दों में कहा जा सकता है कि यह विचार कि 'राजनीतिक सत्ता जनता की है और क़ानूनी सत्ता पार्लिमेन्ट की' सर्व प्रथम इसी वाक्य द्वारा स्वीकार किया गया है। क़ानूनी सत्ता (एक दूसरे स्थान में लॉक इसे स्पष्ट कर देता है) के निम्नलिखित सीमा-बन्धन हैं :—

१—इसको स्थापित और घोषित क़ानूनों द्वारा जिनका प्रभाव ग़रीबों और अमीरों पर समान पड़ता हो, शासन करना चाहिए।

२—इन क़ानूनों का उद्देश्य जनता का हित होना चाहिए।

३—इसको जनता की अनुमति के बग़ैर उसकी, सम्पत्ति पर नये कर नहीं लगाना चाहिए।

४—इसे क़ानून बनाने के अधिकार को किसी दूसरी संस्था को न सौंपना चाहिए और न यह सौंप ही सकती है।

इन शर्तों से प्रकट है कि पार्लिमेन्ट के अधिकार मौलिक नहीं थे। पार्लिमेन्ट केवल जनता द्वारा सौंपे गये अधिकारों की अमानतदार मात्र है। अगर व्यवस्थापिका जनता द्वारा सौंपे गये कार्यों के प्रतिकूल जाती है तो लोग इसे हटा भी सकते हैं।

शासन की रूप-रेखा पर लॉक का विचार

जनता की चिरस्थायी तथा सर्वोच्च शक्ति पर जोर देने के पश्चात् लॉक शासन की रूप-रेखा का विश्लेषण करता है। इस प्रकार, उसके अनुसार संघीय शक्ति विदेशियों

तथा विदेशी राज्यों से सम्बन्ध रखती है; व्यवस्थापिका का कार्य देश के शासन के लिए क़ानून बनाना है और कार्यकारिणी का कार्य इस भाँति बनाये गये क़ानूनों को लागू करना है। लॉक कार्यकारिणी और न्यायकारिणी के कार्यों में कोई अन्तर नहीं देखता यद्यपि उसने पूर्णरूप से कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका के अधीन कर रक्खा है और व्यवस्थापिका के ऊपर जनता की सत्ता स्थापित कर दी है।

लॉक का विश्लेषण शक्तियों के केन्द्रीकरण को सिद्ध करना है

अपने समय के शासनों का जो विश्लेषण लॉक ने किया उससे स्पष्ट है कि शासन की विभिन्न शक्तियों को पृथक रखना उचित नहीं। इसके प्रतिकूल वे एक दूसरे पर आश्रित की गई थीं—व्यवस्थापिका जनता के आश्रित थी, कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के अधीन रह कर कार्य सम्पादन करती थी और न्यायकारिणी तो कार्यकारिणी का एक अंगमात्र थी। एक वाक्य में, उत्तरदायी या सभात्मक शासन की स्थापना के अर्थ हैं कि शासन की शक्तियों का केन्द्रीकरण हो न कि उनका विभाजन।

मॉन्टेस्क्यू और अंग्रेजों की स्वतन्त्रता

किन्तु अगर अंग्रेजी शासन-विधान के व्यावहारिक रूप पर एक अंग्रेज का यह विचार था तो एक विदेशी आलोचक द्वारा की गई एक दूसरी तथा इसके प्रतिकूल व्याख्या देख कर सभी को आश्चर्य होता है। यह आलोचक मॉन्टेस्क्यू है। उसने इंगलैंड में आकर अंग्रेजी विधान का निकट से निरीक्षण किया था। उसको विश्वास हो गया था कि अंग्रेजी नागरिकों की स्वतंत्रता वहाँ के विधान के कारण है। उस विधान में उसको शक्तियों के केन्द्रीकरण के स्थान पर उनका विभाजन तथा सन्तुलन दृष्टिगोचर हुआ। फ्रांस में स्वेच्छाचारी शासन (ऐसा शासन जिसमें सभी शक्तियाँ कार्यकारिणी के हाथों में केन्द्रीभूत थीं, यानी लुई चौदहवें और लुई पन्द्रहवें का शासन) का ह्रास हो गया था और उसने अनुत्तरदायी, अत्याचारी तथा पतित शासन का रूप ग्रहण कर लिया था। उसने देखा कि इंगलैंड में स्वेच्छाचारी शासन के विरोध करने की केवल एक निश्चित प्रथा ही नहीं थी वरन् राजनीतिक संस्थाओं का भी शासन-शक्तियों पर ऐसा प्रभाव पड़ता था कि परिणाम स्वतंत्रता के अलावा दूसरा हो ही नहीं सकता था। इसलिये उसको विश्वास हो गया कि अंग्रेजों की स्वतंत्रता उनकी भावनाओं का फल न होकर अंग्रेजी विधान में राजनीतिक संस्थाओं के सन्तुलन का परिणाम है। राजा तथा उसके मंत्री, लार्ड तथा कामन-सभा से बनी हुई पार्लमेन्ट और न्यायाधीशों को उसने इस रूप में देखा कि ये 'शक्तियों का नियन्त्रण तथा सन्तुलन करके एक ऐसी प्रणाली को जन्म देते हैं जो पूर्णरूप से दृढ़ता के साथ जनता की स्वतंत्रता की रक्षा स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध कर सके।'

मॉन्टेस्क्यू तथा शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त

इसी निरीक्षण के आधार पर, (यद्यपि यह ग़लत था) मान्टेस्क्यू (१७४८) ने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को स्थापित किया। उसका कथन है कि "यदि एक व्यक्ति

अथवा एक शासन-वर्ग को व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी के अधिकार सौंप दिये जाते हैं तो स्वतन्त्रता असम्भव हो जाती है। डरने का कारण यह है कि एक ही राजा या एक ही सेनेट द्वारा कठोर क़ानून जबरदस्ती लागू करने के लिये पास किये जा सकते हैं। और अगर न्यायकारिणी को व्यवस्थापिका या कार्यकारिणी से पृथक नहीं किया जाता तो भी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। अगर इसको व्यवस्थापिका की शक्तियों में मिला दिया जाता है तो नागरिकों के जीवन और स्वतन्त्रता पर स्वेच्छाचारी नियन्त्रण लगने का अन्देशा रहता है क्योंकि इस दशा में न्यायाधीश ही व्यवस्थापक भी होता है। और अगर इसको कार्यकारिणी की शक्तियों से मिलाया जाता है तो न्यायाधीश अत्याचारी हो जायगा। अगर एक ही व्यक्ति या एक ही वर्ग, चाहे वह अमीरों का हो या जनता का हो, क़ानून बनाने, उन्हें लागू करने, जनताके प्रस्तावों में अमल करने तथा अपराधों के लिये दंड देने लगता है तो शासन में गड़बड़ी फैल जाती है,[१]।

शक्ति-विभाजन पर ब्लैक्स्टन के विचार

किन्तु अंग्रेजी विधान के वास्तविक तात्पर्य को समझने में केवल मॉन्टेस्क्यू ही असफल नहीं रहा। प्रसिद्ध अंग्रेजी न्यायविद् ब्लैक्स्टन (Blackstone) भी मॉन्टेस्क्यू के विश्लेषण से प्रभावित हुआ। उसका भी कहना है कि 'सभी कठोर शासनों में सर्वप्रधान शक्ति यानी क़ानून बनाने तथा लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की एक ही मंडली के हाथों में रहता है। जब इन दोनों शक्तियों को एक साथ मिला दिया जाता है तो सार्वजनिक स्वतन्त्रता नहीं रह सकती।' अंग्रेजी विधान वह में भी उसने व्यवस्थापिका में शक्तियों को विभाजित और संतुलित पाया। इस प्रकार कहता है कि 'राज्य की व्यवस्थापिका में तीन शक्तियाँ हैं जो एक दूसरे से पूर्णरूप से स्वतन्त्र हैं। पहली शक्ति राजा की है, दूसरी धार्मिक और लौकिक लार्डों की जो एक प्रकार से जन्म, बुद्धि, सम्पत्ति, और शौर्य के आधार पर चुने गये कुलीन लोगों की एक सभा है और तीसरी शक्ति कामन-सभा की है जो जनता द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों की प्रजातन्त्रात्मक सभा है। और ये सब मिलकर विभिन्न स्वार्थों की रक्षा करते हुए तथा विभिन्न हेतुओं से प्रेरित होकर इङ्गलैण्ड की पार्लिमेन्ट

---

१ लीकॉक शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के संबंध में कहता है कि 'राजनीति शास्त्र का यह एक प्रमुख सिद्धान्त था कि शासन के इन तीनों अंगों—कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका तथा न्यायकारिणी का, एक दूसरे से पृथक रक्खा जाय। प्रत्येक विभाग को पृथक-पृथक व्यक्तियों द्वारा चलाया जाना चाहिए और किसी एक विभाग का दूसरे के ऊपर कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। यह सोचा गया था कि इस ढंग से आम जनता की स्वतंत्रता की रक्षा की जा सकती है। वास्तव में जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करने का यही एक उपयुक्त साधन है। इसी को शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त कहते हैं।'

—एलिमेंट्स ऑव पॉलिटिक्स, पृष्ठ १३७।

का रूप ग्रहण करते हैं और तीनों शासन-कार्य में हाथ बटाते हैं। इसलिये किसी भी अंग द्वारा कोई कठिनाई नहीं उपस्थित की जा सकती। अगर ऐसा होता भी है तो शेष दो शक्तियों में से एक उसे अवश्य ही समाप्त कर सकती है क्योंकि प्रत्येक अंग को यह अधिकार है कि वह किसी भी नवीनता का, जिसे वह खतरनाक या अनुचित समझता है प्रतिरोध कर सके।' इससे स्पष्ट प्रकट है कि ब्लैकस्टन शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त से पूर्णरूप से प्रभावित था।

अमरीका

केवल इतना ही नहीं, मॉन्टेस्क्यू का प्रभाव अमरीका के लोगों पर भी पड़ा। अलेक्ज़न्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) ने लिखा है कि 'सभी प्रकार का व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्यायकारिणी शक्तियों का एकत्रीकरण—चाहे वह एक के हाथ में हो, चाहे कुछ के या बहुत के, चाहे वंशगत हो, चाहे स्वयं प्राप्त किया अथवा चुनाव द्वारा—कठोर शासन की सही परिभाषा कहा जा सकता है।' इस शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रभाव मैसाचुसेटस ऐसे छोटे-छोटे उपनिवेशों के विधानों पर भी पड़ा जहाँ विधान में स्पष्ट रूप से लिख दिया गया था कि 'इस राज्य में व्यवस्थापिका कभी भी कार्यकारिणी अथवा न्यायकारिणी के कार्यों को नहीं करेगी और इसी तरह कार्यकारिणी और न्यायकारिणी भी दूसरे अंगों के अधिकारों पर हस्तक्षेप नहीं करेंगी जिससे मनुष्यों के शासन के स्थान पर क़ानून का शासन सम्भव हो सके।' अमरीकी संयुक्त राज्य के विधान में भी जब १७८७ ई० में सब उपनिवेशों ने मिलकर एक नये संघराज्य की स्थापना की तो इस सिद्धान्त को माना गया।

अमरीका के विधान में शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त

अमरीका के विधान में राष्ट्र की कार्यकारिणी का प्रधान अध्यक्ष होता है। उसकी सहायता के लिये मन्त्रिमंडल होता है। मंत्रियों का चुनाव तथा उनकी नियुक्ति अध्यक्ष ही करता है और वे अपने कार्यों के लिए अध्यक्ष के सम्मुख उत्तरदायी होते हैं। इंगलैंड के मंत्रियों की भाँति अमरीका के मंत्री व्यवस्थापिका के सामने उत्तरदायी नहीं होते। इसका अर्थ हुआ कि अमरीका में कार्यकारिणी को व्यवस्थपिका से पृथक रक्खा गया है। प्रतिनिधि-सभा तथा सेनेट को मिलाकर बनने वाली कांग्रेस अमरीका की व्यवस्थापिका सभा है और उसको संयुक्त राज्य के लिये क़ानून पास करने का अधिकार है। समस्त राज्य के लिये क़ानून बनाने मे यह मंत्रियां के प्रभाव से स्वतंत्र रहती है। यहाँ इंगलैंड की भाँति नहीं होता कि मंत्रिमंडल व्यवस्थापिका सभा का नेतृत्व करे। इसके अतिरिक्त कांग्रेस के अविश्वास-प्रस्ताव का यहाँ के मंत्रियों के ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यहाँ व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी बराबर तथा एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। इसी प्रकार 'प्रधान न्यायालय' के न्यायाधीश भी अध्यक्ष अथवा व्यवस्थापिका के प्रभाव से मुक्त रहते हैं।

सभात्मक तथा अध्यक्षात्मक रूपों की परिभाषा

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेज़ी विधान के बारे में मॉन्टेस्क्यू की भ्रमात्मक धारणा को लोगों ने मूर्खता नहीं समझी। वास्तव में तो लोगों ने इस धारणा को जनता

की स्वतन्त्रता के हित में अपनाना शुरू किया। इससे प्रजातंत्रात्मक शासन के एक नये रूप का जन्म हुआ और अमरीकी विधान इंगलैंड के विधान के प्रतिकूल इस नये रूप का नमूना हुआ। इंगलैंड के प्रसिद्ध न्यायविद् बेजहॉट इन अन्तर के संबंध में लिखते हैं कि 'जिस प्रकार सभात्मक शासन के प्रमुख लक्षण संयोग और मिश्रण हैं उसी प्रकार अध्यक्षात्मक शासन का प्रमुख लक्षण व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी की स्वतंत्रता है।' तभी से हम अध्यक्षात्मक शासन से उस शासन को समझते हैं जिसमें शासन की तीनों शक्तियाँ यानी व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी और न्यायकारिणी पृथक-पृथक और स्वतंत्र तथा एक दूसरे के बराबर होती हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जहाँ कहीं भी प्रमुख कार्यकर्त्ता अध्यक्ष होता है वहाँ अध्यक्षात्मक शासन पाया जाता है। १६३६-४५ के युद्ध के पहले फ्रांस में अध्यक्ष के होते हुए भी वहाँ के शासन का रूप सभात्मक था क्योंकि वहाँ का मंत्रिमंडल व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख उत्तरदायी था। इसलिये अध्यक्षात्मक शासन तभी सम्भव है जब शासन के तीनों अंग शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित हों और अपने क्षेत्र में प्रत्येक अंग स्वतंत्र हो। सभात्मक शासन उसे कहते हैं जिसमें शासन के तीनों अंग (मुख्यकर व्यवस्थापिका और कार्य-कारिणी) एक दूसरे से पृथक न होकर सम्बन्धित रहते हैं। इस प्रकार के शासन में साधारणतः व्यवस्थापिका ही सर्वशक्तिशालिनी होती है और इसके अविश्वास प्रस्ताव से मन्त्रिमंडल को त्याग-पत्र देना पड़ता है।

दोनों रूपों की तुलना

अब हम इन दोनों रूपों की तुलना निम्नलिखित ढंग से कर सकते हैं :—

(१) अध्यक्षात्मक शासन शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होता है, सभात्मक शक्ति-संयोग पर।

(२) अध्यक्षात्मक शासन में राज्य का प्रमुख व्यक्ति यानी अध्यक्ष नाम मात्र का अध्यक्ष नहीं होता। सभात्मक शासन में वह नाममात्र का अध्यक्ष रहता है। अध्यक्षात्मक शासन में वह वास्तविक रूप से तथा सिद्धान्त में भी राष्ट्र का प्रमुख कार्यकर्त्ता होता है। सभात्मक शासन में सिद्धान्त रूप से राज्य का प्रमुख कार्यकर्त्ता वास्तव में उत्तरदायित्वहीन होता है।

(३) अध्यक्षात्मक शासन में कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका से वैधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। सभात्मक शासन में तो कार्यकारिणी व्यवस्थापिका की एक समिति मात्र होती है और इसलिये उसके अधीन रहती है।

(४) अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यकारिणी का कार्यकाल नियत रहता है। यह अपने समय के पहले नहीं हटाई जा सकती। सभात्मक प्रणाली में कार्यकारिणी ज्यों ही व्यवस्थापिका सभा का विश्वास खो देती है हटाई जा सकती है। इसका यह तात्पर्य हुआ का अध्यक्षात्मक शासन में अविश्वास प्रस्ताव कुछ भी महत्व रूप नहीं रखता किन्तु सभात्मक रूप में शासन को उत्तरदायी बनाने का यह एक साधन है।

(५) अध्यक्षात्मक शासन में मन्त्रियों की नियुक्ति अध्यक्ष करता है और वे केवल उसी के सम्मुख उत्तरदायी होते हैं, व्यवस्थापिका सभा उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। सभात्मक प्रणाली में मन्त्री व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख उत्तरदायी होते हैं।

(६) अध्यक्षात्मक प्रणाली में मन्त्री व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं रहते। और वे क़ानूनों तथा प्रस्तावों पर न तो व्यवस्थापिका सभा के अधिवेशन में जाकर भाषण ही दे सकते हैं और न नये प्रस्तावों को रख ही सकते हैं। किन्तु सभात्मक प्रणाली के शासन में मन्त्री सभी प्रमुख प्रस्तावों तथा क़ानूनों के लिये व्यवस्थापिका के सम्मुख उत्तरदायी होते हैं और वे ही उनको पास कराने के लिये सभा के सम्मुख रखते हैं।

सारांश

अधिक स्पष्टता के लिये हम संक्षेप में कह सकते हैं कि (क) जहाँ शासन की तीनों शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित रहती हैं वहाँ निरंकुश शासन रहता है और कार्यकारिणी पूर्णरूप से व्यवस्थापिका तथा न्यायकारिणी को अपने अधिकार में रखती है; (ख) जहाँ व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्यायकारिणी एक दूसरे से पृथक तथा अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होकर कार्य सम्पादन करती हैं वहाँ शासन का रूप अध्यक्षात्मक होता है और (ग) जहाँ कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के अधीन रहती है वहाँ शासन का रूप सभात्मक होता है।

फ्रान्स में मॉन्टेस्क्यू का प्रभाव तथा वहाँ का प्रबन्धात्मक क़ानून

मॉन्टेस्क्यू के विचारों का असर केवल अमरीका पर ही नहीं पड़ा। उसने अपनी मातृभूमि फ्रान्स पर भी काफ़ी प्रभाव डाला। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय १७८९ ई० के बनाये गये विधान ने 'अधिकार-घोषणा' में इस बात को स्वीकार किया था कि "वह समाज, जहाँ शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त नहीं माना गया है विधानहीन है।' इसीलिये राजा को व्यवस्थापिका द्वारा पास किये हुए क़ानूनों को थोड़े ही समय के लिये स्थगित करने का अधिकार दिया गया। उसको यह अधिकार नहीं प्राप्त हुआ कि वह उन क़ानूनों को रद्द कर सके। व्यवस्थापिका सभा राजा द्वारा भंग नहीं की जा सकती थी और बादशाह के मन्त्री इसके सदस्य नहीं हो सकते थे। न्यायाधीशों का भी चुनाव जनता द्वारा किया जाता था। किन्तु कुछ समय बाद फ्रान्स ने भी इंगलैण्ड में प्रचलित सभात्मक प्रणाली को अपनाया लेकिन शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रभाव प्रबन्धात्मक क़ानूनों के रूप में बना ही रहा। राजकर्मचारी यदि ग़लती करते हैं तो वे साधारण न्यायालयों में न्याय के लिये नहीं लाये जा सकते। उनका मुक़दमा विशेष प्रकार के प्रबन्धात्मक न्यायालयों में किया जाता था। इस प्रकार कार्यकारिणी को न्यायकारिणी से पृथक रक्खा गया। लेकिन इंगलैण्ड में सरकारी कर्मचारियों के लिये इस प्रकार के विशेष न्यायालयों का कोई भी प्रबन्ध नहीं है। वहाँ पर एक

साधारण नागरिक तथा प्रधानमन्त्री या राज्य के दूसरे बड़े से बड़े कर्मचारी को एक ही न्यायालय के सम्मुख न्याय के लिये हाजिर होना पड़ता है। इसीलिये कहा गया है कि इंगलैण्ड में क़ानून का शासन है। किन्तु आधुनिक समय में जैसा कि हम इस पुस्तक में देखेंगे इंगलैण्ड में भी प्रबन्धात्मक क़ानूनों का आविर्भाव होना प्रारम्भ हो गया है। इसका प्रभाव डाइसी की व्याख्या के अनुसार देश के क़ानूनों के चलन पर पड़ा है।

इंगलैण्ड तथा अमरीका की शासन-प्रणाली का प्रसार

किन्तु यह कहना ग़लत न होगा कि इंगलैण्ड की शासन प्रणाली यूरोप के महाद्वीप में ही नहीं बल्कि सात समुद्र पार अंग्रेज़ी उपनिवेशों में भी अपनायी गई। इस प्रकार ब्रिटिश पार्लिमेन्ट आधुनिक व्यवस्थापिका सभाओं की जननी समझी जाने लगी। अध्यक्षात्मक प्रणाली का अनुकरण केवल अरजेन्टाइना और ब्राज़ील जैसे दक्षिणी अमरीका के जनतंत्र-राज्यों में हुआ। ब्राज़ील के विधान में तो स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि मन्त्री व्यवस्थापिका सभा के अधिवेशनों में नहीं उपस्थित हो सकते और वे जनतन्त्र के अध्यक्ष को जो राय देते हैं उसके लिये न तो वहाँ के न्यायालयों के सम्मुख उत्तरदायी हैं और न व्यवस्थापिका सभा के। वास्तव में उनका उत्तरदायित्व अध्यक्ष या राष्ट्रपति के प्रति है क्योंकि वही उन्हें नियुक्त करता है।

पूर्ण शक्ति-विभाजन के प्रयोग की अमरीका में असफलता

यद्यपि अमरीका के विधान-निर्माताओं ने शक्ति-विभाजन को क़ायम रखने के लिये काफी प्रयत्न किया और वे सभी सम्भव उपायों को काम में लाये किन्तु शासन की तीनों शक्तियों को पृथक रखने में वे असफल ही रहे। हम देखते हैं कि अमरीकी अध्यक्ष कांग्रेस (व्यवस्थापिका) को अपनी राय देता है और उसके मन्त्री कांग्रेस की समितियों के सम्पर्क में रहते हैं। संघीय पदों पर नियुक्ति और सन्धि-पत्रों पर हस्ताक्षर अध्यक्ष सेनेट से परामर्श करने के बाद ही करता है। इसी प्रकार कोई भी प्रस्ताव अध्यक्षहस्ताक्षर के बिना कांग्रेस के द्वारा पास किये जाने पर भी राज्य का क़ानून नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त वहाँ के राजनीतिक दलों का विकास वैधानिक क्षेत्र के बाहर हुआ है और दलों ने व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के बीच की खाई को खतम कर दिया है। आज अध्यक्ष भी उसी राजनीतिक दल का सदस्य होता है जिसका 'प्रतिनिधि सभा' में बहुमत रहता है। इससे क़ानून बनाने में काफी सरलता आ गई है और वैधानिक अड़ंगे की अब कोई सम्भावना नहीं रह गई है क्योंकि अध्यक्ष या कार्यकारिणी का प्रधान अब स्वभावतः उस दल का नेता होता है जो प्रथम धारा-सभा में बहुमत में रहता है। वैधानिक क्षेत्र के बाहर इन राजनीतिक दलों के विकास पर प्रो० लास्की का कथन है कि 'कार्य-विभाजन का यह तात्पर्य नहीं (यद्यपि लोगों ने यही समझा है) कि कार्यों को करने के लिये नियुक्त व्यक्ति भी अलग-अलग होंगे। मॉन्टेस्क्यू का भ्रान्त

धारणा ने जिसका समर्थन ब्लैकस्टन में भी किया इस सिद्धान्त को प्रचलित किया कि विभिन्न शक्तियों के अंग किसी भी भांति मिल ही नहीं सकते। किन्तु जैसा कि ड्ग्वी महोदय (Duguit) ने संकेत किया है किसी भी आज्ञा का पालन कराने के लिये राज्य की सभी शक्तियों की सहायता लेनी पड़ती है। इनको पूर्णरूप से पृथक करने के लिये अमरीका में किये गये प्रयत्न ने इन शक्तियों में वैधानिक क्षेत्र के बाहर सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। अध्यक्ष अथवा कार्यकारिणी के प्रधान द्वारा सरकारी कर्मचारियों को नियुक्त करने के अधिकार के प्रयोग ने तथा राजनीतिक दलों के विचित्र विकास ने कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका की शक्तियों में संयोग ला दिया है'[1]।

कोल का शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का नवीन अर्थ

हमारे युग में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का जी० डी० एच० कोल ने एक नवीन अर्थ दिया है। उनके इस अर्थ का आधार आधुनिक राज्य तथा समाज का कार्यानुसार संगठन है। हमारे युग में समाज का ढाँचा संघात्मक हो गया है और आज का राज्य न केवल कुछ समूहों का एक बड़ा समूह मात्र है वरन् (जैसा कि कोल का कथन है) विभिन्न समुदायों में से एक समुदाय मात्र रह गया है। इसलिये राज्य को दूसरे समुदायों पर कोई भी अधिकार नहीं है। उसको आध्यात्मिक, साम्प्रदायिक तथा आर्थिक समुदायों की भाँति एक समुदाय समझना चहिए। चूँकि कोल महोदय व्यवसाय तथा उद्योग में भी आत्मनिर्णय की माँग पेश करते हैं इसलिये वे चाहते हैं कि आर्थिक संगठन को स्वतन्त्र कारखानों से शुरू होकर राष्ट्रीय आर्थिक संगठन के रूप में समाप्त होना चाहिए और इसकी अलग व्यवस्थापिका होनी चाहिए। इसी प्रकार राजनीतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक व्यवस्थापिकायें होंगी जिनके पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य होंगे और वे अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहेंगी। इन सभी केन्द्रीय संगठनों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये सभी संगठनों के प्रतिनिधित्व के आधार पर एक प्रजातन्त्रात्मक सभा होगी जिसमें विभिन्न समुदायों के प्रतिनिधि मिलकर रक्षा, सेना तथा न्याय के मसलों को तय करेंगे। इस सभा को कोल महोदय कार्याधारित संगठनों का प्रजातन्त्रात्मक न्यायालय कहते हैं। इन राजनीतिक, आर्थिक, तथा बौद्धिक कार्यों के संगठनों को पृथक और स्वतन्त्र कर देने से एक ऐसे प्रजातन्त्र का जन्म होगा जिसमें प्रत्येक क़िस्म के उद्योग तथा व्यवसाय का प्रतिनिधित्व रहेगा। इस प्रजातन्त्र में प्रतिनिधित्व प्रादेशिक न होकर कार्यानुसार होगा। क्योंकि किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करना सम्भव नहीं है। हाँ, कार्यानुसार एक बढ़ई दूसरे बढ़ई के हित को अवश्य प्रतिनिधि-सभा में रख सकता है। इससे प्रकट होता है कि आधुनिक प्रतिनिधि-शासन का सिद्धान्त ग़लत है। केवल कार्यों और हितों का ही प्रतिनिधित्व हो सकता है। इसलिये कार्यों और व्यवसायों पर आधारित प्रजातन्त्र हमारे जीवन के अधिक निकट होगा।

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृष्ठ २९८-९९।

समालोचना

किन्तु यह सिद्धान्त भी प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। चूँकि स्थानीय समुदायों से लेकर राष्ट्रीय समुदायों तक सभी का संगठन करना तथा उनका प्रतिनिधित्व करना असम्भव है इसलिये यह तय करना भी कठिन होगा कि किस समुदाय का प्रतिनिधित्व किया जाय और किसका नहीं।

इसके अलावा विषयों को पूर्णरूप से पृथक करना भी आसान नहीं है। उदाहरण के लिये बेकारी को आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों संगठनों में रख सकते हैं और विवाह के विषय को राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों संगठनों में शामिल किया जा सकता है।

इसलिये कोल महोदय की योजना व्यावहारिक न होकर अधिक काल्पनिक है। फिर भी आधुनिक आर्थिक तथा व्यवसायिक आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये प्रथम यूरोपीय युद्ध (१९१४-१८) के पश्चात् बने हुए विधानों ने आधुनिक वैधानिक व्यवस्था के क्षेत्र में ही आर्थिक सभाओं को भी स्थान दिया था। १९१९ ई० के जर्मनी के विधान में तथा १९२२ ई० के स्वतन्त्र आयरलैंड के राज्य के विधान में ऐसा ही किया गया था।

वेब-दम्पति की शक्ति-विभाजन की नई योजना

कोल महोदय के अतिरिक्त वेब-दम्पत्ति[1] ने भी शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को व्यवहार में लाने की एक दूसरी योजना तैयार की है। उन्होंने व्यवस्थापिका सभा को राजनीतिक तथा सामाजिक सभाओं में विभाजित किया है। इसी प्रकार कार्यकारिणी को भी उन्होंने राजनीतिक विभाग और सामाजिक विभाग में बांटा है। अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं कि 'यह आवश्यक प्रतीत होता है कि राजनीतिक शासन को सामाजिक तथा व्यवसायिक शासन-प्रबन्ध के प्रतिबन्धों से अलग रक्खा जाय। इसलिये भावी सहकारी-प्रजातन्त्र में केवल एक ही राष्ट्रीय सभा नहीं होनी चाहिए किन्तु दो होनी चाहिये जो आपस में एक दूसरे पर आश्रित न होकर स्वतन्त्र तथा समान हों'।

इस विभाजन में राजनीतिक सभा के कार्यक्षेत्र में राष्ट्र की रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें तथा न्याय रहेगा और सामाजिक व्यवस्थापिका जनता के स्वास्थ्य, शिक्षा, कर तथा अन्य आर्थिक समस्यायों की जिम्मेदार होगी। राजनीतिक व्यवस्थापिका की कार्यकारिणी या मन्त्रिमण्डल केवल उसी के प्रति उत्तरदायी होगा और सामाजिक व्यवस्थापिका की कार्यकारिणी में अलग से स्थायी समितियाँ रहेंगी। दोनों के कर्त्तव्य तथा सदस्य पृथक-पृथक होंगे। इन लेखकों का कहना है कि 'हम इन दोनों राष्ट्रीय

---

१ सिडनी और बेट्रिस वेब—ए कान्स्टीट्यूशन ऑफ़ दि सोशलिस्ट कामनवेल्थ ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन पृष्ठ ११०-१३१। इस योजना की समालोचना के लिये कृपया लास्की कृत 'ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स' पृष्ठ ३३६-४० देखिये।

सभाओं को पृथक करना मौलिक रूप से आवश्यक समझते हैं। इन दोनों का कार्य जनता की इच्छाओं को प्रकट करना तथा जनमत का निर्माण करना है। लेकिन इनके क्षेत्र अलग-अलग होंगे जो महत्वानुसार घटते-बढ़ते रहेंगे। राष्ट्रीय समस्याओं के रूप जिनके आधार पर इन सभाओं का निर्वाचन होगा प्रारम्भ से ही पृथक होंगे और वे स्वभावतः कभी एक हो भी नहीं सकते। यद्यपि, दोनों सभाओं के सदस्यों को अपना पूरा समय देना पड़ेगा;......फिर भी निर्वाचन में खड़े होने वाले उम्मीदवार तथा वे व्यक्ति जिनका निर्वाचन ऐसे कार्यों के लिये आवश्यक है, भिन्न-भिन्न योग्यता तथा विचार के होंगे। इनकी कार्यकारिणी का भी संगठन दो प्रकार से होगा और शासन के दूसरे अंगों से इनका सम्बन्ध भी एक सा न रहेगा। इन सभाओं का दैनिक कार्य भी अलग-अलग रहेगा और उचित कार्य सम्पादन के लिये आवश्यक होगा कि ये अपने कर्त्तव्यों का ही पालन करें।'

किन्तु, यद्यपि इन दोनों सभाओं के कार्य पृथक-पृथक रहेंगे और ये अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र तथा प्रधान रहेंगी फिर भी ऐसे विषयों के लिये जो स्वभावतः दोनों सभाओं के कार्यक्षेत्र में आ सकते हैं कोई व्यवस्था अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार अधिकारों की व्याख्या से सम्बन्ध रखने वाले मामलों का फैसला साधारण न्यायालय ही करेंगे। इस कार्य के लिये विशेष प्रबन्धात्मक न्यायालयों की कोई आवश्यकता नहीं होगी। फिर भी, ज्यादातर मामलों में स्वतन्त्र रहते हुए भी ये सभायें संयुक्त समितियों या सभाओं द्वारा एक दूसरे से सलाह लेता रहेंगी। इस भांति आर्थिक विषय में राजनीतिक व्यवस्थापिका अपने अनुमानित व्यय का सामाजिक व्यवस्थापिका के सामने पेश करेगी क्योंकि राष्ट्रीय कर के लिये सामाजिक व्यवस्थापिका ही जिम्मेदार होगी। अगर दोनों सभाओं में मतभेद होता है तो मामले को दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक में बहुमत द्वारा तय किया जायगा। विधान में संशोधन लाने के लिये भी इसी प्रकार का संयुक्त सभा आवश्यक होगी। गतिरोध के अवसर पर जनता द्वारा निर्णय ज्यादा उचित होगा।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हित में यह आवश्यक होगा कि किसी भी सभा को विशेष क़ानूनों के बनाने तथा नये अपराधों को लगाने का अधिकार न प्राप्त हो। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्थापिका को यह अधिकार तो रहेगा कि वह सार्वजनिक सेवा-विभाग का जिस ढंग से चाहे संगठन करे किन्तु राजनीतिक व्यवस्थापिका के मतैक्य तथा न्याय-मन्त्री के राय के बिना सामाजिक व्यवस्थापिका न तो किसी सार्वजनिक सेवा को क़ानूनों के अनुसार अनिवार्य ही कर सकती है और न किसी दूसरे ढंग की सेवा को ग़ैर क़ानूनी ही क़रार दे सकती है।

अन्त में, सम्भव हो सकता है कि राजनीतिक व्यवस्थापिका जाति की इच्छा के विरुद्ध सेना और विदेशी नीति पर अधिक धन व्यय करने लगे। किन्तु चूंकि कर लगाने का अधिकार सामाजिक व्यवस्थापिका ही को रहेगा इसलिये राजनीतिक व्यवस्थापिका के लिये यह आवश्यक होगा कि वह अपने अनुमान किये हुए व्यय को सामाजिक व्यवस्थापिका के सम्मुख स्वीकृति के लिये रक्खे।

इस प्रकार जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की ये सभायें ऐसे अवसर को नहीं उपस्थित होने देंगी जब कि इनमें से कोई एक अपने क्षेत्र के बाहर जाकर राज्य के साधनों पर आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करे। लेकिन विदेशी आक्रमण के अवसर पर राजनीतिक व्यवस्थापिका की कार्यकारिणी को विशेष अधिकार देने पड़ेंगे। और शान्ति के अवसर पर सामाजिक व्यवस्थापिका के वादविवाद लोगों के दिमागों पर काफी प्रभाव डालेंगे।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी में शक्तियों का यह विभाजन आजकल की व्यस्त व्यवस्थापिका सभाओं के कामों को ही कम नहीं करेगा वरन् नागरिकों की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करेगा।

शक्ति-विभाजन के दोष

शक्ति-विभाजन के विभिन्न रूपों पर विचार कर चुकने के पश्चात् अब हम उन कारणों पर ध्यान देंगे जिनकी वजह से इसका व्यवहार में लाना असम्भव मालूम पड़ता है। अमरीका के विधान के व्यवहारिक रूप के अनुभव ने हमें बता दिया है कि शासन के अंगों का पूर्ण विभाजन सिद्धान्त-रूप में ही सम्भव है, व्यवहार में तो यह नहीं चल सकता। इसलिये इस सिद्धान्त के कुछ दोष हैं जिनके कारण इसे व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। ये दोष निम्नलिखित हैं:—

सर्व प्रथम, सभी राज्य वास्तव में आंगिक होते हैं और उनके भिन्न-भिन्न अंग पूर्ण स्वतन्त्र न होकर एक दूसरे की सहायता से काम करते हैं। इन अंगों का पूर्ण विभाजन असम्भव है और अगर किया भी जाता है तो परिणाम गतिरोध होगा और पूरा शासन-यन्त्र काम करने के अयोग्य हो जायगा। मनुष्य का स्वभाव ही आंगिक है, उसके प्रत्येक कार्य अलग-अलग न होकर एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। इस दशा में उसके कार्यों को पृथक-पृथक वर्गों में बाँटना और एक को दूसरे से अलग रखना सम्भव नहीं हो सकता। इससे प्रकट है कि मानव-शासन में शक्तियों का पूर्ण रूप से विभाजन कठिन ही नहीं वरन् असम्भव और अप्राकृतिक है। डाक्टर फ़ाइनर ने इस दृष्टिकोण को इतनी अच्छी तरह से रक्खा है कि उसका उद्धरण करना अनिवार्य सा हो जाता है। उनका कथन है कि 'अगर हम आधुनिक शासन के व्यावहारिक रूपों का निरीक्षण करें तो हम देखते हैं कि शासन के पूर्ण कार्य के लिये दो चीजें जरूरी हैं; निश्चय करना और उसको कार्य रूप में परिणित करना यानी पहले यह तय करना कि अमुक बातें होंगी और फिर लोगों से उन बातों को कराना। अगर हम इसी विभाजन को राजनीतिक कार्यों पर लागू करें तो हम देखते हैं कि निश्चय करने का कार्य निर्वाचक मंडल, राजनीतिक दल, व्यवस्थापिका, मन्त्रिमंडल तथा राज्य के प्रधान का हो जाता है और तय किये गये क़ानूनों को लागू करने का काम कार्यकारिणी, सरकारी कर्मचारियों तथा न्यायालयों के जिम्मे आता है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि राजनीतिक कार्यों के सात प्रमुख केन्द्र हैं जिनका सहयोग सफल तथा पूर्ण शासन के लिये आवश्यक होता

है। ये सात केन्द्र एक दूसरे को सहायता देते हैं, उचित रास्ता दिखाते हैं तथा अवसर पड़ने पर नियंत्रण भी करते हैं। इस तरह राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक दल पुरुषों तथा स्त्रियों का एक असंख्य जनसमूह मात्र होगा जो प्राकृतिक अवस्था से किसी मानो में भी अच्छा न रहेगा.......व्यवस्थापिका और निर्वाचकों का सम्बन्ध निर्वाचन-क्षेत्रों, उपनिर्वाचनों, दर्शक-कक्षों तथा शिष्ट-मंडलों द्वारा क़ायम रक्खा जाता है। आज की व्यवस्थापिका केवल राजनीतिक दलों का विशेष अधिवेशन मात्र है जिसका संगठन दल-सभाओं और दल-नेताओं द्वारा किया जाता है। निर्णय तथा संकल्प करने के कार्य में मन्त्रि-मंडल का निर्वाचकों से सम्बन्ध व्यवस्थापिका तथा राजनीतिक दलों द्वारा स्थापित किया जाता है। वादविवाद तथा प्रस्तावों पर बहस करने की सामग्री राजकर्मचारियों द्वारा इकट्ठा की जाती है। पास किये हुये क़ानूनों को अमल में लाने के काम में मन्त्रि-मण्डल राज्य के प्रधान के सम्पर्क में रहता है और दैनिक कार्यों में स्थायी शासकों की मदद लेती है। क़ानूनी विषयों पर राय देने के लिये अलग से न्यायाधीशों तथा वकीलों में से कुछ लोग रहते हैं और इन्हीं की मदद से मन्त्रिमण्डल नये न्यायाधीशों को नियुक्त करता है।............राज्य का प्रधान (इंगलैंड के अलावा) निर्वाचकों के सम्पर्क में रहता है क्योंकि उसका निर्वाचन या तो प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा किया जाता है या व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा। सरकारी कर्मचारी भी जनता से अलग नहीं रहते। जनता शिष्ट-मंडलों तथा मन्त्रणात्मक-समितियों द्वारा इनको प्रभावित करती है। न्यायालय भी सभ्यता के विकास की आवश्यकताओं के प्रभाव से दूर नहीं रह सकते। अपने समय का ज्यादा हिस्सा वे उपरोक्त साधनों द्वारा बनाये हुये क़ानूनों को लागू करने में अवश्य व्यतीत करते-करते हैं किन्तु उनकी व्याख्या करने में वे उन पर अपने विचारों का प्रभाव अवश्य डालते हैं। व्यावहारिक रूप में तो शासन के इन अंगों में और भी निकट सम्बन्ध है किन्तु शासन के कार्यों में सहायता देने वाले प्रमुख साधन यही हैं।"[1]

दूसरे, मॉन्टेस्क्यू इसलिये शक्ति-विभाजन के पक्ष में था कि यह स्वतंत्रता प्राप्त करने का साधन है। परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। वास्तविक स्वतंत्रता का आधार जन-शक्ति है, वैधानिक-यन्त्र के अन्तर्गत 'बन्धन' और 'संतुलन' नहीं। रूसो का कथन था कि प्रत्येक शासन में पतन की प्रवृत्ति रहती है और यदि जनता इसके प्रति सतर्क नहीं रहती तो यह नागरिकों की स्वतंत्रता में बाधक बन सकता है क्योंकि आखिरकार शासन तो मनुष्य ही करते हैं और मनुष्यों को अपने ऐश्वर्य और शक्ति से प्रभावित होना स्वाभाविक है। वाशिंगटन के कथनानुसार निरंतर सजग रहने से ही स्वतंत्रता क़ायम रह सकती है।

तीसरे, शक्ति-विभाजन से विभागों में संकीर्णता आ जाती है। जे० एस० मिल ने इस बात को समझा था। उसका कहना था कि विभागों के पृथकत्व के कारण उनके

१—फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑफ़ मॉडर्न गवर्न्मेंट्स, जिल्द १, पृष्ठ १७१-१७२।

मध्य केवल ईर्ष्या और संबंध-शून्यता का ही जन्म नहीं होता वरन् झगड़ा भी संभव है। इसके परिणाम स्वरूप शासन सुचारु रूप से नहीं चल सकता क्योंकि बिना सहयोग के शासन के अंग काम नहीं कर सकते। शासन के सभी अंग एक दूसरे के आश्रित हैं और उनके कार्य-क्षेत्रों को पूर्ण रूप से अलग-अलग करना असम्भव है। कार्यकारिणी किसी क़ानून को कैसे लागू कर सकती है जब तक कि वह भी उसी भावना से प्रेरित न हो जिससे प्रेरित होकर व्यवस्थापिका ने उसे बनाया था। इसी प्रकार व्यवस्थापिका कैसे एक क़ानून बना सकती है जब तक कि वह उस क़ानून की आवश्यकता जानने के लिये कार्यकारिणी का सहयोग न प्राप्त कर ले। संक्षेप में प्रत्येक विभाग को पृथक रखने के भ्रमात्मक सिद्धान्त का परिणाम होगा शासन को हितकर बनाने के सहयोगात्मक प्रयत्न में ह्रास।

चौथे, न्यायकारिणी में न्यायाधीशों का निर्वाचन जनता के द्वारा होने के कारण, यह विभाग अयोग्यता तथा पक्षपात ऐसे दोषों से युक्त रहता है क्योंकि न्यायाधीशों के निर्वाचन का आधार दल-सिद्धान्त रहता है योग्यता नहीं। ऐसी व्यवस्था का यह कारण है कि यदि इनकी नियुक्त कार्यकारिणी अथवा व्यवस्थापिका करे तो ये इनके अधीन रहेंगे अतः शक्ति-विभाजन के सिद्धान्तानुसार इन विभागों से इनको अलग रखना आवश्यक हो जाता है। परन्तु वास्तव में इस व्यवस्था से सुशासन को हानि पहुँची है क्योंकि बहुत अवसरों पर समानता, तर्क और विवेक के सिद्धान्त पर न्याय नहीं हुआ।

पाँचवें, शासन के प्रत्येक अंग कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका और न्यायकारिणी को तीनों कार्य करने पड़ते हैं। कार्यकारिणी के प्रधान की हैसियत से अध्यक्ष को व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये क़ानूनों को केवल लागू ही नहीं करना पड़ता वरन् वह उपनियम तथा विभागों के व्यवस्थार्थ नियम भी बनाता है। उसे अपने अधीन कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करना तथा उन पर अपना निर्णय भी देना पड़ता है। वह अपराध भी क्षमा करता है। इसी प्रकार दूसरे अंग कार्यकारिणी का भी कार्य करते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक विभाग में अधिकारों का सम्मिश्रण है विभाजन नहीं।[1]

अन्त में, शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त अधिकार-साम्य के भ्रमात्मक विचार पर आधारित है। शासन के तीनों अंग पूर्णरूप से कभी सम-कक्ष नहीं हो सकते। लोग उसी अंग को महत्वपूर्ण और प्रधान समझते हैं जो राष्ट्र के राजस्व पर नियंत्रण रखता है और वह अंग साधारणतः व्यवस्थापिका होती है। क़ानून बनाने का अधिकार भी इसी के हाथ में रहता है। इससे यह प्रकट होता है कि कार्यकारिणी और न्यायकारिणी के गौण कार्य क्रमशः क़ानून को लागू करना तथा उनकी व्याख्या करना है क्योंकि व्यवस्थापिका पहले ही क़ानून बनाने का कार्य कर चुकती है।[2]

१—डा० फ़ाइनर ने इस पक्ष को खूब स्पष्ट किया है। उनकी पुस्तक 'दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑफ माडर्न गवर्न्मेंट्स' जि० १, पृ० १७०-१७१ अवश्य पढ़िये।

२—इस मत की पुष्टि के लिये लास्की कृत 'ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स', पृ० ६७-६८ पढ़िये।

सभात्मक-शासन के विकास, अध्यक्षात्मक शासन के अन्वेषण और उसकी स्थापना तथा शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के दोषों का अनुशीलन करने के पश्चात् अब हम शासन की इन आधुनिक प्रणालियों के गुणों और दोषों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। हम शासन के सभात्मक रूप के गुणों से आरम्भ करेंगे।

सभात्मक रूप के गुण

सर्व प्रथम, सभात्मक रूप[1] में बहुमत की इच्छाओं का पालन तत्परता तथा शीघ्रता से होता है क्योंकि मंत्रिमंडल व्यवस्थापिका ही की एक समिति होता है और साधारणतः इसमें बहुसंख्यक दल के प्रमुख व्यक्ति रहते हैं। इसलिये यदि इसकी नीति और कार्य पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तों को नहीं त्यागते तो इनको सभी विरोधों के खिलाफ़ पूर्ण समर्थन प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभात्मक-प्रणाली में व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के मध्य सामंजस्य रहता है और दोनों के बीच संघर्ष की बहुत कम सम्भावना रहती है। प्रो० विलोबी[2] का भी यही दृष्टिकोण है। वे कहते हैं कि सत्ताओं के मेल की प्रणाली (इंगलैंड की प्रणाली के समान) 'उत्तरदायित्व, निर्देश और प्रभुत्व के एकत्व' की समर्थक है क्योंकि इसमें वास्तविक उत्तरदायी एक ही अंग रहता है और इसीलिये शासन की विभिन्न शाखाओं के मध्य संघर्ष असम्भव है। अमरीका में 'यह भाग्य ही की बात होती है यदि कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका दोनों के राजनीतिक दृष्टिकोण एक से होते हैं। और ऐसे उदाहरण सदैव मिलते रहते हैं जहाँ अध्यक्ष अथवा गवर्नर, क्रमशः कांग्रेस अथवा राज्य-व्यवस्थापिका में अपने ही राजनीतिक दल के सदस्यों से नहीं सहमत रहते। इसके परिणाम-स्वरूप न तो कार्यकारिणी और न व्यवस्थापिका अपनी नीति का अनुसरण कर पाती जब तक कि व्यवस्थापिका इतनी संगठित नहीं हो जाती कि वह कार्यकारिणी के 'न' को दूर करने के लिये आवश्यक दो तिहाई मत अपनी ओर कर ले'। परन्तु अंग्रेजी प्रणाली में सत्ता और अधिकार-क्षेत्र के संघर्ष की बहुत कम सम्भावना रहती है और यदि मतभेद उत्पन्न भी हो जाता है तो सरलता से दूर किया जा सकता है। सत्ता के इस प्रकार केन्द्रीभूत होने के कारण किसी भी महान आपत्ति-काल में शासन की पूर्ण शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है।

दूसरे, ब्राइस का दावा है कि 'व्यवस्थापिका में मंत्रियों की उपस्थित से दो और लाभ हैं: विरोधी दल के सदस्यों के सम्पर्क में सदैव रहने तथा अपने दल के सदस्यों के और अधिक सम्पर्क में रहने से उनको परिषद् के विचारों और इनके द्वारा लोकमत के जानने का अवसर मिलता है और एकान्त में मित्रता के रूप में दी हुई उसके कार्यों को उपयोगी आलोचना प्राप्त होती है। इसके साथ-साथ मंत्रियों से प्रश्न पूछने के अधिकार की बिना पर सदस्य अपने निर्वाचकों की माँगों की ओर उनका ध्यान ले जाते हैं और सामयिक सार्वजनिक समस्यों के संबंध में जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं।'

१—ऐसे ही मत के लिये ब्राइस कृत 'मॉर्डन डेमोक्रेसीज़', जिल्द २, पृ० ५१० और डाइसी कृत 'लॉ ऑफ़ दि कान्स्टीट्यूशन', पृ० ४८४ पढ़िये।

२—विलोबी—गवर्न्मेंट्स ऑफ़ मॉर्डन स्टेट्स, पृ० २५८

इन प्रश्नों से मंत्रियों को अपने ग़लत वक्तव्यों को ठीक करने या प्रतिवाद करने बदनामी को खण्डन करने और बिना समाचारपत्रों की सहायता लिये हुये अपने शासन-कार्यों के कारणों को समझाने का सुन्दर अवसर मिलता है। परन्तु इसका अर्थ निरंतर शासन-कार्यों का नियंत्रण भी है। इस प्रणाली में 'निर्णय में शीघ्रता और कार्य में तेज़ी' आती है। मंत्रिमंडल ऐसे क़ानून पास करवाता है जिन्हें आवश्यक समझता है और इस विश्वास पर कि विरोधी दल के हमलों के खिलाफ़ बहुमत का समर्थन प्राप्त होगा मंत्रिमंडल गृहनीति और परराष्ट्र-नीति का अनुसरण सरलता से कर सकता है''[1]।

तीसरे, उस शासन-प्रणाली से, जिसमें अधिकार और उत्तरदायित्व विभिन्न अंगों में बटे रहते हैं, सभात्मक प्रणाली कहीं अधिक श्रेष्ठ होती है क्योंकि इसमें उत्तरदायित्व केन्द्रित रहता है। इस प्रकार क़ानून तथा शासन-प्रबन्ध, परराष्ट्र नीति तथा गृहनीति में आने वाली सभी बुराइयों के लिये मंत्रिमंडल उत्तरदायी होगा और सभी खराबियों का दोष उसी के सर पर मढ़ा जायेगा। इसको न पार्लिमेंट के अन्तर्गत और न बाहर ही शान्ति मिल सकती है। पार्लिमेंट में इसकी नीति तथा इसके कार्य के विरुद्ध लगाये गये अभियोगों का जवाब इसको देना पड़ेगा और बाहर जनता का विश्वास प्राप्त करना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मन्त्रिमण्डल यह समझता है कि उसे अपने कार्यों की ईमानदारी सिद्ध करनी पड़ेगी इसलिये कार्य बड़ी सावधानी और सोच समझ कर किये जायँ।

चौथे, इस प्रणाली से एक बड़ा लाभ यह होता है कि ऐसे योग्य और कर्मठ व्यक्ति सामने आते हैं जिनके प्रति सम्मान और विश्वास उत्पन्न होते हैं क्योंकि उनमें वक्तृत्व-शक्ति, विवेक, कर्मठता और न्यायप्रियता ऐसे गुण होते हैं। प्रो० लास्की का भी यही दृष्टिकोण है। वे कहते हैं कि 'कामन-सभा में चाहे जो कमियाँ रही हों परन्तु जिस उत्तमता से उसने अपना 'चुनिन्दा कार्य' सम्पादित किया है वह आश्चर्य में डाल देती है। इसने ईमानदारी और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। इसने बड़ी चतुरता के साथ वक्तृत्व शक्ति और शासन-पटुता से काम लिया है। मुझे इसके समान अच्छी कोई दूसरी प्रणाली ज्ञात नहीं है। एक मध्यम कोटि का अमरीकी अध्यक्ष अधिक से अधिक एक अज्ञात प्रयोग है और उसका मध्यम कोटि की मन्त्र-परिषद् तो बिल्कुल शून्य है। परन्तु अंग्रेजी मन्त्रिमण्डल का एक मध्यम कोटि का सदस्य जनता की दृष्टि से एक लम्बे समय तक जाँचा और परखा हुआ होता है वह अपने इस पद पर आने के पहिले अपने कर्तव्य को समझ लेता है। वह उन कार्यों के सम्पर्क में अपना प्रारम्भिक जीवन बिता चुकता है जिनका निर्देश अब उसे करना है'।[2]

पाँचवें, यह सच है कि सभात्मक प्रणाली में एक विरोधी दल होता है परन्तु एक तरह से यह लाभदायक है। अल्पसंख्यक दल जो विरोधी दल का स्थान लेता है

१—ब्राइस—मॉर्डन डेमोक्रेसीज़, जि० २, पृ० ५१०-११

२—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स पृ० ३००

बहुसंख्यक दल से बनी हुई सरकार के कार्यों की आलोचना करता है और इस प्रकार शासन की बुराइयाँ, भूलें और ग़लतियाँ दिखा कर सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसका यह अर्थ हुआ कि विरोधी दल सदैव एक दूसरी प्रस्तुत सरकार के रूप में रहता है और मन्त्रिमण्डल की हार हो जाने पर इसके अनुभवी और दक्ष व्यक्ति उसका स्थान ग्रहण करते हैं। इंगलैंड के विरोधी दल के महत्व पर जेनिंग्स इस प्रकार ज़ोर देता है : सार्वजनीन चुनाव एक सरकार ही को जन्म नहीं देता वरन् वह विरोधी दल का भी जन्मदाता है। सामान्य अवसर में प्रधान मन्त्री के समक्ष विरोधी दल का नेता होता है, सरकार-दल के सामने विरोधी दल बैठता है। विरोधी दल का नेता प्रधान मन्त्री का स्थान ले सकता है क्योंकि लोकमत में थोड़ा सा भी परिवर्तन होने से विरोधी दल को पार्लिमेंट में बहुमत प्राप्त हो सकता है और वह सरकार का स्थान ले सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि सरकार और पार्लिमेंट लोकमत का सदैव ख्याल रखते हैं'।[1]

छठवें, सभात्मक प्रणाली निर्वाचन-क्षेत्र की माँगों से संबंध क़ायम रखती है क्योंकि व्यवस्थापिका में इसमें सदस्यगण राष्ट्र की प्रवृत्तियों और मतों को सामने रखते हैं। इसलिये उनकी राय और आलोचनायें उपेक्षित नहीं होतीं। डाइसी का कथन है कि 'सभात्मक मन्त्रिमण्डल को, आवश्यक रूप में, सभा के विचारों को गम्भीरता-पूर्वक समझना चाहिये और उसके मत के परिवर्तन के साथ उसको भी चलना चाहिये। केवल इतना ही नहीं शासन-प्रबंध और क़ानून पास करने के संबंध में उसकी इच्छायें ही नहीं वरन् सनकें भी पूरी करनी चाहिये क्योंकि मन्त्रिमण्डल का अस्तित्व उसी पर क़ायम है'।[2]

सातवें, इस प्रणाली में समय और परिस्थिति के अनुसार काम करने में बड़ी सरलता होती है[3] क्योंकि कार्यकारिणी अपने दृष्टिकोण को पूर्णरूप से व्यवस्थापिका को समझा सकती है। अस्थायी रूप से वह स्थापित परिपाटी को भी तोड़ सकती है जैसे १९३१-३२ में सामूहिक उत्तरदायित्व की प्रथा के विरुद्ध अंग्रेजी मन्त्रियों ने व्यक्तिगत मत-भेद-प्रकाशन के अधिकार पर समझौता किया था। इससे स्पष्ट है कि असाधारण परिस्थितियों में सभात्मक प्रणाली राष्ट्र के सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन के संकट को टालने के लिये कम से कम परिवर्तन करके काम निकाल सकती है।

आठवें, इस प्रणाली की विशेषता है कि इसके द्वारा कार्यकारिणी का अधिष्ठाता किसी विशेष दल का पक्ष ग्रहण करना बन्द कर देता है। इंगलैंड में जैसा कि आप पहिले देख चुके हैं जार्ज प्रथम ने अपने जर्मन होने के कारण मंत्रिमंडल में आना बन्द करना आरम्भ कर दिया था और वालपोल ने बहुसंख्यक दल का नेता होनेके कारण

१—डब्लु० आई० जेनिंग्स—दि ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन, पृ० ११

२—डाइसी—लॉ ऑफ़ दि कान्स्टीट्यूशन, पृ० ४८४

३—ऐसे ही विचार के लिये, विलोबी कृत 'दि गर्वमेन्ट ऑफ़ मॉडर्न स्टेट्स' पृ० २५९ पढ़िये।

इंगलैंड के प्रथम प्रधान-मंत्री के रूप में शासन-कार्य संभाला था। तब से सभात्मक शासन की यह आवश्यक शर्त हो गई है कि कार्यकारिणी के अधिष्ठाता को दलबन्दी से दूर रहना चाहिये। ब्राइस ने कार्यकारिणी के इस नाममात्र के अधिष्ठाता के महत्व के विषय में कहा है कि 'चूँकि अमली कार्यकारिणी में अनिवार्य रूप से दलबन्दी की छाप रहती है इसलिये इस प्रणाली का यह गुण है कि कार्यकारिणी का नामधारी अधिष्ठाता चाहे वह राजा हो चाहे अध्यक्ष, दलबन्दी से अलग रहता है, वह शासन का वह स्थायी अंग है जो दलों के आने-जाने से अप्रभावित रहता है। एक निर्वाचित अध्यक्ष वंशागत राजा के समान नहीं हो सकता यद्यपि फ्रांस में कुछ अध्यक्ष काफी सफल रहे हैं। जब एक मंत्रिमंडल की हार हो जाती है तो सत्ता बड़ी सरलता से हस्तान्तरित हो जाती है।'[१] कार्यकारिणी का अधिष्ठाता जैसे कि इंगलैंड में, अथवा गवर्नर-जनरल जैसे कि ब्रिटिश डोमीनियन में 'विरोधी-दल के नेता को नया मंत्रिमंडल बनाने की आज्ञा देता है; मुख्य पदाधिकारी तुरन्त बदल दिये जाते हैं और जलयान एक नये कप्तान के नियंत्रण में नये मार्ग में अग्रसर होता है। यह सब बिना किसी परेशानी और निर्वाचन के हो जाता है'।

अन्त में, सभात्मक प्रणाली अत्यन्त शिक्षात्मक होती है। गिलक्राइस्ट का कथन है कि 'दलबन्दी जो इसका आधार है, एक विशद संगठन चाहती है, और दल-संगठनों का कर्तव्य निर्वाचनों में जीतना है। निर्वाचनों में जीतने का अर्थ है जनता के मत प्राप्त करना और चूँकि प्रत्येक दल जीतने के लिये प्रयत्न करता है इसलिये जनता के सामने देश की विभिन्न समस्याओं के विभिन्न पहलू सदैव रहते हैं। अमरीका में भी दलबन्दी पाई जाती है परन्तु इंगलैंड की मंत्रि-मंडलात्मक प्रणाली में, मंत्रि-मंडल का कामन-सभा के प्रति उत्तरदायित्व अथवा कामन-सभा में बहुमत प्राप्त करने की इसकी योग्यता के कारण, दल-राजनीति को और प्रोत्साहन मिलता है। अमरीका में यदि कार्यकारिणी ने एक बार पद ग्रहण कर लिया तो कार्य-काल के समाप्त होने के पहिले कोई दल इसे नहीं निकाल सकता परन्तु इंगलैंड में मंत्रि-मंडल को बहुमत के द्वारा कभी निकाला जा सकता है।[२] पार्लिमेंट के वाद-विवाद भी दलों के तर्क होते हैं जिनसे प्रश्न के सभी पहलू स्पष्ट हो जाते हैं। चूँकि ये सब समाचार-पत्रों में प्रकाशित होते हैं इसलिये कम से कम शिक्षित लोग राजनीतिक समस्याओं से परिचित रहते हैं। इस प्रकार मतदाता और साधारण जनता दोनों राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करते हैं और इससे वे इतनी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं कि जब कामन-सभा भंग हो जाती है और जनता के अन्तिम निर्णय को प्रार्थना की जाती है, वे अपना फ़ैसला दे सकते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि शासन का सभात्मक रूप उसके अध्यक्षात्मक रूप से बहुत अर्थों में श्रेष्ठ है। लास्की महोदय ने संक्षेप में इस प्रकार कहा है: 'इसकी स्थापना का सर्वोत्तम मार्ग कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका की एक समिति बना देना है जैसा

१—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द २, पृ० ५११-१२

२—गिलक्राइस्ट—दि प्रिन्सिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस, पृ० २४३-४४

कि इंगलैंड में है। इससे विभिन्न उद्देश्य सिद्ध हो जाते हैं। कार्यकारिणी अपने पद पर तभी तक रह सकती है जब तक उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहता है। इस कार इसकी नीति परिवर्तनशील रहती है और शासन-कार्य में गतिरोध नहीं उत्पन्न होता जैसा कि अमरीका में होता है जब अध्यक्ष और कांग्रेस (व्यवस्थापिका) एकमत नहीं होते अथवा जब अध्यक्ष के दल के ही हाथ में सत्ता रहती है। व्यवस्थापिका में उपस्थित रहने के कारण कार्यकारिणी को अपनी नीति को समझाने का अवसर मिलता है और साथ-साथ नीति पर विशेष दिलचस्पी ली जाती है और उसकी समुचित आलोचना भी हो जाती है। यह दिलचस्पी और आलोचना शून्य में नहीं होती। यह उन लोगों की दिलचस्पी और आलोचना होती है जो कार्यकारिणी के विश्वास खोने पर उसका स्थान लेने के लिये सदैव तैयार रहते हैं। इस प्रकार इसमें उत्तरदायित्व का स्थान है। यह ऐसी व्यवस्थापिका को बिना समझे-बूझे क़ानून पास करने से रोकता है जिसको शासन-प्रबन्ध से प्रत्यक्ष दिलचस्पी नहीं है। यह कार्यकारिणी के उस पतन को रोकता है जो मन्त्रिमण्डल की अपनी नीति न होने पर आरम्भ होता है। यह शासन के उन विभिन्न अंगों के सहयोग का मार्ग प्रशस्त करता है जो एक अच्छे शासन के लिये अत्यन्त आवश्यक है।'[1]

संक्षेप में हम शासन के सभात्मक रूप अथवा मन्त्रिमण्डल-प्रणाली[2] की उपयोगिता को संक्षेप में इस प्रकार दिखा सकते हैं :—

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० २६६। विद्यार्थी को ३४६-४७ पृष्ठ भी अवश्य पढ़ना चाहिये क्योंकि इनमें भी उसने अंग्रेज़ी प्रणाली के विशेष गुणों का संक्षेप में वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

वांग्टेह यू महोदय अपनी पुस्तक 'दि इंगलिश कैबिनेट सिस्टम' में कहते हैं कि इसके विशेष गुण ये हैं: यह परिवर्तनशील है, परिस्थिति के अनुसार चल सकती है, आकार छोटा होने के कारण नियंत्रित रह सकती है, सरलता से और शीघ्रता से कार्य-संचालन कर सकती है।' पृ० ४०३

२—सिडनी लो ने अपनी पुस्तक 'गवर्नेंस ऑफ़ इंगलैंड' में अंग्रेज़ी मंत्रि-मंडल की महत्ता इस प्रकार प्रदर्शित की है :—

(क) यह अन्तिम निर्णय को जनता को विचारार्थ सौंपने के प्रजातंत्रात्मक सिद्धान्त को क़ायम रखता है और उसको अपने शासकों और व्यवस्थापकों के चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता देता है।

(ख) यह व्यक्तियों के उस संगठन को शासन-कार्य चलाने का अवसर देता है जिनके विचार लोकसभा के बहुमत से मिलते हैं।

(ग) यह एक मज़बूत शासन प्रबन्ध के लिये कार्यकारिणी को एक बड़ी मात्रा में शक्ति और स्वतंत्र अधिकार प्रदान करता है। परन्तु इसके साथ-साथ सदैव के लिये इसको वृहद पंच-समुदाय (लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी बनाता है जिसके सदस्य स्वयं राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(घ) शासन-कार्य की प्रत्येक अवस्था में सार्वजनिक वाद-विवाद को स्थान देता है।

(१) बेजहॉट के अनुसार यह 'संयोजक चिन्ह और बक्सुआ के समान है जो कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका को क्रमशः जोड़ते और कसते हैं' और इस प्रकार सरकार और पार्लिमेंट के बहुसंख्यक दल के बीच सामंजस्य स्थापित करती है।

(२) यह अन्तिम निर्णय जनता को विचारार्थ सौंपने के प्रजातंत्रात्मक सिद्धान्त को क़ायम रखती है।

(३) यह कार्यकारिणी को स्थायित्व प्रदान करती है क्योंकि यह लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहती है और लोकसभा राष्ट्र के प्रति।

(४) इसमें अपने उत्तरदायित्व को महसूस करने का अवसर मिलता है क्योंकि मंत्रियों को पार्लिमेंट के सामने अपनी नीति को न्याय-संगत सिद्ध करना पड़ता है परन्तु यदि पार्लिमेंट उत्तर से संतुष्ट न हुई तो उनको अपना स्थान दूसरों के लिये खाली करना पड़ता है।

(५) इसमें क़ानून पास करने या सुधार करने की रीति बड़ी सरल और प्रत्यक्ष होती है क्योंकि इसमें पेचीदगी नहीं है जिससे व्यर्थ में देरी लगे।

(६) इसमें राष्ट्रीय नीति के स्वरूप-निर्णय करने में बड़ी सरलता होती है क्योंकि व्यवस्थापिका मन्त्रिमंडल के साथ रहती है।

(७) चूँकि मंत्री विभिन्न विभागों के प्रधान होते हैं और व्यवस्थापिका के बहुसंख्यक दल के नेताओं में से होते हैं इसलिये वे बहुत सोचे-समझे हुए तथा संगत क़ानून पास करवाते हैं। इस प्रकार सरकार स्वयं सभी महत्वपूर्ण क़ानून पास करने के लिये निर्देश करती है।

सभात्मक प्रणाली के दोष

सभात्मक प्रणाली के गुणों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इसके दोषों को भी देख सकते हैं।

सर्व प्रथम शासन का यह रूप दलबन्दी पर आधारित है और इस दलबन्दी के लिये देश में आपस में मतभेद पैदा किये जाते हैं। इस प्रकार सारे देश में राजनीतिक गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। ब्राइस का कथन है कि 'यह प्रणाली दलबन्दी को प्रोत्साहित करती है जो सदैव क़ायम रहती है। यदि नीति संबंधी कोई प्रश्न राष्ट्र के सामने न भी हुआ तो भी पद प्राप्त करने के लिये आपस में कलह होती है। एक दल पद पर आसीन

(ङ) यह उच्च पदाधिकारियों को न्यायालय के सामने अपने कार्यों की सच्चाई सिद्ध करने के लिये बाध्य करता है। यह न्यायालय उनको दंडरूप में निकाल सकता है यदि इसको उनसे सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता।

(च) यह एक वास्तविक सत्ता को जन्म देता है जो राज्य के प्रत्येक विभाग तथा क़ानून और शासन-प्रबन्ध के प्रत्येक क्षेत्र में सर्वशक्तिशालिनी होती है।

(छ) यदि निर्वाचकों का बहुमत चाहता है तो यह साधारण वैधानिक ढंग से बड़े-बड़े सुधार और संशोधन करने का अवसर देता है।

रहता है और दूसरा उसे प्राप्त करना चाहता है। यह झगड़ा स्थायी रूप से रहता है क्योंकि पराजय के बाद तुरन्त ही हारा हुआ दल विजेता दल को हटाने की तैयारी करने लगता है। यह उस लगातार होने वाले युद्ध के समान है जो रक्त का शिराओं में लाल कीटाणुओं और आक्रमणकारी रोगजनक कीटाणुओं के मध्य होता रहता है[1]।'

दूसरे, यह कलह और विरोध केवल देश तक ही नहीं सीमित है, वरन् व्यवस्थापिका में भी केवल विरोध के लिये ही विरोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार समय और शक्ति की ही बरबादी नहीं होती वरन् आपस में एक झगड़ा खड़ा हो जाता है और एक दल, दूसरे के विरुद्ध कड़े शब्दों का प्रयोग करता है। फ्रान्स में तो (१९३९-४५ के युद्ध के पहिले) सदस्यों के ऊपर अंडे और जूते तक फेंक दिये जाते थे। इंगलैंड में कभी-कभी विरोधी दल वाद-विवाद को बढ़ा उस कार्य के होने में बाधा उपस्थित कर देता है जिसको वह नहीं पसन्द करता। व्यर्थ का विरोध आपस में शत्रुता और एक दूसरे के प्रति उपेक्षा को जन्म देता है। इसका परिणाम यही होता है कि अच्छा क़ानून नहीं बन पाता क्योंकि व्यवस्थापिका सभा दलों का युद्धक्षेत्र बन जाता है और हितकर वाद-विवाद तथा सार्वजनिक भलाई के लिये पक्षपात रहित क़ानून पास करने का अवसर ही नहीं मिलता[2]।

तीसरे, यह सच है कि कार्यकारिणी का व्यवस्थापिका के साथ सहयोग इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण है। परन्तु यह भी सच है कि कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के अधीन होने से इसका दास अथवा आश्रित हो जायगी। या यदि व्यवस्थापिका को दबाये रहेगी तो व्यवस्थापिका प्रभावशून्य हो जायेगी और आलोचना भी न कर सकेगी। डाइसी का कथन है 'कि सभात्मक कार्यकारिणी को अपनी रचना के कारण पार्लिमेंट (व्यवस्थापिका) के नेतृत्व को मानना ही पड़ता है। इसीलिये मंत्रिमण्डल-प्रणाली में शासन-प्रबन्ध में सभा के बहुमत के स्थायी विचारों ही की छाप नहीं रहती वरन् क्षणस्थायी जोश, सनक तथा आकांक्षाओं की भी रहती है। या उन निर्वाचकों की इच्छाओं का प्रभाव रहता है जिनके बल पर बहुमत सत्ता को आदेश देता है। संक्षेप में, सभात्मक कार्यकारिणी पार्लिमेंट के हाथ का खिलौना बन जाता है जो स्वयं कार्यकारिणी को बनाती है और एक सीमा तक इसमें बड़ी कमज़ोरियाँ आ जाती हैं जो निर्वाचित सभा के शासन में पाई जाती हैं'।[3] इधर डाइसी कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका के अधीन दिखाता है उधर लास्की का कथन है कि अंग्रेजी प्रणाली में शक्तिशाली कार्यकारिणी के कठोर शासन की सम्भावना है। उसका कथन है कि वास्तव में यह कार्यकारिणी को कठोर शासन का अवसर देती है। यदि यह चाहे तो छोटे-मोटे प्रश्न को भी महत्वपूर्ण बना सकती है और इससे केवल दो ही मार्ग सामने आते हैं। पहिले या तो समर्थन मिलना चाहिये जो पूरा मिलता नहीं और दूसरा यह कि पार्लिमेंट भंग कर दी जाय जो

१—ब्राइस-मॉडर्न डेमोक्रेसीज़ जि० २, पृ० ५१२

२—अधिक विवरण के लिये ब्राइस-मॉडर्न डेमोक्रेसीज़ पृ० ५१२ पढ़िये।

३—डाइसी—लॉ ऑफ़ दि कान्स्टीट्यूशन, पृ० ४८१

असुविधाजनक होगा। इस प्रकार यह वादविवाद को महत्त्वशून्य बना देती है क्योंकि पदासीन दल के अनुशासन को क़ायम रखने के लिये सदस्य आलोचना नहीं करते और इस कारण कि दल में वैमनस्य न उत्पन्न हो जाय, समर्थन करते हैं। दूसरे एक अकेला सदस्य शक्तिशाली कार्यकारिणी के सामने कोई क़ानून का प्रस्ताव नहीं रख सकता, वह बिल्कुल शून्य रहता है। हाँ वह विरोध करके कुछ महत्व प्राप्त कर सकता है। उसके विरोध से विरोधी दल अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकता है और इस प्रकार व्यवस्थापिका की वही दशा होगी जो मि० लायड जार्ज के समय थी अर्थात् वह निर्णयों को लेख बद्ध कर लेने वाला शासन का एक अंग होगा और आलोचना अथवा संशोधन करने में असमर्थ रहेगी'।[१]

चौथे, मन्त्रिमण्डल इस डर से कि कहीं वह पदच्युत न कर दिया जाय या उसका प्रभुत्व न चला जाय लोकसभा को खुश करने का प्रयत्न करता है। इस डर के कारण वह राष्ट्र की आवश्यकताओं की अपेक्षा सदस्यों की सनकों का ध्यान रखता है। अतः अधिकतर योजनायें इसलिये तैयार की जाती हैं कि शासन-कार्य चलता जाय न कि देश की समस्यायें सुलझ जायँ।[२]

पाँचवें, सिजविक (Sidgwick) ने संकेत किया है कि इस प्रणाली में मन्त्री लोग कुछ क़ानून पास कराने के लिये वचन-बद्ध रहते हैं। इसलिये उन्हें अपने कार्यों की उपेक्षा करनी पड़ती है और पार्लिमेंट सामयिक शासन-प्रबन्ध में दिलचस्पी लेने के कारण क़ानून बनाने के कर्तव्य को भूल जाता है। इस प्रकार यह परराष्ट्र नीति में भी हस्तक्षेप कर सकती है जिसकी जानकारी इसे बिल्कुल नहीं रहती।

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पोलिटिक्स, पृ० ३४७। इसके अतिरिक्त कार्यकारिणी अथवा व्यवस्थापिका के प्रभुत्व के लिये ब्राइस कृत 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़', जि० २ पृ० ५१२-१३ भी पढ़िये। विशेषकर इस वाक्य पर ध्यान दीजिये: 'एक आश्रित मंत्रिमण्डल राष्ट्र के सम्मान को खो देता है क्योंकि शक्तिशाली व्यवस्थापिका की महत्ता कम कर देता है।' व्यवस्थापिका की महत्ता की यह कमी विशेषतः अंग्रेज़ी कामनसभा में देखी गई है। गार्नर का कथन है कि 'यह इतनी बड़ी सभा है कि संभाली नहीं जा सकती और एक बड़े पैमाने पर कोई महत्त्वपूर्ण वादविवाद नहीं हो सकता। व्यवस्थापिका के स्थान पर मन्त्रिमण्डल की शक्ति बढ़ी है।' इसीलिये कहा गया है कि मन्त्रिमण्डल प्रणाली में 'एक व्यक्ति और कुछ व्यक्तियों के समुदाय की तानाशाही, उस सीमा तक है जिस सीमा तक पार्लिमेन्ट ने उन व्यक्तियों के समुदाय को अपना नेतृत्व दे दिया है जिन पर वह विश्वास करती है।' परन्तु लोवेल ने इस आलोचना को ठीक नहीं माना। उसका कहना है कि यदि 'सभात्मक प्रणाली ने मन्त्रिमण्डल को स्वेच्छाचारी बना दिया है तो यह स्वेच्छाचारिता सब के जानते हुये और आलोचित होते हुये क़ायम है।'

२—देखिये डाइसी कृत 'लॉ ऑफ़ दि कान्स्टीट्यूशन,' पृ० ४८४ और ब्राइस कृत 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़', जि० २, पृ० ५१३।

छठवें, यह समझा गया है कि शासन का सभात्मक रूप चूँकि एक समिति द्वारा परिचालित शासन है इसलिये यह कमज़ोर होता है; मत-निर्णय देर में होता है और युद्ध के समय तो शासन की नीति अनिश्चित-सी रहती है। यह राष्ट्र के संकट-काल का सामना सरलता तथा होशियारी से नहीं कर सकता। गिलक्राइस्ट का भी कहना है कि 'मंत्रिमंडल में वाद-विवाद के कारण व्यर्थ में बहुत सा समय बरबाद हो जाता है। युद्ध के समय में (१६१४-१८) युद्ध के संचालकों को बहुत समय और शक्ति व्यवस्थापिका के सदस्यों की शंकाओं को दूर करने में खर्च करना पड़ा था। शान्ति-काल में वादविवाद तो अवश्य हितकर है परन्तु युद्ध काल में अत्यन्त अहितकर है। अमरीका के संयुक्त राज्य में जो अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली है वह युद्ध-काल में चाहे जितनी लाभदायक हो परन्तु शान्ति काल में अधिक हितकर नहीं है। संक्षेप में, शान्ति काल में इंगलैंड की मंत्रिमंडल प्रणाली का अध्यक्षात्मक प्रणाली से मुक़ाबिला किया जा सकता है परन्तु युद्ध-काल में नहीं[1]'। गिलक्राइस्ट की यह तुलना चाहे १६१४-१८ के युद्ध के संबंध में ठीक निकली हो परन्तु १६३६-४५ के युद्ध में जब जापान, इंगलैंड और अमरीका दोनों पर सुदूर पूर्व में आक्रमण करके जर्मनी और इटली से सन् १६४१ में मिल गया था तब बिल्कुल इसके विरुद्ध अनुभव प्राप्त हुआ था जब कि प्रधानमंत्री चर्चिल ने तुरन्त युद्ध की घोषणा कर दी थी अमरीका के अध्यक्ष को घोषणा करने में छः दिन लगे थे क्योंकि कांग्रेस का अधिवेशन नहीं हुआ था जिसमें वह निर्णय कर सकती। प्रो० विलोबी का भी ऐसा ही विचार मालूम पड़ता है। उनका कथन है कि 'अध्यक्षात्मक शासन संकट-काल को टालने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का एक ही समय प्रयोग करने में असमर्थ रहता है। यदि कार्य-नीति में एकरूपता आती भी है तो बड़ी कठिनाई और देरी के बाद। अमरीकी संयुक्त राज्य में अध्यक्ष को युद्धाधिकार देने से ही एक महान युद्ध में एक सीमा तक ही सफल रूप से कार्य चल सका है। संक्षेप में वह शासन जिसमें विधानानुसार सभी अधिकार एक ही शक्ति के हाथ में रहते हैं, बिना किसी रुकावट के किसी भी खतरे का सामना स्वतंत्रता के साथ कर सकता है परन्तु जिसमें विधान के अनुसार अधिकार-विभाजन है उसमें क़रीब-क़रीब हाथ बंधे से रहते हैं[2]।'

सातवें, मन्त्रिमण्डल द्वारा संचालित शासन पक्षपाती कहा गया है क्योंकि इसका आधार एक दल है। और उसी दल के प्रभुत्व को क़ायम रखने के लिये तथा उसी की सफलता तथा नाम के लिये यह सतत प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार दल के हित के सामने राष्ट्र के हित की उपेक्षा कर दी जाती है और अच्छे अथवा बुरे सभी उपायों से ऐसे शासन की रक्षा की जाती है।

आठवें, आलोचकों का कथन है कि मन्त्रिमण्डल-प्रणाली तभी सफल हो सकती है जब देश में केवल दो राजनीतिक दल हों। क्योंकि कई दल हो जाने से व्यवस्थापिका में

१—गिलक्राइस्ट—प्रिन्सिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस, पृ० २४५-४६।

२—विलोबी—दि गवर्नमेंट ऑफ़ माडर्न स्टेट्स, पृ० २६०

कई समुदाय बन जाते हैं। और वे केवल अस्थायी उद्देश्यों के लिये मिलते हैं और फिर अलग हो जाते हैं। इससे मन्त्रिमण्डल शक्तिशाली और चिरस्थायी नहीं हो सकता और शासन-नीति में समरूपता और योग्यता का अभाव रहता है। ब्राइस का कथन है कि 'इंगलैंड में मन्त्रिमण्डल-प्रणाली का जन्म उस समय हुआ था जब वहाँ केवल दो दल थे। परन्तु जब सन् १८७६ और १९०६ के बीच तीसरे और कुछ दिनों बाद चौथे का का जन्म हुआ तो तब यह प्रणाली कम सफल हुई। यही बात सन् १९०० के बाद आस्ट्रेलिया में हुई; तत्पश्चात् दक्षिणी अफ्रीका में हुई और अब कनाडा में हो रही है। फ्रांस में तो कुछ समय पहले बिना कुछ दलों को सम्मिलित किये हुये कोई मन्त्रिमण्डल काम नहीं कर पाता था। कई दलों के सम्मिलित होने से धारासभा में बहुमत प्राप्त हो जाता था। दलों के मेल रासायनिक-कथित अस्थिर मिश्रण के समान हैं, क्योंकि जब वे अलग हो जाते हैं तो मंत्रिमंडल समाप्त हो जाता है[1]।

अन्त में, इस प्रणाली में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका में सामंजस्य होने के कारण शासन-कार्य में जो शीघ्रता होती है वह संकट-काल में सब से बड़ा दोष हो सकती है। क्योंकि मंत्रिमंडल के लिये ऐसे अवसर में जोश में आकर बिना पूरी तौर सोचे निर्णय कर लेना संभव है। और ऐसी दशा में यदि एक बार निर्णय हो गया तो फिर पीछे जाना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार बिना परिणाम को सोचे हुये, बिना किसी तर्क या दूर दृष्टि के अविवेकी मनुष्यों की भाँति काम होगा[2]।'

अध्यक्षात्मक प्रणाली के गुण

सभात्मक प्रणाली के गुण-दोष का अध्ययन करने के पश्चात् अब अध्यक्षात्मक प्रणाली का गुण-दोष निरूपण करेंगे। इस संबंध में डाइसी का कथन है कि 'असभात्मक कार्यकारिणी के गुण-दोष सभात्मक कार्यकारिणी के गुण-दोष के बिल्कुल उल्टे हैं। शासन का एक रूप जहाँ मजबूत है वहाँ दूसरा कमजोर है[3]।'

सर्व प्रथम शासन का अध्यक्षात्मक रूप (जिसके अन्तर्गत असभात्मक है) काफी स्वतंत्र होता है। अंग्रेजी अर्थ में अमरीका का अध्यक्ष कांग्रेस के अधीन नहीं है। वह किसी भी प्रश्न के संबंध में अपनी एक स्वतंत्र नीति अख्तियार कर सकता है, यहाँ तक कि यह कांग्रेस की नीति के विरुद्ध भी हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि अध्यक्ष अपनी नीति पर दृढ़ रह सकता है चाहे कुछ समय के लिये केवल व्यवस्थापिका ही नहीं वरन् निर्वाचक भी नाराज हो जायँ। डाइसी का कथन है कि प्रशा के राजा तथा बिस्मार्क ही ने जर्मनी में ऐसा करके राष्ट्र को लाभ नहीं पहुँचाया वरन् अध्यक्ष लिंकन ने भी समय की प्रवृत्ति की परवाह न करके अपनी नीति का अनुसरण करके देश को असंख्य लाभ पहुँचायें।

१—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जि० २, पृ० ५१३-१४।

२—वही, पृ० ५१४ समानमत और अध्याय के लिये।

३—डाइसी—लॉ ऑफ़ दि कान्स्टीट्यूशन, पृ० ४८४=८५।

दूसरे, यद्यपि शासन के अध्यक्षात्मक रूप में भी दलबन्दी पैदा हो सकती है जैसा कि अमरीकी संयुक्त राज्य में हुआ है और इसमें निर्वाचनों के समय देश में हलचल भी हो सकती है परन्तु इसमें ऐसे विरोधी दल का अभाव रहता है जो केवल विरोधार्थ विरोध करता है। व्यवस्थापिका अपने बहुतम से मंत्रियों को जब चाहे नहीं निकाल सकती। इसलिये अमरीकी प्रणाली में काफ़ी स्थिरता और नीति में अविच्छिन्नता रहती है। मंत्री व्यवस्थापिका की इच्छा पर नहीं जीते।

तीसरे, अध्यक्षात्मक प्रणाली में अध्यक्ष राष्ट्रपति समझा जाता है, केवल दल का नेता ही नहीं। इससे उसकी प्रतिष्ठा, वैभव तथा गौरव बढ़ जाता है और सभी उसके निर्णय और मार्ग-प्रदर्शन की ओर ताकते हैं। सभात्मक प्रणाली में प्रधान मंत्री बहुसंख्यक दल का केवल नेता होता है और उसका उत्थान-पतन उसके दल के उत्थान-पतन के साथ होता है। परन्तु अध्यक्ष, चाहे दल का नेता ही क्यों न हो, इस प्रकार नहीं निकला जा सकता। इसीलिये वह शक्ति शाली, स्वतंत्र और अपनी नीति में दृढ़ रहता है। आधुनिक काल में विल्सन और रूज़वेल्ट उसी प्रकार महान अध्यक्ष सिद्ध हुये हैं जिस प्रकार लायड जार्ज और चर्चिल महान् प्रधान मंत्री सिद्ध हुये हैं। परन्तु जहाँ लायड जार्ज और चर्चिल को मंत्रिमंडल को राय के अनुसार चलना पड़ा है वहाँ विल्सन और रूज़वेल्ट ने स्वतंत्रतापूर्वक अपनी नीति निर्धारित की थी और मंत्री उनके नौकरों के समान थे। इससे स्पष्ट है कि असभात्मक कार्यकारिणी का सभापति एक शक्तिशाली नीति का अनुसरण कर सकता है जबकि प्रधान मंत्री को केवल मंत्रिमंडल का ही ध्यान नहीं रखना पड़ता वरन् व्यवस्थापिका को भी साथ लेकर चलना पड़ता है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली के दोष

इन गुणों के साथ-साथ अध्यक्षात्मक प्रणाली में दोष भी हैं जो सभात्मक प्रणाली के गुण दिखाने से स्पष्ट हो सकते हैं।

सर्वप्रथम, विलोबी का कथन है कि इसमें उत्तरदायित्व और सत्ता कई अंगों में विभक्त रहते हैं। इन अंगों में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या बनी रहती है और आपस में दृढ़ सहयोग उत्पन्न होना बहुत कठिन रहता है। परिवर्तनशील होने के बजाय यह प्रणाली अपरिवर्तनशील होती है। शक्ति-विभाजन में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता जब तक कि विधान-निर्मात्री सत्ता को फिर न सूचित किया जाय जिसने पहिले शक्ति-विभाजन किया था। व्यवहार में विभिन्न शासन-अंगों के अधिकारों के मध्य झगड़े अवश्यम्भावी हैं और ये झगड़े कोई क़ानून पास करके नहीं दूर किये जा सकते। उनको केवल न्यायालय ही तय करते हैं और इनको विधान की शर्तों के अनुसार निर्णय देना पड़ता है। इसका फल यह होता है कि निर्णय शासन की केवल ऐसी ही शाखा नहीं करती है जिसका कि नीति और आवश्यकता से कुछ संबंध नहीं रहता है वरन् निर्णय ऐसा भी होता है जो आवश्यकताओं को नहीं पूरा करता और शासन तथा जनता की इच्छा के विरुद्ध पड़ता है। ऐसी दशा में केवल यही एक उपाय रहता है कि जटिल प्रणाली द्वारा विधान को संशोधित किया जाये[1]।

१. विलोबी—दि गवर्न्मेंट्स ऑफ़ मॉडर्न स्टेट्स, पृ० २५६-६०।

दूसरे, एसमीन महोदय का दावा है कि ऐसी शासन-प्रणाली में स्वेच्छाचरिता, अनुत्तरदायित्व और खतरा की आशंका है। स्वेच्छाचरिता इसलिये कि अध्यक्ष अपनी इच्छानुसार बिना अपने मंत्रियों से सलाह लिये शासन-कार्य जैसे चाहे चला सकता है; अनुत्तरदायित्व इसलिये कि व्यवस्थापिका उसको नहीं निकाल सकती और खतरा इसलिये कि उसको मनमानी करने से रोकने के लिये उससे जवाबतलब करने के समुचित साधन नहीं हैं।

तीसरे, चूंकि अध्यक्षात्मक प्रणाली में मंत्री व्यवस्थापिका में नहीं बैठ सकते इसलिये क़ानून बनाने के कार्य तथा शासन-कार्य में कोई गहरा संबंध नहीं रहता। इसमें व्यवस्थापिका शासन की आवश्यकताओं को नहीं समझ सकती। यहाँ तक कि उनकी उपेक्षा भी कर सकती है। परन्तु सभात्मक प्रणाली में ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि इसमें क़ानून मंत्रियों के ही नेतृत्व में बनते हैं। इस प्रकार अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यों और अधिकारों के अलग-अलग होने से व्यर्थ में झगड़े खड़े होते हैं[1]।

चौथे, चूंकि अध्यक्षात्मक-प्रणाली में अध्यक्ष अपने कार्य-क्षेत्र में सर्वेसर्वा होता है अतः शासन की सफलता अथवा असफलता उसकी योग्यता और अयोग्यता पर निर्भर है। यदि वह अपने चरित्र-बल और उच्च आदर्शों से राष्ट्र को ऊँचे उठा सकता है तो वह नौकरियाँ देकर[2] द्वारा तथा अपने पुनर्निर्वाचन के लिये कुनीति का अनुसरण करके उसको नीचे भी गिरा सकता है। अमरीकी संयुक्त राज्य में रूजवेल्ट के तृतीय बार अध्यक्ष चुने जाने से एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति को चार अवधियों तक अपना प्रभुत्व क़ायम रखने के लिये अपनी नीति को मोड़ने का अवसर मिल सकता है।

पाँचवें, सभात्मक प्रणाली में, अध्यक्षात्मक की अपेक्षा जनता के प्रति उत्तरदायित्व अधिक रहता है क्योंकि सभात्मक प्रणाली में मंत्रिमंडल व्यवस्थापिका पर दोषारोपण नहीं कर सकता। यदि इसको व्यवस्थापिका का समर्थन न प्राप्त हुआ तो या इसको भंग होना पड़ता है या इस्तीफ़ा देना पड़ता है और विरोधी दल उसका स्थान ग्रहण कर शासन-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व लेता है। परन्तु अध्यक्षात्मक प्रणाली में जब व्यवस्थापिका (कांग्रेस) अध्यक्ष की इच्छानुसार क़ानून बनाने में असमर्थ रहती है अथवा उसके विभागों की आर्थिक मांगों को ठुकरा देती है तभी इसका उत्तरदायित्व व्यवस्थापिका पर लादा जा सकता है। परन्तु यदि कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका एकमत नहीं हैं और अध्यक्ष 'प्रतिनिधि-सभा' में से नहीं है तो गतिरोध को दूर करने का कोई सरल उपाय नहीं है और पूरे शासन-प्रबन्ध को गहरा धक्का लगता है[3]।

१—ऐसी ही दलील के लिये ब्राइस कृत 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़', जि० २, पृ० ५१५ देखिये।

२—इस वैधानिक अवस्था के विशेष विवरण के लिये लास्की कृत 'ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स' पृ० ३००-४५ अवश्य पढ़ना चाहिये।

३—ब्राइस-मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जि० २, पृ० ५२१।

अन्त में, ब्राइस का कथन है कि औसत विस्तार वाले देशों को सभात्मक प्रणाली से बहुत लाभ हैं। और अध्यक्षात्मक प्रणाली जिसका उद्देश्य शासन-प्रबन्ध में शीघ्रता लाने की अपेक्षा अमंत्रणात्मक निर्णय को रोकना है, विस्तृत क्षेत्र तथा अधिक जनसंख्या वाले देश जैसे अमरीकी संयुक्त राज्य तथा जर्मनी के लिये अधिक उपयोगी हैं। अतः अध्यक्षात्मक प्रणाली का यह दोष है कि साधारण अवस्थाओं में यह अनुपयुक्त है।

सभात्मक और अध्यक्षात्मक शासन-प्रणालियों के अनुशीलन के पश्चात् हमें अभी स्विटजरलैंड और सोवियट रूस की शासन-प्रणालियों का अध्ययन करना है। क्योंकि ये बिल्कुल अलग हैं और उपरोक्त वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं।

१—स्विटज़रलैंड का प्रजातंत्र

हम स्विटज़रलैंड की शासन-प्रणाली से आरम्भ करेंगे। उपयुक्त नाम के अभाव के कारण मेरियट ने इसको 'सूचक प्रजातंत्र' (Referendal) कहना ठीक समझा है। उसके इस नाम से पुकारने का यह कारण है कि स्विटज़रलैंड में अब भी प्रत्यक्ष प्रजातंत्र है और 'नेतृत्व', 'सूचना' और 'वापसी' के तीन साधन उसमें सफलतापूर्वक कार्य सम्पादन कर रहे हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इस देश में प्रतिनिधि-प्रणाली नहीं है। मेरियट[1] का फिर कहना है कि 'यद्यपि स्विटज़रलैंड के प्रजातंत्र में कुछ अंश में प्रतिनिधि-प्रणाली है तथापि यह न सभात्मक है न अध्यक्षात्मक'। गार्नर[2] के शब्दों में इसमें 'दोनों की कुछ विशेषतायें साथ-साथ मिलती हैं'। स्ट्रांग[3] का कहना है कि इसमें 'सभात्मक और असभात्मक प्रणालियों के गुण तो हैं परन्तु इनके दोष नहीं हैं।' इसलिये यह ठीक ही कहा गया है कि स्विटज़रलैंड की शासन-प्रणाली स्वयं एक वर्ग है। यह बेजोड़ है और आधुनिक काल में सभी आवश्यक यंत्रों से सुसज्जित राजनीतिक प्रयोगशाला है।'

स्विटज़रलैंड की शासन-प्रणाली की असभात्मकता

यह सभात्मक नहीं है क्योंकि

(१) व्यवस्थापिका (संघ-सभा—Federal Assembly) कार्यकारिणी (संघ-समिति-Federal Council) को भंग नहीं कर सकती चाहे इसने उसके प्रस्तावित क़ानून भी न पास किये हों।

(२) मंत्री लोग केवल इस बिना पर, कि उनके प्रस्ताव व्यवस्थापिका ने नहीं माने, इस्तीफ़ा नहीं देते।

(३) इस बिना पर, कि जनता ने उसकी योजनाओं को नहीं स्वीकार किया, व्यवस्थापिका विसर्जित नहीं होती।

(४) यह भी आवश्यक नहीं है कि मंत्रिगण बहुसंख्यक दल का प्रतिनिधित्व करें।

फिर भी (क) 'संघ-समिति' का निर्वाचन व्यवस्थापिका साधारणतः अपने

१—स्ट्रांग-मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्स, जि० १, पृ० १०१।

२—गार्नर-पॉलिटिकल साइंस एन्ड गवर्न्मेंट, पृ० ३४४।

३—मेरियट-दि मेकेनिज़्म ऑफ़ दि मॉडर्न स्टेट, पृ० २४४।

सदस्यों में से ही करती है। इस प्रकार वह इसकी समिति के समान होती है; (ख) इन सदस्यों में से प्रत्येक राज्य के एक अथवा एक से अधिक विभागों का प्रधान होता है (ग) और वे व्यवस्थापिका में बैठ सकते हैं, प्रस्ताव रख सकते हैं, भाषण दे सकते हैं और यहाँ तक कि प्रश्नों का उत्तर भी दे सकते हैं (मत नहीं दे सकते)।

स्विटज़रलैंड की शासन-प्रणाली की अनध्यक्षात्मकता

यह अध्यक्षात्मक भी नहीं है क्योंकि

(१) स्विटज़रलैंड के संघराज्य का अध्यक्ष अमरीकी अर्थ में मुख्य कार्य-कर्ता के रूप में या राष्ट्र के प्रधान के रूप में नहीं होता। वह 'संघ-समिति' में अपने किसी भी सहकारी से बड़ा नहीं होता। वह जनता द्वारा निर्वाचित भी नहीं होता। वह समिति में सभापति के रूप में कार्य करने के लिये 'संघ-सभा' द्वारा केवल एक वर्ष के लिये चुना जाता है।

(२) सभात्मक शासन के मंत्रिमंडल की भाँति यद्यपि 'संघ-समिति' निर्वाचित होती है परन्तु यह अध्यक्षात्मक शासन के मन्त्रिमण्डल के अधिक निकट है क्योंकि इसको 'संघ-सभा' नहीं निकाल सकती।

२—सोवियत शासन-प्रणाली

स्विटज़रलैंड की शासन-प्रणाली की भाँति आधुनिक सोवियत रूस की शासन-प्रणाली भी बेजोड़ तथा स्वयं एक वर्ग है। रूस के सन् १६१८ वाले शासन-विधान के स्थान में सन् १६३६ वाले शासन-विधान की स्थापना की गई थी। इसकी अपनी अलग विशेषतायें हैं।

देश की सर्वप्रधान व्यवस्थापिका सत्ता 'प्रधान सभा' (Supreme Council) है। इसके दो अंग 'संघ-सभा' (Council of Union) और 'राष्ट्र-सभा' (Council of Nationalties) हैं। दोनों के क़ानून-निर्माणात्मक अधिकार एक से हैं और दोनों का निर्वाचन चार साल के लिये होता है। इनके अधिवेशन कराने का अधिकार 'सभापति-समिति' (Presidium) को है। इसमें सभापति को लेकर ३७ सदस्य होते हैं। यद्यपि 'सभापति-समिति' अपने सब कार्यों के लिये 'प्रधान सभा' के सामने उत्तरदायी है तथापि यह प्रचलित क़ानूनों की व्याख्या करती है, सुलह-कमीशन के निर्णय पर भी 'प्रधान सभा' के दोनों अंगों के एकमत न होने पर उसको भंग करती है, 'सूचना' का कार्य सम्पादित करती है, 'जन-प्रतिनिधि-परिषद्' (Council of People's Commissars) के निर्णयों और आदेशों को रद्द करता है, अपराधियों को क्षमा करती है, सशस्त्र सेना के सेनापति की नियुक्ति करती तथा उसको बदलती भी है, युद्ध की घोषणा करता है, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को स्वीकृति देती है और राजदूतों की नियुक्ति करती तथा उनको वापस करती है। इस प्रकार 'सभापति-समिति' को आधुनिक राज्य की कार्यकारिणी के क़रीब-क़रीब सभी अधिकार प्राप्त हैं और वास्तव

में जब 'प्रधान सभा' का अधिवेशन-काल नहीं रहता तब देश की यही प्रधान सत्ता रहती है।

इतना होते हुये भी यह देश की मुख्य कार्यकारिणी नहीं है। संघ की प्रधान कार्यकारिणी और प्रबन्धकारिणी 'जन-प्रतिनिधि-परिषद' है जो 'प्रधान सभा' के प्रति उत्तरदायी होती है। परन्तु व्यवहार में यह 'सभापति-समिति' से नियंत्रित रहती है। इस प्रकार 'सभापति-समिति' देश की वास्तविक सत्ता है।

सोवियत रूस के क़ानून-निर्माणात्मक और प्रबन्धात्मक अधिकारों के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि सोवियत शासन-प्रणाली न सभात्मक है और न अध्यक्षात्मक। परन्तु चूँकि जहाँ तक 'जन-प्रतिनिधि-परिषद', व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है वहाँ तक व्यवस्थापिका की प्रधानता क़ायम है। इसलिये इस शासन प्रणाली का झुकाव निश्चित रूप से सभात्मक प्रणाली की ओर है। इसकी 'सभापति-समिति' का स्थान आधुनिक शासन-विधानों में बेजोड़ है।

प्रधान मंत्री के नेतृत्व पर एक टिप्पणी

प्रधान मंत्री के नेतृत्व का यह अर्थ लगाया गया है कि प्रधान मंत्री समकक्षियों में केवल सर्व प्रथम है।

रामजे म्योर का विचार

रामजे म्योर की राय है कि यह 'वाक्यांश निरर्थक है जबकि इसका प्रयोग ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति के लिये किया जाता है जो अपने सहकारियों को नियुक्त करता है और उनको अलग भी कर सकता है' और जो बहुमत द्वारा ऐसे कार्य कर सकता है जिन्हें अमरीकी संयुक्त राज्य का अध्यक्ष भी नहीं कर सकता। (पूर्ण अध्ययन के लिये 'हाउ ब्रिटेन इज गवर्न्ड' ? पृ० ८३ देखिये)

जेनिंग्स का विचार

इसी प्रकार डा० जेनिंग्स अपनी पुस्तक 'ब्रिटिश कान्स्टीट्य शन' के पृष्ठ १५८ में कहते हैं कि 'साधारणतः लोग उसको मंत्रिमंडल में समकक्षियों में प्रथम समझते हैं परन्तु यह बात सत्य से बहुत दूर है'। वह मंत्रियों को चुनता है और उनमें से किसी को इस्तीफा देने पर बाध्य कर सकता है। जैसा चाहे वैसा वह मंत्रियों में हेर-फेर कर सकता है। केवल वही निश्चित करता है कि पार्लिमेंट कब विसर्जित होगी।

लास्की का विचार

लास्की महोदय भी अपनी पुस्तक 'द पार्लिमेंटरी गवर्न्मेंट इन इंगलैंड' के पृष्ठ २२६ में ऐसे ही जोरदार शब्दों में लिखते हैं कि 'अंग्रेजी प्रधान मंत्री समकक्षियों में प्रथम होने के अतिरिक्त और कुछ अधिक है परन्तु स्वेच्छाचारी नहीं है। क्योंकि उसकी सत्ता का आधार जबरदस्ती नहीं वरन् विश्वास है।

वेड का विचार

परन्तु वेड ने डाइसी की पुस्तक 'लॉ आफ दि कान्स्टीट्य शन' (१६३६ संस्करण) की भूमिका में प्रधान मंत्री के स्थान को स्पष्ट कर दिया है। उसका कथन है 'कि अब प्रधान मंत्री का स्थान समकक्षियों में प्रथम नहीं रहा। हाल ही में उसमें परिवर्तन हुआ है। मंत्रि-कार्यालय की स्थापना से पहिले की अपेक्षा इस समय प्रधान मन्त्री अधिक उच्च स्थान ग्रहण किये हुये हैं। क्योंकि वह ऐसे मण्डल का सभापति है जिसके निर्णय मन्त्रियों के द्वारा कार्यरूप में परिणित किये जाते हैं। और ये मन्त्री शासन-विभागों के प्रधान होते हैं जिनको निर्णयों के तामील कराने का अधिकार दिया जाता है। इसके पहिले मन्त्री लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार मंत्रिमण्डल के निर्णयों की व्याख्या करके अपने विभागों में इनको कार्यान्वित करते थे। अब मन्त्रि-कार्यालय में प्रधान-मन्त्री के द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों की संख्या बढ़ गई है। इसलिये इससे उसकी राजनैतिक

महत्ता और बढ़ गई है। मन्त्रि-कार्यालय के छोटे पदों में प्रधान मन्त्री ही नियुक्तियाँ करता है विभाग का अध्यक्ष-मन्त्री नहीं। इधर के सभी प्रधान मन्त्री 'कोष का प्रथम लार्ड' (First Lord of the Treasury) के पद पर आसीन रहे हैं जिससे स्वभावतः उनको इस विभाग का प्रबन्ध करने का अधिकार रहा है। वह 'नागरिक सेवा' (सिविल सर्विस) का बिना ताज का प्रधान है और वह, 'कोष के स्थायी सचिव, से परामर्श करके 'प्रथम लार्ड' की हैसियत से विभागों के उच्च पदों की नियुक्तियों की स्वीकृति सन १९२० से देता रहा है। परन्तु प्रधान मन्त्री के प्रभुत्व का विशेष कारण यह है कि मताधिकार के विस्तार से वह क़रीब-क़रीब पूर्णरूप से जनता का स्वीकार किया हुआ नेता हो गया है। सन् १९२३ में जार्ज पंचम ने लार्ड कर्जन के स्थान पर बाल्डविन को चुना था। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री को कामन-सभा का सदस्य होना चाहिये। इस प्रकार व्यवहार में वह लोक-सभा का नेता होता है। यद्यपि वह दैनिक कार्य के लिए अपने अधिकार किसी सहकारी को सौंप सकता है। चूँकि कामन-सभा का बहुमत उस अकेले राजनीतिज्ञ की नीति का समर्थन करता है इसलिये राजा, सहकारियों तथा अपने समर्थकों से उसके सम्बन्ध १८वीं और १९वीं शताब्दी के मुख्य मन्त्री के सम्बन्धों से बिल्कुल भिन्न हैं।

समकक्षियों में प्रथम का केवल एक उदाहरण

मेरा विचार है कि आधुनिक शासनों के प्रधानों में केवल स्विटज़रलैंड का 'अध्यक्ष' समकक्षियों में प्रथम कहा जा सकता है। आर० सी० ब्रुक्स अपनी पुस्तक 'गवर्न्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स ऑफ़ स्विटज़रलैंड' में कहते हैं कि प्रत्येक वर्ष 'संघ-सभा', 'संघ-समिति' के एक सदस्य को इसीके सभापति का स्थान ग्रहण करने के लिये चुनती है। इस बिना पर वह 'संघीय-अध्यक्ष' कहा जाता है। 'संघ-समिति' के सभापतित्व के अतिरिक्त उसके हाथ में कोई महत्वपूर्ण अधिकार नहीं हैं। जो हैं भी वे सहकारियों के भी हाथों में हैं। (पूर्ण टीका के लिये पृ० १०७-११० देखिये)।

—:—

सातवाँ अध्याय

व्यवस्थापिका

क़ानून-निर्मात्री संस्थायें

हमने पिछले अध्याय में संकेत किया था कि कार्यानुसार राज्य के तीन विभाग, कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका तथा न्यायकारिणी होते हैं। इनमें से पहले का कार्य क़ानून बनाना, दूसरे का उसे लागू करना और तीसरे का उसकी व्याख्या करना है। परन्तु हम यह जानते हैं कि आधुनिक राज्य नगर-राज्य की भाँति इतना छोटा नहीं होता जिसमें लोग स्वयं एक शुद्ध प्रजातंत्र की भाँति उपस्थित होकर क़ानून बनाने का कार्य करें। हम लोग विस्तृत-देशीय राज्यों में रहते हैं। इसलिये सभी नागरिकों को एक स्थान में स्वयं उपस्थित होना असम्भव है। इसलिये 'प्रतिनिधि प्रजातन्त्र' का निर्माण किया गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि क़ानून बनाने वाली हमारी संस्थायें सम्पूर्ण नागरिकों की सभायें नहीं रहीं; उनमें जनता के केवल सुयोग्य प्रतिनिधि रहते हैं। भिन्न-भिन्न देशों में इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। इंगलैंड में 'पार्लिमेंट', फ्रान्स में 'नेशनल एसेम्बली' अमरीका में 'कांग्रेस' और जापान में 'इम्पीरियल डाइट' कहते हैं।

इंगलैंड का राजा और पार्लिमेंट

आरम्भ में सभी देशों में राजा लोग क़ानून बनाते थे और उनके कर्मचारी उनको लागू करते तथा उनकी व्याख्या करते थे। परन्तु इंगलैंड में जैसा कि हम पहले देख चुके हैं राजा ने 'जन-सभा' (Folk-moot) 'बुद्धिमान-सभा' (Witenage mote) अथवा 'महासभा' (Great Council) के परामर्श और उनकी स्वीकृति के बिना कोई काम नहीं किया। इसका यह अर्थ है कि इंगलैंड में क़ानून बनाने का कार्य सदैव बड़े-बूढ़े, बुद्धिमान अथवा अर्ल, बैरन तथा सरदारों की प्रतिनिधि सभा (पार्लिमेंट) द्वारा किया जाता था। कालान्तर में पार्लिमेंट ने अपना नवीन रूप ग्रहण किया और उसका अधिवेशन दो पृथक सभाओं में होने लगा। वे थीं लार्ड-सभा और कामन-सभा। वैसे तो अंग्रेजी राजाओं ने कई बार स्वेच्छानुसार शासन करने का प्रयत्न किया था परन्तु पार्लिमेंट ने उनको अपने परामर्श और अपनी स्वीकृति के अनुसार चलने पर बाध्य किया। सन् १६८८ में 'गौरवपूर्ण राज्य-क्रान्ति' ने 'सत्ता' की समस्या को पार्लिमेंट के पक्ष में हल कर दिया और तब से पार्लिमेंट की सत्ता प्रधान रही है।

पार्लिमेंट का अर्थ

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इंगलैंड में जब पार्लिमेंट क़ानून बनाती है उस समय राजा को उससे अलग नहीं समझा जाता। जब पार्लिमेन्ट की दोनों सभायें क़ानून पास कर देती हैं तब वह राजा के पास उसकी स्वीकृति अथवा उसके हस्ताक्षर के लिये

भेजा जाता है। डाइसी के शब्दों में इन तीनों संस्थाओं को एक साथ 'राजा युक्त पार्लिमेंट' (King-in-Parliament) कहा जा सकता है और इन्हीं से मिल कर पार्लिमेंट बनती है।[1]

पार्लिमेंट की सत्ता की विशेषता

अंग्रेजी पार्लिमेंट पूर्ण स्वतंत्र व्यवस्थापिका है। डाइसी का कथन है कि 'पार्लिमेंटीय सत्ता के सिद्धान्त का यह अर्थ है कि इस प्रकार की पार्लिमेंट अंग्रेजी शासन-विधान के अनुसार कोई भी क़ानून बना सकती है और किसी भी क़ानून को रद्द कर सकती है; इसके अतिरिक्त इंगलैंड के क़ानून के अनुसार किसी भी व्यक्ति को पार्लिमेंट के क़ानून को रद्द करने का अधिकार नहीं है।'[2] इस प्रकार इस सिद्धान्त में तीन वस्तुयें सम्मिलित हैं :

(१) ऐसा कोई क़ानून नहीं है जिसे पार्लिमेंट न बना सकती हो;

(२) राज्यान्तर्गत ऐसा कोई क़ानून नहीं है जिसे पार्लिमेंट रद्द अथवा संशोधित न कर सकती हो और

(३) उसके लिये अंग्रेजी-शासन विधान के अन्तर्गत मौलिक अथवा वैधानिक तथा अवैधानिक क़ानूनों के बीच कोई स्पष्ट अथवा निश्चित सीमा नहीं है।

(१) पार्लिमेंट सभी क़ानून बना सकती है।

इसका यह अर्थ है कि पार्लिमेंट के क़ानून बनाने का अधिकार असीमित है। सर एडवर्ड कोक (Sir Edward Coke) के अनुसार 'पार्लिमेंट की शक्ति और उसका अधिकार-क्षेत्र दोनों इतने विस्तृत और अनियंत्रित हैं कि ये किसी भी तरह सीमित नहीं किये जा सकते।.........इसको हर तरह के क़ानूनों को बनाने, अनुमोदन करने, विस्तृत करने, सीमित करने, रद्द करने और फिर से लागू करने का पूर्ण अधिकार है। इन क़ानूनों में धार्मिक, साधारण, नागरिक, सैनिक, सामुद्रिक, अपराधात्मक इत्यादि आ सकते हैं।.....सभी अपराध, सुधार तथा माँगें जो साधारण क़ानून से परे हैं इस अद्भुत न्यायालय की पहुँच के भीतर हैं। यह राज्य के उत्तराधिकार को निश्चित कर सकती है जैसा कि इसने हेनरी सप्तम और विलियम तृतीय के राज्य काल में किया था। यह देश के स्थापित-धर्म को बदल सकती है जैसा कि हेनरी अष्टम और उसकी तीन सन्तानों के राज्य-काल में किया था। यह राज्य के विधान तथा अपने विधान को बदल सकती है या नया बना सकती है जैसा कि इसने 'संयोग-क़ानून' (Union Act) तथा त्रैवार्षिक और सप्तवार्षिक निर्वाचन के क़ानूनों द्वारा किया था। संक्षेप में यह सभी संभव कार्य कर सकती है और इसीलिये बहुतों ने इसकी शक्ति को 'पार्लिमेंट की सर्वशक्तिमत्ता' कहा है। यह सच है कि जो

१—डाइसी-लॉ ऑफ़ दि कान्स्टीट्यूशन (१९२०), पृ० ३७

२—वही-पृ० ३७-३८

इस अध्याय में उल्लिखित डाइसी के विचारों के लिये पृ० १८-३७ और प्रथम तथा द्वितीय अध्याय देखिये।

कुछ पार्लिमेंट करती है उसको पृथ्वी पर की कोई शक्ति नहीं रद्द कर सकती।'[1] इसी विचार को डा लोम महोदय (De Lolme) ने भी कहावत के रूप में प्रकट किया है कि 'अंग्रेजी वकीलों का सिद्धान्त है कि पार्लिमेंट सब कुछ कर सकती है केवल स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्यायालयों को पार्लिमेंट के बनाये हुए क़ानूनों को लागू करना आवश्यक है और वे पार्लिमेंट के बनाये हुए किसी क़ानून को रद्द नहीं कर सकते। पार्लिमेंट यदि चाहे तो राजा को हटा सकती है और इंगलैंड को जनतंत्रात्मक राज्य घोषित कर सकती है। यह ऐसा भी क़ानून बना सकती है जिसके द्वारा अपने को स्थायी घोषित कर दे। इसीलिये योग्य आलोचकों ने कहा है कि इंगलैंड में पार्लिमेंट की सर्वशक्तिमत्ता का यह अर्थ है कि देश पार्लिमेंट की योग्यता के साथ जीवित रहेगा नहीं तो मृत्यु को प्राप्त होगा। यदि यह भ्रष्ट होगी तो अंग्रेजी स्वतंत्रता का नाश होगा। अतः इंगलैंड का पतन इसकी पार्लिमेंट के द्वारा सरलता से हो सकता है।

(२) पार्लिमेंट सभी क़ानून रद्द कर सकती है।

इसका अर्थ यह है कि इंगलैंड में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो पार्लिमेंट की शक्ति के साथ प्रतियोगिता कर सके। पार्लिमेंट क़ानून बनाने का उत्तरदायित्व 'प्रान्तीय सभा' (County Council) को सौंप सकती है और यदि चाहती है तो न्यायाधीशों के द्वारा बनाये हुये क़ानूनों में भी हस्तक्षेप नहीं करती। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह इनको संशोधित या रद्द नहीं कर सकती। न राजा, न पार्लिमेंट की कोई सभा अपने प्रस्ताव द्वारा और न कोई न्यायालय अपने निर्णय द्वारा ऐसे क़ानून बना सकता है जो पार्लिमेंटीय क़ानून को रद्द कर सकें। इस प्रकार क़ानून रद्द करने की सर्वोच्च सत्ता केवल पार्लिमेंट

१—जेनिंग्स महोदय अपनी पुस्तक 'पार्लिमेंट' के प्रथम पृष्ठ में लिखते हैं कि 'सभी व्यक्ति, सभी स्थान और सभी वस्तुयें पार्लिमेंट की क़ानून बनाने की शक्ति की पहुँच के भीतर हैं।' परन्तु सन् १६३१ में 'वेस्टमिनिस्टर-विधान' की चौथी धारा में इसने घोषित किया था कि पार्लिमेंट का कोई भी क़ानून 'न डोमीनियन में लागू होगा और न डोमीनियन का समझा जायगा जब तक कि स्वयं डोमीनियन के क़ानून द्वारा इसके लिये प्रार्थना न की गई हो अथवा स्वीकृति न दी गई हो'। इस प्रकार सभी स्थान पार्लिमेंट की सत्ता के अन्तर्गत नहीं आते। परन्तु कोक का कहना है कि यदि एक पार्लिमेंट कोई ऐसा क़ानून पास करती है तो उसके बाद आने वाली पार्लिमेंट को उसको मानने या न मानने का अधिकार है, अर्थात् पार्लिमेंट की सत्ता को इसीके क़ानून नहीं सीमित कर सकते। परन्तु यह कथन वास्तविकता से दूर है। यह केवल सैद्धान्तिक है क्योंकि जेनिंग्स ने दूसरे पृष्ठ में स्पष्ट कर दिया है कि स्वतंत्र आयरलैंड और दक्षिणी अफ्रीका के न्यायाधीश चौथी धारा की व्याख्या इस प्रकार करेंगे कि यह पार्लिमेंट की सत्ता को सीमित करती है। इसके अतिरिक्त उसका कथन है कि 'न्याय समिति' (Judicial Committee) का निर्णय भी इसके प्रतिकूल न होगा।'

ही है। राज्य के अन्तर्गत कोई अन्य संस्था क़ानून बनाने की इस शक्तिमत्ता को नहीं प्राप्त कर सकती।

पार्लिमेंटीय सर्वशक्तिमत्ता पर नियंत्रण

यद्यपि हम पार्लिमेंट की सर्वशक्तिमत्ता का उल्लेख करते हैं परन्तु व्यावहारिक जीवन में इसका यह अर्थ नहीं है कि यह असंगत कार्य भी कर सकती है या करेगी। यह कभी नैतिकता, कभी सामाजिक परिस्थितियों और बहुधा विद्रोह के भय से नियंत्रित रहती है। परन्तु ये सब वास्तविक नियंत्रण हैं। ये क़ानूनी नियंत्रण नहीं हैं। पार्लिमेंट की सैद्धान्तिक सर्वशक्तिमत्ता के विषय में लीसले स्टीफ़ेन (Leslie Stephen) का कथन है कि जहाँ तक क़ानून का अर्थ व्यवस्थापिका द्वारा बनाये हुये किसी नियम से है, यह जो क़ानून चाहे बना सकती है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका की शक्ति वास्तव में अत्यन्त सीमित है। यह भीतर और बाहर दोनों ओर से सीमित है। भीतर से इसलिये कि क़ानून विशेष सामाजिक परिस्थिति के प्रभाव का परिणाम होता है; समाज के दृष्टिकोण का परिणाम होता है। बाहर से इसलिये कि क़ानून को लागू करने की शक्ति पालन करने की प्रवृत्ति के अधीन है और यह प्रवृत्ति स्वयं सीमित है। यदि कोई व्यवस्थापिका यह निश्चत करती है कि नीली आँखों वाले सभी बच्चे क़त्ल कर दिये जायें तो नीली आँखों वाले बच्चों को रखना ग़ैरक़ानूनी होगा; परन्तु ऐसा क़ानून बनाने के पहिले व्यवस्थापकों को पागल होना पड़ेगा और ऐसे क़ानूनों को पालन करने के पहिले जनता को मूर्ख होना पड़ेगा।[१]

राम्ज़े म्योर की आलोचना

आधुनिक काल में राम्ज़े म्योर[२] ऐसे लेखक पार्लिमेंट की सर्वशक्तिमत्ता को नहीं स्वीकार करते। उसका विचार है कि यह कहना मूर्खता है कि पार्लिमेंट मंत्रिमण्डल को अपने अधिकार में रखती है। वास्तविकता तो यह है मंत्रिमंडल पूर्ण रूप से पार्लिमेंट को अपने अधिकार में रखता है केवल उस समय को छोड़ कर जब इसे स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त रहता। इसका अर्थ यह है कि पार्लिमेंट की सर्वशक्तिमत्ता का स्थान मंत्रिमंडल की सर्वशक्तिमत्ता अथवा तानाशाही ने ले लिया है और अब पार्लिमेंट मंत्रिमंडल के इशारे पर नाचती है। सर्वप्रथम, मंत्रिमंडल ने राजा के सभी विशेषाधिकारों को हस्तगत कर लिया है क्योंकि यद्यपि सिद्धान्त में राजा सभी नियुक्तियां करता है; सभी क़ानून बनाता और सभी कर लगाता है; वह न्याय का उद्गम स्थान समझा जाता है परन्तु वास्तव में ये सब कार्य उसके मंत्रियों की राय से होते हैं। दूसरे, कामन-सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होने से पार्लिमेंट की सम्पूर्ण शक्ति मंत्रिमंडल के हाथ में रहती है। क्योंकि यही उसके अंग

१—लीसले स्टीफ़ेन—साइंस ऑफ़ एथिक्स, पृ० १४३

२—राज़े म्योर—हाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड ? (भूमिका और प्रथम तथा द्वितीय अध्याय)

करने की राय देता है और अपने दल द्वारा इसको अपने अधिकार में रखता है। अतः पार्लिमेंट या तो एक 'निर्वाचन-यंत्र' रह गई है जिसके द्वारा निर्वाचक बहुसंख्यक दल को अधिकार सौंप देते हैं या परामर्श दात्री सभा रह गई है जो देश के दृष्टिकोण को समझने में बहुसंख्यक दल को सहायता देती है। तीसरे, मंत्रिमंडल न्यायाधीशों पर भी नियंत्रण रखता है क्योंकि यदि इनके निर्णय इसकी पसन्द के खिलाफ़ हुये तो उनको पार्लिमेंट के क़ानून द्वारा उलट देता है।

राम्जे म्योर के अनुसार मंत्रिमंडल चार कार्य करता है :—

(१) नियुक्ति-अधिकार के अनुसार राज्य के उच्च अधिकारियों को नियुक्त करता है जैसे चर्च के डीन, न्यायाधीश, अपील-लार्ड, भारत का वायसराय, भूमि, जल तथा वायु-सेना के प्रधान सेनापति, राजदूत इत्यादि। यदि विरोधी दल किसी विशेष ग़लती की ओर ध्यान नहीं दिलाता तो इनमें पार्लिमेंट हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

(२) शासन-प्रबन्ध में अर्थात् शिक्षा, पुलीस, स्वास्थ्य, सफ़ाई इत्यादि के मामले में भी पार्लिमेंट की राय मंत्रिमंडल नहीं लेता। सिद्धान्त में यह प्रश्न कर सकती है और किसी भी मंत्री को निकाल सकती है परन्तु व्यवहार रूप में यह मंत्रिमंडल के कार्य को बहुत कम जानती है।

(३) क़ानून-निर्माण के समय भी पार्लिमेंट मंत्रिमंडल द्वारा प्रस्तावित बिलों पर विचार करती है और मंत्रिमंडल प्रयत्न करता है कि वे क़ानून बन जायें। केवल इतना ही नहीं, मंत्रियों ने प्रतिनिधि की हैसियत से क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है और वे अपने नियम और पद्धतियां से पार्लिमेंट को नहीं सूचित करते।

(४) राजस्व के मामले में भी मन्त्रिमण्डल अनुमानित बजट तैयार करता है और कर लगाने के प्रस्ताव पेश करता है। पार्लिमेंट न प्रस्ताव रख सकती है और न वृद्धि कर सकती है। यद्यपि वह कमी कर सकती है या अस्वीकार कर सकती है। परन्तु फिर भी मंत्रिमंडल उनको सफल बनाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'मंत्रिमंडल ने कामन-सभा के बहुमत द्वारा राजकीय विशेषाधिकारों को ही हस्तगत नहीं कर लिया वरन् व्यवहार रूप में पार्लिमेंट की पूरी शक्ति इसी के हाथ में है।' अतः राम्जे म्योर के अनुसार पार्लिमेंट की सर्वशक्तिमत्ता नहीं रही केवल मन्त्रिमण्डल या सरकार की तानाशाही है।

जेनिंग्स का उत्तर

परन्तु जेनिंग्स[1] ऐसे अन्य लेखक जो पार्लिमेंट की शक्ति को पूर्ण रूप से समझते हैं यह मनाने से इन्कार करते हैं कि पार्लिमेंट इस सीमा तक आश्रित हो गई है। वे स्वीकार करते हैं कि सरकार अर्थात् मंत्रिमंडल का निर्णय प्रथम और अन्तिम होता है; पार्लिमेंट का बनाया हुआ क़ानून सरकार ही का क़ानून होता है तथा राज्य की गृह तथा बाह्य नीति सरकार ही की होती है। परन्तु सरकार अकेली ही नहीं होती। यह पार्लिमेंट के अन्तर्गत

१—जेनिंग्स—दि ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन, पृ० ३

है और इसकी शक्ति लोकमत है जिसका प्रकटीकरण कामन-सभा में बहुमत के द्वारा होता है। यह तानाशाही नहीं है जब कि हम जानते हैं कि थोड़े-थोड़े समय बाद तानाशाहों को जनता से मत माँगना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से मन्त्रिमण्डल जनता का सेवक है उसका स्वामी नहीं।

दूसरे, राम्जे म्योर विरोधी-दल की शक्ति के महत्व की उपेक्षा करता है। पार्लिमेंट का मुख्य कार्य आलोचना करना है और विरोधी दल में ऐसे आलोचक रहते हैं जिनका कार्य आलोचना ही रहता है। विरोधी दल 'सरकार के उन कार्यों की, जिनको वह करती है और जिनको वह नहीं करती, आलोचना करता है।'[१] यह दूसरी पूर्व-प्रस्तुत सरकार है। मंत्रियों को एक-एक करके सभी प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है। वे डरते रहते हैं कि कहीं बहुमत उनके विरुद्ध न हो जाय और उन्हें पदत्याग करना पड़े। इस प्रकार जब दोनों सभाओं में सरकार को बहुमत का समर्थन प्राप्त रहता है तब पार्लिमेंट की स्वतंत्र सत्ता सरकार की ही होती है। परन्तु वास्तव में यह स्वतंत्र नहीं होती। सरकार और पार्लिमेंट के पीछे लोक-मत रहता है। 'यद्यपि यह कहना कठिन है कि इसका क्या स्वरूप होता है परन्तु रहता यह अवश्य है। यह बात, कि किसी सरकार को नीली आँखों वाले बच्चों को मारने का अधिकार नहीं होता, कोई क़ानूनी बन्धन नहीं है परन्तु सरकार और कामन-सभा को सत्ता जनता ही से मिलती है। इस लिये यह कहना अधिक ठीक होगा कि सम्भावना और लोकमत के अन्तर्गत पार्लिमेंट कुछ भी कर सकती है'।[२]

(३) वैधानिक और साधारण क़ानूनों में कोई अन्तर नहीं है।

इसका कारण यह है कि पार्लिमेंट अपने साधारण अधिवेशनों में केवल साधारण क़ानूनों को ही पास नहीं कर सकती वरन् वैधानिक क़ानून भी बना सकती है। अर्थात् यह क़ानून-निर्मात्री तथा विधान-निर्मात्री शक्ति है। डाइसी इस बात को स्पष्ट करते हुये कहता है कि सर्व प्रथम, इसके मानो, कि ऐसा कोई क़ानून नहीं है जिसे पार्लिमेंट नहीं परिवर्तित कर सकती, यह है कि बुनियादी अथवा वैधानिक क़ानून विधानानुसार अन्य क़ानूनों की भाँति एक ही संस्था तथा एक ही प्रणाली के द्वारा परिवर्तित किये जाते हैं। अर्थात् पार्लिमेंट साधारण क़ानूनों को पास करने की विधि के अनुसार यह कार्य भी करती है। अतः यदि एक ओर पार्लिमेंट राजा तथा लार्ड-सभा को समाप्त करने के लिये अथवा कामन-सभा में सुधार करने के लिये एक ही अधिवेशन में क़ानून बना सकती है तो दूसरी ओर उसी अधिवेशन में मैनचेस्टर की नगर-सभा, किसी व्यापारिक कम्पनी के संगठन अथवा किसी विशेष चर्च की स्थापना या उसकी समाप्ति के लिये भी क़ानून पास कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि इंगलैंड में वैधानिक क़ानूनों की महत्ता नहीं

१—जेनिंग्स—पार्लिमेंट, पृ० ७

२—वही-पृ० ६

स्वीकार की गई और इसीलिये वैधानिक समस्याओं पर विचार करने के लिये कोई अलग संस्था स्थापित नहीं की गई।

दूसरे, 'विधानानुसार बुनियादी या वैधानिक तथा गैर बुनियादी या अवैधानिक क़ानूनों के मध्य कोई स्पष्ट अथवा निश्चित अन्तर नहीं है। साधारण क़ानून बनाने वाली व्यवस्थापिका सभा तथा साधारण और बुनियादी अथवा वैधानिक क़ानूनों में परिवर्तन लाने वाली विधान निर्मात्री परिषद् के मध्य अन्तर दिखाने के लिये विदेशी राजनीति-शब्दावली से शब्द लिये गये हैं।' डाइसी के इस कथन का यह अर्थ है कि अंग्रेज़ी शासन विधान अलिखित है और यह कभी किसी एक ही प्रामाणिक पत्र में लिपिबद्ध नहीं किया गया। परन्तु अमरीका और फ्रान्स में लिखित विधान तैयार किये गये थे। इसीलिये दि ताकविले महोदय (De Tocqueville) ने कहा था कि 'इंगलैंड में शासन-विधान ऐसी कोई वस्तु नहीं है।' इसके अतिरिक्त इन विधानों को तैयार करने के समय अलग से विधान निर्मात्री परिषदें बुलाई गई थीं और उन्होंने इसकी भी व्यवस्था कर दी थी कि लिखित विधानों में किसी भी दशा में भी साधारण क़ानून बनाने वाली व्यवस्थापिकायें परिवर्तन न कर सकें और केवल विशेष प्रणाली से बुलाई गई सभा ही यह कार्य कर सके। इस प्रकार फ्रांस में (अमरीका में भी) राज्य के साधारण प्रबन्ध के लिये क़ानून पास करने वाली सभा तथा केवल वैधानिक संशोधन के लिये बुलाई जाने वाली विधान-निर्मात्री-परिषद् के बीच अन्तर स्थापित हो गया है। ऐसी व्यवस्था का यह उद्देश्य था कि विधान देश का बुनियादी क़ानून है इसलिये एक अर्थ में यह महत्त्वपूर्ण है। अतः साधारण प्रणाली द्वारा इसमें हस्तक्षेप न होना चाहिये।

तीसरे, 'ब्रिटिश साम्राज्य के किसी भी भाग में कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका अथवा न्यायकारिणी के रूप में कोई ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का मंडल नहीं है जो पार्लिमेंट के बनाये हुये क़ानून को, इस बिना पर कि वह विधान के विरुद्ध है अथवा अन्य दूसरे कारण से, नाजायज घोषित कर दे जब तक कि स्वयं पार्लिमेंट ही उसको रद्द न कर दे।' परन्तु अमरीका में ऐसी ही बात है। अमरीकी कांग्रेस के द्वारा पास किये हुये क़ानून को वहाँ का 'प्रधान न्यायालय' नाजायज क़रार दे सकता है अथवा अवैधानिक घोषित कर सकता है। शक्ति-विभाजन के सिद्धान्तानुसार वहाँ यह समझा जाता है कि शासन के तीनों अंग समकक्ष हैं और सत्ता किसी एक के हाथ में नहीं है। अतः वास्तविक सत्ता वहाँ विधान ही में निहित है।' डब्लु० बी० मुनरो, 'अवैधानिक' का अर्थ जैसा कि इन देशों में समझा जाता है स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि 'जब हम यह कहते हैं कि अमरीका में कांग्रेस के द्वारा बनाया हुआ कोई क़ानून 'अवैधानिक' है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह राष्ट्रीय विधान की व्यवस्था के विरुद्ध है। इसलिये न्यायालय उसको नाजायज क़रार देंगे। इस अर्थ में पार्लिमेंट का कोई भी कानून अवैधानिक नहीं है। जब कोई अंग्रेज पार्लिमेंट के किसी क़ानून को 'अवैधानिक' कहता है तो यह उसकी व्यक्तिगत राय होती है कि यह अंग्रेज़ी परिपाटी के विरुद्ध अर्थात् अनुचित, अंग्रेज़ी प्रतिष्ठा के विरुद्ध अथवा आपत्तिजनक परिवर्तन

है। यदि मान लिया जाय कि पार्लिमेंट ऐसा क़ानून बनाती है जिसके द्वारा असैनिकों का मुक़दमा सैनिक-न्यायालयों में हो तो पूरा इंगलैंड इसका विरोध करेगा कि यह कार्य अवैधानिक है। परन्तु कोई अंग्रेज ऐसे क़ानून को नाजायज़ सिद्ध करवाने के लिये किसी न्यायालय की सहायता के बारे में नहीं सोच सकता और न वह यही सोच सकता कि पार्लिमेंट को छोड़ कर कोई न्यायालय इसे रद्द कर सकता है। अंग्रेज यही माँग पेश करेंगे कि यह अनुचित क़ानून रद्द कर दिया जाय या इस पर असफल होने पर नयी पार्लिमेंट को चुनने की माँग पेश करेंगे।

सारांश

स्वयं डाइसी के शब्दों में इंगलैंड में पार्लिमेंटीय सत्ता की तीन विशेषतायें हैं:—

(१) व्यवस्थापिका को साधारण क़ानून पास करने की रीति के अनुसार बुनियादी अथवा ग़ैरबुनियादी सभी प्रकार के क़ानून बनाने का पूर्ण अधिकार है;

(२) वैधानिक तथा दूसरे क़ानूनों के बीच कोई क़ानूनी अन्तर नहीं है और

(३) पार्लिमेंट के क़ानून को रद्द करने अथवा नाजायज़ या अवैधानिक क़रार देने वाली शक्ति नहीं है।

प्रतिनिधि, वैधानिक तथा सभात्मक शासन का अग्रदूत इंगलैंड

इंगलैंड में राजा, पार्लिमेंट तथा पार्लिमेंटीय सत्ता के अध्ययन के पश्चात् हमें ज्ञात हो गया कि इंगलैंड पहला देश है जहाँ प्रतिनिधि-संस्थाओं का विकास हुआ, जहाँ राजा लोग वैधानिक राजा हुये। अतः यहाँ का शासन सर्वप्रथम सभात्मक हुआ। इस प्रकार जहाँ कहीं भी वैधानिक शासनों की स्थापना हुई चाहे वह यूरोप रहा हो चाहे और कोई दूसरी जगह, वहाँ अंग्रेजी पार्लिमेंट (दोनों धारा-सभाओं से युक्त) ने आदर्श का काम दिया। इसीलिये हम अंग्रेज़ी पार्लिमेंट को पार्लिमेंटों की जननी कहते हैं। यह सच है कि अमरीका की कांग्रेस अथवा फ्रांस की नेशनल असेम्बली (१६३६ के पहिले) क़ानूनन् इतनी शक्तिशाली नहीं हैं जितनी अंग्रेज़ी पार्लिमेंट और यहाँ तक कि रचना और संगठन में अन्तर भी है, परन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों वैधानिक और प्रतिनिधित्व-युक्त हैं चाहे सभात्मक न हों जैसा कि अमरीकी संयुक्त-राज्य में है।

व्यवस्थापिकाओं के कार्य

यह स्पष्ट करने के पश्चात् कि अधिकतर आधुनिक शासन प्रतिनिधित्व-युक्त, वैधानिक, यहाँ तक कि सभात्मक भी हैं हम को ज्ञात हो गया कि क़ानून बनाने का कार्य सब जगह व्यवस्थापिकायें करती हैं। प्रो० विलोबी ने कहा है कि अमरीकी कांग्रेस सात प्रकार के कार्य[१] करती है। यह (१) विधान-निर्मात्री परिषद् का कार्य करती है; (२) मत-प्रेरक-बोर्ड (Canvassing board) तथा निर्वाचक-मंडल के रूप

१—विलोबी—दि गवर्न्मेंट ऑफ़ मॉडर्न स्टेट, पृ० ७१४-३१

में कार्य करती है; (३) लोकमत के एक अंग का कार्य करती है; (४) अनुसंधान के अंग का कार्य करती है; (५) कार्यकारिणी का कार्य करती है; (६) शासन-संगठन के निर्देशक-मंडल के रूप में कार्य करती है और (७) क़ानून बनाने का कार्य करती है।

परन्तु दूसरी व्यवस्थापिकायें भी क़रीब-क़रीब यही कार्य करती हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वे सब यही कार्य करें। हम क़ानून बनाने के कार्य से आरम्भ करेंगे क्योंकि व्यवस्थापिकाओं का सबसे पहला कार्य यही है।

१—क़ानून-निर्माण

सर्व प्रथम, जैसा कि पहले कहा जा चुका है व्यवस्थापिकाओं का पहला कार्य क़ानून बनाना है। पिछले ज़माने में राजा की इच्छा ही क़ानून हुआ करती थी अथवा लोग स्वयं ही क़ानून बनाने के लिये किसी एक जगह एकत्र होते थे। परन्तु आजकल की व्यवस्थापिकाओं में इस कार्य के लिये जनता के प्रतिनिधि रहते हैं। क़ानून बनाने की इन तीनों प्रणालियों में पहली सबसे बुरी समझी जाती है क्योंकि लीकॉक का कथन है कि व्यवस्थापिका सभा सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह मंत्रणात्मक है और मंत्रणा के लिये एक से दो व्यक्ति तथा दो से दो सौ व्यक्ति अधिक उत्तम हैं। क़ानून बनाने वाली संस्था में बहुत से व्यक्ति होने चाहिये जो विभिन्न हितों, विभिन्न दृष्टिकोणों तथा राष्ट्र के विभिन्न अंगों का प्रतिनिधित्व करते हों। परन्तु कार्लायल ने प्रजातंत्रात्मक शासन के विरुद्ध या अंग्रेज़ी कामन-सभा के विषय में अपना यह विचार प्रकट किया था कि 'छः सौ बातूनी गधों को क़ानून बनाते हुये तथा एक महान साम्राज्य का शासन करते हुये विश्व ने कभी नहीं देखा'। परन्तु इस कथन का लाभ इतना ही है कि व्यवस्थापकों की संख्या बड़ी नहीं होनी चाहिये। लीकॉक का भी कहना है कि सन् १७८९ की फ्रांस की विधान-निर्मात्री-परिषद्, जिसमें बारह सौ सदस्य थे, वास्तव में कुछ भी नहीं कर सकी और उसका बहुत सा समय ललकारने और चिल्लाने में बीता था। इसका यह भी अर्थ है कि व्यवस्थापिका केवल एक सार्वजनिक सम्मेलन नहीं होनी चाहिये इसकी अपनी योजना, कार्य प्रणाली तथा नियम होने चाहिये। इंगलैंड में ये स्थायी आदेश कहे जाते हैं और ऐसे नियम संसार की सभी व्यवस्थापिकाओं ने बनाये हैं, जिससे वे अपना कार्य नियमानुसार, उत्तमता तथा सावधानी से कर सकें और व्यर्थ में देरी तथा गड़बड़ी न हो।

सभापति

अंग्रेज़ी कामन-सभा की प्रथा की भाँति व्यवस्थापिका सभा में एक पदाधिकारी शान्ति क़ायम रखता है उसको सभापति कहते हैं। कॉनराड गिल (Conrad Gill) का कथन है कि 'सभापति को पर्याप्त अधिकार प्राप्त रहते हैं। उदाहरण-स्वरूप वह निश्चित करता है कि किस सीमा तक किसी बिल पर वाद-विवाद हो सकता है, सदस्यों

के कौन से प्रश्न नियमानुसार हैं, भाषण तत्कालीन समस्या से संबंध रखता है या नहीं और कोई सदस्य सभा के नियमों का उल्लंघन तो नहीं कर रहा है'। इस प्रकार सभापति का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि सभा का समय व्यर्थ में नष्ट तो नहीं हो रहा है और कोई सदस्य, जो किसी विशेष क़ानून को नहीं बनना देना चाहता है, व्यर्थ में लम्बे-लम्बे भाषणों तथा निरर्थक प्रस्तावों से काम में बाधा तो नहीं डाल रहा है।

बिल

क़ानून बनाने का कार्य किसी विशेष प्रस्ताव पर मत प्रकाशन करने तथा उस पर भाषण देने से ही नहीं समाप्त हो जाता। सबसे पहला आवश्यक कार्य विधिवत बिल या मसविदा तैयार करना है। यद्यपि देखने में यह कार्य अत्यन्त सरल जान पड़ता है परन्तु वास्तव में, विशेषकर राज्य की नीति में महत्वपूर्ण महान परिवर्तन लाने वाले बिलों के संबंध में, यह कार्य अत्यन्त कठिन होता है क्यों कि इसकी भाषा स्पष्ट होनी चाहिये, इसके अर्थ तथा उद्देश्य निश्चित होने चाहिये और जहाँ तक सम्भव हो इसमें अर्थ-विपर्यय, अशुद्धि और दुरूहता नहीं होनी चाहिये।

बिल की अवस्थायें

किसी बिल को क़ानून बनने के पहले निम्नलिखित अवस्थाओं से गुज़रना पड़ता है:—

(१) बिल तैयार करने के बाद मंत्री अथवा कोई अन्य सदस्य (यदि बिल ग़ैर-सरकारी है) इसको उपस्थित करने के लिये कामन-सभा से प्रार्थना करता है। यदि आज्ञा मिल गई तो सभापति उसको अपना बिल उपस्थित करने का आदेश देता है और क्लर्क सभा के सामने उसका शीर्षक पढ़ता है। यह बिल का 'प्रथम वाचन' कहलाता है।

(२) इसके पश्चात् बिल मुद्रित होता है और इसके 'द्वितीय वाचन' के लिये दिन नियुक्त किया जाता है। इस अवस्था में कामन-सभा में इसके केवल विशेष लक्षणों (छोटी-छोटी बातों पर नहीं) पर वाद-विवाद होता है। सदस्य तबदीलियों के लिये तजवीज़ें भी पेश कर सकते हैं। यदि सभा उन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेती है जिन पर बिल आधारित रहता है तो समझा जाता है कि इसका 'द्वितीय वाचन' समाप्त हो गया।

(३) द्वितीय वाचन के बाद यदि सभा स्वयं बिल को किसी विशेष समिति को विचारार्थ नहीं सौंपती (यह बहुत कम होता है) तो यह किसी एक स्थायी समिति को सौंप दिया जाता है। यदि बिल अर्थ-बिल (कर लगाने अथवा विभिन्न विभागों को व्यय के लिये धन की स्वीकृति देने के लिये), कोई महत्वपूर्ण बिल अथवा कोई विवाद ग्रस्त बिल होता है तो यह 'सम्पूर्ण सभा की समिति' को सौंपा जाता है। यह समिति स्वयं पूरी सभा होती है। सभापति की कुर्सी खाली रहती है। इस प्रकार की समिति नवनिर्वाचित सभापति की अध्यक्षता में कार्य करती है। यह सभापति व्यवस्थापक सभा के सभापति के क्लर्क की कुर्सी पर बैठता है। यह व्यवस्था इसलिये की जाती है कि महत्वपूर्ण बिल पर प्रत्येक सदस्य को वाद-विवाद में भाग लेने का अवसर मिल सके। इस प्रकार इस 'समिति-अवस्था' में, चाहे स्थायी समिति के सामने हो चाहे

सम्पूर्ण व्यवस्थापिका सभा की समिति के सामने, बिल की प्रत्येक धारा की कड़ी और गहरी आलोचना होती है और संशोधनों पर पूर्ण रूप से वाद-विवाद होता है। तब कहीं जाकर निर्णय दिया जाता है। जब यह सब कार्य समाप्त हो जाता है तो समिति का सभापति व्यवस्थापिका सभा के सभापति को एक छोटी सी रिपोर्ट देता है कि बिल में संशोधन हुआ है कि नहीं।

(४) समिति की अवस्था के बाद रिपोर्ट की अवस्था आती है। समिति संशोधित अथवा परिवर्तित बिल को वापिस करके सभा के पास रिपोर्ट भेजती है और सभा के सभापति की अध्यक्षता में दूसरे संशोधनों की दृष्टि से वाद विवाद होता है।

(५) जब यह वाद-विवाद समाप्त हो जाता है तब बिल अन्तिम अवस्था में प्रवेश करता है। यह बिल का 'तृतीय वाचन' कहलाता है। इस अवस्था में मौखिक अथवा छोटे-मोटे ही परिवर्तन हो सकते हैं। सभा में अब इसके पूर्ण रूप पर (अंग-प्रत्यंग पर नहीं) वाद-विवाद होता है और निश्चित किया जाता है कि यह बिल क़ानून बनना चाहिये या नहीं। यदि इस बिल का तृतीय वाचन हो गया तो यह लार्ड-सभा में भेजा जाता है। वहाँ भी क़रीब-क़रीब ऐसी ही अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। वहाँ से पास होने के बाद यह राजा के पास स्वीकृति के लिये भेजा जाता है। जब राजा इसमें हस्ताक्षर कर देता है तो यह क़ानून बन जाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि पार्लिमेंट का क़ानून, क़ानून तभी हो सकता है जब दोनों सभायें इसको पास कर देती हैं और राजा हस्ताक्षर कर देता है।

सार्वजनिक और निजी बिल

उपरोक्त प्रणाली सार्वजनिक बिल में लागू होती है। निजी बिलों में कुछ भिन्न प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। सार्वजनिक और निजी बिल में यह अन्तर है कि सार्वजनिक बिल का संबंध अखिल राज्य से रहता है परन्तु निजी का संबंध केवल स्थानीय आवश्यकताओं अथवा किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों के उपाधि-वितरण से रहता है। हमने ऊपर यह नहीं बताया कि कामन-सभा के द्वारा पास किये हुये बिल को यदि लार्ड सभा अस्वीकार कर दे तो क्या होगा। इसका कारण यह है कि हमारा उद्देश्य यहाँ केवल इतना है कि यह बता दिया जाय कि आधुनिक व्यवस्थापिकाओं में क़ानून कैसे बनते हैं, विभिन्न देशों की प्रणालियों की प्रत्येक बात को बताना नहीं है। क़ानून बनाने की अंग्रेजी प्रणाली क़रीब-क़रीब सर्वव्यापी है और आधुनिक राज्यों में इसी का अनुसरण होता है। इस प्रणाली में क़ानून बनाने की ये अवस्थायें[1] हैं: (१) प्रथम वाचन, (२) द्वितीय वाचन, (३) समिति अवस्था, (४) रिपोर्ट अवस्था और (५) तृतीय वाचन।

१—बेन्थम महोदय ने इन अवस्थाओं पर होने वाले वाद-विवाद के निम्नलिखित लाभ बताये हैं:—

(१) विषय की विवेचना पूर्ण रूप से हो जाती है क्योंकि काफ़ी लोग कई दिनों तक भाषण देते हैं और वे स्वयं वाद-विवाद से लाभ उठाते हैं क्योंकि इससे हर नया विषय स्पष्ट होता रहता है।

कार्य-स्थगन, अधिवेशन-स्थगन और विसर्जन

इसी क्रम में हम कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिनका प्रयोग व्यवस्थापिकाओं से संबंधित है। पार्लिमेंट के साल भर के कार्य को अधिवेशन-कार्य कहते हैं। परन्तु प्रत्येक दिन के सम्मेलन को बैठक कहते हैं। दिन भर के कार्य के बाद पार्लिमेंट स्थगित कर दी जाती है। इस प्रकार कार्य-स्थगन (Adjournment) का अर्थ हुआ बैठक समाप्त करके कुछ समय के लिये कार्य रोक देना। यह समय एक दिन, दो दिन अथवा एक छोटी-सी छुट्टी हो सकता है। अतः कार्य-स्थगन के अनुसार अगामी बैठक तक कार्य रोक दिया जाता है और जब पार्लिमेंट फिर बुलाई जाती है तो यह वहीं से कार्य आरम्भ करती है जहाँ से इसने छोड़ा था। परन्तु अधिवेशन-स्थगन (Prorogation) इससे भिन्न है। कार्य-स्थगन तो एक निश्चित समय के लिये होता है परन्तु अधिवेशन-स्थगन अनिश्चित समय के लिये होता है। अधिवेशन के अन्त में पार्लिमेंट को स्थगित करके पिछले वर्ष का कार्य छोड़ दिया जाता है और नये सिरे से कार्य आरम्भ किया जाता है। इस प्रकार अधिवेशन-स्थगन का व्यवहारिक अर्थ है एक अधिवेशन से दूसरे अधिवेशन तक का अन्तर। परन्तु विसर्जन (Dissolution) इन दोनों से बिल्कुल भिन्न है। मान लीजिये कि पार्लिमेंट अथवा कामन-सभा की अवधि पाँच साल है जैसा कि इंगलैंड में है तो इस काल के अन्त में वह साधारणतः पुनिर्वाचन के लिये विसर्जित कर दी जायगी। यद्यपि अंग्रेज़ी कामन-सभा इस काल के समाप्त होने के पहिले भी विसर्जित की जा सकती है यदि तत्कालीन सरकार अपने कार्यों के सबंध में जनता का निर्णय जानना आवश्यक समझती है।

इस प्रकार 'कार्य-स्थगन' और 'अधिवेशन-स्थगन आधुनिक व्यवस्थापिका के क्रमशः कार्य को रोकने और उसको नये सिरे से आरम्भ करने की प्रणाली को कहते हैं और विसर्जन पुनर्निर्वाचन अथवा जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिये पार्लिमेंट को अवधि के अन्त में या इससे पहिले भंग करने को कहते हैं।

समिति-प्रणाली

अन्त में, क़ानून बनाने की विधि को समाप्त करने के पहिले हम स्थायी समितियों

---

(२) जनता को अपना दृष्टिकोण रखने का अवसर मिलता है (प्रमाणों द्वारा) और सदस्यों को भी बाहिरी योग्य व्यक्तियों से परामर्श करने का मौक़ा मिलता है।

(३) जोशीली वक्तृता तथा भाषण के प्रभाव को रोका जाता है। अर्थात् अन्तिम मत बिना सोचे-विचारे नहीं दिया जाता। इन अवस्थाओं में काफ़ी समय लगता है और बहुत दिनों तक विश्लेषण, अलोचना और गहरी छान-बीन होती रहती है।

(४) सभा के अल्पसंख्यक दल को भी अपना मत प्रकट करने के लिये समय निर्धारित कर दिया जाता है। इस प्रकार उसकी उपेक्षा नहीं होती।

(५) अन्त में प्रथम वाद-विवाद में अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों को भी, जब वे देखते है कि उनकी उपस्थिति बिल को प्रभावित कर सकती है, उपस्थित होने का मौक़ा मिलता है।

की आवश्यकता पर प्रकाश डाल सकते हैं।[1] केवल इंगलैंड ही में रसद्-समिति (Supply Committee) साधन-समिति (Committee of Ways and Means) ऐसी समितियाँ नहीं पाई जाती और न केवल अमरीका ही में अर्थ-समिति, रेलवे समिति, परराष्ट्र समिति ऐसी समितियाँ पाई जाती हैं वरन् प्रत्येक आधुनिक प्रजातंत्र- राज्य में ऐसी समितियाँ पाई जाती हैं।

ब्राइस[2] समिति-प्रणाली के लाभों को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि सर्व प्रथम, इससे व्यवस्थापिका को बहुत-सी समस्याओं को सुलझाने का अवसर मिल जाता है क्योंकि एक बहुत बड़ी मन्त्रणात्मक सभा में यह असम्भव है।

दूसरे, इस प्रणाली से व्यवस्थापिका के प्रत्येक बिल की पूरी छान-बीन हो जाती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका का समय बच जाता है और बेकार के बिल समिति की रिपोर्ट के अनुसार छोड़ दिये जाते हैं।

अन्त में, समिति में बिल के लिये उसके विशेषज्ञ ही नियुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार जो क़ानून बनता है वह प्रत्येक दृष्टिकोण से उत्तम होता है।

परन्तु इन गुणों के साथ-साथ इस प्रणाली में कुछ दोष भी हैं[3]। सर्व प्रथम, यह व्यवस्थापिका सभा की एकता को नष्ट कर देती है क्योंकि सदस्य व्यवस्थापिका के बजाय समिति में अधिक ध्यान देने लगते हैं। प्रत्येक सदस्य अपने ही बिल पर विचार करता है। इसीलिये इसको 'अल्प व्यवस्थापिका' कहा गया है।

दूसरे इसके कारण व्यवस्थापिका सभा में उत्तम वाद-विवाद में बाधा पड़ती है जिससे योग्यता का उपयोग नहीं हो पाता। क्योंकि वाद-विवाद ही में तो सदस्य अपनी योग्यता तथा वक्तृता-शक्ति का परिचय दे सकते हैं। इसके साथ-साथ राष्ट्र की रुचि भी क़ानून बनाने के कार्य में कम हो जाती है क्योंकि समितियों की कार्यवाही का विवरण नहीं छपता। इस प्रकार जनता अन्धकार में रह जाती है।

तीसरे, इस प्रणाली से क़ानून पास होने के समय गुप्त चालें चलने का मौक़ा मिलता है। मनचाहे क़ानून बनवाने के लिये सदस्यों को उपहार द्वारा 'ख़रीदा' जा सकता है।

चौथे, यह उत्तरदायित्वहीनता लाती है। इंगलैंड में यदि बिल अस्वीकृत हो जाता है तो दोष मंत्रिमंडल और उसके दल के सर पर मढ़ा जाता है और समिति साफ़ बच जाती है। अमरीका में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के अलग-अलग होने के कारण उत्तरदायित्व न सरकार ही के ऊपर रहता है और न व्यवस्थापिका के। यहाँ

१—समितियों को 'तोरणाधार' कहा गया है। यहाँ तक कि ये व्यवस्थापिका सभा के आँख, कान, हाथ और मस्तिष्क भी कही गई हैं। फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रेक्टिस आफ़ दि मॉडर्न गवर्नमेन्ट्स, जि० १, पृ० ८०४ और ८२७। इनके गुण और दोषों के लिये पृ० ८०६ और ८१० देखिये।

२—ब्राइस—अमरीकन कॉमन वेल्थ, जि० १, पृ० १६१-६४

३—वही, पृ० १६४

तक कि समिति के ऊपर भी नहीं रहता क्योंकि यह तो केवल व्यवस्थापिका द्वारा पुनः विचार करने के लिये सिफ़ारिश करती है और यदि यह बिल को बेकार समझती है तो सरलता से अस्वीकृत कर सकती है।

पाँचवें, समितियाँ सारे अधिकार अपने सभापतियों के हाथों में सौंप देती हैं और व्यवहार रूप में वे दूसरे मंत्रिमंडल हो जाती हैं।

यद्यपि इस प्रणाली में ये काफ़ी बड़ी बुराइयाँ हैं फिर भी आधुनिक व्यवस्थापिकाओं में समितिओं का स्थान सुरक्षित है। इसका कारण यह है कि अभी तक इससे अच्छी कोई दूसरी प्रणाली नहीं निकली।

२—विधान-निर्मात्री-परिषदों के रूप में

व्यवस्थापिकाओं के प्रथम उद्देश्य क़ानून-निर्माण का वर्णन करने के पश्चात् हम उन पर विधान निर्मात्री परिषदों के रूप में विचार कर सकते हैं।[1] हम पहले ही कह चुके हैं कि इंगलैंड में तो पार्लिमेंट साधारण क़ानून भी बनाती है और विधान-निर्मात्री परिषद् का भी काम करती है क्योंकि यह अपनी साधारण बैठकों में शासन-विधान में कुछ भी परिवर्तन कर सकती है या इसको बिलकुल बदल सकती है। अमरीका में कांग्रेस अपनी दोनों सभाओं के दो तिहाई मतों से विधान में किसी विशेष संशोधन के लिये प्रस्ताव रख सकती है और यह विधान के साधारण संशोधन के लिये एक महासभा (Convention) को भी बुला सकती है। इसी प्रकार सन् १९३९ के पहिले फ्रांस में नेशनल एसेम्बली अपनी दोनों सभाओं प्रतिनिधि-भवन और सेनेट के संयुक्त अधिवेशन में विधान में परिवर्तन कर सकती थी। इसी प्रकार सभी व्यवस्थापिकाओं की विधान-निर्मात्री-परिषदात्मक प्रकृति के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

३—मत-प्रेरक-बोर्डों के रूप में

तीसरे व्यवस्थापिकायें मत-प्रेरक बोर्डों और निर्वाचक-मंडलों का भी काम देती हैं। अमरीका में कांग्रेस, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के निर्वाचक-मंडल में पड़े हुए मतों की प्रामाणिकता निश्चित करने में मत-प्रेरक बोर्ड के रूप में कार्य करती है। फ्रांस में सन् १९३९ के पहले अध्यक्ष को नेशनल एसेम्बली चुनती थी। इस प्रकार यह कार्यकारिणी के प्रधान के निर्वाचन के लिये निर्वाचक-मंडल का काम देती थी। स्विटज़रलैंड में राष्ट्रीय-सभा और राज्य-सभा संयुक्त रूप से केवल संघ-समिति ही को नहीं चुनतीं वरन् संघीय न्यायाधीशों, चांसलर और संघीय सेना के सेनापतियों को भी चुनती हैं। इसी प्रकार और उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

१—विद्यार्थियों को 'दि इण्डियन जर्नल ऑफ़ पॉलिटिकल साइन्स' के अप्रैल-जून (१९४०) के अङ्क में प्रो० श्रीनिवासन का लेख 'दि थियरी ऑफ़ दि कांस्टिट्यूयेंट एसेम्बली, और जनवरी-मार्च (१९४१) के अङ्क में सरदार गुरुमुख निहालसिंह का लेख 'दि आइडिया ऑफ़ एन इण्डियन कांस्टिट्यूयेंट एसेम्बली' पढ़ना चाहिये।

४—लोकमत के अंगों के रूप में

चौथे, आधुनिक व्यवस्थापिकायें लोक-मत के अंगों का भी काम देती हैं। यह इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवस्थापिकाओं के सदस्य निर्वाचित होते हैं और उनका निर्वाचन संगठित लोकमत के द्वारा होता है जिसको हम राजनैतिक दल कहते हैं। इसलिये सरकार की वह नीति, जिसका अनुसरण व्यवस्थापिकाओं में सफलतापूर्वक होता है, यदि सम्पूर्ण सदस्यों द्वारा नहीं तो कम से कम बहुमत द्वारा तो अनुमोदित रहती ही है। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिकायें विशेष कर निम्न सभायें निर्वाचन की अवधि समाप्त हो जाने पर भङ्ग कर दी जाती है। इसका कारण यह है कि चार या पाँच साल के बाद सदस्य लोकमत के दृष्टिकोण से अपरिचित हो जाते हैं। इसलिये समय-समय पर निर्वाचन होने से व्यवस्थापिकाओं में वास्तविक लोकमत का प्रतिनिधित्व होता रहता है। इसीलिये इनको लोकमत के अङ्ग कहते हैं।

५—अनुसंधान के अंगों के रूप में

पाँचवें, आधुनिक समय में व्यवस्थापिकायें जाँच अथवा अनुसंधान का भी काम करती हैं। वे प्रायः जाँच-कमीशन नियुक्त करती हैं जैसे कृषि और उद्योग सम्बन्धी, अथवा सामाजिक अशांति, क्रान्ति या दङ्गों के कारणों का पता लगाने वाले कमीशन। इन कार्यों के लिये जो सदस्य नियुक्त किये जाते हैं वे हर तरह के बयान और प्रमाण इकट्ठा करते हैं। इसके पश्चात् उनका निरीक्षण करते हैं और अपनी राय स्थिर करते हैं। यह सब करने के बाद अपनी शिफ़ारिश सहित रिपोर्ट उपस्थित करते हैं। इंगलैंड में तो शाही कमीशनों ने विशेषकर जटिल सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में लोकमत को प्रकट करने में बड़ा काम किया है जिससे शासन की नीति का निर्धारण बड़ी बुद्धिमानी से हुआ है। उदाहरण स्वरूप एक शाही कमीशन जिसका नाम साइमन-कमीशन था भारतीय-समस्या पर अनुसंधान करने के लिये नियुक्त किया गया था। इसने भारतीय समस्या के प्रत्येक पहलू की जाँच की थी और पार्लिमेंट के सामने अपनी रिपोर्ट उपस्थित की थी। यह सच है कि भारतीय इस कमीशन से बहुत ही असन्तुष्ट थे क्योंकि इसमें सभी अंग्रेज थे और दूसरे इसकी रिपोर्ट भी प्रतिक्रियावादी थी। परन्तु बात तो यह है जिनके लाभ के लिये बनाई गयी थी उनका लाभ तो हुआ ही और उन्होंने इसके अनुसार कार्य भी किया।

६—कार्यकारिणी के रूप में

छठवें, व्यवस्थापिकायें कार्यकारिणी का भी कार्य करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कभी-कभी इसका सम्बन्ध राज्य के 'प्रधान' अथवा 'अध्यक्ष' के कार्यकारिणी की हैसियत से किये हुये कार्यों से रहता है। इस प्रकार अमरीका में अध्यक्ष के द्वारा की हुई सघीय नियुक्तियाँ तथा संधियों में सिनेट की स्वीकृति तथा उसका परामर्श आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट है कि अध्यक्ष के साथ-साथ सेनेट को भी नियुक्तियाँ करने तथा अन्य राज्यों से संधि करने का अधिकार है।

७—निर्देशक-मंडल के रूप में

सातवें, व्यवस्थापिकायें शासन-संगठन के लिये निर्देशक मंडलों के रूप में काम करती हैं। क्योंकि वे निश्चित करती हैं कि शासन प्रबन्ध किस प्रकार होगा, कार्य-प्रणाली क्या होगी, कितना कार्य होगा, किस कार्य के लिये कितना धन लगाना पड़ेगा और किस प्रकार यह धन इकट्ठा किया जायगा तथा व्यय किया जायेगा।

८—न्यायकारिणी के रूप में

अन्त में प्रो० गार्नर[1] का मत ठीक ही है जब वे कहते हैं कि व्यवस्थापिकायें 'प्रधान-न्यायालयों' का कार्य करती हैं। इंगलैंड में लार्ड-सभा एक प्रसिद्ध न्याय-समिति है। सन् १६३६ के पहिले फ्रांस में यह स्पष्ट था कि राजद्रोह के अपराध में अध्यक्ष के विरुद्ध प्रतिनिधि-भवन मुक़द्दमा चलायेगा और सेनेट फ़ैसला करेगी। इसी प्रकार और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि व्यवस्थापिका का प्रथम कार्य क़ानून बनाना है परन्तु राजनीतिक जीवन में बहुत से कार्य कर सकती है। और वास्तव में करती भी है।

व्यवस्थापिका का गठन

व्यवस्थापिका के कार्यों के वर्णन के पश्चात् अब हम उसके गठन का अध्ययन कर सकते हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि अंग्रेज़ी पार्लिमेंट पार्लिमेंटों की जन्मदात्री कही गई है। इसलिये गठन के मामले में भी अधिकांश प्रजातंत्र-राज्यों की व्यवस्थापिका-सभाओं का निर्माण अंग्रेज़ी व्यवस्थापिका सभा ही के आधार पर हुआ है। इससे हमारा यह तात्पर्य है कि जिस प्रकार अंग्रेज़ी पार्लिमेंट में दो सभायें हैं उसी प्रकार दूसरी व्यवस्थापिकाओं में भी द्विसभात्मक सिद्धान्त का पालन किया गया है।

इंगलैंड की द्विसभात्मक पार्लिमेंट ऐतिहासिक घटना है।

परन्तु यह स्मरण रहे कि अंग्रेज़ी पार्लिमेंट की दो सभायें एक ही समय पर और एक ही बार नहीं बनायी गईं। हम पिछले अध्याय में पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार पार्लिमेंट का विकास नार्मन काल की 'महासभा' से हुआ है। उस सभा में राजा बड़े-बड़े अर्लों, बैरनों, आर्चविशपों, विशपों, एबटों और नाइटों को बुलाता था। सन् १२२५ में इस का नाम 'आदर्श पार्लिमेंट' हो गया क्योंकि इसमें धार्मिक लार्ड, लौकिक लार्ड, प्रत्येक शायर के दो नाइट, प्रत्येक नगर के दो नागरिक और निम्नश्रेणी के पादरियों के प्रतिनिधि सम्मिलित होने लगे। कालान्तर में लार्डों की बैठक अलग एक लार्ड-सभा[2] में और नागरिकों तथा निम्नश्रेणी के पादरियों की बैठक अलग एक कामन सभा में होने लगी। इनमें से पहली का नाम उच्च या द्वितीय सभा और

१—गार्नर—पॉलिटिकल सांइस एन्ड गवर्नमेंट, पृ० ५६४-६५

२—लार्ड-सभा के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के लिये मेरियट की पुस्तक 'इंगलिश पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स' पढ़िये।

दूसरी का नाम निम्न या प्रथम सभा हो गया। इस प्रकार अंग्रेजी पार्लिमेंट की दोनों सभायें विकासात्मक अधिक हैं, निर्माणात्मक कम। यह सब ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है।

अन्य देशों में द्विसभात्मक प्रणाली निर्माणात्मक है।

इसलिये दूसरे देशों में जहाँ प्रतिनिधि-संस्थाओं को अपनाया गया वहाँ द्विसभात्मक-प्रणाली अपनाई गयी। विशेषकर ऐसा अमरीका में हुआ जहाँ अंग्रेजी उपनिवेशियों ने अपनी मातृभूमि का अनुकरण किया। कालान्तर में द्विसभात्मक प्रणाली करीब-करीब सार्वभौमिक हो गई। इसका कारण केवल इंगलैंड की नक़ल ही नहीं था बल्कि एकसभात्मक प्रणाली की अपेक्षा द्विसभात्मका प्रणाली में अधिक लाभ देखे गये थे।

एकसभात्मक प्रणाली के लिये प्रयत्न

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक-सभात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना के लिये कभी प्रयत्न ही नहीं किया गया अथवा कभी इसकी स्थापना हुई ही नहीं। वास्तव में स्वयं इंगलैंड में लार्ड-सभा का अन्त करने की कोशिश की गई थी (अब भी की जाती है)। यूरोप में ग्रीस, बलगेरिया, फ़िनलैंड, इस्टोनिया और यूगोस्लाविया में एक-सभात्मक व्यवस्थापिकाओं की स्थापना की गई थी। टर्की में तो अब भी व्यवस्थापिका में केवल एक ही सभा[1] है। भारतवर्ष में भी काफ़ी समय तक केवल एकसभात्मक व्यवस्थापिका थी और बहुत से प्रान्तों में अब भी एकसभात्मक व्यवस्थापिकायें हैं। अतः अब हम एकसभात्मक और द्विसभात्मक प्रणालियों के गुणों और दोषों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

एकसभात्मक व्यवस्थापिका के विरुद्ध आपत्तियाँ

एकसभात्मक व्यवस्थापिका के विरुद्ध सबसे पहले लिखने वाला प्रसिद्ध लेखक जे० एस० मिल था। उसने लिखा है कि एक अकेली सभा में जब बहुमत एक स्थायी रूप धारण कर चुकता है—जब उसमें सदैव एक साथ करने वाले व्यक्ति रहते हैं और व्यवस्थापिका में उनको अपनी विजय की पूर्ण आशा रहती है—तो वह सरलता से स्वेच्छाचारी और उद्धत हो जाता है। क्योंकि उसे अब यह डर नहीं रह जाता कि उसके कार्यों को कोई दूसरी शक्ति न मानेगी। जिस कारण से रोमवालों ने दो कॉन्सल रक्खे थे उसी कारण से दो सभायें आवश्यक हैं जिससे उनमें से कोई भी एक वर्ष के लिये भी अपनी स्वतंत्र सत्ता के कारण भ्रष्ट न हो जाये। इसी प्रकार अन्य लेखकों ने भी एकसभात्मक व्यवस्थापिका के विरुद्ध लिखा है। लेकी ने कहा है कि 'मानव-समाज में सरकार के जितने भी संभव रूप हैं उनमें से मुझे ऐसा कोई नहीं मालूम जो एक सबल प्रजातंत्रात्मक सभा वाली सरकार से बुरा हो। कम से कम जिस प्रकार नियंत्रित सत्ता वाला स्वेच्छाचारी शासक मदान्ध हो सकता है उसी प्रकार ऐसी सरकार में भी

१—एक सभावाले अन्य देशों को जानने के लिये इस अध्याय के अन्त में टिप्पणी १ देखिये।

बुराइयाँ आ सकती हैं और इसके उत्तरदायित्व के साथ तथा सोच-समझ कर कार्य करने की सम्भावना नहीं रह जाती है। आधुनिक काल में सभी कठोर-तंत्रों में बहुसंख्यकों का कठोर-तंत्र अधिक डर की वस्तु है। अतः बुद्धिमान राजनीतिज्ञ का यह कर्तव्य है कि उससे रक्षा का उपाय करे'। सर हेनरी मेन ने कहा है कि 'एक सुसंगठित द्वितीय सभा से जो आशा की जाती है वह यह नहीं है कि वह कोई ग़लती नहीं कर सकती बल्कि उससे एक अतिरिक्त सुरक्षितता की आशा की जाती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि कोई भी द्वितीय सभा बिल्कुल न होने से अच्छी है'। संक्षेप में निम्नलिखित कारणों से एकसभात्मक व्यवस्थापिकाओं का विरोध किया गया है :

(१) यह कहा जाता है कि एकसभात्मक व्यवस्थापिका उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं रखती और लोकमत के आवेश से अधिक प्रभावित हो जाती है। लीकॉक के शब्दों में 'एक अकेली क़ानून बनाने वाली सभा यदि संशोधन करने वाली दूसरी सभा से नियन्त्रित नहीं की जाती तो यह उत्तरदायित्व-रहित और जल्दबाज़ हो जाती है; किसी विशेष परिस्थिति के प्रभाव में आ सकती है; भावना, जोश तथा वक्तृता के चक्कर में आ सकती है और आवश्यकता से अधिक भी कार्य कर सकती है अथवा उससे कम भी।[1]

(२) जल्दबाजी और उत्तरदायित्व-हीनता के अतिरिक्त अकेली एक सभावाली व्यवस्थापिका में बहुमत की स्वेच्छाचारिता का बोलबाला रहता है और यह अपने को ग़लती करनेवाली समझता ही नहीं।

(३) इससे क़ानून के सोच-समझ कर बनाये जाने की सम्भावना जाती रहती है। क्योंकि एक अकेली सभा पर नियंत्रण रखने तथा उसके कार्य को संशोधित करनेवाली दूसरी शक्ति नहीं रहती।

(४) किसी विशेष अवसर पर किन्हीं विशेष प्रश्नों को लेकर होनेवाला सभा का निर्वाचन सभा की अवधि समाप्त होने के पहिले ही अव्यवहार्य हो सकता है। क्योंकि इस प्रतिपल परिवर्तित होनेवाले संसार में नई-नई समस्यायें उपस्थित होती रहती हैं। इसलिये एक संशोधन करनेवाली अथवा नियंत्रण रखनेवाली संस्था की आवश्यकता है जिससे निर्वाचित सभायें उस लोकमत के विरुद्ध न जा सकें जिसका वे प्रतिनिधित्व नहीं करतीं अथवा जिसके दृष्टिकोण से अपरिचित तथा असहमत हैं।

(५) यह धारणा ग़लत है और अनुभव के भी विरुद्ध है कि जनसत्ता का अस्तित्व केवल एक ही निर्वाचित सभा में रह सकता है। अंग्रेज़ी-लार्ड सभा को देख कर प्रजा-तन्त्रवादियों ने प्रायः यह सोचा है कि दूसरी सभा का संबंध अनिवार्य रूप से वर्ग या विशेषाधिकार से है। सन् १७९१ में फ्रांसीसी विधान-निर्माताओं ने भी इसी ग़लत धारणा के कारण दूसरी सभा को व्यवस्थापिका में स्थान नहीं दिया था। वे समझते थे

१—लीकॉक-एलिमेन्टस् ऑव पॉलिटिक्स, पृ० १५३। इस जल्दबाज़ी के लिये लास्की कृत 'ए ग्रैमर ऑव पॉलिटिक्स' पृ० ३३ पढ़िये।

कि दूसरी सभा सार्वजनिक न रह सकेगी और एक खान्दानी संस्था हो जायगी। परन्तु लीकॉक के कथन में सत्यता है जब वह कहता है कि 'दोनों सभायें जनता से शक्ति ग्रहण कर सकती हैं और उनका निर्वाचन भिन्न-भिन्न अवधि के लिये और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से हो सकता है। उनके बीच भेद दिखाने के लिये जाति या सामाजिक दीवार नहीं होनी चाहिये। अमरीका के संयुक्त राज्य और फ्रांस की सेनेट इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।'[1]

एकसभात्मक प्रणाली के गुण

परन्तु यदि एकसभात्मक प्रणाली के विरुद्ध ये आपत्तियाँ हैं तो उसमें कुछ गुण भी पाये गये हैं। सर्व प्रथम, यह समझा गया है कि यदि व्यवस्थापिका में दो सभायें होती हैं तो उनके मध्य प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या तथा कलह रहती है। क्योंकि एक दूसरे से आगे रहने का प्रयत्न करती है और इसका उत्तम प्रमाण हमें लार्ड-सभा के इतिहास में मिलता है। इसका परिणाम यह होगा कि व्यर्थ ही में शासन-कार्य में देरी होगी और समय-समय पर गतिरोध उत्पन्न होंगे। जिसका फल यह होगा कि केवल कार्य ही में विलम्ब नहीं होगा वरन् क़ानून की निर्दोषता पर भी प्रभाव पड़ेगा। सभाओं की इस प्रतिद्वन्द्विता को अमरीका के बेञ्जमिन फ्रैंकलिन महोदय ने पूर्ण स्पष्ट कर दिया था। गार्नर[2] के शब्दों में उसने कहा था कि 'द्विसभात्मक व्यवस्थापिका एक ऐसी गाड़ी के समान है जिसके दोनों सिरों पर घोड़े जुते हुये हैं और वे दोनों विरुद्ध दिशाओं की ओर खींच रहे हैं।' इसी को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि दोनों सभाओं के बीच की प्रतिद्वन्द्विता व्यवस्थापिका के दो अंगों के मध्य रस्साकशी के समान है जिसका परिणाम यह होगा कि राज्य का क़ानून-निर्माणक यन्त्र सदैव गतिहीन रहेगा।

दूसरे, यदि यह भी मान लिया जाय कि दोनों सभाओं के बीच में रोज तो विषमता उत्पन्न न होगी, फिर भी यह धारणा कि वे दो हैं एक नहीं, व्यवस्थापिका के एकत्व को नष्ट कर देगी और उसमें द्वैत उत्पन्न कर देगी। व्यवहाररूप में इसका अर्थ हुआ कि एक क़ानून-निर्माणक सत्ता दो संगठनों के मध्य विभाजित हो जाती है। या थोड़े में कह सकते हैं कि यह स्वयं अपने ही में विभक्त रहती है।

तीसरे दो सभाओं के अस्तित्व का अर्थ केवल क़ानून-निर्माणक सत्ता का विभाजन ही नहीं होता वरन् उत्तरदायित्व का भी विभाजन होता है। और जहाँ उत्तरदायित्व-हीनता आई वहाँ असावधानी और अयोग्यता को स्थान मिला।

चौथे, एबे सीज़ (Abbe Sieyes) का कथन है कि एक निर्वाचित क़ानन-निर्माणक सभा 'एक' ही हो सकती है क्योंकि जनता एक है और उसका विचार एक है। एक ही उद्देश्य के लिये वे दूसरी सभा कैसे निर्वाचित कर सकते हैं जब तक कि उनका विचार दूसरा न हो गया हो। इसीलिये उसने दूसरी सभा को रखना मूर्खता माना था।

१—फ्रान्सीसी सेनेट से यहाँ १९३९—४५ के युद्ध के पहिले की सेनेट समझना चाहिये।

२—गार्नर-पॉलिटिकल साइंस एन्ड गवर्नमेंट, पृ० ६०१

उसीके शब्दों को ब्राइस ने इस प्रकार लिखा है कि 'द्वितीय सभा से क्या लाभ होगा ? क्योंकि यदि यह प्रतिनिधि-सभा से एकमत है तो यह व्यर्थ है और यदि असहमत है तो हानिकर है[1]।' दूसरे लेखक ने इस तर्क को इस प्रकार और आगे बढ़ाया है: 'यदि दोनों सभाओं का संगठन एक ही सा है तो उनमें से एक बेकार हो जाती है। यदि संगठन एक सा नहीं है और एक सेनेट का विचार मस्तिष्क में रक्खा जाता है तो एक खान्दानी वर्ग की सत्ता की स्थापना हो जायगी और जिसका परिणाम जनता की अधीनता होगी'।

द्वितीय सभा के गुण

द्विसभात्मक प्रणाली के दोषों और एक सभात्मक के लाभों के होते हुये भी लगभग प्रत्येक आधुनिक कालीन राज्य में दो सभायें हैं। और इस प्रकार द्विसभात्मक सरकार क़रीब-क़रीब सार्वभौमिक हो गई है। तब द्वितीय सभा से क्या लाभ है ?[2]

सर्वप्रथम, हम पहले ही देख चुके हैं कि मिल ने किस प्रकार ज़ोर दिया था कि यदि शक्ति एक अकेली सभा के हाथ में रहेगी तो वह स्वेच्छाचारिणी हो जायेगी। इसलिये यह शक्ति-विभाजन दोनों सभाओं की असीमित सत्ता के दुरुपयोग से बचा

१—गार्नर और मेरियट इसको इस प्रकार लिखते हैं: 'यदि द्वितीय सभा पहली से असहमत है तो यह हानिकर है और यदि सहमत है तो व्यर्थ है।'

फ़ाइनर ने लिखा है: 'यदि दोनों सभायें सहमत हैं तो दूसरी सभा अनावश्यक है और यदि असहमत हैं तो यह आपत्तिजनक है।'

स्ट्रांग ने इस प्रकार लिखा है: 'यदि द्वितीय सभा प्रथम सभा से सहमत रहती है तो यह व्यर्थ है और यदि ऐसे नहीं होता तो विनाशक है।'

२—सन् १९१७ और '१८ में 'ब्राइस सम्मेलन' (Bryce Confrence) में द्वितीय सभा के निम्नलिखित लाभ, कार्य अथवा उद्देश्य एकमत से निश्चित किये गये थे:—

(१) कामन-सभा से पास हुए बिल की जाँच और संशोधन।

(२) ऐसे बिलों को उपस्थित करना जिनके विषय में कोई मतभेद न उत्पन्न हो सके। क्योंकि यदि कामन-सभा के पास भेजने के पहिले ख़ूब अध्ययन करके उनकी रूप-रेखा तैयार कर ली जाय तो कामन सभा सरलता से पास करता है।

(३) बिल का क़ानून बनने के पहिले इतनी देर तक रोके रखना (अधिक नहीं) कि इस बिल की बाबत लोकमत मालूम हो जाय। इसकी उस वक़्त और आवश्यकता होगी जब बिलों का सम्बन्ध विधान को बुनियाद, या क़ानून के नये सिद्धान्तों से होगा अथवा जब ऐसे प्रश्न उपस्थित होंगे जब कि देश दो मतों में विभक्त दिखाई देगा।

(४) महत्वपूर्ण प्रश्नों पर स्वतंत्र और पूर्ण वादविवाद। उदाहरण स्वरूप कामन-सभा को समय न मिलने पर विदेशी नीति पर बहस। यह बहस और भी उपयोगी होगी यदि ऐसी सभा में हो जिसके वाद-विवाद और निर्णय कार्यकारिणी के भाग्य पर प्रभाव न डाल सकें। लीज़ स्मिथ—'सेकेंड चैम्बर इन थियरी ऐंड प्रैक्टिस', पृ० ३२-३३।

होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण शक्ति एक के हाथ में आने से उसका पतन आवश्यक है। और यदि ऐसी ही एक दूसरी सभा का नियन्त्रण न हुआ तो यह अपनी सीमा को पार कर जायेगी। इसीलिये लार्ड एक्टन (Lord Acton) ने द्वितीय सभा को 'स्वतन्त्रता का आवश्यक संरक्षक' कहा था। ब्राइस के शब्दों में दो सभाओं की आवश्यकता का आधार यह विश्वास है कि 'एक सभा की घृणापूर्ण, कठोर और भ्रष्टप्राय अन्तर्वर्ती प्रवृत्ति को रोकने के लिये इतनी ही शक्तिशाली दूसरी सहवर्त्ती सभा की आवश्यकता होती है।' लोक-सभा की उत्तेजना का सबसे अच्छा उदाहरण हमें इंगलैंड के कामन-सभा में मिलता है जिसने सन् १६४६ में अपने प्रस्ताव से लार्ड-सभा को खतम कर दिया था। परन्तु क्रॉमवेल के समय में फिर से उसकी स्थापना की गई थी। उसने कहा था कि 'मेरा कथन है कि जब तक आपके पास 'संतुलन' ऐसी वस्तु नहीं है हम सुरक्षित नहीं रह सकते।'......इस पार्लिमेंट की कार्यवाहियों पर ध्यान देने से आपको पता चलेगा कि उसके लिये एक नियन्त्रक शक्ति की आवश्यकता है।' नियन्त्रण की इस आवश्यकता को बेज्हाट ने भली प्रकार स्पष्ट कर दिया है। उसका कथन है कि यदि एक ऐसी आदर्श कामन-सभा होती जो 'सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती, सदैव संयत रहती और जो न कभी उद्वेग में आकर कार्य करती और न शांत और दृढ़ कार्य-प्रणाली को छोड़ती तो निश्चय ही हमको उच्च सभा की आवश्यकता न पड़ती। कार्य इतनी अच्छी तरह होता कि हमको निरीक्षण अथवा संशोधन के लिये किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता ही न होती'। परन्तु सभा ऐसी थी कि उसके लिये संशोधक अथवा नियंत्रक शक्ति अनिवार्य थी।

दूसरे, द्विसभात्मक प्रणाली में अपने आप ही सभी बिलों के पूर्ण विवेचन का अवसर प्राप्त होता है। यह एकसभात्मक प्रणाली में असम्भव है। अतः क़ानून पास करने में एक सभा जो जल्दबाजी दिखाती उसकी सम्भावना दूसरी सभा का प्रभाव कम कर देता है। और यह सभा इस प्रकार उचित क़ानून तथा शासन का आधार बनती है। आधुनिक क़ानून-निर्माणक सभायें तरह-तरह के कामों के बोझ से दबी रहती हैं इसलिये वे क़ानून बनाने में अपना पूरा ध्यान नहीं दे सकतीं। अतः जो बिल निम्न सभा पास कर देती है उस पर उच्च सभा फिर ग़ौर करती है और उसको जाँचती है। इसका यह अर्थ है कि दूसरी सभा का कार्य 'विलम्ब करना' और संशोधन करना है। और इस विलम्ब से यह लाभ होता है कि प्रत्येक बिल पर ख़ूब ग़ौर किया जाता है, गम्भीर वाद-विवाद होता है और उसके प्रत्येक अंग का विश्लेषण तथा निरीक्षण होता है।

तीसरे, यदि सिद्धान्तानुसार प्रजातंत्रात्मक राज्यों में बहुमत का शासन आवश्यक है तो अल्पमतों की रक्षा भी आवश्यक है। और इस रक्षा की उत्तम गारंटी शक्तिशाली द्वितीय सभा है। मेडिसन (Madison) का कथन है कि 'स्वार्थियों के गुट के खतरे से अल्पमत को कैसे बचाया जा सकता है? अन्य उपायों में से एक यह है कि शासन के अन्दर एक ऐसी संस्था की स्थापना की जाय जो अपनी न्याय-प्रियता और अपने विवेक के लिये प्रसिद्ध हो और जो अवसर पड़ने पर अपनी पूरी शक्ति के साथ न्याय का पल्ला पकड़े।' इसी प्रकार राज्य के विभिन्न हितों और वर्गों को भी

प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। इस प्रकार पूंजीपतियों और मजदूरों के प्रतिनिधि, कृषि और उद्योग के प्रतिनिधि, जमींदारों और मिल-मालिकों के प्रतिनिधि द्वितीय सभा में स्थान पा सकते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें योग्य और विद्वान् व्यक्तियों को भी स्थान दिया जा सकता है। यह ठीक ही कहा गया है कि उच्च सभा में क़ानूनों के मामले में केवल दोहरे और प्रौढ़ वादविवाद का ही लाभ नहीं मिलता वरन् इसमें हमें उन प्रसिद्ध व्यक्तियों की योग्यता से लाभ उठाने का अवसर मिलता है जो किन्हीं कारणों से निम्न सभा में नहीं बैठते जिससे उनकी सेवाओं से जनता वंचित रह जाती।

चौथे, यदि व्यवस्थापिका में केवल एक ही सभा रहती है तो इसमें बाहिरी प्रभाव पड़ सकता है और यह अपने उत्तरदायित्व को भूल सकती है। परन्तु जब दो सभायें रहती है तो दूसरी सभा अनुचित और बुरे क़ानूनों को पास होने से रोकती है।

पाँचवें, यह कहा गया है कि अनुभवी व्यक्तियों की द्वितीय सभा निर्णयों में विवेक का पुट देती है और जब दो सभायें एकमत हो जाती हैं तो क़ानून में जोर और शक्ति आ जाती है। यद्यपि एबे सीज महोदय ने कहा है कि यदि द्वितीय सभा प्रथम से सहमत हो जाती है तो कोई अर्थ नहीं निकलता और यदि असहमत होती है तो यह कार्य शरारत से पूर्ण होता है। परन्तु इसका मुँहतोड़ जवाब यह है: 'यदि दोनों सभायें एकमत हो जाती है तब तो क़ानून के औचित्य और उसकी न्याय-पूर्णता के प्रमाण के लिये और अच्छा है और यदि उनमे मतभेद उत्पन्न होता है तो लोगों को अपने दृष्टिकोणों पर फिर विचार करने का अवसर मिलता है।' दूसरे स्पष्ट है कि अन्त में उनका मतभेद भी हितकर है क्योंकि यह लोगों में उत्तरदायित्व जागरित करता है जिससे वे दोष को ढूँढ़ते हैं।

छठवें, द्वितीय सभाओं का समर्थन इस कारण से भी किया गया है कि वे संघराज्यों में 'राज्य-सिद्धान्त' के लिये उपयोगी सिद्ध हुई हैं। संघराज्यों में यदि निम्न-सभा जनगणना के अनुसार सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करती है तो उच्च-सभा अंगीभूत राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है और साधारणतः प्रत्येक राज्य चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा, जैसा कि अमरीका में है, द्वितीय सभा में समान संख्या में प्रतिनिधि भेजता है। अतः संघराज्यों में राज्य-सिद्धान्त दो उद्देश्यों के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रथम तो यह राज्य के व्यक्तित्व और राष्ट्रीयता में सामंजस्य स्थापित करता है, और दूसरे यह छोटे राज्यों को बड़े राज्यों के प्रतिनिधियों की बड़ी संख्या के दबाव से बचाता है।

संक्षेप में, द्वितीय सभा[1] को इसलिये समर्थन प्राप्त है कि यह स्वेच्छाचारिता जल्दबाजी तथा उत्तरदायित्वशून्यता को रोकती है; विलम्बात्मक तथा वादविवादात्मक है; राष्ट्र के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करती है और संघराज्य में समान रूप से छोटे-बड़े राज्यों के प्रतिनिधियों को स्थान देती है।

१—अधिक अध्ययन के लिये डा० बेणीप्रसाद कृत दि 'डेमोक्रेटिक प्रोसेस,' पृ० २५३-५४ और स्ट्रांग कृत 'मॉडर्न कान्सटीट्यूशन्स', पृष्ठ १८८-८६ देखिये।

द्विसभात्मक प्रणाली के पक्ष में डा० फाइनर के विचार

डा० फाइनर[1] ने द्विसभात्मक व्यवस्थापिकाओं का अस्तित्व बनाये रखने के दो कारण बताये हैं। पहला है संघ प्रणाली और दूसरा है विधान में जन-सिद्धान्त पर नियंत्रण रखने की इच्छा। उनका कहना है कि चाहे संघ सिद्धान्त की बिना पर द्वितीय सभा की आवश्यकता न भी पड़ती परन्तु किसी न किसी प्रकार की द्वितीय सभा रहती अवश्य। और अमरीकी सेनेट के पीछे भी नियंत्रण की व्यवस्था करने की इच्छा का अभाव नहीं था।

इस प्रकार उसका दावा है कि द्वितीय सभा के स्थापित करने का सर्व प्रथम बुनियादी उद्देश्य परामर्शदाताओं की एक बड़ी संख्या को एकत्र करने की इच्छा है जो वादविवाद, आलोचना तथा दलील द्वारा चिन्तन ही को प्रोत्साहित न करे वरन् गुत्थियों को भी सुलझा दे। जितनी ही अधिक गम्भीर समस्या होती है उतनी ही अधिक परामर्श की आवश्यकता होती है। यह भीषण रोग में देखा जा सकता है जिसमें रोगी के केवल उपलब्ध साधनों के ही अनुसार उसके परामर्शदाताओं की संख्या सीमित रहती है।' इस प्रकार मनुष्य 'आत्म-रक्षा' के लिये ही परामर्श लेते हैं और वे ऐसी संस्थाओं को जन्म देते हैं जो अपने निर्णयों में मं.,णात्मक होती हैं। ये कार्य-स्थगन, प्रस्तावों की सूचनाओं और परामर्शदाताओं की एक बड़ी भारी संख्या का उपयोग में लाते हैं। परन्तु राज्य के मामलों में प्रत्येक प्रस्ताव का परिणाम असीमित रहता। अतः शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिये और अधिक सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त जब राज्य-कार्य में विचारों का काफ़ी आदान-प्रदान रहता है तो क़ानून-पालन को प्रोत्साहन मिलता है और राज-भक्ति दृढ़ होती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अब ग़लती करने की कोई गुंजायश न रह गई होगी, कोई मनमाना कार्य न हुआ होगा। निर्णय ईश्वरीय आज्ञा की भाँति जान पड़ते हैं और यह विचार उठता है कि ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह करना व्यर्थ है और उसका मान लेने ही में भला है। प्रौढ़ वादविवाद अथवा द्वितीय सभा के पक्ष की दलीलों के ये स्थायी और आवश्यक उद्देश्य हैं।[2]

प्रौढ़ वादविवाद के अतिरिक्त दूसरा उद्देश्य 'स्वत्वों की रक्षा' है। द्वितीय सभाओं की स्थापना इसलिये हुई है कि 'वे लोग, जिनके हाथों में अधिकार और स्वत्व हैं, उनकी रक्षा के लिये मोर्चाबन्दी कर सकें। केवल क्रान्ति ही मोर्चाबन्दी नहीं करती, अनुदारतावाद अथवा परिवर्तन-विरोधवाद उससे भी अधिक करता है। वास्तव में, सभी द्वितीय सभायें स्वार्थ-रहित भाव से प्रौढ़ वादविवाद के लिये नहीं स्थापित की गई हैं, उनके निर्माणकों ने कुछ स्वार्थों को शेष जाति से बचाने के लिये इस प्रणाली की स्थापना की है'।

१—फ़ाइनर 'दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑफ़ मॉडर्न गवर्नमेंट' जि० १, पृ० ६७६

२—वही, पृ० ६७६-७७

डा० फ़ाइनर के इस मत की पुष्टि विलोबी महोदय ने की है। इन्होंने प्रधान न्यायाधीश स्पेन्सर के विचार को उद्धृत किया है। उन्होंने सन् १८२१ में यह दलील पेश की थी कि अमरीकी सेनेट केवल प्रतिनिधि-सभा पर नियंत्रण रखने के लिये ही नहीं बनायी गई थी वरन् 'इस उद्देश्य से स्थापित की गई थी कि यह आमतौर से हमारी सम्पत्ति की और विशेष रूप से राज्य के बड़े-बड़े जमींदारों के स्वार्थों की रक्षा करे'।[1]

१—लार्ड-सभा

एकसभात्मक और द्विसभात्मक व्यवस्थापिकाओं के गुण-दोष और दूसरी के सब जगह अपनाये जाने के उद्देश्यों का अनुशीलन करने के पश्चात् अब हम वर्तमान द्वितीय सभाओं का उनकी उपयोगिता की दृष्टि से अध्ययन करेंगे।

(१) सब से पहले हम लार्ड-सभा से आरम्भ करेंगे क्योंकि यह संसार की सबसे पुरानी द्वितीय सभा है। हम पहले ही देख चुके हैं कि यह सभा किन्हीं विशेष फ़ायदों के लिये पहिले से सोच-समझ कर नहीं बनायी गई थी वरन् यह ऐतिहासिक क्रम का परिणाम है। नार्मन-काल से अंग्रेज़ी समाज जमींदार-वर्ग और जनसाधारण में विभक्त रहा है और जब धार्मिक तथा लौकिक लार्ड और नागरिक तथा बुरोनिवासी अलग-अलग सभाओं में बैठने लगे तो यह समाज का केवल आर्थिक अथवा वर्गीय विभाजन था। जैसा फ़ाइनर महोदय का कहना है कि 'जब धनी, विजयी तथा अभिजात वर्ग ने शासन-शक्ति हस्तगत कर ली और उनको अशांति तथा विद्रोह के डर के कारण शेष लोगों के प्रतिनिधियों से परामर्श करना आवश्यक हो गया तब दो सभाओं का जन्म हुआ। यह विभाजन 'स्वार्थों का विभाजन' था, प्रौढ़ मंत्रणा और स्वेच्छाचारी तथा असंयत प्रजातंत्रात्मक सभा पर नियंत्रण रखने की इच्छा का परिणाम नहीं'।[2] इससे स्पष्ट है कि लार्ड-सभा की स्थापना के पीछे कोई योजना अथवा दार्शनिक सिद्धान्त नहीं था। इसको सामाजिक परिस्थितियों ने जन्म दिया और यदि इसमें कोई सिद्धान्त निहित था तो वह था 'पैतृक कुलीनता' का सिद्धान्त। इसका अर्थ यह है कि यह सभा स्वभावतः अनुदार थी क्योंकि यह सदैव सम्पत्ति रक्षा का प्रयत्न करती थी। इसने हमेशा स्थायित्व और सुरक्षा का समर्थन किया और सुधार तथा प्रगति का विरोध किया। आरम्भ से ही इसने राजा का समर्थन किया। इसीलिये सन् १६४६ में कामन-सभा ने इसको इंगलैंड की जनता के लिये खतरनाक और बेकार समझ कर खतम कर दिया था यद्यपि फिर शक्ति-संतुलन के लिये इसकी पुनर्स्थापना कर दी गई थी। शुरू से ही इसने अपने लिये निम्न-सभा के बराबर क़ानून बनाने के अधिकारों के लिये दावा किया था। परन्तु सन् १६१४ में लार्ड-सभा को कामन-सभा के अर्थ-बिल को पेश करने के अधिकार को स्वीकार करना पड़ा था। सन् १६७१ में फिर कामन-सभा ने यह निश्चित किया था कि कामन-सभा के द्वारा राजा को दी गयी आर्थिक सहायता के संबन्ध में लार्ड-सभा को

१— पूरी दलील के लिये विलोबी कृत 'दि गवर्न्मेंट ऑफ मॉडर्न स्टेट्स', पृ० ३३८ देखिये।

२—फ़ाइनर—'दि थियरी एन्ड प्रेक्टिस ऑफ मॉडर्न गवर्न्मेंट्स, जि० १, पृ० ६७६

कर-परिवर्तन का कोई अधिकार नहीं है। इसी प्रस्ताव की पुष्टि विस्तार पूर्वक सन् १६७८ और फिर सन् १८६० में हुई थी। जब लार्ड-सभा ने सन् १६०६ में शिक्षा-बिल में और सन् १६०६ में अर्थ-बिल में संशोधन का प्रस्ताव रक्खा तो ऐसे संकट को टालने के लिये पार्लियामेंट ने सन् १६११ में एक क़ानून पास किया जिसके अनुसार अर्थ-बिलों के सम्बन्ध में लार्ड-सभा के अधिकारों में कमी कर दी गई और दूसरे बिलों में भी कामन-सभा की सत्ता स्वीकार की गई। इसका पता सन् १६११ के क़ानून की निम्नलिखित धाराओं से लगती है :—

(१) यदि एक महीने तक लार्ड-सभा अर्थ-बिल को स्वीकार नहीं करती तो यह राजा की स्वीकृति के लिये भेज दिया जायगा और बिना लार्ड-सभा की स्वीकृति के ही यह क़ानून बन जायगा।

(२) यदि अर्थ-बिल के अतिरिक्त कोई अन्य बिल लगातार तीन अधिवेशनों तक कामन-सभा से पास हो जाता है तो लार्ड-सभा के तीसरी बार अस्वीकार करने पर राजा की स्वीकृति के लिये पेश किया जा सकता है और वह क़ानून बन जायेगा। परन्तु शर्त यह है कि द्वितीय वाचन और कामन-सभा के तीसरे बार पास करने के बीच दो साल बीत जायें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विधान में लार्ड-सभा का स्थान गौण कर दिया गया है और यह निम्न सभा के बराबर अधिकारों के लिये दावा नहीं कर सकती। यह अब संशोधक और जनावेग की नियन्त्रक नहीं रही। मेरियट के शब्दों में द्वितीय सभा की क़ानून-निर्माणक शक्ति समाप्त कर दी गई है और नाम को नहीं वरन् वास्तव में अंग्रेजी व्यवस्थापिका एकसभात्मक हो गई है।[1]

द्वितीय सभा के आवश्यक गुणों पर मेरियट के विचार

मेरियट ने यह भी बतलाया है कि द्वितीय सभा के तीन आवश्यक गुण[2] होते हैं। सर्वप्रथम, इसका आधार बोध-गम्य होना चाहिये। दूसरे, जिस सिद्धान्त पर यह आधारित हो उसे स्पष्ट और प्रकट होना चाहिये। तीसरे, उत्तरदायित्व-शून्य न होते हुये भी इसे स्वतन्त्र होना चाहिये।

इन सिद्धान्तों का लार्ड-सभा पर प्रयोग

जब हम इन सिद्धान्तों को लार्ड-सभा में ढूँढ़ते हैं तो केवल एक पैतृक सिद्धान्त आधार रूप में मिलता है जो मताधिकार के प्रजातन्त्रात्मक विस्तार और जन-सत्ता के दिनों में पूर्ण रूप से महत्वरहित है। इस प्रकार पहले से ही इसे समर्थन नहीं प्राप्त है।

१—मेरियट—'दि मेकैनिज़्म ऑव दि मॉडर्न स्टेट्स' जि० १, पृ० ४०५ और ४२८
विलोबी—'दि गवर्न्मेंट ऑव मॉडर्न स्टेट्स' पृ० ३३६
स्ट्रांग—'मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्स' पृ० १६४ (विस्तृत आलोचना के लिये)

२—मेरियट—'दि मेकैनिज़्म ऑव दि मॉडर्न स्टेट्स' जि० १, पृ० ४२०-२१

इसके निर्माण का कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं है जैसा कि संघराज्य में राज्याधार पाया जाता है। यह स्वतंत्रता, शक्ति और प्रभाव के न होते हुये भी उत्तरदायित्व शून्य है। संक्षेप में कह सकते हैं कि इसके पास अपने भावी अस्तित्व के लिये कोई दलील नहीं है। इंगलैंड का 'मजदूर-दल' इसमें कुछ सुधार नहीं चाहता, वह इसका खात्मा चाहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लार्ड-सभा केवल द्वितीय सभा के रूप में अनावश्यक और व्यर्थ ही नहीं है वरन् स्वयं सिद्धान्त ही, जिस पर यह आधारित है, दूषित और अवांछनीय है। अतः पैतृक सिद्धान्त[1] द्वितीय-सभा के संगठन का सिद्धान्त न समझा जाना चाहिये। टॉमस पेन (Thomas Paine) ने बिल्कुल ठीक कहा था कि पैतृक व्यवस्थापकों का विचार उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार पैतृक न्यायाधीश अथवा पैतृक पंचों का; उसी प्रकार बेतुका है जिस प्रकार पैतृक गणितज्ञ अथवा पैतृक बुद्धिमान का और उसी प्रकार हास्यजनक है जैसे पैतृक राष्ट्र कवि का।

लार्ड-सभा पूर्णतः अनुपयोगी नहीं है

परन्तु यह सोचना ग़लत है कि लार्ड-सभा बिल्कुल व्यर्थ है। यह अब भी महत्वपूर्ण कार्य करती है। और फ़ाइनर, लास्की और जेनिंग्स ऐसे लेखकों ने, इसकी कमज़ोरी, अनुदारता और इसके प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण की अलोचना करने के बाद भी इसकी उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट किये हैं।

डा० फ़ाइनर का विचार

डा० फ़ाइनर ने, यह स्वीकार करते हुये भी कि सन् १६११ के क़ानून ने लार्ड सभा के महत्व को बहुत कमज़ोर कर दिया है और इसका अस्तित्व केवल मौन अनुमति पर क़ायम है, इसके अस्तिव के पक्ष में निम्नलिखित कुछ दलीलें दी हैं :—

(क) जब किसी जटिल क़ानून को पास करने की समस्या आती है तो द्वितीय सभा से कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है क्योंकि समय और बहुत से मस्तिष्क मिल कर ही उसका उचित मसविदा तैयार कर सकते हैं और उसमें अर्थ का अनर्थ नहीं होने देते।

(ख) सरकार के शासन-कार्य पर वाद-विवाद के लिये यह अब भी सार्वजनिक संस्था का काम देती है। क्योंकि कामन-सभा के पास समय का अभाव होने के कारण द्वितीय सभा को जन-सेवा का अवसर मिल जाता है।

(ग) इसमें काफ़ी संख्या में योग्य व्यवस्थापक और शासन-कुशल व्यक्ति रहते हैं और इसी बिना पर लार्ड-सभा को खतम करने की दलील कमज़ोर पड़ जाती है।

(घ) निजी बिलों को पास करने में इससे सहायता प्राप्त होती है।

(ङ) कोई भी ऐसा राजनीतिक दल, जो उदार रहा है, अपने एक बड़े शक्तिशाली

१—लास्की-ए ग्रैमर ऑव पॉलिटिक्स, पृ० ३२६ को पैतृक सिद्धान्त के विरोध के लिये अवश्य पढ़िये।

बहुमत के साथ अब तक अपनी सरकार नहीं बना सका जो इसको खतम कर देता। दूसरे इसमें सुधार करने में असंख्य कठिनाइयाँ हैं।

जेनिंग्स का विचार

जेनिंग्स महोदय[1] का भी दावा है कि लार्ड सभा कुछ ऐसे कार्य करती है जो साधारणत: द्वितीय सभा को नहीं सौंपे जाते। ये कार्य निम्नलिखित हैं—

(क) यह इंगलैंड में होने वाले बहुत से मुक़दमों की अपील का अन्तिम न्यायालय है।

(ख) यह देश की नीति के व्यापक प्रश्नों पर वाद-विवाद करती है। यह कार्य अत्यन्त लाभप्रद है क्योंकि उसमें ऐसे व्यक्ति भाग लेते हैं जो शासन-प्रबन्ध का अनुभव रखते हैं या जो भारतवर्ष इत्यादि देशों के गवर्नर जनरल रह चुकते हैं अथवा जो राजदूत का कार्य किये रहते हैं। अतः इसका अन्त करने से कुछ हानि अवश्य होगी।

(ग) यह क़ानून-निर्माणक सभा का काम देती है क्योंकि कामन-सभा की भाँति इसमें भी बिल पेश किये जा सकते हैं। क़ानूनी लार्ड कभी-कभी कानूनों में सुधार करने के लिये बड़े अच्छे सुझाव पेश करते हैं।

(घ) यह सभा कामन-सभा से आये हुए बिलों पर वाद-विवाद करती है। परन्तु सन् १९११ में इसके अधिकार कम कर दिये गये थे। फिर भी यह सरलता से दो वर्ष का विलम्ब ला सकती है। जब बिल कामन-सभा से पास हो जाता है तो यह शोधक का कार्य करती है। यदि यह सभा उठा दी जाय तो यह कार्य करने के लिये किसी दूसरी समिति की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि बिलों में सुधार होना आवश्यक है।

(ङ) अन्त में लार्डसभा विशेषज्ञ का काम करती है। क़रीब आधे बिल पहले लार्ड-सभा की समितियों द्वारा जाँचे जाते हैं। लार्ड सभा कामन-सभा के कठिन परिश्रम का एक तिहाई बचा लेती है। क्योंकि यदि लार्ड सभा न होती तो कामन-सभा ही को सब काम करना पड़ता।

उपरोक्त बातों से पता चलता है कि लार्ड सभा को क्यों नहीं खतम किया जाता है। यद्यपि यह ठीक है कि ये कार्य लाभदायक हैं परन्तु अत्यन्त आवश्यक नहीं।

लास्की का विचार

लास्की[2] ने लार्ड-सभा के पैतृक सिद्धान्त की कटु आलोचना करने के बावजूद भी इसके गुणों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

(क) इसके वाद-विवादों में अनुभवी और योग्य राजनीतिज्ञ भाग लेते हैं।

(ख) यह बड़े इत्मीनान से धीरे धीरे कामन-सभा से भेजे हुये बिलों का निरीक्षण करती है।

१—जेनिंग्स—ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन, पृ० ९५-१०१

२—लास्की—दि पार्लिमेंटरी गवर्न्मेंट इन इंगलैन्ड, पृ० ११३-१३८

(ग) यह कुछ ऐसी सार्वजनिक समस्याओं की ओर ध्यान दिलाती है जिनको तत्कालीन सरकार क़ानून के विषय के लिये अप्रौढ़ समझती है। इस प्रकार यह लोकमत को जानने के लिये लाभदायक साधन है।

(घ) बिलों की जाँच करने में प्रशंसनीय कार्य करती है।

लार्ड-सभा का अन्त न किये जाने के कारण

परन्तु लास्की की दृष्टि से ये वास्तविक कारण नहीं हैं जो इसका अन्त करने अथवा इसमें सुधार करने में बाधा पहुँचाते हैं। चूँकि लार्ड-सभा 'धन का दुर्ग' है इसलिये यह अनुदार सरकार के लिये तो बहुत उपयोगी है परन्तु यह समाजवादी ऐसे अग्रगामी दलों के कानून निर्माण के कार्य में अवश्य विलम्ब डालेगी और बाधा पहुँचायेगी। इसीलिये निम्नलिखित कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं :—

(१) यदि इसको इसी अवस्था में रहने दिया जाता है तब तो समाजवादी सरकार से संघर्ष अवश्य होगा;

(२) यदि अनुदार दल इसमें सुधार करता है तो समाजवादियों को यह मान्य नहीं होगा;

(३) और यदि इसमें समाजवादी सुधार करते हैं तो यह अनुदार दल को मान्य नहीं होगा।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इतने वर्षों के बाद और सुधार की पुकार होने पर भी न इसमें कुछ सुधार किये जा सके और न इसको बिल्कुल खतम ही करने की कोई कार्रवाई ही की गई। यदि इनमें से कोई भी कार्य किया जायेगा तो राजनीतिक क्षेत्र में संघर्ष अनिवार्य हो जायेगा। अतः लास्की की राय में इसका एकदम अन्त कर देने की अधिक गुंजाइश है, इसके धीरे धीरे कमज़ोर होने की कम।

इन दलीलों के अतिरिक्त, इसे खतम कर देने के पक्ष में एक और दलील यह है कि सन् १६११ के कानून के बाद कामन-सभा की तुलना में यह बहुत कमज़ोर हो गई है। इसलिये यह कोई शरारत नहीं कर सकती। दूसरी ओर इसको अपने में अत्यन्त अनुभवी व्यक्तियों को रखने का लाभ प्राप्त है और कामन-सभा के कार्य-भार को भी हल्का करती है। यदि इसका भी निर्वाचन आरम्भ कर दिया जाय तो यह निम्न सभा के समान अधिकारों की माँग पेश करेगी। अर्थात् यदि यह आज किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करती है और कामन-सभा सभी का प्रतिनिधित्व करती है तो निर्वाचन के आधार पर यह भी कुछ का तो प्रतिनिधित्व करेगी ही। इसका यह अर्थ हुआ कि इसकी वर्तमान निर्बल अवस्था हितकर है और इसी में इसकी शक्ति निहित है। क्योंकि यदि यह शक्ति-शालिनी होती तो इसका अन्त अवश्य कर दिया जाता। परन्तु लास्की को इस कथन पर आपत्ति है।। वह कहता है कि यदि संकट काल में यह समाजवादी क़ानून के पास होने में दो साल की देरी डाल सकती है (अनुदार दल के कानून में ऐसा नहीं करेगी) तब तो यह और अधिक शरारत कर सकती है। अतः समाजवादी सरकार के क़ानून पास होने में यदि इसने बाधा उपस्थित की तो इसका खात्मा अवश्यम्भावी है।

२—कनाडी सेनेट

लार्ड-सभा के बाद जो पैतृक सिद्धान्त[1] पर अकेली द्वितीय सभा है, हम कनाडी सेनेट पर विचार कर सकते है जो नामज़दगी के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें ६६ सदस्य होते हैं जिनको गवर्नर जनरल जीवन भर के लिये नामज़द कर देता है। वस्तुतः उनकी नियुक्ति डोमीनियन मंत्रियों द्वारा होती है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इसमें प्रान्तों का प्रतिनिधित्व बराबर नहीं है। क्योंकि कुछ तो ऐसे प्रान्त हैं जो २४ सदस्य भेजते हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल चार ही भेजते हैं। इससे स्पष्ट है कि सेनेट की रचना में संघ-सिद्धान्त की अवहेलना की गई है और प्रतिनिधित्व में असमानता रक्खी गई है। इस योजना का सार यह है कि सेनेट के आधार का न कोई विशेष सिद्धान्त है और न इसको स्वतंत्रता ही प्राप्त है जो द्वितीय सभा के लिये वांछनीय है। इसी कारण यह संसार की सभी द्वितीय सभाओं से कमज़ोर[2] साबित हुई है।

नामज़दगी का यही सिद्धान्त इटली की सेनेट में भी (१६३६-४५ के युद्ध के पहिले) मिलता था। इसमें केवल राजकुमारों की ही नियुक्ति नहीं होती थी वरन् कुछ निश्चित वर्ग जैसे राष्ट्रसेवी, उच्च राज्याधिकारी, वैज्ञानिक तथा विद्वान नामज़द किये जाते थे। नियुक्तियाँ राजा करता था जो वस्तुतः मंत्रिमंडल द्वारा होती थीं। सिद्धान्त में सेनेट और प्रतिनिधि-भवन को बराबर अधिकार प्राप्त थे। परन्तु वास्तव में प्रतिनिधि-भवन ने इसको ग्रस रक्खा था यद्यपि बिना इसकी स्वीकृति के कोई बिल क़ानून नहीं बन सकता था।

१—सन् १६१७-१८ के ब्राइस सम्मेलन में जब लार्ड-सभा के पैतृक सिद्धान्त में सुधार करने के प्रश्न पर विचार हो रहा था तो सुधार-योजना निम्नलिखित चार सिद्धान्तों पर आधारित थी :—

(क) आस्ट्रेलियन सेनेट की भाँति बड़े-बड़े निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव।

(ख) दलबन्दी से अलग रहने वाले कुछ ऐसे प्रसिद्ध व्यक्तियों की नामज़दगी जो निष्पक्ष भाव से सार्वजनिक समस्यायों पर विचार कर सकें।

(ग) फ्रान्सीसी सेनेट द्वारा पेश की हुई योजनानुसार स्थानीय अधिकारियों द्वारा निर्वाचन।

(घ) कामन-सभा द्वारा निर्वाचन।

—ली स्मिथ कृत सेकेन्ड चैम्बर इन थियरी एन्ड प्रैक्टिस

२—ब्राइस का कथन है कि 'इनमें से (द्वितीय सभाओं) फ्रान्सीसी सेनेट सब से अधिक शक्तिशाली है और कनाडा सब से कमज़ोर'। उसका फिर कहना है कि 'कार्यकारिणी के द्वारा नामज़दगी की योजना अधिक प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि साधारणतः सदस्य दल-बन्दी की बिना पर चुने जाते हैं। कभी-कभी, जैसा कि कनाडा में होता है, द्वितीय सभा में बहुमत स्थापित करके मन्त्रिमंडल को सुरक्षित करने के लिये ही नहीं वरन् ऐसे वृद्ध समर्थकों को पुरस्कृत करने के लिये

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि नामज़दगी के सिद्धान्त से भी शक्तिशाली द्वितीय सभायें नहीं बनतीं। कार्यकारिणी के समक्ष अपना अधिकार नहीं जता सकतीं क्योंकि उनको स्वतंत्रता नहीं रहती। इसका कारण केवल नामज़दगी ही नहीं वरन् इनको सरकार के दृढ़ समर्थकों [1] के रूप में नामज़द करना भी है। इस तरह हम नामज़द द्वितीय सभाओं[2] में कोई उपयोगिता नहीं पाते क्योंकि वे कार्यकारिणी की नीति और उसके शासनप्रबन्ध की वास्तविक आलोचना नहीं कर पातीं।

३—अमरीकी सेनेट

इन पैतृक और नामज़द द्वितीय सभाओं के पश्चात् अब हम अमरीका और आस्ट्रेलिया की सेनेटों का अध्ययन करेंगे जो निर्वाचन के सिद्धान्त पर आधारित हैं।

सेनेट संसार की सभी द्वितीय सभाओं में शक्तिशालिनी[3] समझी गई है। इसका कारण यह है कि निर्वाचन का सिद्धान्त केवल बोधगम्य ही नहीं है, महत्वपूर्ण भी है। क्योंकि इसमें संघ-सिद्धान्त के अनुसार संघराज्य के सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है। आरम्भ में अंगीभूत राज्यों की व्यवस्थापिकायें सेनेट का निर्वाचन करती थीं, अर्थात् इसकी रचना का आधार अप्रत्यक्ष निर्वाचन था। परन्तु सन् १९१३ में विधान में संशोधन किया गया था और तब से प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रयोग में लाया जाता

जो निर्वाचन-क्षेत्र में अपना प्रचार नहीं कर सकते और आराम का जीवन व्यतीत करने लग जाते हैं, नामज़दगी होती है। कुछ ऐसे भी देश हैं जहाँ गुप्त रीति से राजनीतिक सहायता देने अथवा दल के लिये खूब धन देने से ऐसे लोगों के लिये द्वितीय सभा के दरवाज़े खुल जाते हैं जिनकी योग्यता के ज्ञान से जनता वंचित रहती है।'—माडर्न डेमोक्रेसीज़ जि० २, पृ० ४४३

ऐसा ही ली स्मिथ का भी विचार है। उसका कहना है कि व्यवहार रूप में 'कनाडा में क़रीब-क़रीब पूरे पिछले पचास वर्षों तक एक ही सभा की सरकार रही है'। सेनेट महत्वपूर्ण बिलों को न पेश ही कर सकती है और न उन पर नियंत्रण ही रख सकती है। यह किसी तरह से जीवित है। इसका सिद्धान्त तथा उद्देश्य ग़लत रहता है। कनाडा के अनुभव से यह सीख मिलती है कि दूसरे देशों को इसकी नक़ल नहीं करनी चाहिये।'

—सेकेन्ड चेम्बर इन थियरी एन्ड प्रैक्टिस, पृ० ७९-८१

१—यह इटली में भी हुआ है। सन् १८९० में सेनेट में ७५ सदस्य केवल उसके मत को बदलने के लिये नामज़द किये गये थे। और कुछ ही समय पहिले मुसोलिनी ने भी फ़ासिस्तों को उसमें घुसेड़ कर ऐसा ही किया था।

२—कनाडा सेनेट पर लास्की की राय और आलोचना के लिये उसकी पुस्तक 'ए ग्रैमर ऑव पॉलिटिक्स' पृ० ३२९ देखिये।

३—फ़ाइनर का कहना है कि यदि 'सेनेट को उसके कार्यों सहित कांग्रेस में से हटा लें तो आप प्रतिनिधि-सभा को क़ानून पास करने का मनमाना अधिकार ही नहीं दे देंगे वरन

है। इसका तात्पर्य यह है कि सेनेट जनता का उतना ही प्रतिनिधित्व करती है जितना कि प्रतिनिधि-सभा। इस प्रकार यह केवल शक्तिशाली द्वितीय सभा ही नहीं हो गई है वरन् यह स्वतंत्रता और साहस के साथ कार्य भी कर सकती है। परन्तु इसके प्रत्यक्ष निर्वाचन का परिणाम यह हुआ है कि यह निम्नसभा की प्रतिद्वन्द्वी हो गई है और दोनों

अध्यक्षता और शासन के आवश्यक अंगों को बरबाद कर देंगे। एक ऐसी खाई बन जायगी कि उसके आस पास की ज़मीन बग़ैर अन्दर गिरे नहीं रह सकती। यदि फ्रान्सीसी विधान में से फ्रान्सीसी सेनेट को निकाल लें तो पूर्व-स्थापित संतुलन में केवल कुछ ही गड़बड़ी होगी; यदि अंग्रेज़ी लार्ड-सभा को हटा लें तो विधान और अधिक समतल भूमि पर आ जायेगा। इन सभाओं को हटाने का मतलब होगा एक हाथ या एक पैर अलग कर देना इससे अधिक कुछ हानि नहीं होगी। परन्तु अमरीकी सेनेट को अलग कर देने का मतलब है संघ-शासन की अंतड़ियाँ पूर्ण रूप से निकाल लेना। सेनेट के शासनाधिकारों में ही उसकी शक्ति का रहस्य है'—दि थियरी एन्ड प्रेक्टिस आफ मॉडर्न गवर्न्मेंटस् जि० १, पृ० ७१३

पेटरसन ने अपनी पुस्तक 'अमेरिकन गवर्न्मेंट' के पृ० ३७७ में सेनेट की शक्ति बढ़ाने के कारणों को दिखालाया है :—

(१) शासन कार्यों में अधिक विस्तार।

(२) कार्यकारिणी के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि और इनको करने में सेनेट का भी हाथ। क़ानून बनाने तथा नियुक्ति और संधि करने में सेनेट काफ़ी महत्वपूर्ण है; यह अध्यक्ष के द्वारा की हुई नियुक्तियों तथा अर्थ-बिलों पर नियंत्रण रखती है जिनको विधानुसार निम्न सभा ही पेश कर सकती है; वक़्फ़-संबंधी बिलों में भी इसको काफ़ी अधिकार प्राप्त हैं।

(३) सेनेट के सदस्यों का जनता-द्वारा निर्वाचन।

(४) सेनेट के सदस्यों का समाज के बड़े बड़े आर्थिक हितों से संबंध, क्योंकि बहुधा वे स्वयं वकील अथवा बड़े बड़े व्यापारी होते हैं।

(५) निम्न-सभा के सदस्यों की अपेक्षा सेनेट के सदस्यों में अधिक योग्यता।

(६) दीर्घ अवधि और जन-सेवा का दीर्घतर अवसर।

(७) सेनेट की कार्यवाही के नियम, जिन्होंने इसको राष्ट्र का सार्वजनिक न्यायालय बना दिया है।

(८) सेनेट के विस्तार के कारण सदस्यों का एक अपना व्यक्तित्व रहता है जिससे उनका प्रभाव बढ़ता है।

(९) मंत्रि-मंडल प्रणाली का अभाव, जिससे सेनेट को सरकार बनाने और बिगाड़ने का मौका मिल गया है क्योंकि निम्न-सभा को यह अधिकार नहीं है। शायद यही एक गूढ़ विषय है जिसके लिये विधान उत्तरदायी है।

सभाओं के निर्वाचन की एक ही प्रणाली[1] होने से लाभ की कोई सम्भावना नहीं है। इससे व्यर्थ का दुहरा काम ही नहीं हो जाता है वरन् यह संघ-सिद्धान्त को भी निरर्थक कर देता है। इसके अतिरिक्त विलोबी[2] के अनुसार यह धनिकों का अड्डा रही है। अतः इनके अपने स्वार्थ रहे हैं। इसी कारण जनता के द्वारा चाहे जाने वाले सुधारों में ये स्वार्थ बाधा रूप में सामने आते रहे हैं। इन परिवर्तनों से यह स्पष्ट है कि द्विसभात्मक प्रणाली के पक्ष में रक्खी जाने वाली दलीलों का जोर यदि बिलकुल खतम नहीं होता तो कम अवश्य पड़ जाता है।'

४—आस्ट्रेलियन सेनेट

आस्ट्रेलिया में भी संघ-सिद्धान्त के अनुसार सेनेट का निर्वाचन होता है। इसके सदस्यों को प्रत्येक राज्य के लोग स्वयं चुनते हैं। अर्थ-बिलों को छोड़ कर अन्य सभी बिलों के संबंध में सेनेट और प्रतिनिधिसभा को क़ानून बनाने के समान आधिकार प्राप्त हैं। परन्तु जिस प्रकार अमरीकी संयुक्त-राज्य की सेनेट अविच्छिन्न रहती है और जिसके एक तिहाई सदस्य हर दो साल के बाद अलग हो जाते हैं उसी प्रकार आस्ट्रेलियन सेनेट भी क़रीब-क़रीब[3] अविच्छिन्न रहती है क्योंकि इसके आधे सदस्य हर तीसरे साल अलग होते हैं। इसलिये यदि लास्का की दृष्टि में अमरीकी संयुक्त-राज्य की सेनेट पूर्ण रूप से शक्तिशाली है तो प्रो० स्ट्रांग के शब्दों में आस्ट्रेलियन सेनेट अंग्रेज़ी डोमीनियनों में सबसे अधिक शक्तिशाली द्वितीय सभा है।

५—फ्रान्सीसी सेनेट

इस प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त के साथ-साथ हम फ्रान्सीसी सेनेट पर भी विचार कर सकते है क्योंकि इसका आधार अप्रत्यक्ष-निर्वाचन रहा है। चूँकि फ्रांस

१—ब्राइस का कथन है कि 'सर्वव्यापक मताधिकार के अनुसार निर्वाचन से द्वितीय सभा को निस्सन्देह यह लाभ हुआ है कि यह प्रथम सभा की भाँति प्रतिनिधित्व के गुण से युक्त हो गई है। परन्तु ऐसा होने से यह अनिवार्यतः बराबर शक्ति और अधिकारों का दावा करती रहती है। चूँकि स्वयं जनता इसको जन्म देती है और इसके सदस्य बड़े-बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों से चुने जाने के कारण लोक मत के एक बड़े अंश का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिये प्रथम सभा का प्रतिद्वन्द्वी हो जाना इसके लिये स्वाभाविक है। इस योजना में एक दूसरा दोष है। यदि द्वितीय सभा का चुनाव प्रथम सभा के निर्वाचन के समय ही होता है तो दोनों एक ही राजनैतिक दल से प्रभावित होंगी। ऐसी दशा में इसके संयत करने वाले गुण का अभाव हो जाता है। दूसरी ओर यदि दोनों में से कोई एक पहिले या बाद में निर्वाचित हुई तो जिस सभा का निर्वाचन बाद में होगा वह जनता के यथार्थ दृष्टि कोण का प्रतिनिधित्व करने का दावा करेगी। इसके अतिरिक्त वे लोग जो इन दो सभाओं के सदस्य बनते हैं—आयु की बिना पर कोई अन्तर नहीं होता—एक ही वर्ग से आयेंगे अतः राष्ट्र-सेवा के लिये अधिक ज्ञान या विवेक नहीं प्राप्त होता।'
—माडर्न डेमोक्रैसीज़, जि० २, पृ० ४४२

२—विलोबी—दि गवर्नमेंट ऑव माडर्न स्टेट्स' पृ० ३४०

३—आस्ट्रेलियन सेनेट पूर्ण रूप से अविच्छिन्न नहीं रहती है क्योंकि प्रतिनिधि सभा से मतभेद के समय यह उसके साथ भंग की जा सकती है।

एकात्मक राज्य रहा है अतः वहाँ सेनेट का निर्वाचन संघीय अथवा राज्य सिद्धान्त पर नहीं हो सका। इसके सदस्य सदैव निर्वाचक-मंडलों के द्वारा निर्वाचित किये गये हैं जो विशेष कर इसी कार्य के लिये बनाये जाते थे। यह अविच्छिन्न भी रहती थी क्योंकि इसके एक तिहाई सदस्य हर तीसरे साल अलग होते थे। सन् १६३६-४५ के युद्ध में फ्रान्स के पतन से पहिले यह काफ़ी प्रभावशालिनी थी और केवल अमरीकी संयुक्तराज्य की सेनेट ही से कम थी। परन्तु जैसा कि विल्सन[1] ने कहा है वह उस समय भी प्रतिनिधि-भवन के दबाव में रहती थी। परन्तु मेरियट[2] इस विचार से असहमत है। उसका कहना है कि फ्रान्सीसी द्वितीय सभा अत्यन्त संतोषजनक और योग्य है। इसके निम्नलिखित कारण है

(१) यह प्रतिनिधि-भवन के साथ मिलकर अध्यक्ष को चुनती है और निम्न-सभा के सामने उसपर मुक़दमा चला सकती है।

(२) इसको प्रतिनिधि-भवन के साथ संधि कार्यान्वित करने का अधिकार और अध्यक्ष के साथ निम्न-सभा को भंग करने का अधिकार है। दूसरे अधिकार का यह तात्पर्य है कि एक तरह से कार्यकारिणी का अस्तित्व सेनेट की दया पर निर्भर है।

(३) इसका अस्तित्व अविच्छिन्न है।

परन्तु लास्की अप्रत्यक्ष निर्वाचन[3] के सिद्धान्त के पूर्ण रूप से विरुद्ध है। सर्व प्रथम उसका कहना है कि यदि इस प्रकार की सभा निर्वाचन के समय तत्कालीन सरकार का विरोध करती है तो कार्य की उत्तमता में बाधा पहुँचती है और यदि उसका समर्थन करती है तो यह निरर्थक सिद्ध होती है।

१—विल्सन—दि स्टेट, पृ० १५७।

२—मेरियट—दि मेकैनिज़्म ऑव दि मॉडर्न स्टेट, जि० १, पृ० ४१६-२०। इसके अतिरिक्त बार्थलेमी के मत के लिये जे० बी० मॉरिस द्वारा अनूदित उसकी पुस्तक, दि गवर्नमेंट ऑव फ्रांस, पृ० ६१-६२ और ७२-७६ पढ़िये।

३—ब्राइस ने भी अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त पर, फ्रान्सीसी और अमरीकी सेनेटों की आलोचना करते हुये कहा है कि 'सीमित मताधिकार पर आधारित निर्वाचन से सभा पर वर्ग-संस्था होने का दोष लगता है जो कि सदैव सार्वजनिक दृष्टिकोण का विरोध करती है। स्थानीय अधिकारियों से निर्मित निर्वाचक-मंडल के द्वारा निर्वाचन होने से फ्रान्स को एक शक्तिशाली सेनेट मिली है परन्तु इसने उन अधिकारियों के सार्वजनिक-निर्वाचन में दल-राजनीति को डाल दिया है। डिपार्टमेंटीय समिति में जाने वाले उम्मीदवार अपने को दल-उम्मीदवार घोषित करते हैं और दल उनके लिये कोशिश करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थानीय संस्था उन राष्ट्रीय समस्याओं के आधार पर दलों में विभक्त हो जाती है जिनका संबंध वास्तविक कार्य से बिल्कुल नहीं होता। जिस प्रकार संयुक्त-राज्य में राज्य-व्यवस्थापिकाओं द्वारा संघीय सेनेट के सदस्यों के निर्वाचन में, इस संस्थाओं में दलबन्दी की छाप लग गई है उसी प्रकार फ्रांस में डिपार्टमेंटीय समितियाँ भी दलबन्दी से काफ़ी प्रभावित हैं। और शायद इतनी प्रभावित न होतीं यदि उनको सेनेट को चुनने में भाग न दिया जाता।—मॉडर्न डेमोक्रैसीज़, जिल्द २, पृ० ४४३।

दूसरे, भ्रष्टाचार को अत्यधिक बढ़ाने वाली वस्तुओं में अप्रत्यक्ष-निर्वाचन सब से गया गुज़रा है। क्योंकि एक साधारण सदस्य किसी भी बड़े व्यापारिक स्वार्थ का मनोमीत व्यक्ति हो सकता है। इसी कारण से संयुक्त-राज्य ने सेनेट के चुनने की प्रणाली प्रत्यक्ष-निर्वाचन कर दी है।

तीसरे, यदि अप्रत्यक्ष निर्वाचन का आधार व्यापार और पेशा को होना है, जैसा कि ग्राहमवालाज ने द्वितीय सभा के संगठन की तजवीज पेश की थी, तो 'हमको एक असाध्य समस्या का सामना करना पड़ेगा कि किस प्रकार प्रत्येक व्यापार और पेशा का आपस में संतुलन किया जाय कि सभा में इनका पूर्णरूप से समानुपातिक प्रतिनिधित्व हो।[1]

मिश्रित रूप

अभी तक हमने पैतृक, नामज़दगी, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धांतों[2] पर आधारित द्वितीय सभाओं पर विचार किया है। परन्तु कुछ ऐसी भी द्वितीय सभायें हैं जिनमें कोई न कोई दो सिद्धान्त एक साथ मिलते हैं।

१—स्विटज़रलैंड

स्विटज़रलैंड में राज्यसभा बाहर से संघीय सिद्धान्त पर आधारित मालूम पड़ती है क्योंकि सभी कैन्टन बराबर संख्या में प्रतिनिधि भेजते हैं। परन्तु उसके पश्चात समानता समाप्त हो जाती है। कुछ कैन्टन एक ही वर्ष के लिये सदस्य भेजते हैं, कुछ ऐसे हैं जो दो, तीन, अथवा चार वर्ष के लिये भेजते हैं। यदि कुछ में सदस्यों का निर्वाचन सार्वजनिक होता है तो कुछ में कैन्टन की व्यवस्थापिकायें चुनती हैं। इससे स्पष्ट है कि राज्य सभा की अपनी कोई अवधि नहीं है। विलसन का कहना है कि 'इसको संघीय सभा कठिनता से कहा जा सकता है; यह द्वितीय सभा ही है। इसका अस्तित्व अनियमित तथा अस्थायी है।'

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑव पॉलिटिक्स, पृ० ३३०

२—अंग्रेज़ी लार्ड-सभा में सुधार करने के लिये गत शताब्दी के अन्तिम चरण से तमाम तजबीज़ें पेश की जा रही हैं। सन् १९१८ में ब्राइस-समिति ने द्वितीय सभा की पूरी समस्या का अध्ययन किया था। परन्तु इसकी रिपोर्ट को भी समर्थन न प्राप्त हुआ और वह ताक़ के हवाले की गई। जैसा कि मैरियट का कहना है इसकी शिफ़ारिशों में 'फ़्रान्सीसी सेनेट की सादगी और समानुपात दोनों की कमी थी।' इसकी सिफ़ारिश थी कि लार्ड-सभा में (१) लगभग २७३ के कामन-सभा के सदस्य-मंडलों द्वारा निर्वाचित सदस्य हों। इसके लिये कामन-सभा का विभाजन १४ या १५ भौगोलिक समूहों में हो, और (२) दोनों सभाओं की संयुक्त-समिति के द्वारा चुने हुये कुछ सदस्य हों जो ८१ से ज़्यादा न हों। समिति का चुनाव पैतृक अथवा धार्मिक पिअरों में से हो। मतभेद एक निश्चित ढंग से स्वतंत्र सम्मेलन बुलाकर दूर किये जायें।—दि मेकैनिज़्म ऑव माडर्न स्टेट्स, जि० १, पृ० ४२६।

ब्राइस सम्मेलन के पूर्ण विवरण के लिये प्रत्येक विद्यार्थी को ली स्मिथ की पुस्तक 'सेकेंड चैम्बर्स इन थियरी एन्ड प्रैक्टिस' के ११वें अध्याय 'ब्राइस कान्फ्रेंस' को पढ़ना चाहिये।

लार्ड-सभा में सुधार करने की दूसरी योजनाओं के लिये इस अध्याय के अन्त में टिप्पणी २ को देखिये।

२—दक्षिणी-अफ्रीका

दक्षिणी अफ्रीका में प्रत्येक प्रान्त बराबर संख्या में सेनेट-सदस्य चुनता है। परन्तु गवर्नर-जनरल भी एक निश्चित संख्या नामजद करता है। इस प्रकार इसमें निर्वाचन और नामजदगी के दोनों सिद्धान्तों का सम्मिलन है।

३—आयरलैंड

आयरलैंड में सन् १९३७ के विधान के अनुसार सेनेट में निर्वाचित और नामजद किये हुये दोनों प्रकार के सदस्य होने लगे हैं।

४—सोवियत रूस

सोवियत रूस की राष्ट्र-सभा में प्रधान-संघ-सभा, स्वराज प्राप्त प्रजातंत्र-राज्य तथा स्वराज-प्राप्त प्रान्तों की श्रमजीवी-प्रतिनिधि-पंचायतों के द्वारा नियुक्त किये हुये प्रतिनिधि रहते हैं। प्रत्येक राज्य से दस और प्रत्येक प्रान्त से पाँच प्रतिनिधि आते हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ संघ-सिद्धान्त का पूर्ण रूप से पालन नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र-सभा को संघ-सभा के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। यदि इन दोनों के मध्य मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो समान प्रतिनिधित्व के आधार पर सुलह-कमीशन नियुक्त किया जाता है। यदि इसे दोनों सभाओं को सन्तुष्ट करने में सफलता नहीं मिलती तो सभापति-समिति दोनों को भंग कर देती है। इस प्रकार देखते हैं कि सोवियत-संघ में भी द्वितीय सभा के आधार का कोई सिद्धान्त नहीं है।

५—जापान

जापान में पिअर-सभा में पैतृक, नामजद और निर्वाचित सदस्य रहते हैं। राजकुमार, काउन्ट, बैरन अपने ही वर्गों से निर्वाचित होते हैं। इसके पश्चात् वे लोग आते हैं जो भूमि, व्यापार और उद्योग पर सबसे अधिक कर देने वालों में से चुने जाते हैं। अन्त में वे आते हैं जिनको सम्राट उनकी विद्वता अथवा अन्य महान सेवाओं के उपलक्ष में मनोनीत करता है। ऐसे संगठन का परिणाम यह हुआ है कि सभा हमेशा प्रतिक्रियावादी रही है और सदैव प्रगतिशील कानूनों के पास होने में रोड़ा अटकाती रही है।

६—भारतवर्ष

अन्त में हम भारतवर्ष के संबंध में भी कुछ कह सकते हैं। यहाँ राज्य-परिषद् (Council of State) में निर्वाचित तथा नामजद दोनों प्रकार के सदस्य होते हैं और यह सर्व विदित है कि किस प्रकार नामजद सदस्य सदैव प्रतिक्रियावादी तथा अनुदार रहे हैं।

सारांश

संसार की द्वितीय सभाओं के संगठनात्मक सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कोई भी द्वितीय सभा सिद्धान्तों की दृष्टि से अथवा उपयोगिता की दृष्टि से अपने को निर्दोष नहीं प्रमाणित कर सकती। पैतृक

सिद्धान्त अनर्थकर है क्योंकि यह पूर्ण प्रतिक्रियावाद और अनुदारता का समर्थक है; नामजदगी का सिद्धान्त इसलिये बुरा है कि नामजद किये हुए सदस्यों की स्वतंत्रता चली जाती है और प्राय: वे प्रगत्यावरोधक प्रमाणित होते हैं; प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त में व्यर्थ ही उसी प्रणाली को फिर से दुहराना पड़ता है जिसका प्रयोग प्रथम सभा में पहले हो चुका होता है और इस प्रकार एक प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न हो जाता है जो अपने प्रभुत्व के लिये लड़ता है; अप्रत्यक्ष-निर्वाचन का सिद्धान्त इसलिये अवांछनीय है कि स्वयं व्यवस्थापिकाओं में भ्रष्टाचार फैलता है और इन सभी प्रणालियों का मिश्रित रूप उनके लाभों के स्थान में उनके सारे दोषों को जन्म देता है। ऐसी अवस्था में आधुनिक लेखक-गण द्वितीय-सभा की उपयोगिता के संबंध में अपनी राय घोषित करने में एक मत नहीं है।[1] कुछ तो इसमें सुधार करने के पश्चात् इसके समर्थक हैं और कुछ इसको बिल्कुल अनावश्यक समझते हैं। मेरियट इसको 'प्रत्येक सभ्य देश की प्रथम आवश्यकता' समझते हुये कहता है कि एक उच्च-सभा की योजना तैयार कर उसकी रचना करना; नियंत्रण का अधिकार दिये बिना इसको संशोधन करने का अधिकार देने के लिये एक बोध-गम्य और स्पष्ट आधार को ढूँढ़ निकालना; लोकमत के क्षणस्थायी आवेगों के प्रभाव से स्वतंत्र करते हुये इसे जनता के स्थायी-दृष्टिकोणों के प्रति उत्तरदायी बनाना; सुधार मार्ग में बिना बाधा उपस्थित किये क्रान्ति-विरुद्ध रक्षा-भित्ति खड़ा करना; ऐसे कार्य हैं कि चतुर और अनुभवी राजनीतिक महारथियों की भी निपुणता की परीक्षा हो जायेगी, उनका धैर्य हवा हो जायेगा'।[2] फिर भी ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्होंने दूसरे सुझाव पेश करने की कोशिश की है।

१—द्वितीय सभा के लिये ब्राइस के सुझाव

ब्राइस महोदय[3] प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने द्वितीय सभा का समर्थन ही नहीं किया वरन् उन्होंने इसके निर्वाचन की प्रणालियों की रूपरेखा भी तैयार की है। इस सभा के समर्थन का कारण आधुनिक व्यवस्थापिकाओं का पतन है। दो प्रकार से आधुनिक कानून-निर्मात्री सभाओं में दोष पाये गये हैं। सर्व प्रथम, यह कहा गया है कि 'उनमें देश के ज्ञान, विवेक और अनुभव को बहुत कम स्थान मिला है।' दूसरे, इनके किसी एक राजनीतिक दल के प्रभाव में आ जाने की पूर्ण सम्भावना रहती है; वह दल जल्दबाजी में अथवा निरंकुशता के साथ ऐसे क़ानून पास करवाता है जो केवल उसी के

१—ब्राइस का कथन है कि 'उत्तम से उत्तम प्रणाली में भी दोष प्राप्त हुये हैं और कहीं भी सन्तोषजनक परिणाम नहीं मिला। परन्तु इससे द्विसभात्मक प्रणाली को सिद्धान्त की बिना पर बुरा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि किसी प्रकार की भी द्वितीय सभा पूर्ण नहीं है तो प्रथम सभा भी पूर्ण नहीं है। प्रत्येक देश में यह समस्या नहीं है कि इसमें इष्ट पूर्णता नहीं है परन्तु यह है कि यदि द्वितीय सभा के रूप में प्रथम अर्थात् लोक-सभा पर नियंत्रण न रखने से शासन में कहीं और बुराई तो न आ जायेगी।—'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़', जि० २, पृ० ४४३-४४

२—मेरियट—दि मेकेनिज़्म ऑव दि माडर्न स्टेट्स, जि० १, पृ० ४३०

३—ब्राइस—माडर्न डेमोक्रेसीज़, जि० २, पृ० ४५०-५७

हित के लिये होते हैं अथवा किसी विशेष वर्ग के हित के लिये। साधारणतः वह पूर्ण वाद-विवाद को अवकाश नहीं देता और कभी कभी तो उस दल की सहायता से क़ानून पास करा लेता है जिसके हाथ में सत्ता रहती है क्योंकि वह अपने पूरे सदस्यों सहित उसके बहुमत द्वारा प्रस्तावित क़ानून का समर्थन करता है। इसके अतिरिक्त शासन कार्यों की संख्या इतनी बढ़ती जाती है और वे इतने जटिल होते हैं कि उनको पूरा करने के लिये विशेषज्ञता की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यह विशेषज्ञता एक साधारण व्यवस्थापिका में नहीं पाई जाती। इसका परिणाम यह हुआ है कि क़ानूनों और शासन-प्रबन्ध की उत्तमता में ह्रास हो रहा है और ये स्थायी अधिकारियों अथवा नौकरशाही के हाथों में जा रहे हैं। अतः यह देखा जाता है कि वर्तमान व्यवस्थापक-यन्त्र आधुनिक आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिये अवसर देने में असफल रहा है। इसलिये जब ऐसी समस्यायें हैं तो द्वितीय सभा की आवश्यकता को इन्कार नहीं किया जा सकता।

(१) इसमें योग्यता, अनुभव और सेवाओं के अनुसार प्रसिद्ध व्यक्तियों को रखना चाहिये। ऐसे व्यक्ति होने चाहियें जो सार्वजनिक कार्यों जैसे, स्थानीय शासन तथा स्थायी सरकारी ऊँची नौकरियों के द्वारा देश अथवा विदेश में अनुभव प्राप्त कर चुके हों; जिन्हें कृषि, व्यापार, उद्योग, राजस्व, शिक्षा का ज्ञान हो तथा जिन्होंने अपनी विस्तृत यात्रा तथा विदेशों में अध्ययन के द्वारा विदेशी समस्याओं को पूरी तरह समझ लिया हो। इस प्रकार, इस सभा को 'विशेषज्ञता और प्रौढ़ विवेक का आगार, बनाना चाहिये।

(२) इसमें ऊँचे पेशों के व्यक्ति भी होने चाहिये, जैसे वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, इंजीनियर इत्यादि।

(३) ऐसी संस्था को प्रथम सभा के बराबर अधिकारों का दावा नहीं करना चाहिये; इसको विवेक से काम लेना चाहिये। इसको प्रथम सभा का तभी विरोध करना चाहिये जब यह देखे कि कोई क़ानून जल्दबाजी में पास किया जा रहा है। इसके वाद-विवाद प्रकाशित होने चाहिये। जिससे जनता भी उनसे परिचित हो जाय। इसको विदेशी-नीति के संबंध में सार्वजनिक न्यायालय का काम देना चाहिये क्योंकि लोक-सभा में विदेशी नीति पर शायद ही विचार से विचार होता है। इसकी समितियों को ऐसे प्रश्नों का अध्ययन करना चाहिये और उन पर अपनी रिपोर्ट देनी चाहिये जिनका संबंध किसी दल से न हो। इस प्रकार वे कार्यकारिणी की सहायता दे सकेंगी और कार्य-भार भी हलका कर सकेंगी। इसका, कार्य-काल दीर्घ रक्खा जा सकता है, जैसे ६ वर्ष से लेकर ६ वर्ष तक। इसका फल यह होगा कि सदस्यों को काफी अनुभव प्राप्त हो जायेगा।

(४) तब प्रश्न यह है द्वितीय सभा का संगठन कैसे होना चाहिये? निम्नलिखित प्रणालियों में से किसी एक को काम में लाया जा सकता है: –

(क) या तो इसका निर्वाचन प्रथम सभा करे, जिसके लिये यह सभा स्थानीय समूहों में बाँटी जा सकती है। ये समूह के सदस्यों को एक निश्चित संख्या को एक वर्ष के लिये चुनें। इससे दोनों सभाओं के बीच मैत्रीभाव रहेगा और चूंकि द्वितीय सभा की अवधि लम्बी रहेगी अतः वह प्रथम सभा का प्रतिबिम्ब मात्र न रहेगी।

(ख) या व्यवस्थापिका के द्वारा नियुक्त किया हुआ कमीशन इसका चुनाव करे। यह योग्यता, अनुभव तथा ज्ञान की बिना पर सदस्य चुने, तथा अवकाश-प्राप्त उच्च अधिकारियों को भी द्वितीय सभा में स्थान दे। इस सभा की अवधि ६ अथवा ६ वर्ष से कम न रहे। कमीशन में सदस्यों की संख्या कम रहे और इसका किसी दल से संबंध न रहे। कोई दल इसको अपने दबाव में न रखे और कमीशन के सदस्यों के चुनाव में प्रत्येक दल का उसकी शक्ति के अनुसार उचित अनुपात हो। इस प्रकार स्वतंत्र और अनुभवी व्यक्ति दलों से संबंधित कमीशन, सदस्यों (जिनका चुनाव भी योग्यता के अनुसार हो) के मध्य संतुलन क़ायम रक्खेंगे। ऐसी संस्था को जनता का सम्मान और विश्वास अवश्य प्राप्त होगा।

२—ली स्मिथ का सुझाव

दूसरा सुझाव ली स्मिथ महोदय का है। उनका कहना है कि आधुनिक राज्य में नार्वे की द्वितीय सभा की भाँति द्वितीय सभा का निर्माण होना चाहिये। सन् १६३६-'४५ के युद्ध के पहिले नार्वे में सब से पहिले वहाँ की व्यवस्थापिका (स्टोरथिंग) का निर्वाचन होता था। इसके बाद यह अपने एक चौथाई सदस्यों को निर्वाचित करती थी जिनसे द्वितीय सभा (लेगथिंग) बनती थी और शेष तीन चौथाई सदस्यों (ओडेल्सथिंग) से प्रथम सभा बनती थी। द्वितीय सभा साधारण बिलों पर (आर्थिक अथवा वैधानिक बिलों पर नहीं) विचार कर सकती थी। यह कोई बिल नहीं पेश कर सकती थी। इसका संशोधनाधिकार भी सीमित था। यदि यह एक बार प्रथम सभा के द्वारा रद्द किये हुये बिल को संशोधित करके वापिस करती थी तो सम्पूर्ण व्यवस्थापिका की बैठक बुलाई जाती थी और दो तिहाई बहुमत से निर्णय किया जाता था। ली स्मिथ महोदय का विश्वास है कि इस प्रणाली[1] से जल्दबाजी में पास किये जानेवाले बिल में केवल संशोधन ही न हो सकेगा वरन् यह प्रतिद्वन्द्वी, पैतृक अथवा नामज़द सभा से संबंधित सभी दोषों से भी मुक्त रहेगी।

१—ली स्मिथ के सुझाओं की आलोचना के लिये लास्की की पुस्तक 'ए ग्रैमर ऑव पॉलिटिक्स' पृ० ३३२-३३ देखिये।

वह द्वितीय सभा को यद्यपि प्रथम सभा की 'छाया' समझता है परन्तु फिर भी इसको 'अत्यन्त सन्तोष जनक' मानता है। वेब दम्पति अपनी पुस्तक 'ए कान्सटीट्यूशन फ़ार दि सोशलिस्ट कामनवेल्थ ऑव ग्रेट ब्रिटेन, में कहते हैं कि 'यहाँ पर द्वितीय सभा की स्थापना के लिये उचित वातावरण है ·· द्वितीय सभा की स्थापना के लिये सबसे उत्तम प्रणाली नार्वे-प्रणाली है'। स्वयं नार्वे निवासी अपनी व्यवस्थापिका को एक सभात्मक प्रणाली का परिवर्तित रूप कहते हैं। इसीलिये जैसा कि ली स्मिथ महोदय कहते हैं, वे सभा के लिये 'भाग' (Section) का प्रयोग करते हैं। प्रो० मोरगेन्स्टीर्न (Prof. Morgenstierne) का कहना है कि 'वह द्विसभात्मक प्रणाली का परिवर्तित रूप नहीं वरन एक सभात्मक प्रणाली का है।' इस प्रकार इसमें द्विसभात्मक प्रणाली का भी कुछ आभास है। स्टोरथिंग एक सभा के रूप में बुलाई जाती है और उसी रूप में भंग भी की जाती है।—'सेकेन्ड चैम्बर्स इन थियरी एन्ड प्रैक्टिस' पृ० २०१

३—राम्जे म्योर का सुझाव

एक सुझाव राम्जे म्योर[1] का है जो ली स्मिथ से विचार के प्रभावित प्रतीत होता है। उनका विचार है कि द्वितीय सभा के 'कार्फा' सदस्य 'समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर प्रथम सभा के द्वारा निर्वाचित होने चाहिये, परन्तु उनका निर्वाचन प्रथम सभा के सदस्यों में से नहीं होना चाहिये वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र में से होना चाहिये। ये उस समय तक पदस्थ रहेंगे जब तक प्रथम सभा भंग नहीं कर दी जायेगी। इसके पश्चात् कुछ थोड़े से व्यक्ति द्वितीय सभा के लिये प्रधानमंत्री के द्वारा नामजद किये जायेंगे। नामजदगी का आधार सामाजिक और राजनैतिक जीवन की ख्याति होगी। उदाहरण स्वरूप ऐसे व्यक्ति नामजद किये जायेंगे जो मंत्री, प्रसिद्ध न्यायाधीश, सहकारी संस्थाओं के सभापति, विश्वविद्यालयों के उप-प्रधान (वाइस चांसलर) इत्यादि रह चुके होंगे। उसका विश्वास है कि इस रीति से यह संस्था मंत्रणा तथा संशोधन कार्य के लिये विशेष रूप से उपयुक्त होगी। यही एक सभा द्वितीय सभा के कार्य हैं। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि राम्जे म्योर का यह सुझाव विशेष कर इंगलैंड के लिये है और उसके लिये (१) स्वयं कामन-सभा का चुनाव 'समानुपातिक प्रतिनिधित्व' के आधार पर होना चाहिये जिससे देश के प्रत्येक महात्वपूर्ण दृष्टिकोण का उचित प्रतिनिधित्व हो सके और (२) द्वितीय सभा का स्थान इसके नीचे होना चाहिये। (यह सुझाव संघराज्यों के लिये नहीं है क्योंकि वहाँ द्वितीय सभा के निर्माण का आधार राज्य-सिद्धान्त है)।

४—डा० फाइनर का सुझाव

द्वितीय सभा को बनाये रखने के लिये एक अन्य सुझाव डा० फाइनर ने दिया है। परन्तु उन्होंने इसको 'स्थानीय वातावरण और परिस्थितियों' के आश्रित रक्खा है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा है कि जहाँ कहीं भी दो सभायें होंगी वहाँ शक्ति के लिये प्रतिद्वन्द्विता अवश्य होगी। इसीलिये यदि 'निम्न सभा में बुद्धि पूर्ण प्रतिनिधित्व, गम्भीर और विवेकपूर्ण मंत्रणा तथा कार्यवाही और प्रौढ़ तर्क को स्थान मिल सकता है तो द्वितीय सभा के लिये इतनी परेशानी उठाने की क्या आवश्यकता है? सभी राजनीतिक सिद्धान्तों में यह सिद्धान्त सबसे उत्तम है कि ऐसी संस्था को जन्म मत दो जिसकी आवश्यकता नहीं है। यदि दूसरी संस्थाओं से सुशासन सम्भव है तो द्वितीय सभा अनावश्यक है। किसी देश में ऐसी संस्था को स्थापित करना या न स्थापित करना इन प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर करता है: क्या प्रतिनिधि विवेकी हैं; क्या दल अपने कार्यक्रम पर पूर्ण रूप से विचार करते हैं और क्या वे अपने विचारों के प्रति सच्चे हैं; क्या दायित्वपूर्ण न्याय और सहिष्णुता की भावना है जिससे अत्याचार रुक सके; कहाँ तक निम्न सभा को व्यावसायिक, वृत्त उच्च राज्याधिकारियों की अविवेक पूर्ण दयालुता से बचाया जाता है और सहायता दी जाती है; कहाँ तक निम्न सभा को देशी और विदेशी मामलों का ज्ञान है और कहाँ तक

१—राम्जे म्योर—हाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड ? विद्यार्थी को स्वयं २६६-२७८ पृष्ठ पढ़ने चाहिये।

वह उस प्रणाली से परिचित है जिससे क़ानून, बिना किसी आन्तरिक विरोध और ग़लती के पूर्ण वाद-विवाद के बाद बनता है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर प्रत्येक देश में मिल सकता है…हमको यह मान लेना चाहिये कि जहाँ कहीं भी ऐसे हित हैं जो बहुमत से अपनी रक्षा करना चाहते हैं वहाँ द्विसभात्मक प्रणाली की माँग होगी। क्योंकि अवांछनीय नीति में विलम्ब डालने से भी कुछ राहत मिलती ही है।'[1]

५—डा० बेणी प्रसाद का सुझाव

द्वितीय सभा को एक महत्वपूर्ण रूप में बनाये रखने (उन्नत रूप) का पाँचवाँ सुझाव हमारे देश ही का है। स्वर्गीय डा० बेणी प्रसाद ने वर्तमान द्वितीय सभाओं की आलोचना करते हुये उनके दोषों को दिखाया है और यह तजवीज़ पेश की है कि उनकी रचना क्रियात्मक और निर्माणात्मक लाभ के लिये की जानी चाहिये। उनका कथन है कि योग्यता के सिद्धान्त और प्रजातंत्रात्मक सरकार के मन्तव्य को, विशेष कर जन-निर्वाचित निम्न सभा की क़ानून निर्माणक तथा आर्थिक सत्ता को स्वीकार कर लेने के पश्चात्, द्वितीय सभा से उपयोगी काम लिये जा सकते हैं। इसमें विज्ञान, विशेषज्ञता और स्थानीयत्व के सिद्धान्तों का उपयोग किया जा सकता है। संघात्मक राज्यों में सीटें अंगीभूत राज्यों में विभक्त की जा सकती हैं और एकात्मक राज्यों में स्थानीय प्रतिनिधियों के बीच में, जैसा कि फ्रांस में होता है जहाँ सीटें औद्योगिक संस्थाओं और प्रसिद्ध समाज शास्त्रियों, अर्थ-शास्त्रियों तथा राजनीतिक वैज्ञानिकों में विभक्त की जाती हैं।[1] पहिली दो श्रेणियों के सदस्य सदैव निर्वाचित होने चाहिये और अन्तिम श्रेणियों के अन्दर सदस्य उपयुक्त विद्या केन्द्रों द्वारा निर्वाचित होने चाहिये अथवा सरकार द्वारा नामज़द होने चाहिये। ऐसी सभा के ये कार्य होने चाहिये: सुझाव देना, जाँच करना तथा संशोधन करना; राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में विशेष रूप से सहायता देना; संक्षेप में विचार-संगठन (thought organization) तथा एक विस्तृत परामर्श के लिये

---

१ फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑव माडर्न गवर्न्मेंट, पृ० ७३६—४०

१—सन् १९३७ के विधानानुसार आयरलैंड में निम्नलिखित तालिका-प्रणाली है:—

सेनेट के ६० सदस्यों में से ग्यारह को प्रधान मंत्री नामज़द करता है, छः को विश्व-विद्यालय चुनते हैं और शेष ४३ व्यवसाय के आधार पर निर्मित पाँच तालिकाओं में से चुने जाते हैं जो निम्नलिखित सार्वजनिक कार्यों और हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(१) राष्ट्रीय भाषा और संस्कृति, साहित्य, कला, शिक्षा तथा ऐसे व्यवसाय-हित जो इस तालिका के लिये क़ानून द्वारा निश्चित कर लिये जायँ।

(२) कृषि तथा तत्संबंधी हित और मछली-व्यवसाय।

(३) श्रमजीवी-समाज—संगठित अथवा असंगठित।

(४) उद्योग और व्यापार जिनमें बैंकिंग, वित्त-साधन (Finance), एकाउन्टेंसी इञ्जीनियरिंग तथा भवन-निर्माण (Architecture) सम्मिलित हैं।

(५) सार्वजनिक शासन प्रबन्ध तथा सामाजिक सेवायें, जिनमें इच्छाजात भलाई के कार्य सम्मिलित हैं।

सार्वजनिक स्थान का काम देना। पिछले पन्द्रह वर्षों के अन्दर बहुत से देशों ने आर्थिक-परामर्श-दात्री समितियों की स्थापना कर ली हैं। इनको शासन के ढाँचे के अन्दर और अधिक संगठित करने और पूर्णाङ्ग बनाने की आवश्यकता है। द्वितीय सभा, जिसमें ये सब समितियाँ समा सकती हैं, क़ानून-निर्मात्री सभा का कार्य गौण रूप से कर सकेगी। इसको बिल प्रस्तुत करने, सभी बिलों पर विचार करने, राष्ट्रीय हित की योजनायें तैयार करने तथा सार्वजनिक समस्याओं पर वाद-विवाद करने का अधिकार होगा। परन्तु शर्त यह होगी कि निम्न सभा का निर्णय अन्तिम होगा। इस प्रकार की उच्च सभा सभी स्थानीय और व्यावसायिक हितों को संगठित-विचार-प्रकाशन और परामर्श का स्थायी अवसर देगी और शासन की एकता और योग्यता को क्षति पहुँचाये बिना सार्वजनिक समस्यओं में वैज्ञानिक विचार धारा को स्थान देगी। उचित परिवर्तन के साथ ऐसी द्वितीय सभाओं का संपर्क प्रान्तीय, प्रादेशिक, जिला तथा म्युनिस्पल सरकारों से स्थापित करना वांछनीय है जिससे शासन-प्रबन्ध के सम्पूर्ण यंत्र को जानकारी प्राप्त होती रहे'।[1]

६—वेब-दम्पति का सुझाव

छठवाँ सुझाव वेब-दम्पति का है जो सर्वथा नवीन है। उनका कहना है कि वर्तमान व्यवस्थापिका कार्य-भार से दबी हुई है। जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है इसको दो भागों में विभक्त करने से इस भार से छुटकारा मिल सकता है। एक भाग होगा राजनीतिक व्यवस्थापिका और दूसरा सामाजिक व्यवस्थापिका। उनका स्वयं का विचार है कि 'जहाँ तक राष्ट्रीय सभा अथवा व्यवस्थापिका का संबंध है किसी पूर्ण प्रजातंत्रात्मक समाज के पुनर्संगठन में पूर्णरूपेण राजनीतिक कहे जाने वाले शासन को सामाजिक तथा औद्योगिक शासन के नियंत्रण से पूरी तौर से अलग करना अत्यावश्यक है। समाजवादियों के पुराने संकेत-वाक्य की भाँति मनुष्यों का शासन वस्तुओं के शासन से अलग रहना आवश्यक है। राज्य की हमारी धारणा को, जिसका संबंध क़रीब-क़रीब अप्रतिकार्य रूप से थल-सेना और जल-सेना, क़ानून और दंड, यहाँ तक कि राजकीय स्वेच्छाचारिता से हो गया है, ऐसे दो भागों में बाँटना आवश्यक हो गया है जिनमें से एक को हम राजनीतिक-प्रजातंत्र कहेंगे और जो राष्ट्रीय रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय संबंध और न्याय का प्रबन्ध करेगा और दूसरे को हम सामाजिक प्रजातंत्र कहेंगे और जो राष्ट्र का औद्योगिक प्रबन्ध तथा समाज को जीवित रखने वाले कार्यों की देख-भाल करेगा। यह पहले से अलग रहेगा। एक का कार्य-क्षेत्र...पुलीस-शक्ति और दूसरे का...आन्तरिक प्रबन्ध होगा। इस प्रकार 'भावी सहकारी संयुक्त परिवार' (The Co-Opérative Common Wealth of Tomorrow) के लिये केवल एक ही राष्ट्रीय सभा की

१—वेणी प्रसाद—दि डेमोक्रैटिक प्रोसेस, पृ० २५४-२५५। वर्तमान द्वितीय सभाओं के संबंध में लेखक की आलोचनाओं को विद्यार्थियों को स्वयं पढ़ना उचित है।

२—सिडनी एन्ड बेट्रिस वेब—ए कान्सटीट्यूशन फार दि सोशलिस्ट कामनवेल्थ ऑव ग्रेट ब्रिटेन, द्वितीय भाग, अध्याय १—दि नेशनल गवर्न्मेंट।

आवश्यकता नहीं है वरन् दो की है जिनके कार्य-क्षेत्र अपने-अपने होंगे। परन्तु उनके बीच सम्पर्क रहेगा; वे समपदस्थ और स्वतंत्र रहेंगी, कोई प्रथम या द्वितीय नहीं रहेगी। कामन सभा के इस प्रकार के शक्त्यात्मक और अधिकारात्मक विभाजन को, जिसमें दो राष्ट्रीय सभायें होंगी तथा जिनमें एक का संबंध फ़ौजदारी क़ानूनऔर राजनीतिक-क्षेत्र से रहेगा और दूसरी का आर्थिक और सामाजिक शासन से रहेगा, हम केवल पार्लिमेंट के कार्य-भार को हल्का करने का वास्तविक साधन ही नहीं समझते वरन् व्यक्तिगत पूँजीपति के स्थान में समाज के प्रगतिशील प्रतिनिधित्व को स्थान देने की आवश्यक शर्तें, यद्यपि पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता, समझते हैं।'[१]

इन दो व्यवस्थापिकाओं के मध्य मतभेद[२] के समय एक सम्मेलन होगा और

१—सिडनी एन्ड बेट्रिस वेब—ए कान्स्टीटयूशन फ़ॉर दि सोशलिस्ट कॉमनवेल्थ ऑव ग्रेट ब्रिटेन, पृष्ठ ११०-१११। राजनीतिक व्यवस्थपिका तथा इसकी कार्यकारिणी (क) वैदेशिक नीति (ख) शान्ति तथा (ग) न्याय का प्रबन्ध करेंगी। (पृ० १११-११७)

सामाजिक व्यवस्थापिका तथा इसकी कार्यकारिणी का नियंत्रण (क) सम्पत्ति, भूमि, खनिज पदार्थ, जल-मार्ग तथा कर, अर्थात् आर्थिक साधनों पर, जिसमें मुद्रा तथा मूल्य भी रहेंगे, रहेगा; अर्थ-विभाग इसका मुख्य अंग रहेगा। यह (ख) स्वास्थ तथा शिक्षा, यातायात, वैज्ञानिक अनुसंधान, कला, साहित्य, संगीत, नाटक, तथा धर्म के प्रोत्साहन जैसी सार्वजनिक सेवाओं की भी व्यवस्था करेगी। (पृ० ११७-१२१)

परन्तु वेब-दम्पति एक सभात्मक सरकार के विरुद्ध हैं। जब वे उस सत्ता पर विचार करते हैं जो आवश्यकतावश उस सभा के हाथ में चली जाती है जिसके हाथ में राजस्व रहता है (द्विसभात्मक प्रणाली में) तो वे कहते हैं कि 'इस कठिनाई से पूर्ण रूप से बचने के लिये केवल एक ही रास्ता है। वह यह कि सम्पूर्ण सत्ता एक ऐसी अकेली राष्ट्रीय सभा को सौंप दी जाये जिसके अधिकार में एक अकेली कार्यकारिणी हो। ऐसे मार्ग का हम समर्थन केवल इसलिये ही नहीं करते कि इसकी स्वतंत्रता के लिये ख़तरा है अथवा सदस्यों तथा मंत्रियो के ऊपर अत्यधिक कार्य-भार रहेगा वरन् इसलिये कि.......कोई भी निर्वाचित सभा किसी भी विषय पर जनता के सामूहिक विचार को नहीं प्रकट कर सकती।' पृ० १२६

२—'एक ओर यह कहा जा सकता है कि दो राष्ट्रीय सभाओं के कारण सदैव गतिरोध उत्पन्न होंगे; और दूसरी ओर प्रधान-सत्ता अनिवार्य रूप से राजस्व पर अधिकार रखने वाली शक्ति की सहगामिनी रहेगी। परन्तु द्विसभात्मक व्यवस्थापिका के प्रत्येक रूप में यह कठिनाई स्वाभाविक है। अतः किसी भी रूप की द्वितीय सभा के समर्थक हमारी तजवीज़ों के संबंध में आपत्ति करने के लिये कोई उपयुक्त कारण नहीं दे सकते'—वेब-दम्पति, पृ० १२६

लेखक राजनीतिक व्यवस्थापिका तथा सामाजिक व्यवस्थापिका के भीतर द्वितीय सभाओं का समर्थन नहीं करते। देखिये पृ० १२७-१२८

पृष्ठ १२८ की टिप्पणी में उनका कहना है कि 'प्रत्येक व्यवस्थापिका के पास, ग़लती और जल्दबाज़ी से बचने के लिये, एक अपना आन्तारिक संगठन होना चाहिये। यह कार्य द्वितीय सभा नहीं कर सकती। हमारे मत में सर्वोत्तम उदाहरण नार्वे में मिलता है। प्रत्येक

यदि यह असफल रहा तो दोनों व्यवस्थापिकाओं का संयुक्त अधिवेशन होगा। यदि इससे भी कोई लाभ न निकला तो पूरे प्रश्न का निर्णय जनता के मत द्वारा होगा।

यह योजना कौशल-पूर्ण तथा दिलचस्प अवश्य है परन्तु इसमें शक्ति-विभाजन के सभी दोष आ जायेंगे। क्योंकि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र कैसे एक दूसरे से बिल्कुल अलग किये जा सकते हैं ? उनके मध्य ईर्ष्या और संकीर्णता का जन्म अवश्यम्भावी है अथवा इन दो संस्थाओं के बीच की खाई को दूर करने के लिये विधानातिरेक साधन का जन्म होगा।[1]

एकसभात्मक सरकार के पक्ष में लास्की की दलीलें

परन्तु लास्की[2] और विलोबी तो निश्चित रूप से एकसभात्मक सरकार के पक्ष में हैं। द्विसभात्मक प्रणाली के विरुद्ध विशेषकर लास्की को निम्नलिखित आपत्तियाँ हैं :—

(१) जहाँ कहीं भी व्यवस्थापिका में दो सभायें होंगी एक सभा सदैव आगे रहेगी और राजनीति-विशेषज्ञों का झुकाव उसी की ओर रहेगा। दूसरी सभा या तो निष्क्रिय रहेगी या विरोध करके गतिरोध उत्पन्न करेगी।

(२) यह व्यर्थ के वाद-विवाद में समय नष्ट करेगी। इस प्रकार कार्यकारिणी को दूसरे अधिक महत्वपूर्ण कार्यों में ध्यान लगाने से रोकेगी।

(३) वह द्वितीय सभा, जो प्रथम सभा से सहमत रहती है निश्चय रूप से व्यर्थ है। और यदि असहमत रहती है तो अहितकर है।

(४) यह कहना कि द्वितीय सभा क़ानून पास करने में विलम्ब डालती है आधुनिक परिस्थितियों की अवहेलना करना है। कोई भी क़ानून यकायक नहीं पास हो जाता, सदैव एक लम्बे वाद-विवाद और विश्लेषण के बाद पास होता है।

राष्ट्रीय सभा अपनी प्रथम बैठक में एक संशोधक-समिति चुन सकती है जिसमें क़ानून, शासन इत्यादि के प्रसिद्ध विशेषज्ञ रहें और जिसका सभा के पूरे अधिवेशन में बैठने का क़ानूनी अधिकार रहे तथा जिसको व्यवस्थापिका का प्रत्येक क़ानून संशोधन के लिये सौंपा जाय। सभा के निर्णयों को कार्यन्वित करने के लिये जिन संशोधनों को यह आवश्यक समझेगी पेश करेगी (इसमें भूल सुधार और वर्तमान कानूनों का असंगति-निवारण भी रहेगा)। यह विवरण-पत्र प्रकाशित होगा जिसमें संशोधनो के कारण दिये रहेंगे। सभा इसके प्रस्तावों पर विचार करेगी और प्रत्येक संशोधन पर मत लिया जायेगा। यदि इस बिना पर, कि प्रस्तावित बिल में जल्दबाज़ी की गयी है अथवा जनता ने इसको स्वीकार नहीं किया, इसको स्थगित करने की आवश्यकता समझी जाय (चाहे एक ही अधिवेशन के लिये अथवा दूसरे सम्मेलन तक के लिये) तो स्थगित करने का अधिकार उसी संशोधक समिति को दिया जा सकता है।

१—द्वितीय सभा की आलोचना के दृष्टिकोण से पुनः लास्की की पुस्तक 'ए ग्रैमर पॉलिटिक्स' (पृ० ३३५-४०) अध्ययन कीजिये जिसमें वह वेब-दम्पति की योजना को गंभीर तथा आकर्षक कहता है फिर भी उसको आलोचना करता है।

२—लास्की—ए ग्रैमर ऑव पॉलिटिक्स, पृ० ३३०-३३४। कृपया सभी दलीलें स्वयं पढ़िये।

(५) द्वितीय सभा की क़रीब-क़रीब पूरी आलोचना में प्रथम सभा की ही दलीलें रहती हैं। योग्य मंत्रणा तो परामर्शदात्री समितियों से ही मिलती है।

(६) आवश्यक विलम्ब और संशोधन तो सरकार के द्वारा पहिले से ही हो जाता है क्योंकि उन हितों की राय ली जाती है जिनको कोई विशेष क़ानून प्रभावित करने जा रहा है।

(७) संघात्मक शासनों में (क) शक्ति विभाजन और (ख) न्यायालयों के द्वारा शासन-कार्य में विषमता नहीं उत्पन्न होने पाती।

एकसभात्मक सरकार के पक्ष में विलोबी की दलीलें

'इसी प्रकार विलोबी ने, विशेषकर अमरीका और इंगलैंड की आधुनिक परिस्थितियों का अध्ययन करके, यह फल निकाला है कि द्विसभात्मक प्रणाली केवल दोषपूर्ण ही नहीं है वरन् यह उस उद्देश्य की भी पूर्ति नहीं करती जिसके लिये इसकी स्थापना की गई थी। ऐसी परिस्थिति में सच बात तो यह है कि इसकी स्थापना वहीं होनी चाहिये जहाँ की परिस्थितियों में यह लाभदायक सिद्ध हो। परन्तु आधुनिक राज्यों में कोई ऐसी अवस्था नहीं है। लेखक की राय में इस प्रणाली को खतम कर देने और इसके स्थान में अल्पतम सदस्यों की एक अकेली सभा की स्थापना कर देने से राज्य-शासन-प्रणाली में जितनी अधिक उन्नति हो सकती है उतनी अन्य साधन से नहीं। ऐसा करने से सरकार का संगठन काफ़ी सरल हो जायेगा; उत्तरदायित्व का स्थान निश्चित हो जायेगा; व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी में एक दृढ़ सहयोग सम्भव हो जायेगा; क़ानून बनाने की प्रणाली में सरलता आ जायेगी और क़ानून लोकमत के अधिक अनुकूल होगा। इसके साथ-साथ सरकार का व्यय भी कम हो जायेगा और सुयोग्य व्यवस्थापक सुलभ हो जायेंगे[1]।'

परन्तु वह अमरीका की राष्ट्रीय सरकार के लिये संघात्मक प्रणाली की बिना पर द्वितीय सभा को आवश्यक मानता है क्योंकि 'यह राजनीतिक क्षेत्र में समपदस्थ राज्यों के संघसिद्धान्त के अनुसार है'। इस प्रकार एकात्मक शासन की राष्ट्रीय सरकार के लिये वह एकसभात्मक प्रणाली का समर्थन करता है।

द्वितीय सभाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया

केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही द्विसभात्मक प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं हुई। गार्नर[2] ने इधर गत वर्षों में इस प्रणाली के विरुद्ध होने वाले आन्दोलन के निम्नलिखित कुछ उदाहरण एकत्र किये थे :—

सर्व प्रथम, दक्षिणी अफ्रीक़ा में प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं की उच्च सभायें खतम कर दी गईं थीं।

दूसरे, सन् १९११ में इंगलैंड में लार्ड सभा के अधिकार कम कर दिये गये थे।

१—विलोबी—दि गवर्नमेंट ऑव मॉडर्न स्टेट्स, पृ० ३४५

२—गार्नर – पॉलिटिकल साइंस एन्ड गवर्नमेंट, पृ० ६०८—६०९

तीसरे, सन् १९१३ और १९१६ के बीच बहुत से अमरीकी राज्यों जैसे केलीफ़ोर्निया, ऑरगोन और नेबरेस्का में द्विसभात्मक व्यवस्थापिका के विरुद्ध आन्दोलन हुये थे।

चौथे, सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् यूगोस्लाविया, फिनलैंड, लैटेविया और इस्थोनिया में एकसभात्मक व्यवस्थापिकायें अपनाई गई थी। टर्की में भी ऐसा ही हुआ था।

पाँचवें, आस्ट्रेलिया में कोन्सलैंड ने सन् १९२२ में अपनी उच्च-सभा का अन्त कर दिया था।

निम्न और उच्च सभाओं का अन्तर

व्यवस्थापिकाओं में एक अथवा दो सभाओं की आवश्यकता का अनुशीलन करने करने के पश्चात् हम अब दोनों सभाओं की रचना और उनके अधिकारों में जो अन्तर है, उसको देख सकते हैं।

सर्व प्रथम, यह एक सार्वभौमिक तथा निश्चित सी बात है कि निम्न सभा का निर्वाचन जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होता है और पैतृक नियुक्ति तथा नामज़दगी के सिद्धान्त केवल द्वितीय सभाओं में पाये जाते हैं।

दूसरे, यदि द्वितीय सभा का निर्वाचन भी होता है तो निम्न सभा और उच्च सभा के निर्वाचन क्षेत्रों के विस्तार में अन्तर रहता है। उच्च सभा के निर्वाचन क्षेत्रों की अपेक्षा निम्न सभा के निर्वाचन-क्षेत्र छोटे होते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रथम सभा के प्रतिनिधियों की संख्या अनिवार्य रूप से द्वितीय सभा के प्रतिनिधियों की संख्या से अधिक होती है। (लार्ड सभा नियमातिरेक है क्योंकि इसकी रचना में पैतृक सिद्धान्त है।)

तीसरे, यदि हम दोनों सभाओं की अवधि को देखें तो द्वितीय सभाओं की अवधि प्रथम सभाओं से लम्बी पायेंगे। इस प्रकार अमरीका के संयुक्तराज्य और आस्ट्रेलिया में सेनेट का निर्वाचन छः वर्ष के लिये होता है; फ्रान्स में (सन् १९३९ के पहले) नौ वर्ष[1] के लिये होता था, आयरिश स्वतंत्र-राज्य में (सन् १९३७ के पहले) बारह वर्ष के लिये होता था और ब्राइस-समिति ने भी बारह वर्ष के लिये सिफ़ारिश की थी। इनके विरुद्ध, प्रतिनिधि-सभा का निर्वाचन अमरीका के संयुक्त राज्य में दो वर्ष के लिये, आस्ट्रेलिया में तीन वर्ष के लिये होता है। फ्रान्स में (सन् १९३९ के पहिले) प्रतिनिधि-भवन का निर्वाचन चार वर्ष के लिये होता था; आयरिश स्वतंत्र-राज्य में (सन् १९३७ के पहले) कामनसभा का चुनाव चार साल के लिये होता था और इंगलैंड में, ब्राइस के अनुसार भी, कामन-सभा की अवधि पाँच वर्ष की थी। परन्तु यह याद रहे कि निम्न सभाओं की सर्वोत्तम अवधि (क्योंकि वे साधारणतः भंग की जा सकती हैं) चार या पाँच वर्ष जान पड़ती है। यदि निम्न सभा का निर्वाचन दो या तीन वर्ष के लिये होता है

१—भारतवर्ष में भी सन् १९३५ के क़ानून के अनुसार प्रान्तीय द्वितीय सभायें नौ वर्ष के लिये निर्वाचित होती हैं। अर्जेन्टाइना में सेनेट का निर्वाचन नौ वर्ष के लिये तथा चिली और क्यूबा में आठ वर्ष के लिये होता है।

तो देश के राजनीतिक जीवन की गति में असमय व्याघात उपस्थित होगा और यदि सात वर्ष के लिये होता है तो प्रतिनिधि जनता के परिवर्तित दृष्टि-कोण से अनभिज्ञ हो जायँगे और सभा प्रतिनिधित्व खो बैठेगी[1]। अत: अत्युत्तम अवधि चार-पाँच वर्ष की जान पड़ती है।

चौथे, प्राय: सभी व्यवस्थापिकाओं में सदस्य और मतदाताओं के लिये योग्यता नियत रहती है। निम्न-सभा के लिये तो यह सार्वभौमिक नियम सा हो गया है कि जो स्त्री-पुरुष इक्कीस वर्ष के हो जायँ वे मत दे सकते हैं और जो पचीस वर्ष के हो जायँ वे सदस्यता के लिये खड़े हो सकते हैं। परन्तु उच्च-सभा के लिये बड़ी आयु उदाहरण स्वरूप २५ वर्ष की आयु मतदाता के लिये आवश्यक होती है और इससे भी अधिक अर्थात् तीस या पैंतीस वर्ष की आयु सदस्यता के लिये आवश्यक होती है। कुछ शिक्षा तथा सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यतायें भी उच्च-सभा की सदस्यता के लिये होती हैं। इस प्रकार उच्च सभाओं में साधारणतः समाज के अनुदार और उच्चवर्गों के दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व रहता है इसलिये निम्न-सभा में इसका गहरा प्रभाव रहता है। परन्तु राज्याधिकारी, अपराधी और पागल साधारणत: सभी व्यवस्थापिकाओं में मताधिकार तथा सदस्यता से वंचित रहते हैं।

अन्त में, जहाँ तक क़ानून बनाने तथा राजस्व पर नियंत्रण रखने के अधिकारों का प्रश्न है साधारणतः क़ानून बनाने में निम्न-सभा को उच्च-सभा से अधिक अधिकार प्राप्त रहते हैं। परन्तु राजस्व पर तो निम्न-सभा का ही पूर्ण-नियंत्रण रहता है। उच्च-सभा को अधिक से अधिक निम्न-सभा के द्वारा पास किये हुये अर्थ-बिल के लिये संशोधन पेश करने के सीमित अधिकार रहते हैं। इसके अतिरिक्त शासन की सभात्मक प्रणाली में वास्तविक कार्यकारिणी अथवा मंत्रिमंडल केवल निम्न-सभा ही के प्रति उत्तरदायी रहता है। इस प्रकार उच्च-सभा का स्थान गौण रहता है चाहे विधान के द्वारा दोनों सभाओं को बराबर ही अधिकार क्यों न दे दिये जायँ जैसा कि सन् १९३९-४५ के युद्ध के पहिले फ्रान्सीसी सेनेट को प्राप्त थे।

निम्न-सभा के कार्य

दोनों सभाओं के इस अन्तर के पश्चात् अब हम निम्न-सभा के कार्यों के संबंध में कुछ कह सकते हैं। क्योंकि हम पहले ही उच्च-सभा के क़ानून में संशोधन करने तथा उसमें विलम्ब डालने के कार्यों का अध्ययन कर चुके हैं। हमें यह फिर स्मरण रखना

१—इस सम्भावना के विरुद्ध अर्जेन्टाइना ने अपनी निम्न सभा प्रतिनिधि-भवन के लिए, जिसका निर्वाचन चार वर्ष के लिए होता है, प्रायः द्वितीय सभाओं में पाई जाने वाली प्रणाली का अनुसरण किया है जिसके अनुसार इसके आधे सदस्य हर दो वर्ष के बाद अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार की व्यवस्था कोस्टा रीका के प्रजातंत्र-राज्य में है। इसमें भी एक सभा है जिसको 'वैधानिक कांग्रेस' कहते हैं। इसके सदस्य चार साल के लिये निर्वाचित होते हैं और आधे सदस्य हर दूसरे साल अलग हो जाते हैं। (दूसरे उदाहरणों के लिये टिप्पणी १ इस अध्याय के अन्त में देखिये)

होगा कि अंग्रेजी कामन सभा प्रतिनिधित्वात्मक तथा उत्तरदायी संस्थाओं के इतिहास में प्रथम निम्न-सभा है। अतः इसके कार्य बिना आपत्ति के वही माने जा सकते हैं जो सभी प्रथम सभाओं के कार्य साधारणतः होते हैं क्योंकि वे सब इसी के नक़लें हैं।

अंग्रेजी कामन-सभा के कार्य

डा० फ़ाइनर के अनुसार निम्न-सभाओं के मुख्य तीन कार्य होते हैं: क़ानून निर्माण, कार्यकारिणी पर नियंत्रण और तत्संबंधी अनुसंधान।[1] परन्तु इलबर्ट[2] ने अंग्रेजी कामन-सभा[3] के कार्यों का तीन शीर्षकों के अन्दर अनुशीलन करते हुये उन्हें और स्पष्ट कर दिया है। वे हैं क़ानून निर्माणात्मक, आर्थिक तथा आलोचनात्मक। वह लार्ड-सभा और राजा की राय का खयाल करके क़ानून बनाती है; सार्वजनिक कार्य के

१—फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑव मॉडर्न गवर्न्मेंट्स, जि० २, पृ० ७४३

२—इलबर्ट—पार्लिमेन्ट, पृ० ६८

३—लास्की ने कामन-सभा के कार्यों की निम्नलिखित आलोचनात्मक व्याख्या दी है:—

(क) सरकार की स्थापना करना तथा क़ानून बनाने में नेतृत्व ग्रहण करना। (शक्ति विभाजन के कारण अमरीकी प्रतिनिधि-सभा में यह सम्भव नहीं)।

(ख) मंत्रियों से प्रश्न पूछ कर, विरोधी-दल द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव रख कर माँगों को सामने रखना।

(ग) मंत्रियों तथा उनके विभागों द्वारा जानकारी प्राप्त करना। इनका कर्तव्य समस्या की वास्तविकता से परिचित कराना है। कभी-कभी वास्तविकता का पता लगाने तथा उसकी रिपोर्ट तैयार करने के लिये इसको शाही कमीशन अथवा जाँच-समितियाँ नियुक्त करने पर बाध्य होना पड़ता है।

(घ) वाद-विवादात्मक परिषद् के रूप में कार्य करना जिससे शासन मंत्रणा पर चले। यदि कार्लाइल ने इसको 'गपखाना' कह कर इसकी हँसी उड़ाई थी तो इसका वैकल्पिक नाम सामूहिक क़ैदखाना भी हो सकता है। उपस्थित समस्या के पक्ष तथा विपक्ष में कहे जाने वाले भाषण प्रकाशित होते हैं और इस प्रकार निर्वाचक-गण जानकारी प्राप्त करते हैं।

(ङ) इसको चुनाव कार्य करना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि किस प्रकार सभा सरकार तथा विरोधी-दल के लिये नेता तैयार करे। इसके बिना अच्छा शासन असम्भव है। इसी कार्य के कारण बुद्धिमान व्यक्तियों को सामने आने का अवसर मिलता है।

(च) ग़ैर-सरकारी सदस्य को भी लाभदायक बनाना। वह सौंपे हुए बिल की जाँच में भाग ले सकता है अथवा आलोचना तथा विभाग-संबंधी कार्य में सुधार करने में सहायक हो सकता है।—दि पार्लिमेन्टरी गवर्नमेन्ट इन इंग्लैंड, पृ० १३६—१७०। विद्यार्थियों को स्वयं पढ़ना चाहिये।

इसी प्रकार राम्ज़े म्योर ने कामन-सभा के कार्यों का चार शीर्षकों में अध्ययन किया है। (१) प्रश्न (२) क़ानून-निर्माण (३) राजस्व (४) तत्कालिक नीति पर आम बहस। देखिये—हाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड?, अध्याय ६, पृ० २०४

लिये धन की स्वीकृति देती है और उन कार्यों को भी निश्चित कर देती है जिनमें वह धन-व्यय किया जाता है; वह कर लगाती है और ऋण लेने का अधिकार देती है; प्रश्नों तथा वाद-विवाद के द्वारा यह राज-मंत्रियों की आलोचना करती है और उन पर नियंत्रण रखती है। इसके अतिरिक्त यह उन विभागों का कार्य देखती है जिनके अध्यक्ष मंत्री होते हैं।

इस प्रकार निम्न सभाओं के कार्य क़ानून-निर्माणात्मक, आर्थिक तथा आलोचनात्मक कहे जा सकते हैं। जहाँ तक क़ानून बनाने के कार्य का संबंध है इस अध्याय के आरम्भ में काफ़ी कह चुके हैं क्योंकि क़ानून बनने की सभी अवस्थाओं को काफ़ी स्पष्ट कर दिया गया है। जहाँ तक आर्थिक अधिकारों का प्रश्न है हम केवल इतना कह सकते हैं कि सभी अर्थ-बिल निम्न-सभाओं के द्वारा पेश किये जाने चाहिये क्योंकि वही राज्य की शक्ति की कुञ्जी हैं क्योंकि बिना धन के कैसे शासन चल सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि, व्यवहार में, क़ानून-निर्माणक सभाओं की सर्वोच्चता, सर्वप्रधानता अथवा प्राथमिकता वास्तव में निम्न सभा की सर्वोच्चता, सर्वप्रधानता अथवा प्राथमिकता है। जहाँ तक आलोचनात्मक अधिकारों का संबंध है हम यह कह सकते हैं कि यह कार्य इंगलैंड में विरोधी-दल के द्वारा सर्वोत्तम ढंग से होता है। निम्न सभा का बहुसंख्यक दल सरकार बनाता है अतः अल्पसंख्यक दल को विरोधी-दल का स्थान लेना पड़ता है। विरोधी-दल के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न पूछते हैं और इस प्रकार वाद-विवाद आरम्भ किये जाते है। यहाँ तक कि सरकार के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव रक्खे जाते हैं। इन्हीं सब साधनों के द्वारा सरकार की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण रक्खा जाता है और उसको सभा की कटुआलोचना तथा अप्रसन्नता से अपनी रक्षा करना पड़ता है। सन् १९३९-४५ के युद्ध के पहिले फ्रान्सीसी लोग 'जवाबतलबी'[1] (Interpallation) को अपने विधान का सार समझते थे और इसको मंत्रियों को दायित्वपूर्ण बनाने के लिये अनिवार्य मानते थे। इसका प्रयोग मंत्रिमंडल की नीति के विरोध में होता था। इसके साथ-साथ एक दीर्घ वाद-विवाद का आरम्भ हो जाता था क्योंकि यह सरकार के विरुद्ध अविश्वास अथवा उसके प्रति विश्वास का प्रश्न रहता था। परन्तु शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के कारण अमरीका की प्रतिनिधि-सभा का संबंध राज्य के मंत्रिमंडल से नहीं रहता और सभा के उसके प्रति विश्वास अथवा उसके विरुद्ध अवि-

---

१—जवाबतलबी साधारण प्रश्न से भिन्न होती है क्यों कि (१) यह लिखित होती है; (२) यह जिस मंत्री के पास यह भेजी जाती है उसे इसका उत्तर अवश्य देना पड़ता है; वह इसकी अवहेलना नहीं कर सकता जबतक कि इसका संबंध विदेशी नीति के किसी महत्वपूर्ण पहलू अथवा राज्य के किसी दूसरे रहस्य से न हो। इसका उपयोग वार्षिक आय-व्यय के अनुमान पर नहीं हो सकता; (३) इसमें वाद-विवाद होता है क्यों कि यह एक अविश्वास के प्रस्ताव की भाँति है; (४) यह क्रिया सभा में मत लेने के पश्चात् समाप्त होती है। यदि निर्णय प्रतिकूल हुआ तो परिणाम मंत्रि मंडल का पतन होता है।

विवरण के लिये मुनरो कृत गवर्न्मेंट आफ़ यूरोप, पृ० ४८३-४८५ देखिये।

श्वास का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसका उदय अथवा पतन सभा पर नहीं निर्भर करता। अतः निम्न सभा में सरकार की नीति की आलोचना उत्तरदायित्व नहीं लाती। इसलिये कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के मध्य गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है और यह पैदा भी होता है। परन्तु इसका बुरा प्रभाव व्यवस्थापिका और कार्य-कारिणी के केवल कार्य के सुचारु रूप से चलने में पड़ता है। इसी दुर्दशा के कारण कि प्रतिनिधि सभा अपने आलोचनात्मक अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती प्रो० लास्की को इसे 'एक महान् राष्ट्र के अनुपयुक्त सभा' कहना पड़ा है'।[1]

परन्तु केवल इसी कारण से उसे ऐसी बात नहीं कहनी पड़ी। उसकी राय में यह ऐसी ग़लतियाँ करती है जिसके विरुद्ध राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त सतर्क रहने की चेतावनी देते हैं। उसकी दूसरी आपत्तियाँ निम्नलिखित है :—

(क) लोक-सभा के वाद-विवाद में श्रेष्ठ सिद्धान्तों को प्रकाश में आना चाहिये। परन्तु प्रतिनिधि-सभा बहस के एक विशाल सार्वजनिक स्थान के रूप में खत्म हो चुकी है। अतः इसकी कार्यवाहियों के प्रकाशन का प्रश्न ही नहीं उठता जिसके लिये निर्वाचक अत्यन्त उत्सुक रहते हैं जैसा कि अंग्रेजी कामन-सभा की कार्यवाहियों के संबंध में होता है।

(ख) सार्वजनिक सभा की सभी कार्यवाहियाँ खुले तौर पर होनी चाहिये जैसा कि अंग्रेजी कामन सभा में होता है। अमरीका के संयुक्त राज्य में अधिकतर कार्य समितियों के द्वारा होता है। अतः प्रत्येक कार्यवाही अन्धकार में रहती है।

(ग) सभा का संगठन ऐसा होना चाहिये कि सरकारी बिलों का विरोध करने वाले सदस्य अपना मतप्रकाश स्वतंत्रता से कर सकें। अंग्रेजी कामन-सभा में यह कार्य सुचारु रूप से होता है और सरकार भी अपनी नीति के विरुद्ध लगाये गये अभियोग का प्रतिवाद करती है। परन्तु प्रतिनिधि सभा में न सरकारी सदस्य होते हैं जो अपनी नीति के पक्ष में कहें और न विरोधी-दल ही होता है जो अनुपयुक्त बिलों के कारण सरकार को बदनाम करके दूसरी सरकार बनाये।

(घ) अंग्रेजी कामन सभा की पाँच साल की अवधि के मुकाबिले में प्रतिनिधि सभा का दो साल की अवधि बहुत ही कम है। जिस समय सदस्य अनुभव प्राप्त करना आरम्भ करते हैं उसी समय उन्हें दूसरे निर्वाचन के लिये तैयार होना पड़ता है जिसमें कोई आवश्यक नहीं कि वे फिर चुन लिये जायें।

(ङ) एक तो प्रतिनिधि सभा साधारणतः सदस्य को वाद-विवाद में अपनी योग्यता प्रकाश में लाने तथा जोरदार भाषण देने का अवसर ही कम देती है जिससे वह औरों को अपने ज्ञान और चरित्र से प्रभावित कर सके, दूसरे यह राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने वाले मामूली आदमियों के लिये शरण देने का भी कार्य करती है। दूसरी ओर अंग्रेजी कामन सभा ने सुयोग्य और सच्चरित्र व्यक्तियों को पैदा किया है जिनका स्वागत महान नेताओं और महान राजनीतिज्ञों के रूप में हुआ है।

---

१. लास्की—'डेन्जर्स ऑव ओबीडियेन्स एन्ड अदर एसेज़' में का लेख 'दि अमेरिकन पोलिटिकल सिस्टम' तथा पेटरसन—अमेरिकन गवर्नमेंट, पृ० ३५६-३६०

टिप्पणी १

संसार के कतिपय देशों की व्यवस्थापिकाओं और उनके अध्यक्षों के संबंध में कुछ उल्लेखनीय बातें

देश	निम्न सभा		उच्च सभा			अध्यक्ष	
	नाम	अवधि	नाम	अवधि	विशेष	अवधि	नियुक्ति-विधि
भारतवर्ष	व्यवस्थापिका सभा	३ वर्ष	राज्य-परिषद	५ वर्ष			
कनाडा	कामन सभा	५ वर्ष	सेनेट	आजीवन सदस्यता			
[illegible]	प्रतिनिधि सभा	३ वर्ष	व्यवस्थापिका सभा	७ वर्ष			
आस्ट्रेलिया	प्रतिनिधि सभा	३ वर्ष	सेनेट	६ वर्ष (हर तीसरे वर्ष आधे सदस्य अवकाश लेते हैं)			
दक्षिणी अफ्रीका	सभाभवन	५ वर्ष	सेनेट	५ वर्ष			
[illegible]	......	....	....	....	......	७ वर्ष	प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत द्वारा निर्वाचित

देश	निम्न-सभा		उच्च-सभा			अध्यक्ष	
	नाम	अवधि	नाम	अवधि	विशेष	अवधि	नियुक्ति-विधि
अर्जेन्टाइना	प्रतिनिधि-भवन	४ वर्ष (हर दूसरे वर्ष आधे सदस्य अवकाश प्राप्त करते हैं)	सेनेट	६ वर्ष (हर तीसरे वर्ष एक तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण करते हैं)	……	६ वर्ष	३७६ निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित
बोलीविया	प्रतिनिधि-भवन	४ वर्ष (हर दूसरे वर्ष आधे सदस्य अवकाश प्राप्त करते हैं)	सेनेट	६ वर्ष (हर दूसरे वर्ष एक तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण करते हैं)	.. …	४ वर्ष	प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत द्वारा निर्वाचित, अवधि समाप्त होने के बाद चार वर्ष तक अनिर्वाच्य
चिली	प्रतिनिधि-भवन	४ वर्ष	सेनेट	८ वर्ष (हर चौथे वर्ष आधे सदस्य अवकाश ग्रहण करते हैं)	…….	६ वर्ष	प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत द्वारा निर्वाचित, पुनः अनिर्वाच्य
कोलम्बिया	प्रतिनिधि-सभा	२ वर्ष	सेनेट	४ वर्ष	…….	४ वर्ष	प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत द्वारा निर्वाचित, अवधि समाप्त होने के बाद चार वर्ष तक अनिर्वाच्य।
कोस्टा रीका	वैधानिक कांग्रेस	४वर्ष (हर दूसरे वर्ष आधे सदस्य अवकाश ग्रहण करते हैं।	एक सभात्मक			४ वर्ष	

देश	निम्न सभा		उच्च सभा			अध्यक्ष	
	नाम	अवधि	नाम	अवधि	विशेष	अवधि	नियुक्ति-विधि
डेनमार्क	कामन-सभा	४ वर्ष	सेनेट	८ वर्ष			
डोमीनिकन रिपब्लिक	प्रतिनिधि-भवन	५ वर्ष	सेनेट	५ वर्ष	प्रत्यक्ष सार्वजनिक मतद्वारा निर्वाचित	५ वर्ष	प्रत्यक्षसार्वजनिक मत द्वारा निर्वाचित
मिस्र	प्रतिनिधि-भवन	....	सेनेट	१० वर्ष	सदस्यों का ⅖ मनोनीत और ⅗ निर्वाचित		
ग्वाटे माला	राष्ट्रीय सभा	४ वर्ष	एक सभात्मक			६ वर्ष	अवधि समाप्त होने के बाद २ वर्ष तक अनिर्वाच्य
हैटी	प्रतिनिधि-भवन	४ वर्ष	सेनेट	६ वर्ष (हर दूसरे वर्ष एक तिहाई सदस्य अवकाश लेते हैं)	११ सदस्य भवन द्वारा निर्वाचित और १० अध्यक्ष द्वारा मनोनीत	५ वर्ष	प्रतिनिधि सभा के दो तिहाई मतों से निर्वाचित
हान्डुरास	प्रतिनिधि-कांग्रेस	६ वर्ष	एक सभात्मक				

देश	निम्न-सभा		उच्च-सभा			अध्यक्ष	
	नाम	अवधि	नाम	अवधि	विशेष	अवधि	नियुक्ति-विधि
आइसलैंड	सम्पूर्ण आलथिंग का दो तिहाई	...	सम्पूर्ण आलथिंग से निर्वाचित एक तिहाई				
ईराक़	....	...	सेनेट	८ वर्ष (आधे सदस्य हर चौथे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं)	२० मनोनीत सदस्य		
जापान	प्रतिनिधि-सभा	४ वर्ष	पिअर सभा	निर्वाचित सदस्यों की अवधि ७ वर्ष			
लाइबेरिया	प्रतिनिधि-सभा	४ वर्ष	सेनेट	६ वर्ष	...	८ वर्ष	
लक्ज़ेमवर्ग	प्रतिनिधि-भवन	६ वर्ष (आधे सदस्य हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं)	एक सभात्मक				
मेक्सिको	प्रतिनिधि-भवन	३ वर्ष	सेनेट	६ वर्ष	...	६ वर्ष	प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत द्वारा निर्वाचित
निकारेग्वा	प्रतिनिधि-भवन	६ वर्ष	सेनेट	६ वर्ष	प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत द्वारा निर्वाचित	६ वर्ष	

देश	निम्न सभा		उच्च सभा			अध्यक्ष	
	नाम	अवधि	नाम	अवधि	विशेष	अवधि	नियुक्ति-विधि
नार्वे	ओडेल्सथिंग (सम्पूर्ण स्टोरथिंग का तीन चौथाई)	....	लेगथिंग (सम्पूर्ण-स्टोरथिंग का एक चौथाई)				
पनामा	राष्ट्रीय सभा	४ वर्ष	एक सभात्मक				प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत द्वारा निर्वाचित, आगामी कार्य-काल के लिए अनिर्वाच्य
पेरू	प्रतिनिधि-भवन	६ वर्ष	सेनेट	६ वर्ष (एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं)		६ वर्ष	
साल्वेडॉर (जून ४५ के पहले)	राष्ट्रीय सभा	१ वर्ष	एक सभात्मक			६ वर्ष	अपना ही उत्तराधिकारी नहीं हो सकता।
टर्की	महान राष्ट्रीय सभा	४ वर्ष	एक सभात्मक				
यूरुग्वे	प्रतिनिधि-भवन	४ वर्ष	सेनेट	४ वर्ष	... ..	४ वर्ष	व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित

देश	निम्न-सभा		उच्च-सभा			अध्यक्ष	
	नाम	अवधि	नाम	अवधि	विशेष	अवधि	नियुक्ति-विधि
वेनेज़ुएला	प्रतिनिधि-भवन	४ वर्ष	एक	सभात्मक	……	३वर्ष	कांग्रेस द्वारा निर्वाचित, अपना उत्तराधिकारी नहीं हो सकता
यूगोस्लाविया	राष्ट्रीय सभा	४ वर्ष	एक	सभात्मक	………		
फ़िनलैंड	प्रतिनिधि-भवन	….	एक	सभात्मक	…….	६ वर्ष	निर्वाचक मंडल द्वारा निर्वाचित
		मान्य संकेत-विज्ञान के विरुद्ध					
हालैंड	प्रतिनिधि-सभा (द्वितीय सभा के नाम से प्रसिद्ध)	४ वर्ष	प्रथम सभा के नाम से प्रसिद्ध	६ वर्ष (आधे सदस्य हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं)	प्रान्तीय राज्यों द्वारा निर्वाचित		
स्वेडन	द्वितीय सभा के नाम से प्रसिद्ध	४ वर्ष	प्रथम सभा के नाम से प्रसिद्ध	८ वर्ष	प्रान्तीय प्रतिनिधियों तथा ६ नगरों के समिति-सदस्यों द्वारा निर्वाचित		

उपसंहार

इस तालिका के अध्ययन के पश्चात् हमें निम्नलिखित विशेष बातें ज्ञात होती हैं :—

(१) निम्न अथवा प्रथम सभा और उच्च अथवा द्वितीय सभा का सर्वमान्य क्रम हालैंड और स्वेडन में उलट दिया गया है। वहाँ उच्च अथवा द्वितीय सभा, प्रथम सभा कहलाती है और निम्न अथवा प्रथम सभा, द्वितीय सभा कहलाती है।

(२) चूँकि अमरीका के संयुक्त-राज्य में प्रथम सभा का निर्वाचन २ वर्ष के लिये होता है इसलिये हमें कहना पड़ता है कि यह बहुत ही छोटी अवधि है और जिस समय सदस्य अपने कार्य का अनुभव प्राप्त करते हैं उनको अवकाश ग्रहण करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार छोटी-छोटी अवधियों से देश को फिर-फिर व्यापक निर्वाचन के चक्कर में पड़ना पड़ता है। कोलम्बिया भी अपनी प्रतिनिधि-सभा को दो वर्ष के लिये निर्वाचित करता है। परन्तु विचित्रता यह है कि मध्य अमरीका का साल्वेडार का प्रजातंत्र-राज्य (जिसने जून सन् १६४५ ई० में ग्वाटेमाला के साथ मिलकर संघ-राज्य स्थापित किया है) अपनी एकसभात्मक राष्ट्रीय सभा को केवल एक ही वर्ष के लिये निर्वाचित करता है। प्रथम सभाओं की तीन साल की अवधि हमारे देश, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और मेक्सिको तथा फिनलैंड (एकसभात्मक व्यवस्थापिका) में; चार साल की अवधि अर्जेन्टाइना, बोलीबिया, चिली, कोस्टारीका, डेनमार्क डोमीनिकन रिपब्लिक, ग्वाटेमाला, हैटी, जापान, लाइबेरिया, पनामा, यूरुग्वे, वेनेजुयेला, यूगोस्लाविया, हालैंड (सन् १६३६-४५ के पहले) और स्वेडन में (परन्तु अन्तिम दोनों देशों में द्वितीय सभा को प्रथम सभा कहते हैं); पाँच साल की अवधि कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका और इंगलैंड में; छः साल की अवधि हान्डूरास, लक्जेमबर्ग, निकारेग्वा और पीरू में पाई जाती है। इससे प्रकट है कि कोई भी निम्न सभा छः वर्ष से अधिक समय के लिये नहीं निर्वाचित होती क्योंकि परिवर्त्तनशील लोकमत से सम्पर्क टूट जाने का भय रहता है।

(३) द्वितीय सभाओं का निर्वाचन कोलम्बिया, ग्वाटेमाला और यूरुग्वे में चार वर्ष के लिये; दक्षिणी अफ्रीका, डोमीनिकन रिपब्लिक और हमारे देश में पाँच वर्ष के लिये; आस्ट्रेलिया, बोलीबिया, हैटी, लाइबेरिया, मेक्सिको निकारेग्वा, पीरू और हालैंड में (१६३६-४५ के पहले, परन्तु यहाँ द्वितीय सभा प्रथम सभा कहलाती थी) छः वर्ष के लिये; न्यूज़ीलैंड और जापान मे (केवल निर्वाचित सदस्य) सात वर्ष के लिये; चिली, डेनमार्क, ईराक (इस अवधि के लिये मनोनीत) और स्वेडन (यहाँ द्वितीय सभा प्रथम सभा कहलाती है) में आठ वर्ष के लिये; अर्जेन्टाइना में नौ वर्ष के लिये और मिस्र में (सदस्यों का ½ भाग) दस वर्ष के लिये होता है।

इस प्रकार कोई भी द्वितीय सभा एक, दो अथवा तीन वर्ष के लिये नहीं निर्वाचित होती क्योंकि यह बहुत ही छोटी अवधि है।

(४) अध्यक्षों का निर्वाचन वेनेजुयेला में तीन वर्ष के लिये; बोलीविया, कोलम्बिया, डोमीनिकन रिपब्लिक, हान्डूरास और यूरुग्वे में चार वर्ष के लिये; हैटी में पाँच साल के लिये; अर्जेन्टाइना, चिली, ग्वाटेमाला, मेक्सिको, निकारेग्वा, पीरू और साल्वेडोर में छः वर्ष के लिये; आयरलैंड में सात वर्ष के लिये (फ्रान्स में भी १९३९-४५ के युद्ध के पूर्व और जर्मनी में १९१९ के वीमर-विधान के अनुसार) और लाइबेरिया में आठ वर्ष के लिये होता है।

इस प्रकार कहीं भी अध्यक्षों का निर्वाचन एक या दो वर्ष के लिये नहीं होता और न आठ वर्ष से अधिक समय के लिये ही।

(५) (क) अमरीका के संयुक्त राज्य में सेनेट का निर्वाचन छः वर्ष के लिए होता है परन्तु इसके एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

आस्ट्रेलिया में सेनेट का निर्वाचन छः वर्ष के लिये होता परन्तु इसके आधे सदस्य हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

अर्जेन्टाइना में सेनेट का निर्वाचन नौ वर्ष के लिये होता है परन्तु इसके एक तिहाई सदस्य हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

बोलीविया में सेनेट का निर्वाचन छः वर्ष के लिए होता है परन्तु इसके एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

चिली में सेनेट का चुनाव आठ वर्ष के लिये होता है परन्तु इसके आधे सदस्य हर चौथे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

कोस्टारीका में सेनेट का चुनाव चार वर्ष के लिये होता है परन्तु इसके आधे सदस्य हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

ईराक़ में बीस सदस्य आठ वर्ष के लिये मनोनीत होते हैं परन्तु आधे सदस्य हर चौथे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

हैटी में सारे इक्कीस सदस्यों में से ग्यारह प्रतिनिधि-भवन द्वारा निर्वाचित होते हैं और शेष दस अध्यक्ष द्वारा मनोनीत होते हैं परन्तु एक तिहाई हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

पीरू में सेनेट का निर्वाचन छः वर्ष के लिये होता है परन्तु इसके एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

(ख) यूरुग्वे में सेनेट का निर्वाचन चार वर्ष के लिये होता है। मेक्सिको में सेनेट का छः वर्ष के लिये होता है। ग्वाटेमाला में सेनेट का निर्वाचन चार वर्ष के लिये होता है। डोमीनिकन रिपब्लिक में सेनेट का निर्वाचन चार वर्ष के लिये होता है। डेनमार्क में १९३९-४५ के पहिले सेनेट का निर्वाचन आठ वर्ष के लिये होता था।

इस प्रकार (क) वर्ग में सेनेट अविच्छिन्न संस्थायें हैं और उनकी जो भी अवधि हो, उनके या तो आधे सदस्य या एक तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण करते हैं। आस्ट्रेलिया में सेनेट भी भंग की जा सकती है अतः इसकी अविच्छिन्नता नष्ट हो सकती है। वर्ग (ख) में सेनेट अविच्छिन्न संस्थायें नहीं हैं।

(६) परन्तु द्वितीय सभाओं की इस तुलना से हमें कोई विशेष बात नहीं ज्ञात होती। विशेषता तो प्रथम सभाओं में अवकाश ग्रहण करने की व्यवस्था में है। ऐसे उदाहरण निम्नलिखित है :—

(क) अर्जेन्टाइना और बोलीविया में केवल सेनेट ही के सदस्य अवकाश नहीं ग्रहण करते वरन् दोनों देशों में प्रतिनिधि-भवन भी चार वर्ष के लिये निर्वाचित होते हैं और उनके आधे सदस्य हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं। कदाचित् यही दो उदाहरण हैं जिनमें दोनों सभाओं के सदस्य अवकाश ग्रहण करते हैं।

(ख) कोस्टारीका में केवल एक ही सभा है जिसका निर्वाचन चार वर्ष के लिये होता है। परन्तु इसके आधे सदस्य हर दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं।

लक्जेम्बर्ग में (सन्१६३६-'४५ के पहले) केवल एक ही सभा थी जिसका निर्वाचन छः वर्ष के लिये होता था परन्तु इसके आधे सदस्य हर तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते थे।

टर्की, ग्वाटेमाला, हान्डूरास, पनामा, साल्वेडोर (जून, १६४५ से पहले), वेनेजुयेला तथा फ़िनलैंड में यद्यपि एक ही एक सभा है परन्तु सदस्य अवकाश नहीं ग्रहण करते।

(७) नार्वे का नमूना, जिसमें सर्वप्रथम सम्पूर्ण स्टौरथिंग का निर्वाचन होता है, फिर जो द्वितीय सभा या अंश को निर्वाचित करती है जिसमें उसके एक चौथाई सदस्य रहते हैं और शेष तीन चौथाई प्रथम सभा बनाते हैं, आइसलैंड में भी पाया जाता है। इसकी आलथिंग दो सभाओं में विभक्त रहती है :—

(क) द्वितीय सभा में एक तिहाई सदस्य रहते हैं। उनका निर्वाचन पूरी आलथिंग करती है।

(ख) शेष तीन चौथाई सदस्य मिलकर प्रथम सभा बनाते हैं।

(८) (क) अध्यक्षों का निर्वाचन प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत द्वारा आयर, बोलीविया (अपनी अवधि के पश्चत् चार वर्ष तक अनिर्वाच्य), चिली (पुनः निर्वाचन के अयोग्य), कोलम्बिया (अवधि समाप्त होने के पश्चात् चार वर्ष तक अनिर्वाच्य), ग्वाटेमाला (अवधि समाप्त होने के पश्चात् दो वर्ष तक अनिर्वाच्य), मेक्सिको, पनामा, साल्वेडोर (जून १६४५ के पहले), और पीरू में (अपना ही उत्तराधिकारी नहीं हो सकता) होता है।

(ख) अध्यक्षों का निर्वाचन व्यवस्थापिकाओं के द्वारा हैटी, यूरुग्वे और वेनेजुयेला में (अध्यक्ष अपना उत्तराधिकारी नहीं हो सकता) होता है।

(ग) अध्यक्षों का निर्वाचन निर्वाचक-मंडल के द्वारा फ़िनलैंड में और अर्जेन्टाइना में ३७६ निर्वाचकों के द्वारा होता है।

(६) डोमीनिकन रिपब्लिक में प्रथम सभा, सेनेट और अध्यक्ष का निर्वाचन पाँच-पाँच वर्ष के लिये होता है।

निकारेग्वा में प्रथम सभा, सेनेट और अध्यक्ष का निर्वाचन छः-छः वर्ष के लिये होता है।

पीरू में प्रथम सभा, सेनेट और अध्यक्ष का निर्वाचन छः-छः वर्ष के लिये होता है।

यूरुग्वे में प्रथम सभा, सेनेट और अध्यक्ष का चुनाव पाँच-पाँच वर्ष के लिये होता है।

(प्रथम सभा, द्वितीय सभा और अध्यक्ष की एक ही अवधि के समर्थन और उसके विरोध की दलीलों पर विद्यार्थी स्वयं विचार कर सकते हैं)

टिप्पणी २

लार्ड सभा के सुधार की योजनायें

लार्ड सभा में इस समय लगभग ७४० लार्ड हैं। पहले धार्मिक लार्ड हैं। इनमें केन्टरबरी तथा यॉर्क के आर्चबिशप और चर्च के चौबीस बड़े बिशप हैं। दूसरे लौकिक लार्ड हैं। इनमें पैतृक पिअर जैसे राजवंश के राजकुमार, ड्यूक, मारकिस, अर्ल, वाइकाउन्ट, बैरन, स्काटलैंड के पिअर, आयरलैंड के अट्ठाइस प्रतिनिधि-पिअर और साधारण लार्ड हैं।

योजनायें

१—सन् १८६६ और १८८६ के बीच में लार्ड सभा की रचना तथा उसके अधिकारों में सुधार करने के बहुत से प्रयत्न किये गये थे। धार्मिक लार्डों को अलग करने की तजवीज़ें रक्खी गईं परन्तु परिणाम कुछ न निकला। सन् १८८४ में लार्ड रोजबरी ने सुधार-योजना पर विचार करने के लिये एक समिति के निर्माण के लिये प्रस्ताव रक्खा परन्तु वह गिर गया। ऐसा ही प्रस्ताव सन् १८८८ में भी अस्वीकृत कर दिया गया था। सन् १८८८-८६ में लार्ड सेलिसबरी ने दो बिल रक्खे। पहला आजीवन पिअर बनाने के लिये और दूसरा 'ब्लैक शिप बिल' उन लोगों के अधिकार-पत्र छीनने के लिये जो साधारणत: बैठकों में नहीं सम्मिलित होते थे और अनुपस्थित रहते थे। परन्तु यह भी वापस ले लिया गया था।

२—सन् १६०६ में शिक्षा-बिल के प्रश्न पर दोनों सभाओं के मध्य विरोध उत्पन्न हुआ। परिणाम स्वरूप सन् १६०७ में, मंत्रिमंडल ने यह निर्णय किया कि लार्ड सभा के अधिकारों को निश्चित किये बिना इसकी रचना पर विचार करना खतरनाक है। कामन सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि कामन सभा द्वारा स्वीकृत बिलों पर संशोधन करने अथवा उनको अस्वीकृत करने का अधिकार पार्लिमेंट के अंतर्गत इतना सीमित कर दिया जाये कि कामन सभा ही का निर्णय अन्तिम समझा जाय। उसी वर्ष लार्ड न्यूटन ने लार्ड सभा में सुधार करने के लिये एक बिल रक्खा। उसका उद्देश्य लार्डों की संख्या में कमी करना तथा अल्पसंख्यकों के समुचित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करना था। उसके निम्नलिखित विचार थे:—

(क) योग्य पैतृक पिअरों में मंत्री, भूतपूर्व वायसराय, भूतपूर्व राजदूत तथा न्यायाधीश, आयरिश पियर इत्यादि हों।

(ख) अयोग्य पिअर समानुपातिक निर्वाचन के अनुसार अपनी संख्या के एक चौथाई सदस्य प्रत्येक पार्लिमेंट के लिये निर्वाचित करें।

(ग) धार्मिक लार्डों की संख्या कम कर दी जाये।

(घ) सरकार आजीवन पिअर बनाये।

परन्तु यह प्रस्ताव भी वापस ले लिया गया था।

३—सन् १६०८ में स्वयं लार्ड सभा ने सुधार-योजना के लिये 'रोजबरी-समिति' की नियुक्ति की। इसने निर्वाचन-सिद्धान्त की सिफ़ारिश की क्योंकि सभा असंयत और प्रतिनिधित्व-शून्य हो गई थी।

४—सन् १६०६ में लार्ड-सभा ने १६०६ के बजट को अस्वीकृत कर दिया। इस पर कामन-सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि यह विधान के विरुद्ध है और कामन सभा के अधिकार का अपहरण है। परिणाम-स्वरूप पार्लिमेंट भंग कर दी गई और सन् १६१० में एक वैधानिक सम्मेलन हुआ। इससे भी कुछ फल न निकला। कामन-सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये :

(क) एक शक्तिशाली द्वितीय सभा अंग्रेजी विधान का अनिवार्य अंग है और राज्य की भलाई तथा पार्लिमेंट में समता रखने के लिये आवश्यक है।

(ख) इस उद्देश्य की पूर्ति लार्ड सभा में सुधार करने से ही हो सकती है।

(ग) पिअर की उपाधि प्राप्त होने से ही लार्ड-सभा में बैठने और मत देने का अधिकार नहीं होना चाहिये।

(घ) भविष्य में लार्ड सभा में निम्नलिखित पिअर होने चाहिये :—

(१) सम्पूर्ण पैतृक पिअरों द्वारा चुने हुये तथा राजा के द्वारा नामजद किये हुये लार्ड।

(२) अपने पद और योग्यता के आधार पर लार्ड सभा में बैठने वाले।

(३) बाहर से चुने हुये।

५—सन् १६११ में लार्ड-सभा के अधिकारों को सीमित करने के लिये पार्लिमेंट-क़ानून पास हुआ परन्तु उसकी यह भूमिका थी : 'यद्यपि वर्तमान लार्ड सभा के स्थान पर पैतृक अधिकार के बजाय सार्वजनिक आधार पर एक द्वितीय सभा की स्थापना का विचार है, परन्तु ऐसा परिवर्तन तुरन्त नहीं कार्यान्वित किया जा सकता।'

६—इस भूमिका के अनुसार सन् १६१७ में ब्राइस-समिति को सरकार की ओर से नियुक्त किया गया। सम्मेलन से कोई सर्वसम्मत परिणाम नहीं निकला। परन्तु ब्राइस ने इसकी कार्यवाहियों को संक्षेप में इस निम्न प्रकार लिखा था :—

इस पर सब एकमत थे कि पैतृक पिअर द्वितीय सभा में अल्प संख्या में रहें और सम्पत्ति की योग्यता न रहे। परन्तु अधिकांश सदस्यों को लेने के चार सुझाव थे :—

(क) बड़े-बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन।

(ख) दल-राजनीति से असंबद्ध प्रतिष्ठित व्यक्तियों की नामजदगी।

(ग) भौगोलिक क्षेत्रों के आधार पर स्थानीय अधिकारियों द्वारा निर्वाचन।

(घ) कामन-सभा द्वारा निर्वाचन।

ब्राइस-समिति द्वितीय सभा के लिये अधिक से अधिक ३२७ सदस्यों के पक्ष में थी।

७—ब्राइस-समिति की असफलता पर सन् १६२२ में सरकार की ओर से प्रस्ताव

रक्खा गया था कि लार्ड सभा में (१) राजवंशीय पिअरों, धार्मिक और क़ानूनी लार्डों के अतिरिक्त (२) बाहर से निर्वाचित सदस्य, (३) अपने ही वर्ग से निर्वाचित पैतृक पिअर और (४) राजा द्वारा नामज़द किये हुये सदस्य रहें। पहले को छोड़ कर शेष सभी की सदस्यता की अवधि नौ वर्ष हो और पुनर्निर्वाचन तथा नामज़दगी के लिये योग्य समझे जायें। सदस्यों की कुल संख्या ३५० रहे। परन्तु इस प्रस्ताव को समर्थन नहीं प्राप्त हुआ अतः यह गिर गया।

८—सन् १६२५ में मंत्रिमंडल-समिति इस प्रश्न पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई और १६२७ में निम्नलिखित 'केव-योजना' रक्खी गई :—

(क) अर्थ-बिल का प्रश्न संयुक्त स्थायी-समिति, जिसमें दोनों सभाओं का समान प्रतिनिधित्व हो, तय करे।

(ख) सन् १६११ के पार्लिमेंट-क़ानून के अनुसार कोई भी बिल लार्ड-सभा के अधिकार और उसकी रचना में परिवर्तन लाने के लिये न पास किया जाये।

(ग) राजा लार्डों की एक सीमित संख्या नामज़द करे। ये लार्ड बारह वर्ष तक सभा के सदस्य रहें और एक तिहाई हर चौथे वर्ष अवकाश ग्रहण करें।

(घ) पैतृक पिअर भी अपने में से कुछ प्रतिनिधि चुने जो बारह वर्ष तक सदस्य रहें और एक तिहाई हर चौथे वर्ष अवकाश ग्रहण करें।

(ङ) राजवंशीय और अपील-लार्डों के अतिरिक्त सभा के सदस्यों की संख्या ३५० से अधिक न हो।

६—सन् १६२८ में लार्ड क्लेरेन्डन ने निम्नलिखित प्रस्ताव रक्खा :—

(क) लार्ड सभा अपने सदस्यों की संख्या सीमित करने, निर्वाचित पिअरों की व्यवस्था करने तथा एक उचित संख्या नामज़द करने के लिये शीघ्र कारवाई करे। १५० सदस्य समानुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के अनुसार निर्वाचित हों और १५० राजा के द्वारा पार्लिमेंट की अवधि तक के लिये नामज़द किये जायें।

(ख) राजा आजीवन पिअरों की एक सीमित संख्या नामज़द करे।

इस प्रस्ताव को भी समर्थन नहीं प्राप्त हुआ, फलतः त्याग दिया गया।

१०—सन् १६३३ में मारक्विस सेलिसबरी ने लार्ड-सभा में सुधार करने के लिये निम्नलिखित बिल रक्खा :

(क) अर्थ-बिलों पर विचार सभापति की संरक्षता में संयुक्त स्थायी-समिति द्वारा हो।

(ख) पिअर अपने में से १५० सदस्य चुनें।

(ग) १५० सदस्य बाहर से ऐसी विधि से लिये जायें जैसी पार्लिमेंट निश्चित करे।

(घ) इस सभा में ३२० सदस्य हों।

यह बिल दुबारा पढ़ा गया परन्तु अन्त में यह त्याग दिया गया।

११—सन् १६३४ में मज़दूर दल ने खुले रूप में लार्ड-सभा का अन्त करने की नीति का अनुसरण किया।

क्रीनेस महोदय का यह मत था : 'हमारी राय में लार्ड-सभा ऐसी संस्था है

जिसमें सुचारु रूप से सुधार नहीं हो सकता; इसमें संशोधन असम्भव है, इसकी समाप्ति आवश्यक है'। इससे स्पष्ट है कि यदि मजदूर दल की सरकार बनी और लार्ड-सभा ने उसके आवश्यक बिलों के विरुद्ध अड़चनें उपस्थित की तो वह इसे समाप्त करने में हिचकिचायेगी नहीं।

१२—इन सुझाओं के अतिरिक्त लेखकों ने अपने-अपने विचारानुकूल द्वितीय सभाओं के लिये सुझाव रक्खे हैं। स्वर्गीय प्रो० ग्राहमवालाज ऐसी द्वितीय सभा चाहते थे जिसमें विभिन्न स्वार्थों का प्रतिनिधित्व हो। हेडलम और डफ़ कूपर ने सन् १६३२ में अपनी पुस्तक 'हाउस आफ़ लार्ड्स ऑर सेनेट' में निर्वाचित सेनेट के लिये राय दी थी।

—विशद अध्ययन के लिये जेनिंग्स की पुस्तक 'पार्लिमेंट' का दूसरा अध्याय पढ़िये।

आठवाँ अध्याय

निर्वाचिका

पिछले अध्याय में हमने बताया था कि आज संसार की लगभग सभी व्यवस्थापिकाओं की निम्न या प्रथम सभा निर्वाचित सदस्यों की होती है। किन्तु हमने इस बात पर ध्यान नहीं दिया था कि निर्वाचन की व्यवस्था किस प्रकार होती है और प्रतिनिधियों को भेजने की कौन कौन सी प्रणालियाँ हैं। इसलिये हम इस अध्याय में 'निर्वाचिका' (Electorate) के अर्थ तथा इसके स्वभाव और प्रतिनिधित्व के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का अनुशीलन करेंगे।

मतदाता तथा निर्वाचिका

निस्सन्देह हमारा विश्वास जनता की सत्ता में है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सभी लोग शासन के उद्देश्यों को समझने तथा प्राप्त करने योग्य हैं। प्रतिनिधि-संस्थाओं में प्रारम्भ से ही प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने का अधिकार अनिवार्य रूप से केवल उन्हीं लोगों को दिया गया था जो इसके योग्य समझे गये थे। अर्थात् जो मस्तिष्क और शरीर दोनों से स्वस्थ होते थे। बच्चे तथा पागल इस अधिकार से हमेशा वञ्चित रहे हैं। जिन्हें प्रतिनिधियों के निर्वाचन में मत देने का अधिकार मिलता है उन्हें मतदाता कहते हैं और मतदाताओं को सम्पूर्ण संख्या को हम 'निर्वाचिका' कहते हैं। इसके स्पष्ट है कि राज्य के सभी नागरिक निर्वाचिका में नहीं आते। इसमें कुछ चुने हुए लोग होते हैं जो अपने शासकों को निर्वाचित करते हैं।

सम्पत्ति तथा शिक्षा की योग्यता

किन्तु इस बात को, ध्यान में रखना चाहिए कि केवल शरीर या मस्तिष्क के दोष ही से लोग मताधिकार से वञ्चित नहीं किये जाते हैं। प्राचीन काल से ही हम देखते आ रहे हैं कि नागरिकता का अधिकार कुछ और विशेषताओं पर निर्भर रहा है। यूनान में केवल वही लोग शासन प्रबन्ध में भाग ले सकते थे जो वास्तविक रूप में नागरिक होते थे। अर्थात् वे लोग जिन्हें मत देने का अधिकार प्राप्त था और जो व्यवस्थापिकाओं के वाद-विवाद में भाग लेते थे या न्यायाधीश का कार्य करते थे। कृषि तथा दूसरे उद्योग-धंधों में लगे हुए लोग वास्तविक रूप से नागरिक नहीं समझे जाते थे। मध्यकाल में सामन्तशाही का बोल बाला रहा और सारे समाज के संगठन का आधार भूमि का अधिकार था। इस प्रकार यूरोप भर में समाज तीन वर्गों[1] में विभाजित हो गया था। ये अपने पद के अनुसार व्यवस्थापिकाओं में एकत्र होते थे। इस प्रकार प्रतिनिधित्व का आधार मध्य युग में भू-सम्पत्ति थी। कालान्तर में प्रजातन्त्रात्मक विचारों के साथ दूसरी योग्यतायें मानी जाने लगीं। लोगों ने अब मानव-व्यक्तित्व का आदर करना प्रारम्भ किया और प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत कार्यों पर जोर दिया जाने लगा। इस प्रकार

---

१ ये तीनों वर्ग 'एस्टेट' (Estate) कहे जाते थे।

शिक्षा भी एक योग्यता मानी जाने लगी। मतदाताओं के लिये आवश्यक समझा गया कि वे लिखना और पढ़ना जानें। इसी तरह केवल कुछ व्यक्तियों का विशेषाधिकार न होकर, मत देने का अधिकार काफ़ी लोगों को प्राप्त हुआ।

बालिग़ मताधिकार

अन्त में, न केवल कृषक तथा व्यापारीवर्ग को मताधिकार मिला वरन् हमारे समय में तो स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार मिल गया है। आज हम केवल सभी वयस्क पुरुषों को ही मताधिकार देने के पक्ष में नहीं है, हमारा विश्वास है कि प्रत्येक बालिग़ स्त्री तथा पुरुष को मताधिकार मिलना चाहिए। लेकिन मत देने का यह अधिकार केवल उन्हीं बालिग़ लोगों (जिनकी आयु २१ वर्ष से अधिक हो) को प्राप्त है जो स्वस्थ मस्तिष्क और स्वस्थ शरीर हैं। पागलों, अपराधियों तथा सिड़ियों को अब भी मताधिकार से वञ्चित रक्खा जाता है।

इंगलैंड में मताधिकार का विस्तार

लोगों को मताधिकार आसानी से तथा थोड़े समय में नहीं मिला है। प्रतिनिधि संस्थाओं के जन्म-स्थान इंगलैंड में बालिग़ मताधिकार के इतिहास में इंगलैण्ड का पूरा इतिहास आ जाता है। प्रारम्भ में प्रतिनिधित्व स्थानीय होता था और सबसे सुयोग्य लोग ही गाँवों या नगरों का प्रतिनिधित्व करते थे। कुछ समय बाद सरदार ज़िलों का प्रतिनिधित्व करने लगे और बरो-निवासी नगरों का। साथ ही साथ 'बैरन,' 'बिशप' तथा 'अबट' भी भू-पति होने के नाते पार्लिमेन्ट में आते थे। इस प्रकार प्रतिनिधित्व का आधार प्रदेश तथा वर्ग दोनों होने लगा। जार्ज तृतीय के शासन काल में 'विल्क्स-विवाद' के साथ पार्लिमेन्ट के सुधार के लिये भी आन्दोलन चला। पिट ने तो यहाँ तक कहा कि 'कामन सभा राष्ट्र का प्रतिनिधित्व न कर के उजाड़ नगरों, कुलीन परिवारों, धनवान व्यक्तियों तथा विदेशी शक्तियों' का प्रतिनिधित्व करती है। मताधिकार के प्रचलित सिद्धान्त से लोगों का असन्तोष बढ़ता ही गया क्योंकि 'उजाड़ नगर' भी एक से सात एक प्रतिनिधि भेज सकते थे। सारन का नगर तो ऐसा था कि न वहाँ कोई रहने वाला था और न कोई निर्वाचक और इसका प्रतिनिधि जो पार्लिमेन्ट में बैठता था केवल अपना ही प्रतिनिधित्व करता था। इसीलिये जनता की जो आवाज़ सुधार के लिये उठी वह सम्पूर्ण बिल को पास कराना चाहती थी। उसका कथन था: 'बिल पूरा बिल और बिल के अतिरिक्त कुछ नहीं।'

पार्लिमेन्ट के सुधार क़ानून

इसीलिये सन् १८३२ के सुधार क़ानून द्वारा जिन स्थानों की जनसंख्या २००० से कम थी उनका कामन सभा के लिये प्रतिनिधि भेजने का अधिकार छीन लिया गया। जिन स्थानों की जनसंख्या २००० और ४००० के बीच में थी उनको एक और जिनकी जनसंख्या ४००० से अधिक थी उनको दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। इस सुधार के अनुसार नगरों में जो दस पौंड वार्षिक किराये के घर में रहते थे और गावों में जो पचास पौंड वार्षिक लगान देते थे, मत देने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार जैसा कि एक आधुनिक इतिहासकार का कथन है 'लगभग १५० वर्ष के विलम्ब के पश्चात् अंग्रेज़ी क्रान्ति का द्वितीय कार्य पूरा हुआ'। प्रथम कार्य जेम्स द्वितीय

का देश-त्याग था जिसके फलस्वरूप शासन की वास्तविक शक्ति पार्लिमेन्ट के हाथों आगई और द्वितीय कार्य से राजनीतिक शक्ति मध्यम वर्ग के हाथों आगई। निर्वाचन प्रणाली में दूसरा सुधार १८६७ के सुधार-क़ानून से हुआ। इसके अनुसार नगरों में उन सभी लोगों को मताधिकार प्राप्त हुआ जो या तो मकान मालिक होते थे या पाँच पौंड सालाना किराया देते थे। गाँवों में १५ पौंड सालाना लगान देने वाले भी मतदाता बना दिये गये। इसका यह परिणाम हुआ कि नगरों में श्रमजीवी वर्ग को भी मताधिकार प्राप्त हुआ। तृतीय सुधार क़ानून ने, जो १८८४ ई० में पास हुआ, देहात के श्रमिक वर्गों को भी मताधिकार दे दिया। इस प्रकार प्रथम सुधार-क़ानून ने धनिकों तथा नगर-समितियों के हाथ से प्रतिनिधि भेजने का अधिकार ले लिया, दूसरे ने उच्च मध्यम वर्ग के हाथ से लेकर इस अधिकार को मध्यम तथा निम्न मध्यम वर्ग के लोगों को दिया और तृतीय सुधार-क़ानून से प्रतिनिधियों को भेजने का अधिकार समस्त राष्ट्र को मिल गया। किन्तु निर्वाचन पद्धति में सुधार यहीं नहीं समाप्त हुआ। १९१८ ई० में एक चौथा सुधार-क़ानून पास हुआ जिसके परिणाम स्वरूप स्त्रियों को भी मताधिकार दिया गया। पाँचवें सुधार-क़ानून से जो १९२८ ई० में पास हुआ, केवल बालिग मताधिकार ही नहीं प्रचलित किया गया वरन् सम्पत्ति की योग्यता को भी हटा दिया गया। इस प्रकार इंगलैंण्ड में मताधिकार का क्षेत्र, धीरे-धीरे विस्तृत होता गया और प्रचलित कथन 'सिद्धान्तरूप से इंगलैण्ड में राजकीय शासन है, देखने में नियन्त्रित वैधानिक शासन है और वास्तव में पूर्ण प्रजातन्त्र है' की सच्चाई स्थापित हो गई।

मत—अधिकार और कर्त्तव्य के रूप में

सिद्धान्त में तो सदैव से लोगों का कहना रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक[1] मत देने को अधिकार मिलना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का यह प्राकृतिक अधिकार है कि वह शासन-कार्य में भाग ले। इसका अर्थ हुआ कि मताधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है जो सभी लोगों को मिलना चाहिए। लेकिन इस बात का ध्यान अवश्य रहे कि मताधिकार का प्रयोग अनुचित ढंग से न किया जाये। बिना सोचे-समझे अपना मत किसी भी उम्मीदवार को न देना चाहिए। अगर ऐसा होता है तो सार्वजनिक शासन निरर्थक ही नहीं वरन् हानिकारक भी हो जाता है। इसलिये मताधिकार के प्रयोग में प्रत्येक व्यक्ति के, समाज के प्रति, कर्त्तव्य का भी समावेश रहता है। यह एक नैतिक दायित्व है जिसको सभी मतदाताओं को निभाना चाहिए। अगर एक अर्थ

१—कभी-कभी एक व्यक्ति को दो या दो से अधिक मत देने का अधिकार मिल जाता है। अगर किसी व्यक्ति की सम्पत्ति दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में है और वह दोनों जगहों पर सम्पत्ति की योग्यता को पूरा करता है तो उसे दोनों जगहों पर मत देने का अधिकार प्राप्त होगा। इस प्रकार वह दो मत देगा। विश्वविद्यालय का स्नातक एक मत साधारण निर्वाचन क्षेत्र में नागरिक होने के नाते दे सकता है और दूसरा अपनी योग्यता के कारण। कहीं कहीं पर मताधिकार अनिवार्य होता है अर्थात् जो लोग मत देने नहीं जाते उन्हें दंड दिया जाता है।

में मत लोगों का विशेष अधिकार है तो दूसरे अर्थ में यह उनका कर्त्तव्य भी है कि वे इसका उचित प्रयोग करें। इसीलिये प्रतिनिधि संस्थाओं के आदि काल से ही मताधिकार उन्हीं लोगों को दिया जाता था जो इसके योग्य समझे जाते थे अर्थात् जिनका, समाज में कुछ हित रहता था और जो अपने कर्त्तव्यों को भली-भाँति समझते थे। इसीलिये जनसाधारण की एक बड़ी संख्या और स्त्रियों को मताधिकार से वञ्चित रक्खा गया था।

मेरी वोल्स्टन क्राफ्ट और मिल

प्रथम लेखक जिसने स्त्रियों के केवल मताधिकार ही की माँग नहीं उपस्थित की थी वरन् उनकी स्वतन्त्रता की भी आवाज उठाई थी वह मेरी वोल्स्टन क्राफ्ट थी। उसने सन् १७६२ ई० में 'स्त्रियों के अधिकारों की पैरवी' (विन्डिकेशन आव् दि राइट्स आव् वीमेन) नामक पुस्तक की रचना की जिसमें उसने स्त्रियों के अधिकारों को लोगों के सामने रक्खा। किन्तु अभी तक कोई ठिकाने का आन्दोलन नहीं चल सका था। मिल ने स्त्रियों के पक्ष का समर्थन किया और उसने 'स्त्रियों की पराधीनता' (सबजेक्शन आव् वीमेन) नामक प्रसिद्ध लेख ही नहीं लिखा वरन् कामन सभा में भी उनके अधिकारों का समर्थन किया।

स्त्रियों के साथ अन्याय पर मिल का विचार

मिल का पूर्ण विश्वास था कि स्त्रियाँ सदैव से ही सामाजिक तथा क़ानूनी अयोग्यताओं का शिकार रही हैं। पुरुष उनको अपनी दासी समझता आया है। शिशु-पालन तथा गृह-प्रबन्ध ही उनके कार्य रहे हैं। इसीलिये उनके लिये अधिक काल तक अविवाहित रहना सम्भव नहीं था और पुरुषों की भांति वे उच्च शिक्षा भी नहीं प्राप्त कर सकती थीं। न तो वे सार्वजनिक कार्यों में हाथ बटा सकती थीं और न किसी सरकारी पद पर ही नियुक्त की जा सकती थीं।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता के पक्ष में मिल की दलील

मिल को यह अन्याय असह्य मालूम पड़ा। उसने स्त्रियों के पक्ष को लिया और उनके अधिकारों के लिये एक संगठित आन्दोलन को जन्म दिया। उसने 'स्त्री-मताधिकार संस्था' की लन्दन-समिति के साथ कन्धा मिलाया। स्त्रियों के अधिकारों के पक्ष में मिल की दलील[1] मानव प्रकृति के दो सिद्धान्तों पर आधारित थी। पहला था मानव स्वभाव की असीम परिवर्त्तनशीलता और दूसरा वाह्य परिस्थितियों की मनुष्यों में अन्तर लाने की शक्ति।

इस प्रकार उसकी पहली दलील यह थी कि मानव स्वभाव, चाहे पुरुष का हो या स्त्री का, जन्म से कभी नहीं तय होजाता। बचपन से युवा अवस्था तक उसको हजारों प्रकार से बदला जा सकता है। इसीलिये जन्म से स्त्री होने के कारण स्त्रियों की उपेक्षा करना उनके प्रति सबसे बड़ा अन्याय है। अगर पुरुष का स्वभाव बदला और सुधारा जा सकता है तो स्त्रियों का क्यों नहीं? केवल स्त्री होने के नाते उनकी अवहेलना करना स्त्री-वर्ग पर सबसे बड़ा अत्याचार है।

१—डेविडसन-दि युटिलिटेरियन्स फ्राम बेन्थम टु मिल, पृ० २०८।

दूसरे, बाह्य परिस्थितियाँ पुरुष के स्वभाव को जितना प्रभावित करती हैं उतना ही वे स्त्रियों के स्वभाव को भी करेंगी। अगर कुछ मनुष्यों को स्वतन्त्र न रखकर बन्धन में रक्खा जाय तो उनकी मौलिकता तथा नेतृत्व करने की योग्यता समाप्त हो जायगी। इसी तरह गृहस्थी के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण स्त्रियाँ भी दूसरे कार्यों में अपनी बुद्धि तथा योग्यता नहीं लगा सकतीं। अगर जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्हें कार्य करने का अवसर दिया जाय तो वे पुरुषों ही के समान अपनी योग्यता सिद्ध करेंगी। इसलिये यह कहना कि स्त्रियाँ स्वभाव ही से राजनीति में भाग लेने के योग्य नहीं हैं ग़लत ही नहीं वरन् असत्य भी होगा। वास्तविकता तो यह है कि हम लोग केवल सोचते आये हैं कि राजनीति में हिस्सा बटाना स्त्रियों के लिये अस्वाभाविक है। इसलिये उनको बन्धन में रखना तथा उनके कार्यक्षेत्र को सीमित रखना केवल अन्याय ही न होकर तर्क-शून्य पाशविक अत्याचार है।

तीसरे, यदि पुरुष अच्छा शासन चाहते हैं तो स्त्रियाँ भी चाहती हैं। अगर यह मान लिया गया है कि प्रतिनिधित्व से अच्छा शासन होता है तो स्त्रियों को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार क्यों नहीं मिलना चाहिए?

चौथे, यदि पुरुषों के साथ स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त है और वे कर देती हैं तो उचित यही है कि उन्हें भी पुरुषों के साथ-साथ प्रतिनिधित्व का अधिकार मिले।

पाँचवे, कई देशों में स्त्रियाँ सिंहासनारूढ़ हुई हैं और उन्होंने अच्छी तरह शासन किया है। फिर वे किस बिना पर राजनीतिक अधिकार से वञ्चित की जाती हैं। यह सचमुच आश्चर्यजनक है।

मिल द्वारा स्त्री-मताधिकार-आन्दोलन का प्रारम्भ

मिल ने स्त्रियों के अधिकारों के आन्दोलन को प्रारम्भ करके लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। उसके बाद स्त्रियों ने स्वयं अपने अधिकारों तथा स्वत्वों के लिये राजनीतिक तथा सामाजिक संघों का सङ्गठन करना प्रारम्भ कर दिया। इसके परिणाम-स्वरूप २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्त्री-मताधिकार-आन्दोलन ने शक्तिशाली रूप ग्रहण कर लिया था। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् स्त्रियों के अधिकार भी सभी युद्धोत्तर विधानों में पुरुषों के समान माने गये और उन्होंने लगभग जीवन के सभी क्षेत्रों में हाथ बँटाना प्रारम्भ किया।

अन्य लेखकों द्वारा स्त्री-मताधिकार का समर्थन

मिल की दलीलों के अतिरिक्त दूसरे लेखकों ने भी स्त्रियों के पक्ष में अपने-अपने विचारों को रक्खा है। उन्हें संक्षेप में निम्नलिखित ढंग से रख सकते हैं :—

(१) यह स्पष्ट है कि बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी हैं जो शासन-कार्य की योग्यता में हजारों मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं। उन्हें मताधिकार न देकर समाज उनकी सेवा से अपने को वञ्चित रखता है। उदाहरण के लिये भारत में श्रीमती सरोजिनी नायडू ही को लीजिये। क्या वे अपनी योग्यता और चरित्र से किसी भी व्यवस्थापिका को सुशोभित नहीं करेंगी?

यों जैसा कि डाइसी का कथन है क्या फ्लोरेन्स नाइटिंगेल इस योग्य नहीं थीं कि वे निर्वाचन में किसी पार्लिमेन्ट के सदस्य के पक्ष में अपना मत देतीं जब कि उसी समय उनका कोचवान या चपरासी, यदि वह दस पौंड के मकान में रहता होता तो मत दे सकता था। फ्लोरेन्स नाइटिंगेल जैसा कि उनकी आत्मकथा से प्रकट होता है राजनीतिज्ञों के कई गुणों से सम्पन्न थीं। वे अपने मताधिकार का प्रयोग देश के हित ही के लिये करतीं। इसके अतिरिक्त लोकमत पर भी उनका प्रभाव पार्लिमेन्ट के बहुत से सदस्यों की अपेक्षा अधिक ही पड़ा था।

(२) यदि मताधिकार मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार है तो इसे स्त्रियों को क्यों नहीं मिलना चाहिए? क्या स्त्री मनुष्य नहीं है? क्या सामूहिक विचार केवल पुरुषों के ही विचार से बनता है? यदि सामूहिक विचार के अन्तर्गत स्त्रियों का विचार नहीं आता तो इसे सामूहिक क्यों कहा जाय? क्यों न इसे पुरुषमात्र का विचार कहा जाय? इसलिये आधे राष्ट्र को मताधिकार से वञ्चित रखना, केवल स्त्री होने के नाते, सबसे बड़ा अन्याय होगा।

(३) आज के औद्योगिक युग में कितनी ही स्त्रियाँ कल-कारखानों में काम कर रही हैं। इस दशा में यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि अपने स्वत्वों तथा अधिकारों की रक्षा करने के लिये उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने का अवसर दिया जाय। स्वभावतः वे स्त्री-सम्बन्धी क़ानूनों में पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा दिलचस्पी लेंगी।

(४) अन्त में, लोगों का यह भी कहना कि स्त्रियों के आगमन से राजनीति सुधर जायगी। स्वभाव ही से स्त्रियाँ युद्ध तथा हिंसा का विरोध करेंगी और शिक्षा तथा जनसेवा सम्बन्धी कार्यों का समर्थन करेंगी। इससे राजनीति में संयम तथा उत्तरदायित्व की वृद्धि होगी और क्रोध तथा उतावलापन दूर हो जायगा।

स्त्री-मताधिकार का विरोध

उपरोक्त दलीलों के उत्तर में उन लोगों ने, जो स्त्रियों के सार्वजनिक समस्यायों में भाग लेने के विरुद्ध थे, निम्नलिखित दलीलें पेश की हैं:—

(१) राजनीतिक मामलों में स्त्रियों का सहयोग घरों की शान्ति तथा सुख में बाधा पहुँचावेगा। स्त्रियों का कार्य बच्चों का पालन तथा पोषण करना है। वे घर की रानी होती हैं और बाहर के कार्य पुरुषों के जिम्मे रहने चाहिए। अगर स्त्रियाँ राजनीति में भाग लेने लगेंगी तो बच्चों की ओर से उनका ध्यान हट जायेगा। इसका परिणाम राष्ट्र के हित में अच्छा न होगा। इसके अतिरिक्त अगर पति तथा पत्नी में राजनीतिक मतभेद हुआ है तो परिवार में असन्तोष तथा कलह पैदा हो जायेगा और सारा पारिवारिक जीवन सुख तथा शान्ति से वञ्चित रहेगा।

(२) स्त्रियों का राजनीति के विवाद में पड़ना तथा निर्वाचन में भाग लेना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल है। इससे उनका स्त्रीत्व समाप्त हो जायेगा और स्त्रियों के प्रति श्रद्धा की भावना भी जाती रहेगी। फल यह होगा कि स्त्रियाँ भी राजनीतिक तथा निर्वाचन सम्बन्धी प्रचार की शिकार होंगी। इससे सामाजिक जीवन का स्तर नीचा हो जायगा।

(३) कुछ लोगों का यह भी कहना है कि स्त्रियाँ अपने मताधिकार का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकतीं। उनके पति तथा दूसरे सम्बन्धी उन पर दबाव डालेंगे और इस प्रकार दो मत अपने हाथ में रक्खेंगे। किन्तु मिल महोदय इससे कोई हानि नहीं देखते। उनका कहना है कि यदि स्त्रियाँ स्वतन्त्र होकर मताधिकार को प्रयोग में लासकें तो बहुत ही अच्छा है परन्तु यदि उनके पति तथा दूसरे सम्बन्धी वादविवाद द्वारा उन्हें प्रभावित करके अपने अनुकूल मत दिलवाते हैं तो भी कोई हानि नहीं। कम से कम वे स्त्रियों के अस्तित्व को मानते तो हैं।

(४) यह कहना कि मताधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है और स्त्रियों तथा पुरुषों को बराबर मिलना चाहिए ठीक नहीं होगा। हमें याद रखना चहिए कि प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य भी हैं। क्या स्त्रियाँ सभी सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन कर सकेंगी? अगर वे ऐसा करती हैं तो केवल उनकी शरीरिक क्षति ही नहीं होगी वरन् सारा सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन ही नष्ट हो जायेगा। प्रकृति ने उन्हें दूसरे कार्यों के लिये ही बनाया है और वे परम्परा से उसे करती आई हैं। इन कार्यों से अलग करके उन्हें राजनीति में लाना उचित न होगा।

(५) यह भी कहा गया है कि प्रकृति ने मानव समाज को दो वर्गों में विभाजित किया है,—एक वर्ग पुरुषों का है और दूसरा स्त्रियों का। प्रकृति तथा स्वभाव के अनुसार दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हैं। पुरुषों के लिये परिश्रम तथा संघर्षमय जीवन है और स्त्रियों के लिये शान्त और अल्पश्रम वाला। दोनों एक दूसरे के जीवन को पूर्ण बनाते हैं। इसलिये दोनों के कार्यों में विभाजन नहीं है, सहयोग है। वे अपने स्वभावानुकूल कार्यों को बाँट कर एक दूसरे की सहायता करते हैं। इसलिये पुरुषों द्वारा स्त्रियों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करना उतना ही बुरा होगा जितना स्त्रियों द्वारा पुरुषों के कार्यक्षेत्र में। इसका यह तात्पर्य हि हुआ कि पुरुषों के लिये घर में रहना उतना ही अनुचित होगा जितना कि स्त्रियों का सामाजिक उथल-पुथल में हाथ बँटाना। इन्हीं आधारों पर कहा जाता है कि स्त्रियों का राजनीति में भाग लेना अनुचित ही नहीं वरन् अस्वाभाविक भी है।

(६) ब्लुन्टशली कहता है कि यह कहना कि यदि पुरुष अच्छे शासन के अन्दर रहना चाहते हैं तो स्त्रियाँ भी चाहती हैं, कोई दलील नहीं है। क्या बच्चों का भी यह प्राकृतिक अधिकार नहीं है कि वे भी अच्छा शासन चाहें? अगर ऐसा है तो बच्चों को भी प्रतिनिधित्व का अधिकार क्यों नहीं दिया जाता? इससे स्पष्ट है कि सुशासन का अधिकार और प्रतिनिधित्व तथा शासन में भाग लेने के अधिकार अलग-अलग हैं।

(७) अन्त में, कहा जाता है कि मानव इतिहास में स्त्रियों को राजनीति से अगल रखना ही यह सिद्ध कर देता है कि उन्हें मताधिकार से वञ्चित रक्खा जाय। आरम्भ से ही लोगों ने सोचा होगा कि सुख, शान्ति तथा सद्भावना के हित में स्त्रियों को राजनीतिक अधिकारों से अलग रखना ही ठीक होगा।

किन्तु संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्त्रियों के राजनीति में भाग लेने के विरुद्ध अनेकों दलीलों के बावजूद भी प्रजातन्त्र की बढ़ती हुई लहर के सामने हमें स्त्रियों के अधिकार को मानना ही पड़ा है। धीरे-धीरे संसार भर में स्त्रियों के अधिकार के आन्दोलन

ने विजय प्राप्त की और सन् १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद न केवल यूरोप और अमरीका में ही वरन् टर्की, भारतवर्ष और चीन में भी स्त्रियों को राजनीति में पुरुषों के समान भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ है।

निर्वाचन-क्षेत्र

मताधिकार पर विचार करने के पश्चात् अब हम निर्वाचन-प्रणाली पर भी ध्यान दे सकते हैं। प्रारम्भ में ही हमें याद रखना चाहिए कि निर्वाचन के लिये देश को भिन्न-भिन्न निर्वाचन प्रान्तों में बाँट दिया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि निर्वाचन प्रान्त और राजनीतिक प्रान्त एक ही हों। निर्वाचन के लिये बाँटे गये इन प्रान्तों को हम निर्वाचन-क्षेत्र कहते हैं।

निर्वाचन की दो प्रणालियाँ

निर्वाचन-क्षेत्रों के संगठन करने की दो प्रणालियाँ हैं। एक की तो एकप्रतिनिधि प्रणाली (Single-Member Constituency) कहते हैं। इस प्रणाली में सम्पूर्ण देश को छोटे-छोटे क्षेत्रों में विभाजित कर देते हैं और प्रत्येक क्षेत्र को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है। इस प्रणाली में प्रत्येक क्षेत्र के मतदाता केवल अपने ही प्रतिनिधि के निर्वाचन में भाग लेते हैं। दूसरी बहुप्रतिनिधि प्रणाली (General Ticket System or Multiple-member Constituency) कहलाती है। इसमें सारे देश को थोड़े से ही क्षेत्रों में बाँटा जाता है और एक क्षेत्र से कई प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। प्रत्येक मतदाता उतने मतों का प्रयोग करता है जितनी संख्या उस क्षेत्र के प्रतिनिधियों की होती है।[1]

निर्वाचनाधिकार एक अमानत है

हम देख चुके हैं कि आज २१ वर्ष से अधिक आयु वाले सभी स्त्री-पुरुष मत देने के अधिकारी होते हैं। तो क्या इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक मतदाता राष्ट्र का प्रतिनिधि भी हो सकता है ? दूसरे शब्दों में, क्या प्रत्येक व्यक्ति का यह भी अधिकार है कि वह निर्वाचित भी हो सके ? इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तथाकथित निर्वाचन का अधिकार, कर्त्तव्य भी है केवल अधिकार ही नहीं। यह समाज की अमानत है और अगर यह किसी को निर्वाचित करती है तो इसका अर्थ हुआ कि उस व्यक्ति में समाज का विश्वास है। इसलिये सभी ऐरे-ग़ैरे इस कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकते। इस कार्य को केवल वही लोग भलीभांति कर सकते हैं जो अपने अनुभव, बुद्धि और सामाजिक दर्जे से राष्ट्र की सेवा करने के योग्य हैं। अतः निर्वाचन में केवल उन्हीं व्यक्तियों को खड़ा होना चाहिए जिनमें सेवा तथा त्याग की भावना और योग्यता हो; जिन्होंने सामाजिक जीवन में बुद्धि, अनुभव तथा निर्णय द्वारा ख्याति प्राप्त की हो और साधारण लोगों से ऊँचे हों।

---

१ फ्रान्स में पहली को प्रणाली Scutin d' arraodissement और दूसरी को Scrutind liste कहते हैं।

प्रतिनिधि तथा डेलीगेट

किन्तु जनता का प्रतिनिधि (Representative) होने का यह अर्थ नहीं कि वह उनके हाथ में कठपुतली की तरह हो और अपने निर्वाचकों के इशारे के बिना कुछ भी न कर सके। वास्तव में प्रतिनिधि होने के लिये आवश्यक है कि प्रतिनिधियों को अपनी बुद्धि तथा निर्णय-शक्ति को अपने निर्वाचकों के हितार्थ प्रयोग करने का अवसर मिले। निर्वाचकों के द्वारा प्रतिदिन का नियन्त्रण कदापि आवश्यक नहीं। प्रतिनिधियों को अपना स्वतन्त्र विचार तथा व्यक्तित्व रखना चाहिए नहीं तो वे केवल डेलीगेट (Delegate) मात्र रह जायँगे जिनका काम केवल चुनने वालों की इच्छाओं तथा आदेशों को पालन करना ही होता है। प्रतिनिधि तथा डेलीगेट के भेद को स्पष्ट करने के लिये हम बर्क महोदय के कथन का उल्लेख करेंगे। १७७४ ई० में बर्क भी ब्रिस्टल की एक सीट का उम्मीदवार था। उसका प्रतिद्वन्द्वी, जो कि निर्वाचन में हार गया, इस बात पर तैयार था कि वह अपने निर्वाचकों के आदेशों का पालन करेगा। निर्वाचन के पश्चात बर्क ने अपने निर्वाचन-क्षेत्र में एक भाषण दिया। गूंजते हुए शब्दों में उसने निर्वाचकों को चेतावनी दी और उनके तथा अपने सम्बन्ध पर प्रकाश डाला। उसने कहा, 'महाशयगण! निस्संदेह एक प्रतिनिधि को इस बात पर गौरव तथा प्रसन्नता होनी चाहिए कि वह अपने निर्वाचकों के सम्पर्क में रहता, उनसे पत्र-व्यवहार तथा घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। उनकी इच्छायें इसके लिये बहुत मूल्य रखती हैं और उनके मत का वह आदर करता है। यह उसका कर्त्तव्य है कि उनके लिये वह अपने सुख, शान्ति तथा सन्तोष को बलिदान करे और उनके हित के सामने अपने हितों की चिन्ता न करे। किन्तु इसके साथ-साथ अपने निष्पक्ष विचार, निर्णय तथा अपनी आत्मा को आप या किसी और के लिये नहीं त्याग सकता। इनको न तो वह आपसे प्राप्त करता है और न किसी क़ानून तथा विधान से। ये ईश्वर प्रदत्त वस्तुयें हैं और इनके दुरुपयोग के लिये वह उसी के सामने उत्तरदायी होता है। आप के प्रतिनिधि का कर्त्तव्य है कि वह अपने परिश्रम ही से नहीं वरन् निर्णय-शक्ति से भी आपकी सेवा करे। किन्तु यदि वह अपने निर्णय को आपकी इच्छाओं के सम्मुख बलिदान कर देता है तो वह आपकी सेवा न करके आपको धोखा देता है'।

'मेरे योग्य प्रतिद्वन्द्वी का कहना है कि प्रतिनिधि को आपकी इच्छाओं के अधीन होना चाहिए। यदि इतना ही है तो इसमें कोई हानि नहीं। परन्तु यदि शासन इच्छा की ही वस्तु होती तो आपकी इच्छा निःसन्देह श्रेष्ठ है। किन्तु शासन तथा क़ानून बुद्धि तथा विवेक की वस्तुयें हैं इच्छा की नहीं। वह कैसा विवेक है जिसमें निर्णय वाद-विवाद से पहले ही हो जाता है; जिसमें कुछ व्यक्ति वाद-विवाद करते हैं और दूसरे निर्णय देते हैं और जिसमें निर्णय देने वाले लोग शायद दलीलों को सुनने वालों से तीन सौ मील दूर रहते हैं' ?

'विचार प्रकट करना सभी मनुष्यों का अधिकार है परन्तु निर्वाचकों का विचार अधिक मूल्यवान और आदरणीय होता है। इसे प्रत्येक प्रतिनिधि को प्रसन्नतापूर्वक सुनना

चाहिए और इस पर ध्यानपूर्वक सोचना चाहिए। किन्तु निर्वाचकों की आज्ञा मानना; उनके आदेशों को पालन करके इनके पक्ष में बहस करना और मत देना, यद्यपि जो उसकी आत्मा तथा धारणा के विपरीत है, देश के क़ानून तथा नियम के प्रतिकूल है। यह भावना विधान को भली भांति न समझने के कारण ही पैदा होती है'।

'पार्लिमेन्ट विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी हितों की रक्षा करने वाले गुमाश्तों की सभा नहीं है जिसमें प्रत्येक गुमाश्ते को पहले से ही यह तय कर लेना पड़ता है कि वह दूसरों के विरुद्ध किस हित की रक्षा करेगा। पार्लिमेन्ट राष्ट्र की एक मन्त्रणात्मक सभा है जिसके सामने सम्पूर्ण राष्ट्र का हित रहता है और जहाँ लोगों को स्थानीय हितों तथा ईर्ष्या से ऊपर उठ कर समस्त राष्ट्र के हित का ध्यान रखना पड़ता है। आपके निर्वाचन कर चुकने के पश्चात आपका प्रतिनिधि ब्रिस्टल का सदस्य नहीं रहता किन्तु वह पार्लिमेन्ट का सदस्य होता है।'

डेलीगेट-सिद्धान्त पर अन्य आपत्तियाँ

यह तो प्रतिनिधियों की स्वतन्त्रता को सीमित करने के विरुद्ध एक साधारण सी आपत्ति हुई। डेलीगेट-सिद्धान्त अथवा प्रतिनिधियों को आदेश देना हम दूसरे आधारों पर भी ठीक नहीं समझते।

पहले तो यह ग़लत धारणा है कि चूंकि प्रतिनिधि का निर्वाचन एक निर्वाचन-क्षेत्र से हुआ है इसलिये वह उसी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है। उसे केवल स्थानीय प्रतिनिधि नहीं बनाया गया है कि वह वहाँ के लोगों से आदेश तथा आज्ञा ले। वास्तव में वह राष्ट्रीय प्रतिनिधि है और राष्ट्र के हित के लिये उसको निर्वाचित किया गया है।

दूसरे, समय-समय पर निर्वाचन होते रहने से अयोग्य प्रतिनिधि को दूसरे निर्वाचन में अलग किया जा सकता है। इसलिये लगातार आदेश देकर प्रतिनिधियों को नियन्त्रण में रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

तीसरे, प्रतिनिधियों पर नियन्त्रण रख कर तथा उनके स्वतन्त्र विचार तथा निर्णय को स्थान न देकर हम व्यवस्थापिकाओं ही को बेकार कर देते हैं। ऐसी व्यवस्थापिकाओं में जाने के लिये केवल अयोग्य लोग ही तैयार होंगे जो निर्वाचकों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों को मानेंगे। योग्य तथा शक्तिशाली व्यक्ति इन आदेशों को मानना अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझेंगे और केवल 'मालिक की आवाज़' होना कभी भी नहीं पसन्द करेंगे।

चौथे, चूँकि साधारणतः मतदाता क़ानून-निर्माण के कार्य को भली भाँति नहीं समझते इसलिये जो आदेश वे देंगे वे दलों के आदेश होंगे। इसके परिणाम-स्वरूप केवल वही क़ानून पास होंगे जो एक ही दल के लिये हितकर होंगे।

एकप्रतिनिधि-निर्वाचन-प्रणाली के दोष

प्रतिनिधि तथा डेलीगेट के अन्तर के स्पष्टीकरण के पश्चात् अब हम फिर एक-प्रतिनिधि-निर्वाचन-प्रणाली पर ध्यान देंगे। प्रतिनिधि शासन के पीछे यह भावना

है कि हमारी व्यवस्थापिकायें पूर्ण रूप से जनता के विचारों का प्रतिनिधित्व करें। किन्तु इस प्रणाली के व्यावहारिक रूप में अमरीका तथा इंगलण्ड में बहुत से दोष आ गये हैं।[1] इंगलैण्ड के बारे में ऐस्क्विथ महोदय ने एक बार कहा था कि 'इस सरल और सीधी प्रणाली का, जो अब तक काम में लाई जाती रही है और जिसे प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का उचित तथा सन्तोषजनक रूप माना गया था, अब समर्थन करना सम्भव नहीं। इससे केवल इतना ही नहीं होता कि उस दल के, जो देश में अल्प संख्या में है, पार्लिमेन्ट में बहुसंख्या में पहुँचने का अन्देशा रहता है वरन जो प्रायः होता रहता है और काफी अहितकर है वह यह है कि कामन-सभा तथा निर्वाचन-क्षेत्रों में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दलों की संख्या समानुपातिक नहीं रहती।'

पहला दोष

इस तरह एक निर्वाचन-क्षेत्र से एक ही प्रतिनिधि भेजने वाली प्रणाली का पहला बड़ा दोष यह है कि सारे निर्वाचकों की अल्पसंख्या का प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में बहुसंख्या के सिद्धान्त पर पहुँचता है। इसे हम एक उदाहरण से अधिक सरलता से समझ सकते हैं। मान लीजिये एक निर्वाचन क्षेत्र में मतदाताओं की संख्या १०० है और तीन उम्मीदवार 'क' 'ख' और 'ग' निर्वाचित होने के लिये खड़े हैं। निर्वाचन में 'क' को ४५ मत मिलते हैं, 'ख' को ३० और 'ग' को २५। बहुसंख्या के सिद्धान्त के अनुसार 'क' निर्वाचित हो जाता है क्योंकि तीनों उम्मीदवारों में से सबसे अधिक मत

१—राम्ज़े म्योर ने अपनी 'हाउ इंगलैंड इज़ गवर्न्ड ?' नामक पुस्तक के पाँचवें अध्याय में केवल प्रतिनिधि संस्था के सिद्धान्तों पर ही नहीं विचार किया है वरन् उसने इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर इंगलैंड की प्रचलित निर्वाचन प्रणाली (जिसमें एक क्षेत्र से एक ही प्रतिनिधि पार्लिमेन्ट में भेजा जाता है) के दोषों का भी निरीक्षण किया है। उसके अनुसार वास्तविक प्रतिनिधि भेजने की प्रणाली में निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहियेः—

(१) राष्ट्र के प्रतिनिधियों में सभी प्रकार के राजनीतिक विचार वाले लोगों का उनकी संख्या के अनुसार समावेश होना चाहिए।

(२) इन प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते समय मतदाताओं को अपने विचार तथा विश्वास के अनुसार मत देना चाहिये। यदि वे केवल उन लोगों को मत देते हैं जिनके प्रतिद्वन्द्वी को वे नहीं पसन्द करते या उससे डरते हैं, तो प्रतिनिधित्व वास्तविक नहीं हो सकेगा।

(३) निर्वाचकों को ऐसा अवसर मिलना चाहिए कि वे चरित्रवान तथा योग्य पुरुषों में से चुनाव कर सकें। उन्हें ऐसे भ्रम में नहीं पड़ने देना चाहिये, जैसा कि प्राय: होता है, जिसमें उन्हें या तो अयोग्य मूर्ख को अथवा स्वार्थी अवसरवादी व्यक्ति को ही मत देना पड़े।

(४) निर्वाचकों के किसी एक विशेष दल का अपनी संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व नहीं होना चाहिए।

किन्तु इंगलैण्ड की निर्वाचन प्रणाली में ये बातें नहीं पाई जातीं; सब का तो कहना ही क्या, इन में से एक भी नहीं पाई जाती और इसीलिये यह प्रणाली 'अत्यन्त अनुचित, असन्तोषजनक और खतरनाक है। (विवरण के लिये प्रत्येक विद्यार्थी को उपरोक्त पुस्तक पढ़ना चाहिए।)

'क' ही को मिलते हैं। परन्तु असलियत बिल्कुल दूसरी ही है। १०० मतदाताओं की संख्या में से 'क' को केवल ४५ मत मिले हैं और शेष ५५ मत 'ख' और 'ग' को मिलते हैं। इस प्रकार १०० मतों के योग में से आधे से अधिक मत हारे हुए उम्मीद-वारों को मिले हैं। इसलिये 'क' केवल नाममात्र के लिये बहुसंख्यक दल का प्रतिनिधि है। वास्तव में वह अल्पसंख्यकों का ही प्रतिनिधि हुआ और बहुसंख्यकों के तो प्रतिनिधित्व ही न मिला।

दूसरा दोष

व्यावहारिक रूप में इस प्रणाली का दूसरा बड़ा दोष यह है कि बहुसंख्यक दल को अत्याधिक प्रतिनिधित्व मिल जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि निर्वाचन के फलस्वरूप इस दल को जितने स्थान प्राप्त होते हैं वे उसकी संख्या के अनुपात से अधिक होते हैं। और दूसरे अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व या तो अपनी संख्या के अनुपात में कम होता है या कभी-कभी बिल्कुल होता ही नहीं। इस दोष को भी हम उदाहरण की सहायता से समझाने का प्रयत्न करेंगे।

मान लीजिये कि मतदाताओं की कुल संख्या ४०० है जिसमें ३०० हिन्दू हैं और १०० मुस्लिम। निर्वाचन के लिये सारे मतदाताओं को चार निर्वाचन क्षेत्र—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम, में बाँट दिया गया है। इन चारों क्षेत्रों में से चार सदस्यों को निर्वाचित करना है। इन चारों क्षेत्रों में हिन्दू और मुस्लिम मतदाताओं की संख्या इसका प्रकार है:

	उत्तर	दक्षिण	पूर्व	पश्चिम
हिन्दू	१००	७५	८५	४० = ३००
मुस्लिम	४०	३०	२०	१० = १००

अब यदि एक क्षेत्र से एक प्रतिनिधि भेजने की प्रणाली से निर्वाचन होगा तो प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दू उम्मीदवार ही सफल होगा और चारों क्षेत्रों में से एक भी मुस्लिम नहीं चुना जायगा। इससे यह ज्ञात हुआ कि जिस दल की ओर मतदाताओं की संख्या के तीन भाग हैं, सारे मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करता है और एक तिहाई अल्प-संख्यक बिना प्रतिनिधित्व के ही रह जाते हैं।

तीसरा दोष

इसी प्रणाली का तीसरा दोष यह है कि अल्पसंख्यक दल अपनी संख्या के अनुपात से भी अधिक व्यवस्थापिका में स्थान पा सकता है और बहुसंख्यक दल का प्रतिनिधित्व उसकी संख्या के अनुसार नहीं हो पाता। इसे भी उदाहरण ही की सहायता से समझ सकते हैं।

मान लीजिये कि मतदाताओं की संख्या ४०० है जिसमें ३०० हिन्दू हैं और १०० मुस्लिम। निर्वाचन में चार प्रतिनिधियों को भेजना है; निर्वाचन क्षेत्र उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम हैं और प्रत्येक क्षेत्र को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। हिन्दू और मुस्लिम मतदाताओं की संख्या भिन्न भिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार है:

	उत्तर	दक्षिण	पूर्व	पश्चिम	
हिन्दू	२२५	२५	३०	२०	=३००
मुस्लिम	५	३०	४०	२५	=१००

हिन्दू और मुसलिम सदस्यों के निर्वाचन में इन क्षेत्रों में से केवल एक हिन्दू चुना जा सकता है और मुसलमानों के तीन सदस्य चुने जायँगे। इस प्रकार बहुसंख्यक हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व उनकी संख्या के अनुपात से बहुत कम हुआ और अल्पसंख्यक मुस्लिमों का अधिक।

निर्वाचन क्षेत्रों की संगठन-पद्धति का महत्व

इन उदाहरणों से स्पष्ट प्रकट है कि ये दोष[1] निर्वाचन क्षेत्रों के संगठन करने के ढंग तथा पद्धति से ही पैदा होते हैं। इसीलिये प्रतिनिधि-शासन को सफल बनाने के लिये आवश्यक है कि निर्वाचन क्षेत्रों की सीमा का निर्धारण तथा उनका संगठन ठिकाने से किया जाय। इनको ऐसे आधार पर बाँटना चाहिए की सभी प्रकार के विचारों तथा हितों का प्रतिनिधित्व भली भाँति हो सके। निर्वाचन क्षेत्रों की सीमा में साधारण सा अन्तर कर देने से केवल कुछ मतों ही का भेद नहीं पड़ सकता वरन् अल्पसंख्यक बिल्कुल ही समाप्त भी हो सकते हैं और प्रतिनिधित्व का पूरा चित्र ही बदल सकता है।[2] निर्वाचन क्षेत्रों का सीमान्तरीकरण केवल कल्पना मात्र ही नहीं है ऐसा अमरीका में हो चुका है। मैसाचुसेट्स में (गवर्नर गेरी के समय में) १८४१ ई० में निर्वाचन क्षेत्रों की सीमाओं में थोड़ा सा अन्तर करने से दल-बहुमत के सन्तुलन में परिवर्तन आ गया था।[3] इस विधि से तत्कालिक सरकार क्षेत्रों की सीमायें इस तरह बदल सकती हैं कि उसका दल अधिक से अधिक क्षेत्रों में थोड़ी-बहुत संख्या में प्रतिद्वन्दी दल से बहुमत में रहे और केवल थोड़े से ही क्षेत्रों में प्रतिद्वन्द्वी दल अत्यधिक बहुमत में रह सके।[4]

चौथा दोष

क्षेत्रों की संगठन की प्रणाली के इन दोषों के साथ-साथ कामन्स महोदय ने एक चौथे भी दोष को इस प्रकार रक्खा है: 'आज जब कि राजनीतिक दलों का संगठन

१—निर्वाचन में उपस्थित वास्तविक दोषों के लिये ए० बी० कीथ कृत 'दि ब्रिटिश केबिनेट सिस्टम' पृष्ठ ३३२-३३५ देखिये।

२—कृपया जे० एच० हम्फ्रीज़ कृत 'प्रोपोर्शनल रेप्रेज़ेन्टेशन' पृष्ठ २७-२२ और ३८-४० देखिये।

३—यह सीमान्तरीकरण गवर्नर गेरी के कार्य-काल में किया था अतः तभी से पश्चिमी देशों में निर्वाचन-क्षेत्रों की सीमाओं को बदलने के कार्य को 'गेरीमान्डरिंग' (Gerrymandering) कहने लगे हैं।

४—फ़ाइनर महोदय का कहना है कि सीमान्तरीकरण (गेरीमान्डरिंग) से अपने निर्वाचन क्षेत्रों को इस तरह बनाया जाता है कि अपना दल अधिक से अधिक क्षेत्रों में बहुसंख्या में रहे, चाहे यह बहुसंख्या दूसरे दल के मुक़ाबले में थोड़े ही मतों से हो और दूसरे दल के मतदाताओं को कुछ थोड़े ही क्षेत्रों में इकट्ठा कर दिया जाय जहाँ वे अधिक संख्या में हों। इससे प्रतिद्वन्द्वी दल अधिक मतदाताओं के होते हुए भी केवल कुछ ही क्षेत्रों में जीत सकेंगे। —दि थियरी एण्ड दि प्रेक्टिस आव मॉडर्न गवर्न्मेंट्स, जि० १, पृ० ६१०।

सामाजिक समस्यायों के आधार पर होता है; इन्हीं के अनुसार लोकमत विभाजित रहता है तथा प्रत्येक दल अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व चाहता है तो ऐसी दशा में हम निर्वाचन की एक ऐसी प्रणाली का प्रयोग करते हैं जिसमें प्रतिनिधित्व का आधार प्रादेशिक होता है। राजनीतिक दल इसी आधार-यन्त्र को हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं और अपने दल के हित में इसका प्रयोग करते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रत्येक क्षेत्र दो दलों में विभाजित हो जाता है। स्वतन्त्र व्यक्तियों के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। या तो उन्हें किसी एक दल से अपने को सम्बन्धित करना पड़ता है क्योंकि यदि ऐसा नहीं करते तो उन्हें राजनीति में भाग लेने से वंचित होना पड़ेगा। इसका व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि योग्य नागरिक शासन के कार्यों में हाथ ही नहीं बटा पाते।" जैसा कि कामन्स महोदय ने फिरकहा है, 'सीमान्तरीकरण तथा राजनीतिक दलों के प्रतिनिधित्व की असमानता स्वयं बुरी है किन्तु इस प्रणाली का और भी बुरा प्रभाव यह है कि योग्य तथा सार्वजनिक भावनाओं से युक्त व्यक्तियों को राजनीति से निकलना पड़ता है और निजी संगठनों तथा धनिकों की तानाशाही स्थापित हो जाती है।

एकप्रतिनिधि-प्रणाली के गुण

किन्तु यदि निम्नलिखित एक क्षेत्र से एक प्रतिनिधि भेजने की प्रणाली में इतने दोष हैं तो इसमें कुछ गुण भी हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

(१) चूंकि प्रत्येक सदस्य किसी न किसी क्षेत्र ही से निर्वाचित होकर आता है इसलिये वह अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं तथा खामियों से भली भाँति परिचित रहता है और उन्हें पूरी करने के लिये व्यवस्थापिका में सुधारों की माँग करता है। यह कहा गया है कि सदस्यों की यह स्थानीय दिलचस्पी राष्ट्रीय हित के मार्ग में बाधक होती है किन्तु यह दृष्टिकोण ग़लत है क्योंकि व्यवस्थापिका में सदस्यों को स्थानीय समस्याओं का सामना बहुत कम करना पड़ता है, साधारणतः उन्हें व्यापक राष्ट्रीय समस्यायों को ही सुलझाना रहता है। इससे स्पष्ट है कि सदस्यगण स्थानीय हितों की रक्षा करते हुए राष्ट्रीय हित को भी सुरक्षित रखते हैं।

(२) सदस्यों का निर्वाचन स्थानीय आधार पर होने के कारण उन्हें अपने क्षेत्र के निवासियों के सम्पर्क में रहना पड़ता है। इससे निर्वाचकों तथा उनके प्रतिनिधियों में निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है और प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की विचारधारा से परिचित रहते हैं। इसके फल स्वरूप वे मनमानी नहीं कर पाते और लोकमत का दबाव सदैव उनके ऊपर रहता है।

(३) निर्वाचकों के सम्मुख उत्तरदायी रहने का विचार प्रतिनिधियों को सक्रिय रखता है क्योंकि उन्हें अपने मतदाताओं के सामने अपने कार्यों को रखना पड़ता है और दिखाना पड़ता है कि उनके तथा देश के लिये उन्होंने क्या किया। यह भी कहा गया है कि सदस्यों द्वारा पुनः निर्वाचित होने की इच्छा कहीं उन्हें मतदाताओं के हाथ में कठपुतली न बना दे। परन्तु यह केवल कमजोर सदस्यों के ही साथ सम्भव हो सकता है, सभी सदस्यों से यह आशा रखना ठीक नहीं। वास्तव में प्रतिनिधियों की सेवा उनके कार्यों से आँकी जाती है बातों से नहीं।

(४) इस प्रकार की निर्वाचन प्रणाली में चूंकि निर्वाचन एक छोटे दायरे में ही होता है इसलिये निर्वाचक उम्मीदवारों को भली भांति जानते हैं। अतः मतदाताओं को लम्बी-लम्बी बातों के धोखे में नहीं डाला जा सकता। वे उसी व्यक्ति को चुनेंगे जो सब उम्मीदवारों में से अधिक योग्य होगा। यह कहा गया है कि छोटे निर्वाचन क्षेत्र से मतदाताओं को सही चुनाव करने का मौका नहीं मिलता क्योंकि उन्हें एक सीमित दायरे में से चुनाव करना पड़ता है, अगर वे किसी भी उम्मीदवार को नहीं पसन्द करते तो भी उन्हें किसी न किसी को तो चुनना ही पड़ेगा। लेकिन इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस अनुपयुक्त अवसर का भी उचित प्रयोग किया जा सकता है और एक अनजाने व्यक्ति को चुनने से तो यह अच्छा ही है कि आप किसी जाने हुए व्यक्ति की निर्वाचन करें।

(५) यह सत्य है कि इस प्रणाली में अल्प-संख्यकों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता किन्तु उन क्षेत्रों से जहाँ पर वे बहुसंख्या में हैं उनका निर्वाचन होगा ही। लेकिन बहुप्रतिनिधि प्रणाली (List System) में तो उनका प्रतिनिधित्व किसी भी दशा में नहीं हो पाता।

(६) यह सच है कि इस प्रणाली से देश के सभी हितों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता किन्तु फिर भी सभी भौगोलिक प्रदेशों का प्रतिनिधित्व तो होता ही है। इस प्रकार इस प्रणाली से देश के कोने कोने का प्रतिनिधित्व होता है।

(७) अन्त में इस प्रणाली से निर्वाचन बड़ी सरलता से किया जा सकता है और निर्वाचन-फल को घोषित करने के लिये मत भी सरलता से गिने जा सकते हैं। इस प्रणाली के दोषों में यह भी बताया गया है कि निर्वाचन-क्षेत्र प्रायः बिना किसी प्रकार की समानता के बनाये जाते हैं। किन्तु इस दोष को समय-समय पर क्षेत्रों की सीमाओं को बदल कर दूर किया जा सकता है। इस प्रकार अगर किसी क्षेत्र से जनसंख्या दूसरे क्षेत्र में चली जाती है तो यह आवश्यक हो जाता है कि पहले क्षेत्र में कुछ स्थान कम हों और दूसरे में अधिक। ऐसा करने पर निर्वाचन उचित हो सकेगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अगर निर्वाचन-क्षेत्रों को ठिकाने से बनाया जाय तो ऐसी प्रणाली निर्वाचन का सब से उपयुक्त तथा सरल मार्ग है।

फ्रान्स की निर्वाचन-प्रणालियाँ

एकप्रतिनिधि-प्रणाली के गुणों तथा दोषों पर विचार करने के पश्चात् हम निर्वाचन की दूसरी प्रणाली पर ध्यान देंगे। इस प्रणाली में एक ही क्षेत्र से कई प्रतिनिधि भेजे जा सकते हैं; इसे बहुप्रतिनिधि-प्रणाली[१] (General Ticket System) कहते हैं। फ्रान्स में तृतीय जनराज्य के स्थापित होने के बाद से एकप्रतिनिधि

१—बहुप्रतिनिधि प्रणाली को 'सामुदायिक मत प्रणाली' ('Block Vote System') भी कहते हैं। कृपया हैलेट कृत 'प्रोपोर्शनल रेप्रेज़ेन्टेशन' पृष्ठ २७ देखिये। इसी पुस्तक के ५६वें पृष्ठ पर वह एकप्रतिनिधि प्रणाली को वार्ड-योजना (Ward Plan) भी कहता है।

प्रणाली (Scrutin d'arrondissement) चली आ रही थी। परन्तु १८८५ में बहुप्रतिनिधि प्रणाली (*Scrutin d' liste*) का राष्ट्रीय निर्वाचन में प्रयोग हुआ। लेकिन १८८६ में यह छोड़ दी गई और फिर एकप्रतिनिधि प्रणाली अपनायी गई जो १९१९ तक चलती रही। १९१९ से बहुप्रतिनिधि प्रणाली फिर से काम में लाई जाने लगी। १९२७ तक फिर यह चलती रही। किन्तु लोगों के आन्दोलन के फल स्वरूप यह फिर छोड़ दी गई। तत्पश्चात् १९२७ से १९३९ तक फ्रान्स में एकप्रतिनिधि प्रणाली ही के आधार पर निर्वाचन होते रहे।

बहुप्रतिनिधि-प्रणाली का पहला प्रयोग

कामन्स महोदय का कहना है कि बहुप्रतिनिधि-प्रणाली के दो प्रयोग हुये हैं। पहला प्रयोग अमरीकी संयुक्त राज्य के शिक्षा-बोर्डों में हुआ जहाँ पर सारी सभा का निर्वाचन एक ही टिकट पर हो जाता है। इसीलिये विलोबी महोदय ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि यह वह प्रणाली है जिसमें सभी मतदाता सभी प्रतिनिधियों को निर्वाचित करते हैं। इस प्रणाली का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि प्रत्येक स्थान पर बहुसंख्यकों का जोर रहता है और अल्प-संख्यकों का प्रतिनिधित्व ही नहीं हो पाता। इसका एक गुण यही है कि विस्तृत निर्वाचन क्षेत्र होने की वजह से प्रत्येक दल को योग्य पुरुषों की सेवायें मिल जाती हैं क्योंकि किसी विशेष स्थान ही से उन्हें उम्मीदवारों को नहीं चुनना रहता।

दूसरा प्रयोग

इस प्रणाली का दूसरा प्रयोग कामन्स महोदय ही के अनुसार एकप्रतिनिधि-प्रणाली तथा बहुप्रतिनिधि-प्रणाली के बीच का मार्ग है; इसमें निर्वाचन क्षेत्र क़ायम रक्खे जाते हैं किन्तु उनकी सीमायें और बढ़ा दी जाती हैं और उनकी संख्या कम कर दी जाती है। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रसे बहुमत के आधार पर ५ से लेकर २० प्रतिनिधि तक चुने जाते हैं। इसप्रणाली में अल्पसंख्यकों का भी प्रतिनिधित्व एक सीमा तक हो जाता है और वे पूर्णरूप से अलग नहीं कर दिये जाते।

इस प्रणाली के दोष

किन्तु यह प्रणाली भी पहली प्रणाली ही की भाँति दोषपूर्ण है। इसमें भी निर्वाचक दो भागों में विभाजित हो जाते हैं और चुनाव में राजनीतिक दलों का ही बोल बाला रहता है।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की रीतियाँ

निर्वाचन की ऊपर लिखी दोनों प्रणालियों से अल्पसंख्यकों का उचित प्रतिनिधित्व न हो सकने के कारण उनको प्रतिनिधित्व देने के लिये समय-समय पर अन्य रीतियाँ काममें लाई गई हैं।

सीमित-मत-प्रणाली

पहली रीति सीमित-मत (Limited Vote) की है। इसमें ऐसे निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र से कई सदस्य भेजे जा सकें। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिये आवश्यक होता है कि वहाँ से कम से कम तीन सदस्य चुने जायँ। इस रीति के पीछे यह विचार है कि मतदाताओं को उन सभी सदस्यों के पक्ष में मत नहीं देना होता जो निर्वाचन के लिये खड़े होते हैं। उन्हें केवल कुछ ही सदस्यों के पक्ष में मत देना रहता है और एक सदस्य के पक्ष में प्रत्येक मतदाता एक ही मत दे सकता है। इस प्रकार अगर किसी निर्वाचन क्षेत्र से तीन सदस्यों को चुनना है तो प्रत्येक मतदाता केवल दो सदस्यों के पक्ष में अपना मत देगा। इसी तरह अगर ७ अथवा १२ सदस्यों को चुनना है तो प्रत्येक मतदाता को क्रमशः ५ और ६ सदस्यों के पक्ष में ही मत देने का अधिकार रहेगा सभी के पक्ष में नहीं। इस प्रकार के निर्वाचन का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि ऊपर लिखे उदाहरणों में बहुसंख्यक दल को क्रमशः २, ५ और ६ स्थान मिलेंगे और अल्पसंख्यक दल को १, २ और ३ स्थान मिलेंगे। इससे स्पष्ट है कि मतदाताओं पर जितना ही प्रतिबन्ध लगाया जायगा अल्पसंख्यकों का उतना ही प्रतिनिधित्व हो सकेगा। लेकिन इतना याद रहना चाहिए कि थोड़े अल्पसंख्यकों का इस प्रणाली में कोई प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। केवल महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक ही प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं। हम्फ्री महोदय का कहना है कि अगर किसी क्षेत्र से ३ सदस्यों का निर्वाचन होना है तो प्रतिनिवधि प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि अल्पसंख्यकों की संख्या कम से कम मतदाताओं का $\frac{2}{5}$ भाग हो। अगर ४ सदस्यो को भेजना है और प्रत्येक मतदाता को ३ मत प्राप्त हैं तो अल्पसंख्यकों की संख्या सारे निर्वाचकों का $\frac{3}{7}$ होना चाहिए।

सीमित-मत-प्रणाली के दोष

इस प्रणाली में भी निम्नलिखित कुछ दोष हैं:—

(१) जैसा कि कामन्स महोदय का विचार है इससे दो प्रभावशाली दलों का अस्वाभाविक प्रतिनिधित्व हो जाता है।

(२) यह दो से अधिक दलों के अस्तित्व की सम्भावना को समाप्त कर देता है। अगर किसी क्षेत्र में दो से अधिक दल रहते हैं तो शेष दलों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। इसका यह तात्पर्य हुआ कि इससे केवल एक ही अल्पसंख्यक दल को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है। समानुपातिक प्रतिनिधित्व इस प्रणाली से नहीं प्राप्त हो सकता।

(३) इससे स्वतन्त्रता भी सीमित रहती है क्योंकि दलों का संगठन कड़ा रहता है और दल के नेताओं का प्रभुत्व अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार दलों द्वारा नाम-प्रस्ताव निर्वाचन ही के समान हो जाता है और मतदाताओं को चुनने का अवसर ही नहीं मिलता। इसीलिये कामन्स को कहना पड़ा है कि 'बहुप्रतिनिधि-प्रणाली क्रूरता तथा बर्बरता से अल्पसंख्यकों को नष्ट कर देती है। सीमित-मत की प्रणाली इससे कम बर्बर तो अवश्य है किन्तु इसमें अधिक स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती'।[1]

१—कामन्स—प्रोपोर्शनल रेप्रेजेन्टेशन, पृष्ठ ६२

सामूहिक-मत-प्रणाली

अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का एक दूसरा भी ढंग है। इसे सामूहिक-मत-प्रणाली (Cumulative Vote System) कहते है। इस प्रणाली में मतदाताओं की स्वतन्त्रता असीमित रहती है। वह उतने मतों का प्रयोग कर सकता है जितनी संख्या उम्मीदवारों की रहती है। मतों को वह जिस प्रकार चाहे इस्तेमाल कर सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि अगर वह चाहता है तो अपने सभी मतों को एक ही उम्मीदवार के पक्ष में दे सकता है या कुछ उम्मीदवारों में अपनी इच्छा के अनुसार बाँट सकता है। इस प्रणाली का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि थोड़े अल्पसंख्यक भी अपने मतों को सामूहिक रूप पर इस्तेमाल करके प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन इसके लिये आवश्यक है निर्वाचन-क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत हो और निर्वाचन के लिये तीन से अधिक सदस्य हों। अगर निर्वाचन क्षेत्र छोटे हैं और तीन ही सदस्यों को भेजना है तो सीमित मत प्रणाली का ही परिणाम दुहराया जायगा।

सामूहिक-मत-प्रणाली के गुण

किन्तु इस प्रणाली में केवल मतदाताओं को स्वतन्त्रता ही नहीं प्राप्त होती और अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व ही नहीं मिलता वरन् यह भी निश्चित रहता है कि प्रत्येक दल का सारे देश से प्रतिनिधित्व हो सकेगा केवल कुछ ही क्षेत्रों से (जहाँ पर वे बहु-संख्या में हैं) नहीं। इससे प्रत्येक नागरिक का व्यवस्थापिका में कोई न कोई अपना सदस्य रहता है जो उसकी माँगों को व्यवस्थापिका के सम्मुख रखता है। व्यवस्थापिका में मत प्रकट करते समय सभी सदस्य अपने-अपने क्षेत्रों के हित को ध्यान में रखते हैं।[1]

सामूहिक-मत-प्रणाली के दोष

इस प्रणाली में कुछ दोष भी पाये जाते हैं। सर्व प्रथम, इस प्रणाली से भी अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों का समानुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता।

दूसरे, सामूहिक रूप से मत देने अर्थात् सभी मतों को एक ही उम्मीदवार के पक्ष में डालने से बहुत से मत बेकार जाते हैं जो उसी दल के दूसरे सदस्य के पक्ष में डाले जा सकते हैं।

तीसरे, मतों को बेकार होने से बचाने के लिये दलबन्दी तथा दलसंगठन निर्वाचन के लिये अनिवार्य हो जाता है। जैसा कि कामन्स ने कहा है 'सामूहिक मत प्रणाली चाहे बड़े क्षेत्रों के लिये हो चाहे छोटे, या तो इसमें मत बेकार जाते हैं या दलों की तानाशाही बढ़ जाती है'।[2]

एकमत-प्रणाली

अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की एक तीसरी प्रणाली 'एकमत' (Single Vote) की है। इसका प्रयोग सर्व प्रथम जापान में हुआ था। जब वहाँ एक-

१—कामन्स—प्रोपोर्शन रेप्रेज़ेन्टेशन पृष्ठ, ६४

२—वही, पृष्ठ ६८

प्रतिनिधि-प्रणाली सही रूप से न चल सकी तो वहाँ के लोग इस प्रणाली को काम में लाये। उन्होंने निर्वाचन क्षेत्रों को फिर से नहीं बनाया। शासन प्रबन्ध के लिये बनाये गये जिलों से ही उन्होंने निर्वाचन क्षेत्रों का काम लिया। जनसंख्या के अनुसार प्रत्येक जिले को एक से लेकर बारह सदस्यों को चुनने का अधिकार दिया गया लेकिन प्रत्येक मतदाता केवल एक ही मत का प्रयोग कर सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक जिले में जहाँ दो या इससे अधिक सदस्य चुने जाते थे अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व मिल जाता था। इससे भिन्न-भिन्न दलों का समानुपातिक प्रतिनिधित्व भी हो जाता था। यहाँ तक कि स्वतन्त्र विचार के लोगों को भी अवसर मिलता था कि वे निर्वाचन के लिये खड़े हो सकें। और वे निर्वाचित भी कर लिये जाते थे। किन्तु जैसा कि हम्फ्रीज का कथन है इस ढंग से भी वास्तविक समानुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है। क्योंकि इसमें समयानुकूल परिवर्त्तन सम्भव नहीं। सीमित और सामूहिक मत-प्रणालियों के समान जापानियों की एकमत-प्रणाली भी दलों के संगठन पर ज्यादा जोर देती है और अगर दल सही अनुमान नहीं लगा पाते तो उनका अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व होना असम्भव हो जाता है।

अन्य दो प्रणालियाँ

एकप्रतिनिधि-प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये दो दूसरी पद्धतियाँ भी काम में लाई गई हैं। वे हैं द्वितीय गुप्तमत-प्रणाली (Second Ballot System) तथा हस्तान्तरणीय-मत-प्रणाली (Transferable Vote System)। इन पद्धतियों के उपयोग के लिये यह आवश्यक नहीं है कि एक निर्वाचन क्षेत्र से कई सदस्यों को चुना जाय। फाइनर के शब्दों में इनका आधार यह है कि पार्लिमेन्ट में निर्वाचित होने के लिये प्रत्येक उम्मीदवार को आवश्यक हो कि उसे ५०% मत मिलें। इन दोनों पद्धतियों से निर्वाचित सदस्यों के लिये स्पष्ट बहुसंख्या में मत मिलना अनिवार्य हो जाता है किन्तु व्यवस्थायें दोनों की भिन्न हैं।

द्वितीय-गुप्तमत-प्रणाली

हम देख चुके हैं कि अगर किसी क्षेत्र से दो ही दलों के उम्मीदवार चुनाव में खड़े हैं तो इनमें से एक कुछ ही अधिक मत पा जाने से निर्वाचन में सफल हो जाता है। अगर तीन दलों का मुकाबिला है तो वह उम्मीदवार सफल होता है जिसे शेष दोनों से अधिक मत मिल जाते हैं। इस प्रकार अगर किसी क्षेत्र में १०० मतदाता हैं और 'क' को ४५, 'ख' को ३०, तथा 'ग' को २५ मत मिलते हैं तो 'क' निर्वाचन में सफल माना जायगा। वास्तव में हम देखते हैं कि 'क' को केवल ४५ मत मिले हैं और उसके विरुद्ध ५५ मत हैं। इस प्रकार १०० मत में से केवल ४५ पाने वाला व्यक्ति निर्वाचन के फल स्वरूप पार्लिमेन्ट का सदस्य निर्वाचित हो जाता है। इसी दोष को दूर करने के लिये द्वितीय-गुप्तमत-प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रथम गुप्तमत निर्वाचन के बाद केवल 'क' और 'ख' निर्वाचन-क्षेत्र में रह जाते हैं। तीसरा उम्मीदवार 'स' जिसे केवल २५ मत मिले हैं अलग कर दिया जाता है। लेकिन उसके मतदाताओं को यह

अधिकार दिया जाता है कि वे जिसके पक्ष में चाहें फिर से अपना मत दें। अगर इस द्वितीय गुप्तमत निर्वाचन में भी 'क' को अधिक मत मिलते हैं, तो वह निर्वाचित घोषित किया जायगा। अगर 'ख' को अधिक मत मिलते हैं तो 'ख' सफल सदस्य होगा यद्यपि पहले निर्वाचन में वह हार गया था।

इस प्रणाली के इस रूप का प्रथम प्रयोग जर्मनी में हुआ था। इसके दूसरे रूपों का प्रयोग फ्रान्स यथा बेल्जियम में हुआ। लेकिन इस प्रणाली के सभी रूपों का एक ही उद्देश्य रहा है। वह उद्देश्य यह है कि सभी निर्वाचित सदस्यों को अपने क्षेत्रों में जहाँ से उनका चुनाव हुआ है आधे से अधिक मत प्राप्त हुए हों।

द्वितीय-गुप्तमत-प्रणाली के गुण

फ़ाइनर ने इस प्रणाली के निम्नलिखित गुण बताये हैं :—

(१) इससे सभी मतदाताओं को अपने मतों के बारे में दुबारा सोचने का अवसर मिल जाता है। जब वे जान जाते हैं कि एक सदस्य निर्वाचित नहीं हो सकता तो वे शेष उम्मीदवारों में से जिसे वे अच्छा समझते हैं उसको अपना मत दे सकते हैं।

(२) निर्वाचित सदस्य क़ानून का निर्माण करते हैं और शासन-प्रबन्ध पर नियन्त्रण रखते हैं। यह आवश्यक रहता है कि नागरिकों की एक बड़ी संख्या शासन-प्रबंध से सन्तुष्ट रहे। यह तभी हो सकता है जब उन्हें ज्ञात हो कि शासन लोकप्रिय सदस्यों के मतों पर ही आधारित है। दुबारा विर्नाचन हो जाने से व्यवस्थापिका में वही लोग जा सकते हैं जो अगर पूर्णरूप से नहीं, तो जितना सम्भव हो सकता है अवश्य ही लोकप्रिय होते हैं।

द्वितीय-गुप्तमत-प्रणाली के दोष

किन्तु डा० फ़ाइनर तथा हम्फ्रीज़ दोनों ने इस प्रणाली के व्यावहारिक रूप में कुछ निम्नलिखित गम्भीर दोष पाये हैं :—

(१) द्वितीय निर्वाचन के परिणाम से हम दलों की वास्तविक स्थिति का पता नहीं चला सकते क्योंकि इस निर्वाचन की विजय सिद्धान्तों तथा कार्यक्रम की न होकर समझौते का परिणाम होती है।

(२) प्रायः इन समझौतों का राजनीतिक समस्यायों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

(३) द्वितीय निर्वाचन पहले निर्वाचन के परिणाम को प्रायः उलट ही देता है। वास्तव में मतदाताओं की एक बड़ी संख्या पहले निर्वाचन में सहानुभूति-प्रदर्शन के लिये एक पक्ष को मत दे देती है और अपना वास्तविक राजनीतिक विचार दूसरे निर्वाचन में प्रकट करती है। कुछ लोग तो यह तय करके किसी सदस्य को मत देते हैं कि दूसरा निर्वाचन अवश्य हो।

(४) इस प्रणाली से हिंसात्मक कार्यों का अन्देशा बढ़ जाता है। क्योंकि इससे निर्वाचन सही ढंग से नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के निर्वाचन में व्यय भी काफ़ी होता है जिसके भय से निर्धन व्यक्ति निर्वाचन क्षेत्र से बाहर ही रह जाते हैं।

(५) इस प्रणाली का सब से गम्भीर दोष यह है कि अगर एक दल एक क्षेत्र में असफल रहता है तो दूसरे क्षेत्रों में भी इसके उम्मीदवारों को कम मत मिलते हैं।

(६) जो दल पहले निर्वाचन में कम मत पाते हैं वे दूसरे निर्वाचन में निर्णायक शक्ति बन जाते हैं। इस प्रकार वे मिलकर पहले निर्वाचन के परिणाम को उलट सकते हैं जिससे निर्वाचन के फल-स्वरूप राष्ट्र के राजनीतिक विचार का सही प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता।

(७) इस प्रकार के मेल अथवा समझौते प्रतिनिधि-शासन को ही बदनाम कर देते हैं क्योंकि इन समझौतों से मतदाताओं की राजनीतिक भावना समाप्त ही हो जाती है। इसीलिये एम० पोइमकेयर (M. Poimcare) ने इसे 'द्वितीय गुप्तमत की बेईमानी' कहा है। जर्मन इसे दलों का 'पशु-विक्रय' (Kuhhandel) कहते हैं।

(८) इस प्रकार से निर्वाचित सदस्य 'अल्पसंख्यकों के बन्दी' कहे गये हैं क्योंकि उनका दूसरा निर्वाचन अल्पसंख्यकों पर ही निर्भर करता है। इसलिये वे लगातार उन्हीं के दबाव में रहते हैं और न तो वे अपने ही साथ न्याय कर सकते हैं और न व्यवस्थापिका ही के साथ।

(९) राम्जेम्योर का तो यह भी कहना है कि यह भी निश्चय नहीं रहता कि मतदाता दुबारा मत देने का कष्ट उठायेंगे।

(१०) उनका तो यह भी कहना है कि इस प्रणाली से षड्यन्त्र, बेईमानी तथा घूसखोरी बढ़ जाती है। हारे हुए उम्मीदवार दूसरे निर्वाचन में रुपया लेकर शेष उम्मीदवारों की सहायता करते हैं। वास्तव में कुछ उम्मीदवार तो केवल इसी आशा से पहले निर्वाचन में खड़े हो जाते हैं।

(११) अन्त में राम्जे म्योर ही का कथन है कि इस प्रणाली से प्रजातन्त्र अधिक व्ययपूर्ण हो जाता है क्योंकि दूसरे निर्वाचन का खर्च अधिक तथा बेकार ही होता है। इसके अतिरिक्त नैतिक कार्य में भी बाधा पड़ती है।

वैकल्पिक या सापेक्ष मत-प्रणाली

द्वितीय गुप्तमत प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये वैकल्पिक-मत-प्रणाली (Alternative Vote) का आविष्कार किया गया है। इसमें एक ही निर्वाचन होता है लेकिन प्रत्येक मतदाता विभिन्न उम्मीदवारों को १, २, ३ करके अपनी पसन्द के अनुसार मत देता है। जिस उम्मीदवार को वह सबसे ज्यादा पसन्द करता है उसके नाम के सामने १, इसके बाद २ और इसी तरह तीसरी पसन्द के अनुसार ३ का चिन्ह बनाता है। मतों की संख्या-गणना हो जाने के पश्चात् जिस उम्मीदवार के नाम के सामने बहुसंख्या में मतदाताओं ने पहली पसन्द के चिन्ह लगाये हैं वह निर्वाचित घोषित किया जाता है। परन्तु यदि बहुसंख्या में किसी को मत नहीं मिलते तो जिस उम्मीदवार को पहली पसन्द के सबसे कम मत मिले हैं वह अलग कर दिया जाता है और इसको मिले हुये मत, मतदाताओं की दूसरी पसन्द के अनुसार अन्य उम्मीदवारों में बाँट दिये जाते हैं। इस पर जिस उम्मीदवार को अधिक मत मिलते हैं वहीं निर्वाचित समझा

जाता है। अगर इस पर भी किसी उम्मीदवार को बहुसंख्या में मत नहीं मिलते तो शेष उम्मीदवारों में से जिसको पहली पसन्द सबसे कम दी गई है निर्वाचन में असफल समझा जाता है और उसके प्राप्त-मत मतदाताओं की दूसरी पसन्द के अनुसार बाँट दिये जाते हैं। इस प्रकार जिस उम्मीदवार को सबसे ज्यादा पूर्ण रूप से बहुसंख्या में मत मिलते हैं वही निर्वाचित घोषित किया जाता है।

इस प्रणाली के गुण तथा दोष

इस प्रकार वैकल्पिक-मत-प्रणाली में यह प्रयत्न किया जाता है कि बहुसंख्यकों की इच्छाओं को माना जाय और जिस प्रकार एकप्रतिनिधि-प्रणाली में होता है कि तीन उम्मीदवारों के झगड़े में एक अल्पसंख्क दल का उम्मीदवार सफल हो जाता है वैसा न होने पाये। यद्यपि इससे दलों के अनुचित समझौते नहीं समाप्त हो सकते किन्तु दुबारा निर्वाचन का व्यय अवश्य ही कम हो जायगा। द्वितीय गुप्तमत तथा वैकल्पिक मत प्रणालियाँ एक अर्थ में एकप्रतिनिधि-प्रणाली से अच्छी हैं। किन्तु इन दोनों में दो गंभीर दोष पाये जाते हैं। पहला यह कि व्यवस्थापिका में अल्पसंख्यकों तथा बहुसंख्यकों का समानुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता और दूसरा यह कि कुछ अल्पसंख्यकों को बिल्कुल प्रतिनिधित्व ही नहीं मिल पाता[1]।

राम्जे म्योर[2] ने इस प्रणाली में निम्नलिखित दोष बताये हैं:—

(क) प्रत्येक सदस्य मतदाताओं की दूसरी पसन्द वाले मत को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा।

(ख) आपसी समझौते द्वारा दो दल मिल कर तीसरे दल का अस्तित्व मिटा सकते हैं। अगर इतना नहीं भी हुआ तो उसके समानुपातिक प्रतिनिधित्व को तो अवश्य ही कम कर सकते हैं।

(ग) मतदाताओं के विचारों का वास्तविक प्रकटीकरण तो उनके पहले मत से होता है। दूसरी पसन्द के मत को तो वे बेमन देते हैं। इसलिये जो सदस्य दूसरी पसन्द के आधार पर निर्वाचित होते हैं मतदाताओं के विचारों का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते।

(घ) एकप्रतिनिधि-प्रणाली का दोष, जिसमें मतदाताओं की पसन्द सीमित रहती है, इस प्रणाली में भी रह जाता है। यहां भी मतदाताओं को दो तीन उम्मीदवारों में से ही चुनना पड़ता है।

(ङ) इसमें दलों का वास्तविक प्रतिनिधित्व हो ही नहीं पाता, इसमें निर्वाचन सम्बन्धी जुए की भी सम्भावना बढ़ जाती है।

सारांश

निर्वाचन प्रणाली की विभिन्न प्रणालियों पर विचार करने के पश्चात् हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते हैं:—

१—फ़ाइनर—दि थियरी एण्ड प्रैक्टिस आव माडर्न, गवर्न्मेंट्स, जिल्द २, पृष्ठ ६१४।

२—राम्जे म्योर—हाऊ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड १, पृष्ठ १७८।

(१) एकप्रतिनिधि-प्रणाली से जनता के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं पहुँच पाते।

(२) द्वितीय-गुप्तमत तथा वैकल्पिकमत प्रणालियों से भी बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों का वास्तविक समानुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता।

(३) सीमितमत, सामूहिकमत और एकमत प्रणालियों से अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व तो अवश्य हो जाता है किन्तु समानुपातिक प्रतिनिधित्व इन प्रणालियों से भी नहीं हो पाता। इसलिए हम कह सकते हैं कि ये अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के ढंग हैं समानुपतिक प्रतिनिधित्व के नहीं।

हम्फ्रीज़ के अनुसार उचित निर्वाचन प्रणाली की विशेषतायें

हम प्रश्न कर सकते हैं कि व्यवस्थापिकाओं में सभी हितों तथा दलों के प्रतिनिधित्व की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि आधुनिक प्रजातन्त्र तब तक प्रतिनिधि-शासन नहीं कहा जा सकता जब तक इसमें जनता के सभी अंशों का प्रतिनिधित्व नहीं होता।

इसलिए यह एक मौलिक प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त है कि शासन में जनता के सभी अंशों का समानुपातिक प्रतिनिधित्व हो। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक निर्वाचन प्रणाली का पहला नियम यह होना चाहिए कि व्यवस्थापिका में जहां तक सम्भव हो लोगों का प्रतिनिधित्व पूर्ण रूप से हो। क्योंकि केवल बहुसंख्यकों का शासन उतना ही बुरा है जितना कि अल्पसंख्यकों का।

उचित निर्वाचन प्रणाली का दूसरा मौलिक सिद्धान्त यह होना चाहिए कि निर्वाचन क्षेत्र पर्याप्त बड़े हों और उसमें से कई प्रतिनिधि भेजे जायें। एकप्रतिनिधि-प्रणाली की तरह यह नहीं होना चाहिये कि एक क्षेत्र से एक ही सदस्य लोगों के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करे।

तीसरा सिद्धान्त इन क्षेत्रों की सीमाओं को निर्णय करने के सम्बन्ध में है। निर्वाचन क्षेत्रों की सीमायें स्वेच्छाचारिता से नहीं निश्चित की जानी चाहिए। उनका निर्णय करते समय यह आवश्यक है कि प्राकृतिक सीमाओं तथा दूसरी समानताओं को ध्यान में रक्खा जाय।

उचित निर्वाचन प्रणाली पर लास्की के विचार

हम्फ्रीज द्वारा निर्धारित इन सिद्धान्तों का वही लेखक समर्थन करते हैं जो समानुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में हैं। किन्तु वे लेखक जो इसके विरोधी हैं इन सिद्धान्तों को उचित नहीं समझते। लास्की का कहना है कि उचित निर्वाचन प्रणाली में निम्नलिखित चार साधारण विशेषतायें रहनी चाहिये[१]:—

'सर्वप्रथम इसमें यह सम्भव होना चाहिए कि व्यवस्थापिका सार्वजनिक हित की महत्वपूर्ण समस्याओं पर बहुमत तथा अल्पमत को अंगीभूत कर सके। यह आवश्यक नहीं कि सभी प्रकार के मतों को व्यवस्थापिका अपने में अंगीभूत करे। न तो यह

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑव् पॉलिटिक्स, पृ० ३१५

सम्भव ही है और न आवश्यक ही। किन्तु आवश्यक यह है कि प्रत्येक दल के लोगों की सुनवाई हो सके। किन्तु व्यवस्थापिका को विवश होकर शक्तिशाली दलों के प्रभाव में रहना पड़ता है जिससे कि शासन कार्य सुचारु रूप से तथा निरन्तर चलता रहे।

दूसरे, जिन क्षेत्रों से सदस्यों का निर्वाचन होना है उन्हें इतना छोटा होना चाहिए कि प्रत्येक सदस्य अपने-अपने निर्वाचकों के विचारों को जान सके और निर्वाचन हो जाने के बाद उनसे अपना सम्पर्क स्थापित रख सके।

तीसरे, निर्वाचन हो जाने के बाद भी कोई ऐसा साधन होना चाहिए, जिससे निर्वाचकों के विचारों में अगर कोई परिवर्त्तन हो तो उसका पता चल सके। इंगलैण्ड तथा अमरीका में उप-निर्वाचन द्वारा इसका पता लगाया जाता है।

चौथे, इस प्रणाली का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि मतदाताओं का सम्बन्ध शासन से प्रत्यक्ष रूप में रहे। उन्हें इस योग्य होना चाहिए कि वे अनुभव करें कि शासकों को उन्हीं ने चुना है और व्यवस्थापिका का कार्य-काल समाप्त होने के पश्चात् उन्हें अवसर मिलेगा कि वे उनके कार्यों का निरीक्षण कर सकें'।

लास्की द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों का दूसरे आधुनिक लेखक भी समर्थन करते हैं। समानुपातिक प्रतिनिधित्व की समालोचना में यह स्पष्ट हो जायगा। अब हम समानुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) पर विचार कर सकते हैं।

समानुपातिक प्रतिनिधित्व

प्रो० स्ट्रांग कहते हैं कि समानुपातिक प्रतिनिधित्व के अर्थ का कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि इसके बहुत से भेद हैं। वास्तव में प्रत्येक देश में जहाँ पर इसको अपनाया गया है इसका एक पृथक रूप पाया जाता है। सिद्धान्त में तो भेद और भी अधिक हो जाते हैं। किन्तु इन सभी भेदों में एक विशेषता है जो मत देने के ढंग में अनिवार्य रूप से पाई जाती है। वह विशेषता यह है कि समानुपातिक प्रतिनिधित्व के किसी भी रूप में निर्वाचन का आधार एकप्रतिनिधि-प्रणाली नहीं हो सकती[1]। इस प्रकार समानुपातिक प्रतिनिधित्व में सब से पहले बहुप्रतिनिधि-प्रणाली आवश्यक है। इसके बाद इस प्रकार के प्रतिनिधित्व में कोई उम्मीदवार अपने प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा केवल कुछ ही अधिक मत प्राप्त करने से ही नहीं निर्वाचित समझा जाता है। निर्वाचित होने के लिये आवश्यक है कि उम्मीदवार को एक निश्चित संख्या में मत प्राप्त हों। यह संख्या मतदाताओं की संख्या और सीटों की संख्या के गुणनफल के बराबर होता है। ऐसा इसलिये किया जाता है कि व्यवस्थापिका में निर्वाचकों का बिल्कुल ठीक प्रतिनिधित्व हो सके[1]। डाइसी ने इस बात की व्याख्या निम्नलिखित ढंग से की है[2] :—

(१) 'कोई भी व्यवस्थापिका जिसका निर्वाचन एकप्रतिनिधि-प्रणाली के आधार पर हुआ है, मतदाताओं के मत का सही प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। इस

१—स्ट्रांग—माडर्न कान्स्टीट्यूशन्स, पृष्ठ १७५

२—डाइसी—लॉ ऑव् दि कान्स्टीट्यूशन, पृ० LXVI

प्रकार की सभा राष्ट्रीय विचार धारा का दर्पण नहीं हो सकती; निर्वाचकों की इच्छा को प्रतिविम्बित नहीं कर सकती।

(२) समानुपातिक प्रतिनिधित्व की किसी भी प्रणाली से यह सम्भव हो सकता है कि ऐसी व्यवस्थापिका बने जो आज की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से राष्ट्र के विचार या दूसरे शब्दों में निर्वाचकों की इच्छा को प्रतिविम्बित कर सके।

(३) यह अत्यन्त आवश्यक है कि निर्वाचकों के प्रत्येक सच्चे मत का व्यवस्थापिका में समानुपातिक प्रतिनिधित्व हो।

समानुपातिक प्रतिनिधित्व के दो भेद

स० प्र० (जो समानुपातिक प्रतिनिधित्व का संक्षेप रूप है) के विभिन्न भेदों को साधारणतः दो शीर्षकों में रक्खा जाता है। पहला विभिन्न बहुप्रतिनिधि-प्रणालियों का है और दूसरा हस्तान्तरणीय-एकमत-प्रणाली का पहले भेद के बारे में हम फ्रान्स में प्राप्त बहुप्रतिनिधि-प्रणाली के सम्बन्ध में कह चुके हैं। बहुप्रतिनिधि-प्रणाली जर्मनी, बेलजियम, स्वेडन तथा फिनलैण्ड में भी प्रचलित है। फ्रान्स में प्रचलित बहुप्रतिनिधि प्रणाली यद्यपि सबसे सरल है किन्तु यह सबसे बुरी है। क्योंकि इस प्रणाली में अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व बिल्कुल ही नहीं हो पाता। इसमें वह दल जिसे बहुसंख्यकों का समर्थन प्राप्त होता है दूसरों को अलग करके अपनी तालिका वाले उम्मीदवारों को ही निर्वाचित करा लेता है। इसलिये समानुपातिक प्रतिनिधित्व की तीनों विशेषतायें जिस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं हस्तान्तरणीय-एकमत-प्रणाली (Single Transferable Vote System) या हेर प्रणाली[1] (Hare System) में ही वास्तविक रूप से पाई जा सकती हैं। समानुपातिक प्रतिनिधित्व के इसी रूप को आज सभी आधुनिक राष्ट्रों में अपनाया जा रहा है। अमरीकी संयुक्त राज्य और इंगलैण्ड को छोड़ कर लगभग सभी आधुनिक व्यवस्थापिकायें इसी प्रणाली पर आधारित हैं। आयरलैण्ड तथा जापान ने तो इसे ग्रहण ही कर लिया है। आस्ट्रिया, पोलैण्ड, लिथूनिया तथा यूनान भी १६३९-४५ के युद्ध के पूर्व किसी न किसी रूप में इसका अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया था।

हस्तान्तरणीय-एकमत-प्रणाली

जैसा कि हमने अभी-अभी कहा है, स० प्र० प्रणाली में आवश्यक होता है कि निर्वाचन क्षेत्र पर्याप्त बड़े हों और एक क्षेत्र से कई सदस्यों का निर्वाचन हो। इसमें प्रत्येक मतदाता को केवल एक मत देने का अधिकार होगा। लेकिन उसे यह आदेश दे दिया

१—समानुपातिक प्रतिनिधित्व की लगभग सभी योजनायें टामस हेर की योजना के विभिन्न रूप माने जाते हैं। टामस हेर (एक अंगरेज़) ने सर्व प्रथम इस प्रणाली का समर्थन १८५१ ई० में अपनी पुस्तक 'इलेक्शन ऑव् रेप्रेज़ेन्टेटिव्ज़ (प्रतिनिधियों का निर्वाचन) में किया था। जे० एस० मिल ने हेर की योजना का दृढ़ समर्थन अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिये किया था। (कृपया देखिये, मिल कृत 'रेप्रेज़ेन्टेटिव् गवर्न्मेन्ट', इस पुस्तक में आप को मिल की दलीलें मिलेंगी)

जायगा कि गुप्तमत-पत्र पर वह अपनी पहली, दूसरी और तीसरी पसन्द के चिन्ह लगा दे। यह इसलिये किया जाता है कि मतदाताओं की पसन्द के अनुसार उनका मत परिस्थिति[1] के अनुसार एक उम्मीदवार से दूसरे को हस्तान्तरित किया जा सके। इसीलिये इसको हस्तान्तरणीय-एकमत-प्रणाली कहा जाता है।

निर्वाचित होने के लिये आवश्यक मत-संख्या

इस प्रणाली को व्यवहार में लाने के लिये पहला आवश्यक कार्य मतों की उस संख्या को निश्चत करना है जिसके मिलने से एक उम्मीदवार निर्वाचन में सफल समझा जा सके। हेर और आन्ड्रे महोदयों के अनुसार निर्वाचन क्षेत्र में पड़ने वाले सारे मतों को निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या से भाग देकर इसको निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार अगर किसी निर्वाचन क्षेत्र में ६००० मत पड़ते हैं और उस क्षेत्र से ६ सदस्यों को चुनना है तो प्रत्येक उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिये $\frac{६०००}{६}$ अर्थात् १००० मत[2] आवश्यक होंगे। किन्तु १८८१ ई० में ड्रूप महोदय ने यह पता लगाया था कि उन क्षेत्रों में जहाँ ३ लेकर ८ सदस्यों को चुनना रहता है इस प्रणाली से व्यावहारिक रूप में त्रुटिपूर्ण फल प्राप्त होता है। इसलिए उन्होंने इन त्रुटियों को दूर के करने के लिये एक नई तरकीब निकाली। उनके अनुसार निर्वाचित होने के लिये आवश्यक मतों की संख्या इस प्रकार निकाली जा सकती है—निर्वाचन क्षेत्र में पड़ने वाले सारे मतों को निर्वाचित किये जाने वाले सदस्यों की संख्या में एक और जोड़ कर भाग दीजिये और भजनफल में एक और जोड़ दीजिये। इस प्रकार अगर किसी निर्वाचन क्षेत्र में १०० मत पड़ते हैं और केवल एक ही सदस्य को निर्वाचित करना है तो उसे निर्वाचन में सफल होने के लिये $\frac{१००}{१+१} + १ = ५१$ मत मिलना आवश्यक होगा। इसी प्रकार अगर दो सदस्यों को निर्वाचित करना है तो प्रत्यके सदस्य को सफल होने के लिये $\frac{१००}{२+१} + १ = ३४$ मत मिलना चाहिए। अगर किसी निर्वाचन क्षेत्र में १०० मत पड़ने हैं और तीन सदस्यों की जगहें खाली हैं तो प्रत्यके उम्मीदवार को सफलता प्राप्त करने

१—परिस्थिति के यहाँ दो ही अर्थ हो सकते हैं :—

(क) किसी उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिये आवश्यक मतों से अधिक मत प्राप्त हों।

(ख) या किसी उम्मीदवार को इतने कम मत मिले हों कि उसके निर्वाचित होने की कोई सम्भावन ही न हो।

अगर पहली बात है तो आवश्यकता से अधिक प्राप्त मत दूसरे उम्मीदकर को हस्तान्तरित कर दिये जायँगे। इससे मत व्यर्थ नहीं जाते। अगर दूसरी परिस्थिति है तो सभी मत मतदाताओं की पसन्द के अनुसार हस्तान्तरित कर दिये जायँगे। इससे बेकार जाने वाले मतों का भी उपयोग हो सकता है।

२—हम्फ्रीज—प्रोपर्शनल रेप्रेज़ेन्टेशन, पृष्ठ १३८। हेर तथा आन्ड्रे की योजना की व्यावहारिक कठिनाइओं के बारे में इस पुस्तक की पाद-टिप्पणी देखिये।

के लिये $\frac{१००}{३+१}+१=२६$ मत मिलने चाहिए। अगर चार सदस्यों को चुनना है तो सफलता के लिये आवश्यक मतों की संख्या $\frac{१००}{४+१}+१=२१$ और अगर पाँच सदस्यों को चुनना है तो $\frac{१००}{५+१}+१=१७$ होगी। इसी प्रकार यदि निर्वाचन क्षेत्र में पड़ने वाले सारे मतों की संख्या ६००० है और ६ सदस्यों को चुनना है तो इस उदाहरण के अनुसार सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक मतों की संख्या $\frac{६०००}{६+१}+१=८५७+१$ अर्थात् ८५८ होगी।

हस्तान्तरणीय-एकमत-प्रणाली के व्यावहारिक रूप में आज ड्रूप महोदय के ढंग को ही अच्छा माना जाता है और इसीको काम में लाया जा रहा है क्योंकि इससे अधिक सही फल प्राप्त होता है।

मतों को हस्तान्तरित करने के ढंग

निर्वाचन में सफल होने के लिये आवश्यक मतों की संख्या को निश्चित कर लेने के पश्चात् यह जानना आवश्यक हो जाता है कि मत किस प्रकार हस्तान्तरित किये जा सकते हैं। इसे भी हम उदाहरण ही की सहायता से भली-भाँति समझ सकते हैं। ऊपर दिये हुए उदाहरण में हमने देखा है कि आन्ड्रे और हेर के अनुसार प्रत्येक सदस्य को निर्वाचित होने के लिये १००० मत मिलने चाहिए। अगर 'क' को उसकी लोकप्रियता के कारण २००० मत मिल जाते हैं तो शेष १००० मत व्यर्थ ही चले जायँगे। इसलिये इन मतों को व्यर्थ जाने से बचाने के लिये मतदाताओं की दूसरी पसन्द (आवश्यकता पड़ने पर तीसरी) के अनुसार दूसरे सदस्य को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रकार निर्णायक (Returning officer) 'क' के पक्ष में पड़े हुए सभी २००० मतों को छाँट कर मालूम करता है कि १६०० मतदाताओं ने अपनी दूसरी पसन्द के अनुसार 'ख' को चुना है और ४०० ने 'ग' को। चूंकि 'क' को मिले हुए मतों में केवल १००० मतों को ही हस्तान्तरित करना है इसलिये 'ख' और 'ग' को १६०० और ४०० को आधे मत हस्तान्तरित किये जायेंगे। इस प्रकार 'ख' को ८०० मत मिलेंगे और 'ग' को २००।

सारांश

संक्षेप में हम हस्तान्तरणीय-एकमत-प्रणाली की निम्नलिखित विशेषतायें कह सकते हैं:-

(१) विस्तृत निर्वाचन क्षेत्रों से कई सदस्यों के भेजने की व्यवस्था रहती है।

(२) प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही मत प्राप्त रहता है। किन्तु मत देते समय वह अपनी पहली, दूसरी, और तीसरी पसन्द उम्मीदवारों के नाम के सामने १,२, और ३ का चिन्ह बनाकर स्पष्ट करता है।

(३) निर्वाचित होने के लिये प्रत्येक उम्मीदवार को कुछ निश्चित मत प्राप्त करना पड़ता है।

(४) अगर किसी उम्मीदवार को आवश्यक मतों से अधिक मत मिल जाते हैं तो मतदाताओं की पसन्द के अनुसार शेष मत दूसरे सदस्य को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। अगर किसी उम्मीदवार को बहुत कम मत मिलते हैं और उसके निर्वाचित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती तो उसके पक्ष में पड़े हुए मतों को भी मतदाताओं की दूसरी पसन्द के अनुसार दूसरे उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है।

इस प्रकार केवल वही उम्मीदवार निर्वाचित घोषित किये जाते हैं जिन्हें इस हस्तान्तरण के पश्चात् सफल होने के लिये निश्चित आवश्यक मत प्राप्त हो जाते हैं।

समानुपातिक प्रतिनिधित्व का एक नमूना

इस प्रणाली के व्यावहारिक रूप को हम निर्वाचन के निम्नलिखित नमूने की सहायता से अधिक आसानी से समझ सकते हैं। मान लीजिये कि एक निर्वाचन क्षेत्र से ४ सदस्यों को भेजना है जिसके लिये ८ उम्मीदवार निर्वाचन में खड़े हैं, और मत देने वालों की संख्या १०० है। इस प्रकार प्रत्येक उम्मीवार को सफल होने के लिये $\frac{१००}{४+१}+१=२१$ मतों का मिलना आवश्यक होगा। निर्वाचन-फल को इस प्रकार तलिका में रक्खा जा सकता है :—

मतों की संख्या = १००, रिक्त स्थानों की संख्या = ४, सफलता की संख्या = २१

उम्मीदवारों के नाम	पहली गणना	दूसरी गणना		तीसरी गणना		चौथी गणना		पाँचवीं गणना		निर्वाचित सदस्यों का क्रम
		छ के आधिक मतों का हस्तान्तरण	फल	झ के मतों का हस्तान्तरण	फल	घ के मतों का हस्तान्तरण	फल	ग के मतों का हस्तान्तरण	अन्तिम फल	
क	१५	+२	१७	....	१७	+४	२१	...	२१	(३)
ख	८	+४	१२	....	१२	....	१२	+२	१४	
ग	६	+१	१०	....	१०	...	१०	—१०	....	
घ	६	६	६	....	६	—६	....	....	....	
च	१६	..	१६	+४	२०	+१	२१	...	२१	(२)
छ	२८	—७	२१	....	२१	....	२१	...	२१	(१)
ज	१३	...	१३	...	१३	+१	१४	+७	२१	(४)
झ	५	....	५	....	...	....	....	....	....	
अहस्तान्तरणीय मत				+१	१	....	१	+१	२	
योग	१००	...	१००	...	१००	...	१००	....	१००	

पहली गणना—मत पड़ जाने के पश्चात् निर्णायक अफ़सर सभी गुप्तमत पत्रों को जिन पर (१) का चिन्ह लगा रहता है इकट्ठा करता है। इस प्रकार प्रत्येक उम्मीदवार को पहली पसन्द में जितने मत मिले रहते हैं गिन लिये जाते

हैं। इस पहली गणना के फल को तालिका में पहली गणना के नीचे लिखा गया है। चूंकि केवल 'छ' ही को मतदाताओं की पहली पसन्द के इतने मत मिले हैं कि वह निर्वाचित हो सकता है इसलिये उसे सफल घोषित कर दिया गया है।

दूसरी गणना—चूंकि 'छ' को ७ मत आवश्यकता से अधिक प्राप्त हुए हैं इसलिये उसके मतदाताओं की दूसरी पसन्द के अनुसार इन मतों को हस्तान्तरित होना चाहिए। गुप्तमत पत्रों को देखने के बाद निर्णायक को पता चलता है कि ८ पत्रों में दूसरी पसन्द 'क' को १६ में 'ख' को और ४ में 'ग' को दी गई है। किन्तु चूंकि केवल ७/२८=१/४ (एक चौथाई) मतों को ही हस्तान्तरित करना है इसलिये 'क' को ८/४=२, 'ख' को १६/४=४, और 'ग' को ४/४=१ मत मिलते हैं। इस कार्य को हम तालिका में दूसरी गणना में देख सकते हैं।

तीसरी गणना—'छ' द्वारा प्राप्त किये हुये अधिक मतों को हस्तान्तरित करने के पश्वात् हमें पता चलता है कि शेष सदस्यों में से किसी को भी सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक अर्थात् २१ मत नहीं प्राप्त होते हैं। इसलिये इस गणना के परिणाम स्वरूप कोई भी उम्मीदवार निर्वाचित नहीं घोषित किया जायगा। इसलिये अब निर्णायक अफसर सभी उम्मीदवारों को मिले हुए मतों को देखता है और पाता है कि 'झ' ही को सब से कम मत मिले हैं। 'झ' के मामले को कमजोर पाकर वह उसे असफल घोषित कर देता है। चूंकि 'झ' को मिले हुए मतों को नष्ट नहीं होने देना है इसलिये मतदाताओं की दूसरी पसन्द के अनुसार उनको भी हस्तान्तरित कर दिया जाता है। मतपत्रों के निरीक्षण के पश्चात् पता चलता है कि 'झ' को मत देने वाले ४ मत दाताओं ने अपनी दूसरी पसन्द से 'च' को चुना है और एक मत-पत्र में दूसरीपसन्द का कोई चिन्ह नहीं है। इसलिये चार मत तो 'च' को दे दिये जाते हैं और चूंकि पाँचवें मत-पत्र में दूसरी पसन्द नहीं प्रकट की गई है इसलिये यह मत अलग कर दिया जायगा और अहस्तान्तरणीय मत के खाने में लिख दिया जायगा। तीसरी गणना के पश्चात् भी हम देखते हैं कि किसी और सदस्य को २१ से अधिक मत नहीं प्राप्त होते हैं। इसलिये इस गणना के परिणाम स्वरूप भी कोई सदस्य निर्वाचित नहीं घोषित किया जा सकता।

चौथी गणना—इसके पश्चात् फिर निर्णायक अफसर शेष उम्मीदवारों को मिले हुए मतों का निरीक्षण करता है और इसको देखता है कि अब बचे हुए उम्मीदवारों में से सबसे कम मत 'घ' को मिले हैं। इसलिये वह 'घ' को भी असफल घोषित कर देता है और उसको मिले हुए मतों को हस्तान्तरित करने का प्रबन्ध करता है। मत-पत्रों को देखने के बाद

पता चलता है कि उसके चार मतदाताओं ने अपनी दूसरी पसन्द का मत 'क' को दिया है, एक ने 'च' को दिया है और एक ने 'ज' को। इसलिये क्रमानुसार ये मत 'क', 'च' और 'ज' के मतों में जोड़ दिये जाते हैं। चौथी गणना के परिणाम स्वरूप 'क' और 'च' को निर्वाचित होने के लिये आवश्यक २१ मत मिल जाते हैं। इसलिये 'क' और 'च' निर्वाचित घोषित कर दिये जाते हैं। इन दोनों सदस्यों में से निर्वाचन में श्रेष्ठ 'च' समझा जायगा। क्योंकि तीसरी गणना के पश्चात् उसी के मत अधिक हैं। उसे २० मत मिले हैं और 'क' को केवल १७।

पाँचवीं गणना—चौथी गणना के पश्चात् केवल एक ही सदस्य का निर्वाचन होना शेष रह जाता है क्योंकि तीन का तो पहला ही हो गया है। मत-पत्रों को देखने के पश्चात् निर्णायक अफसर को पता चलता है कि अब 'ग' के ही मत सबसे कम हैं और इसलिये वह उसे असफल घोषित कर देता है। उसको मिले हुए मतों के पत्रों के निरीक्षण के पश्चात् निर्णायक अफ़सर को मालूम होता है कि सात पत्रों में उसके मतदाताओं ने अपनी दूसरी पसन्द 'ज' को दी है, दो में 'ख' को दी है और एक में दूसरी पसन्द किसी उम्मदीवार को नहीं दी गई है। इसलिये 'ग' को मिले हुए मतों में से सात को तो 'ज' को प्राप्त मतों में जोड़ दिया जाता है, दो को 'ख' के मतों में रूप जोड़ दिया जाता है और एक मत अहस्तान्तरणीय मत के खाने में लिख दिया जाता है। अब पाँचवीं गणना के फलस्वरूप 'ज' को सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक २१ मत मिल जाते हैं। इसलिये वह निर्वाचत घोषित कर दिया जाता है।

इस प्रकार इस प्रणाली से चारों सदस्य निर्वाचित हो जाते हैं।

इस प्रणाली के व्यावहारिक रूप के निरूपण के पश्चात् हम समानुपातिक प्रतिनिधित्व के गुणों तथा दोषों को भी देख सकते हैं।

गुण

इसी प्रणाली के गुणों[1] में हम कह सकते हैं कि सर्व प्रथम इससे सभी राजनीतिक विचारधाराओं का न्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व हो जाता है क्योंकि इस प्रणाली में निर्वाचन का आधार अधिक और कम के सिद्धान्त पर न होकर समानुपात के सिद्धान्त पर रहता है। जैसा कि मिल ने कहा है 'इससे राष्ट्र के सभी अंगों का समानुपातिक प्रतिनिधित्व होगा असमानुपातिक नहीं। बहुसंख्यक मतदाताओं के प्रतिनिधि सदैव बहुसंख्या में रहेंगें और अल्पसंख्यकों के अल्पसंख्या में। अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

१—लंदन की 'प्रोपोर्शनल रेप्रेज़ेन्टेशन सोसाइटी' ने अपनी ८७वीं पुस्तिका में (जून १६४२) समानुपातिक प्रतिनिधित्व के निम्नलिखित उद्देश्य और ध्येय बताये हैं।

(क) पार्लिमेन्ट तथा दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं में मतदाताओं के मतों का वास्तविक समानुपातिक प्रतिनिधित्व करना।

उसी पूर्णता के साथ होगा जिस तरह बहुसंख्यकों का'।[1] इस भाँति न्याय तथा समानता वास्तविक वस्तुएँ हो जाती हैं। और आज की व्यवस्थापिकाओं के स्थान पर जो केवल नाम के लिये प्रतिनिधि सभायें हैं लोगों के विचारों का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाली सभायें होंगी।

दूसरे, इसकी जनता की राजनीतिक शिक्षा हो जाती है। मतों को हस्तान्तरित करने की प्रणाली में आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक मतदाता अपनी पसन्द प्रकट करने लिये उम्मीदवारों की योग्यता पर विचार करे। इस कार्य के लिये राजनीतिक शिक्षा आवश्यक है।

तीसरे, लार्ड एक्टन के शब्दों में, 'यह पूर्ण रूप से प्रजातन्त्रात्मक है क्योंकि इससे उन हजारों व्यक्तियों का प्रभाव बढ़ जाता है जिनका दूसरी प्रणाली से निर्वाचन होने पर शासन में कोई हाथ न हो पाता। इसके अतिरिक्त यह व्यक्तियों को समानता के समीप ले आता है क्योंकि इस प्रणाली में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि कोई भी मत बेकार न जाये और प्रत्येक मतदाता का कोई न कोई सदस्य पार्लिमेन्ट के लिये अवश्य ही निर्वाचित हो जाये।

चौथे, इस प्रणाली में एकप्रतिनिधि-प्रणाली की सभी बुराइयों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। अगर यह बहुसंख्यकों के कठोर शासन का विरोध करती है तो अल्प-संख्यकों को सुरक्षित भी रखती है।

इन गुणों के अलावा कामन्स महोदय[2] ने निम्नलिखित और गुण बताये हैं:—

इस प्रधार समानुपातिक प्रतिनिधित्व का पाँचवाँ गुण इस बात में है कि यह आज के राजनीतिक दलों का आधार विभिन्न हितों को न मान कर राष्ट्रीय, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को मानता है। इस प्रणाली के स्पष्ट रूप से मान लिया जाता है कि स्वतन्त्र शासन में राजनीतिक दलबन्दी अनिवार्य है।

छठवें, इस प्रणाली में छोटी गुटबन्दी दो बड़े दलों के बीच राज्य-शक्ति को इधर से उधर नहीं कर सकती। इसलिये यहाँ घूसखोरी नहीं चलती और निर्वाचन में अधिक व्यय भी नहीं करना पड़ता।

(ख) इसका आश्वासन प्राप्त कर लेना कि शासन बहुसंख्यक मतदाताओं द्वारा होगा। किन्तु अल्प संख्यकों की बातों का भी ध्यान रक्खा जायगा।

(ग) प्रतिनिधियों के निर्वाचनमें मतदाताओं को अधिक स्वतन्त्रता देना।

(घ) विभिन्न हितों के दबाव से मुक्त करके निर्वाचकों को अधिक स्वतन्त्रता देना।

(च) विभिन्न दलों का आश्वासन देना कि सर्वश्रेष्ठ तथा योग्य सदस्य ही उनका प्रतिनिधित्व करेंगे।

अगर ये समानुपातिक प्रतितिनिधित्व के उद्देश्य हैं तो ये इस प्रणाली के लाभ भी हो सकते हैं।

१—मिल—'रेप्रेज़ेन्टेटिव् गवर्न्मेंट, अध्याय ७

२—कामन्स प्रोपोर्शनल रेप्रेज़ेन्टेशन—पृष्ठ १३२-१४३

सातवें चूंकि समानुपातिक प्रतिनिधित्व का आधार प्रदेश न होकर राजनीतिक मत रहता है इसलिये इस प्रणाली में 'सीमान्तरीकरण' की भी सम्भावना नहीं रह जाती।

अन्त में, समानुपातिक प्रतिनिधित्व से मतदाताओं को दलों के अनुशासन से स्वतन्त्रता मिल जाती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रणाली में राजनीतिक दल रहेंगे ही नहीं। इसके विपरीत यह राजनीतिक दलों को प्रजातन्त्रात्मक शासन का एक आवश्यक अंग मानती है। किन्तु व्यक्तियों को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वे दलों के अन्दर या बाहर अपनी इच्छानुसार सामयिक समस्याओं पर अपने को संगठित कर सकें।[1]

समानुपातिक प्रतिनिधित्व के दोष

किन्तु इन गुणों के साथ-साथ इस प्रणाली में कुछ बहुत गम्भीर दोष भी हैं। इसीलिये बहुत से आधुनिक लेखकों ने इस प्रणाली का विरोध किया है।

यह स्वीकार करते हुए भी कि इंगलैंण्ड की कामन-सभा राष्ट्रीय विचार या निर्वाचकों के विचार का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती और समानुपातिक प्रतिनिधित्व को अपना लेने से कुछ सीमा तक यह दोष हटाया जा सकता है, डाइसी[2] समानुपातिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। उसका तो यहाँ तक कहना है कि निर्वाचकों के सभी विचारों का प्रतिनिधित्व होना अनावश्यक ही नहीं वरन् हानिप्रद भी है। सम्भव हो सकता है कि कुछ विचार मूर्खतापूर्ण, बुरे तथा अनिष्टकारी हों। उनका प्रतिनिधित्व कदापि आवश्यक नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ वह कहता है कि क्या उन लोगों का प्रतिनिधित्व करना उचित होगा जो केवल यहूदियों के प्रति

१—इंगलैण्ड के शासन में समानुपातिक प्रतिनिधित्व के गुणों के लिये कृपया राम्ज़े-म्योर-कृत 'हाउ इंगलैण्ड इज़ गवर्न्ड' १ पृष्ठ १८५-१८६ देखिये। प्रो० कीथ ने भी इंगलैण्ड के शासन में इस प्रणाली को स्वीकार करने के लिये निम्नलिखित दलीलें पेश की हैं :—

(१) निर्वाचकों का इस भांति प्रतिनिधित्व होना चाहिए कि कामन सभा में विभिन्न दलों की समानुपातिक शक्ति हो सके।

(२) बहुत से मतदाता केवल इसलिये मत नहीं देते क्योंकि वे किसी भी सदस्य की नीति से सहमत नहीं होते। किन्तु एकप्रतिनिधि-प्रणाली में अपने मत को उपयोग में लाने के लिये निर्वाचकों को इन्हीं सदस्यों में से किसी न किसी को चुनना ही पड़ता है।

(३) समानुपातिक प्रतिनिधित्व में मतदाताओं को अवसर मिलता है कि वे चरित्रवान तथा निर्णय स्वतन्त्र व्यक्तियों को मत दे सकें। उन्हें किसी विशेष राजनीतिक दल की नीति को स्वीकार करने के लिये विवश नहीं होना पड़ता।

(४) स्वतंत्र मतदाताओं के मतों का प्रभाव, जो प्रायः निर्वाचन के भाग्य का निर्णय करता है, कम हो जाता है।—दि ब्रिटिश कैबिनेट सिस्टम, पृष्ठ ३२५-३३६

२—डाइसी—लॉ ऑव् दि कान्स्टीटयूशन पृष्ठ, ४७-४८

अपनी घृणा का प्रतिनिधित्व कराने के लिये प्रतिनिधि भेजना चाहते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह कदापि आवश्यक नहीं कि सभी विचारों का प्रतिनिधित्व हो।

दूसरे, उसी का कहना है कि जितना ही निर्वाचन प्रणाली को जटिल बनाया जायगा उतना ही मतदाता दलों के फन्दे में पड़ेंगे।

तीसरे, वह कहता है कि कामन सभा ऐसी संस्था केवल वाद्‌विवाद ही के लिये नहीं है। यह ऐसी संस्था है जिसे अप्रत्यक्ष रूप से कार्यकारिणी की भी पर्याप्त शक्ति सौंपी गई है। इसका काम मन्त्रिमंडल को नियुक्त करना तथा उसकी समालोचना करना भी है। इसके लिये कार्य की सक्षमता विचार-विभिन्नता से कहीं अधिक आवश्यक है। ऐसा मन्त्रिमंडल जो सभी प्रकार के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

चौथे चूँकि समानुपातिक प्रतिनिधित्व का मुख्य उद्देश्य विचारों का प्रतिनिधित्व करना होता है व्यक्तियों का नहीं इसलिये कामन सभा में अनेकों दलबन्दियों के हो जाने की सम्भावना रहती है।

डॉ० फ़ाइनर की समालोचना

डॉ० फ़ाइनर ने भी समानुपातिक प्रतिनिधित्व की विस्तारपूर्वक समालोचना की है। उन्होंने अपनी आपत्तियों को निम्नलिखित ढंग से रक्खा है[1] :—

(१) छोटे-छोटे निर्वाचन क्षेत्रों का मनोवैज्ञानिक लाभ समाप्त हो जायगा। सदस्यों को अपने क्षेत्र के प्रति कोई ख्याल न रह जायगा।

(२) इस प्रणाली से प्रत्येक बड़े दल के कुछ थोड़े से व्यक्ति, जो दल की नीति से असहमत होंगे, अपना निजी दल क़ायम कर सकते हैं। इससे राजनीतिक दल बहुत बढ़ जायँगे और राजनीतिक जीवन दूभर हो जायगा।

(३) इससे दलों के नेताओं की शक्ति और भी बढ़ जायगी और वे साधारण सदस्यों के ऊपर अनुशासन तथा नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करेंगे। यह इसलिये संभव है क्योंकि निर्वाचन क्षेत्र आज से चार या पाँच गुने बड़े होंगे और उम्मीदवारों को किसी एक दल विशेष की ओर से एक होकर खड़े होने में अधिक सुविधा होगी। क्योंकि एक स्वतन्त्र सदस्य अपने दल के दूसरे सदस्यों की शक्ति को क्षीण कर देगा। धीरे-धीरे एक निर्वाचन क्षेत्र के सदस्यों में संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रथा का विकास हो सकता है। इस दशा में वही सदस्य सब से अच्छा माना जायगा जो अपने दल की नीति को हमेशा से मानता चला आया है।

१—फ़ाइनर—दि थियरी ऐण्ड प्रैक्टिस ऑव् मॉडर्न गवर्न्मेंट, जिल्द २, पृष्ठ ६२१-६५

(४) छोटी-छोटी गुटबन्दियों को प्रोत्साहन देने से कार्यकारिणी की स्थिरता जाती रहेगी।

(५) समानुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थक देश की प्रथाओं तथा राजनीतिक प्रणाली को भूल जाते हैं। इंगलैण्ड में शासन के कार्यों पर विरोधी दल 'रोक' का कार्य करता है। इसकी उपस्थिति में शासक दल को व्यवस्थापिका सभा के विचारों को ध्यान में रखना पड़ता है और इसे जनता की भावनाओं का पता लगाने पर बाध्य होना पड़ता है। समानुपातिक प्रतिनिधित्व को अपना लेने पर यह विशेषता जाती रहेगी।

(६) इसके अतिरिक्त नीतियों का निर्णय केवल सार्वजनिक निर्वाचन से ही नहीं हो जाता। इन नीतियों पर असंख्य गतिशील तथा असांसारिक शक्तियों का प्रभाव पड़ता रहता है जो अच्छे प्रतिनिधि और उत्तरदायी शासन के लिये उतना ही लाभप्रद होती हैं जितना कि सार्वजनिक निर्वाचन। इस प्रकार कितने ही क़ानून ऐसे बनते हैं जो सभी दलों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। इन बातों से उतना ही वास्तविक प्रतिनिधित्व हो सकता है जितना सही समानुपात से।

(७) यद्यपि एक एकप्रतिनिधि-प्रणाली में अनेकों त्रुटियाँ हैं किन्तु इससे शासन में उत्तरदायित्व प्राप्त करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचक और पार्लिमेन्ट तथा शासन में एक निकट तथा आवश्यक सम्बन्ध स्थापित रहता है। अगर पार्लिमेन्ट द्वारा केवल वाद-विवाद और मत-विभाजन होता है तो मन्त्रि-मंडल सोचता है, प्रस्ताव रखता है और कार्य करता है। इसलिये जनता के साथ मन्त्रिमंडल का सम्पर्क उतना ही आवश्यक है जितना व्यवस्थापिका सभा से। इससे प्रतीत होता है कि मन्त्रिमंडल को केवल एक दल के संगठन पर आधारित होना नितान्त आवश्यक है। यह दल ऐसा होना चाहिए जिसका निर्वाचन क्षेत्रों से स्पष्ट सम्पर्क हो। इस दशा में निर्वाचक शासन कार्यों की समालोचना या प्रशंसा कर सकेंगे। क्योंकि व्यापक-निर्वाचन तो 'सूचना' की भाँति है जिसमें दलों के संबंध में उनके कार्यों तथा नीति ही के आधार पर राय क़ायम की जाती है। निर्वाचन प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसमें निर्वाचक स्पष्ट रूप के निश्चय कर सकें कि 'आने वाला शासक-दल कौन होगा'। समानुपातिक प्रतिनिधित्व में वैकल्पिक सरकार निश्चित नहीं हो सकती।

(८) कोई भी निर्वाचन-प्रणाली जो मुख्य राजनीतिक प्रवृत्तियों की शक्ति का एक स्थूल रूप में सांख्यिक प्रकाशन कर देती है, पर्याप्त है। 'प्रत्येक छोटे दल का प्रतिनिधित्व व्यर्थ है। व्यवस्थापिकाओं को तो राज्य की समस्याओं के संबंध में केवल तीन बड़े दलों द्वारा उपस्थित किये गये दृष्टिकोणों पर ही पूर्णरूप से विवाद करने का पर्याप्त समय नहीं मिलता। वह निर्वाचन प्रणाली, जिसका आधार पूर्ण रूप से प्रत्येक छोटे दल को प्रतिनिधित्व देना है, राजनैतिक निरर्थकता होगी क्योंकि बड़े भाग्य ही से प्रतिनिधि को बोलने का अवसर मिलेगा। यदि किसी व्यवस्थापिका में

हर छोटे-बड़े दल का प्रतिनिधित्व रहेगा तो कुछ काम ही न होगा। इसलिये व्यवस्थापिका का कार्य-काल (और बातों के अतिरिक्त) सार्वजनिक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिये लोगों को अपनी छोटी-छोटी गुहाओं को छोड़ने और बड़े दलों में सम्मिलित होने पर बाध्य करता है। और जब वे ऐसा करते हैं तो प्रतिनिधित्व की पूर्णता राजनीतिक महत्व की न तो विशेष और न अंतिम ही वस्तु जान पड़ती है'।

(६) व्यवस्थापिका के कार्य-काल में कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जो निर्वाचन के समय में सोचे भी नहीं जा सकते। ऐसे अवसर पर सदस्य का अपने निर्वाचन-क्षेत्र से व्यक्तिगत सम्पर्क सहायक होता है। इसके अतिरिक्त उप-निर्वाचन भी हवा का रुख बता देता है। परन्तु उप-निर्वाचनों का समानुपातिक प्रतिनिधित्व[1] में अभाव रहेगा।

परन्तु जहाँ समानुपातिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध ये आपत्तियाँ उपस्थित की गई हैं वहाँ इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके समर्थक इनको तर्क द्वारा काट नहीं सकते। उन्होंने समानुपातिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध प्रत्येक तर्क को अलग-अलग करके उत्तर दिया है। हम्फ्रीज महोदय ने लगभग सभी तर्कों को काट कर समानुपातिक प्रतिनिधित्व का दृढ़ समर्थन किया है[2]। उन्होंने एक-एक करके प्रत्येक आपत्ति का उत्तर दिया है :—

(१) इस तर्क के विरुद्ध, कि निर्वाचक अपना कर्तव्य कठिनता से निभा सकेगा, वे समानुपातिक प्रतिनिधित्व का व्यावहरिक अनुभव रखने वालों के प्रमाण के आधार पर कहते हैं कि इस सबंध में कोई भी व्यावहारिक कठिनाई नहीं उपस्थित होगी क्योंकि दलों और प्रेस की सहायता मिलती रहेगी।

(२) उनका स्पष्ट कहना है कि सापेक्षिक बहुमत प्रणाली में अवशेष मत व्यर्थ जाते हैं जब कि समानुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली में एक भी मत व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रकार इस प्रणाली से मत का मूल्य बढ़ जाता है।

(३) यह कहना, कि निर्णायक का काम कठिन हो जायेगा, केवल सैद्धान्तिक पक्ष पर जोर देना है। आज भी विशेषज्ञ कर्मचारी-मंडल निर्वाचनों को व्यवस्था करने और मत-गणना में सहायता करता है। हस्तान्तरणीय-एकमत-प्रणाली में उपस्थित होने वाले इन अधिकारियों के कार्य ग्रेट ब्रिटेन में सामूहिक मत-प्रणाली-जनित कार्य थे या होते हैं, इससे अधिक नहीं हैं (स्काटिश स्कूल-बोर्डों में)

(४) इस तर्क के संबंध में, कि निर्वाचन-समाप्ति और फल-घोषणा के बीच अधिक समय व्यय होगा, (साधारणतः एक दिन लगता है), हम्फ्रीज महोदय का कहना है कि

१—लास्की के समानुपातिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध तर्कों और इसके समर्थन में कही गई बातों के खंडन के लिये उसकी पुस्तक 'ए ग्रैमर ऑव् पॉलिटिक्स, पृ० ३६५-१८ पढ़िये।

स्ट्रांग के तर्कों के लिये उसकी पुस्तक 'मॉडर्न कान्स्टीटयूशन्स', पृ० १८०-८१ देखिये

२—विस्तृत विवरण के लिये विद्यार्थियों को हम्फ्रीज़ कृत 'प्रोपोर्शनल रेप्रेज़ेन्टेशन', अध्याय ११, पृ० २३५-२५६ पढ़ना चाहिये।

'उस निर्वाचन प्रणाली का अनुगमन करने की अपेक्षा जिसमें वास्तविक फल का पता न चले और सरकार पाँच वर्ष के लिये पदस्थ हो जाये (जैसा कि इंगलैंड में) वास्तविक परिणाम प्राप्त करने के लिये एक दिन का प्रतीक्षा कर लेना कहीं अधिक अच्छा है'।

(५) इस आपत्ति के विरुद्ध, कि समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली वहम और समुदाय गत हितों को अनावश्यक प्रतिनिधित्व विस्तृन देगी जैसा कि जेम्स महोदय का कथन है कि 'यदि मैनचेस्टर अथवा लिवरपूल ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र समानुपातिक प्रतिनिधित्व के अन्दर होते तो अपेयी, शाकाहारियों तथा इसी प्रकार के अन्य हितों के लिये एक एक प्रतिनिधि अवश्य रखना पड़ता और सम्भवत: प्रत्येक को निर्वाचकों के आदर्श के विरुद्ध होने वाले कार्य का दृढ़ता से विरोध करने का आदेश भी रहता', हम्फ्रीज का कथन है कि महत्व-रहित जन-समुदाय को समानुपातिक प्रतिनिधित्व अत्यधिक शक्ति नहीं देता वरन एक-प्रतिनिधि प्रणाली ही ऐसा करती है। सदस्यों को अपने विचारों के भी विरुद्ध केवल इसलिये कुछ वहमों का समर्थन करने पर वाध्य होना पड़ता क्योंकि बिना ऐसी स्वीकृति के कुछ निर्वाचक पक्ष में नहीं किये जा सकते। इस प्रकार अब तक एक महत्व-शून्य अल्पमत ने प्रतिज्ञायें करवाई हैं किसी बड़ी नीति के सबंध में नहीं वरन् अपने किसी छोटे-मोटे विशेष हित के लिये।

(६) इस आपत्ति के विषय में, कि पार्लिमेंट मे समानुपातिक प्रतिनिधित्व निर्वाचन-क्षेत्र और प्रतिनिधि[1] के मध्य वर्त्तमान गहरे संबंध को नष्ट कर देगा, उनका उत्तर है कि यह पूरा तर्क आत्म घातक है :—

सर्व प्रथम, जैसा कि बर्क का कहना है प्रतिनिधि ब्रिस्टल क्षेत्र से तो आता है परन्तु वह राष्ट्र के लिये होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपने निर्वाचन क्षेत्र को भी अपनी दृष्टि में रख सकता है परन्तु उसके विचार में प्रथम स्थान सार्वजनिक हित को मिलना चाहिये।

दूसरे, एकप्रतिनिधि-प्रणाली नगर का विभाजन मनमानी कर देती है और प्रत्येक सदस्य को इसके एक ही भाग का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है। परन्तु समानुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार नगर से आने वाले सभी सदस्य, उनके स्वार्थ चाहे जो भी हों, मिलकर नगर का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसीलिये सार्वजनिक हित के संबंध में उनके विचार उदार होंगे।

१—सन् १९१८ में 'सभापति सम्मेलन' (Speakers' Conference) की शिफ़ारिश और लार्ड-सभा के ज़ोर के बावजूद कामन सभा ने निम्नलिखित तीन कारणों से समानुपातिक प्रतिनिधित्व को अस्वीकृत कर दिया था :—

(१) विस्तृत निर्वाचन-क्षेत्रों के निर्माण में सदस्यों और निर्वाचकों के मध्य सम्पर्क की शिथिलता।

(२) उम्मीदवारों के ऊपर सम्भावो व्यय का भार।

(३) उप-निर्वाचनों की व्यवस्था करने की कठिनाई।

—मेरियट कृत 'मेकेनिज़्म ऑव मॉडर्न स्टेट', जि० १, पृ० ५०१-५०२

तीसरे, बहुधा एकप्रतिनिधि-प्रणाली में सदस्यों और उन क्षेत्रों के मध्य, जिनके प्रतिनिधि होने का वे दावा करते हैं, कोई संबंध ही नहीं रहता। इसके पक्ष में हम्फ्रीज महोदय का कथन है कि चर्चिल एक बार मैनचेस्टर के एक क्षेत्र में हारने के पश्चात् स्काटलैंड के डण्डी निर्वाचन-क्षेत्र से निर्वाचित हो गये थे। कौन सा संबंधविशेष, योग्यता, स्थानीय ज्ञान अथवा घनिष्ठता उनको इस निर्वाचन क्षेत्र से थी?

चौथे, यह कहा जाता है कि एक छोटे निर्वाचन-क्षेत्र में सदस्य व्यक्तिगत सम्पर्क रख सकता है। परन्तु आजकल एक साधारण सदस्य (इंगलैंड में) ११,००० मतों का प्रतिनिधित्व करता है, इस संख्या से कैसे व्यक्तिगत संबंध रक्खा जा सकता है? और उन मतदाताओं से व्यक्तिगत सम्पर्क का क्या अर्थ होगा जिन्होंने उम्मीदवार को हराने का प्रयत्न किया था? अधिक से अधिक इसका अर्थ अपने समर्थकों के साथ घनिष्ठता होगी। परन्तु समानुपातिक प्रतिनिधित्व में किसी एक क्षेत्र के विभिन्न प्रतिनिधि, यद्यपि भिन्न-भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करेंगे, उस क्षेत्र के हितों के संबंध में जब अवसर आयेगा तो एक स्वर से बोलेंगे। उनका विचार है कि समानुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के अनुसार क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व वर्तमान प्रणाली की अपेक्षा अधिक वास्तविक होगा।

(७) इस दोषारोपण के विरुद्ध, कि बड़े निर्वाचन-क्षेत्र रखने से असुविधा और व्यय बढ़ जायगा,[1] वे दौरा और प्रचार के पुराने और नवीन शीघ्रगामी आवागमन के साधनों की पारस्परिक तुलना करते हुये कहते हैं कि सम्पूर्ण डर निराधार है क्योंकि पहले की अपेक्षा आज उम्मीदवार को निर्वाचकों से अपने को परिचित कराने की कहीं अधिक सुविधा है। इसके अतिरिक्त (एक प्रतिनिधि) निर्वाचन-क्षेत्र में प्रचार करने की प्रथा—क्योंकि कोई दूसरी प्रणाली धनी उम्मीदवार को इतनी सुविधा नहीं देती—ही कम नहीं हो जायेगी वरन् निर्वाचन का व्यय भी बहुत कम हो जायेगा। 'वर्तमान समय में सात सदस्य भेजने वाले नगर को सात उम्मीदवारों और उनमें से प्रत्येक के लिये पृथक-पृथक संगठन और व्यय का प्रबन्ध करना अनिवार्य है परन्तु समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में एक दल के सभी उम्मीदवारों के लिये केवल एक संगठन होगा।'

१—लार्ड एवर्स्ली का कथन है कि हस्तान्तरणीय-एकमत-प्रणाली की योजना सन् १८८४ में निम्नलिखित कारणों से अस्वीकृत कर दी गई थी :—

(१) कोई भी शासन 'स्वस्थ और दृढ़' नहीं हो सकता यदि प्रदत्त मतयोग में दो मुख्य दलों के प्रतिनिधित्व का आधार गणितानुपात है। समानुपातिक प्रतिनिधित्व से कामन सभा में छोटे-छोटे दल स्थापित हो जायेंगे जिससे निर्बल कार्यकारिणी बनेगी जो न आन्तरिक और न वाह्य मामलों में ही किसी दृढ़नीति को जन्म दे सकेगी।

(२) विस्तृत निर्वाचन-क्षेत्रों के कारण उम्मीदवारों को अत्यधिक व्यय और श्रमभार उठाना पड़ेगा।

(३) एक सदस्य वाले क्षेत्र, विशेषकर लंदन में, विभिन्न प्रकार के सदस्य भेजेंगे, जिससे अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व मिल जायेगा।

मेरियट कृत 'दि मेकेनिज़्म ऑव् मॉडर्न स्टेट', जि० १ पृ० ४६४-४६५ देखिये।

(८) अन्त में इस दलील के विरुद्ध, कि समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली भी देश के सभी निर्वाचकों को पूर्ण प्रतिनिधित्व देने में असफल हो सकती है, वे फिनलैंड और तस्मानिया का उदाहरण देते हैं जहाँ इस प्रणाली द्वारा गणितानुसार बिल्कुल ठीक ठीक परिणाम प्राप्त हुये हैं।

राम्ज़े म्योर का खंडन

हम्फ्रीज़ के अतिरिक्त राम्ज़े म्योर[1] ने भी सारे दोषारोपणों का निम्नलिखित उत्तर दिया है :—

(१) यह डर, कि मतदाता इस प्रणाली को समझ न सकेंगे और उनको समर्थन का क्रम प्रकट करने में कठिनाई होगी, निराधार है। क्योंकि उन देशों के अनुभव ने, जहाँ यह प्रणाली प्रयोग में लाई गई है, बताया है कि यह डर भ्रमात्मक है।

(२) यदि बहुत से ऐसे मतदाता हैं जो प्रस्तुत प्रश्नों के आधार पर मत देने की बिल्कुल चिन्ता ही नहीं करते और विभिन्न उम्मीदवारों के नाम नहीं याद रख सकते तो यह हितकर ही होगा कि ये मूर्ख मताधिकार से अपने को वंचित रक्खें, क्योंकि इसके एकप्रतिनिधि-प्रणाली का सब से बड़ा दोष (अज्ञानियों और उदासीनों के हाथ में शक्ति-समर्पण) दूर हो जायेगा।

(३) यह आपत्ति, कि विस्तृत निर्वाचन-क्षेत्र कार्य को असम्भव कर देंगे, विकीर्ण क्षेत्रों के संबंध में लागू हो सकती है। ऐसी दशा में एकप्रतिनिधि-प्रणाली क़ायम रक्खी जा सकती है। बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों में तो विभिन्न उम्मीदवार अपने दल के लिये टीम की भाँति काम करेंगे।

(४) यह कहा गया है कि सदस्य और उसके निर्वाचन-क्षेत्र के मध्य व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रह जायेगा। परन्तु राम्ज़े म्योर का कहना है कि ऐसा सम्पर्क तो चालीस-पचास हज़ार मतदाता वाले निर्वाचन क्षेत्रों में पहले ही से समाप्त हो चुका है। सदस्य कम से कम अपने 'स्थानीय' क्षेत्र के सम्पर्क में तो रहेंगे ही।

(५) यह डर भी, कि 'शौक़िया' उम्मीदवारों को प्रोत्साहन मिलेगा और वर्ग-गत हित सामने रक्खे जायेंगे, निर्मूल है क्योंकि 'किसी विषय के धर्मान्ध' भी किसी न किसी दल से संबंध स्थापित करने मे बाध्य होंगे। दल भी कट्टर नहीं रहेंगे क्योंकि उनको उम्मीदवारों की सर्वश्रेष्ठ टीम तैयार करनी पड़ेगी। इसलिये प्रगतिशील विचार वाले व्यक्ति ही उम्मीदवार चुने जायेंगे किसी दल के अयोग्य व्यक्ति नहीं। इस प्रकार दलों के मध्य कटुता कम हो जायेगी और वे सहिष्णु और उदार हो जायेंगे।

(६) यह कहा जाता है कि यदि बहुत से दल आ जायेंगे तो स्पष्ट बहुमत की सम्भावना जाती रहेगी अतः व्यवस्थापिका का विसर्जन और देश के प्रति अपील लुप्त हो जायेंगे। परन्तु म्योर का दावा है कि बहुत सी दशाओं में कोई न कोई दल अवश्य अग्रगामी होगा यद्यपि यकायक पक्ष-परिवर्तन को रोकना पड़ेगा और दलों में

१—राम्ज़ेम्योर—हाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड । पृ० १८६-१६० । विद्यार्थी को तर्कों को विस्तृत रूप से स्वयं पढ़ना चाहिये।

संतुलन स्थापित रखना आवश्यक होगा। इससे एक संयुक्त मंत्रि-मंडल की सम्भावना रहेगा।

कीथ का खंडन

प्रो० कीथ[1] ने भी समानुपातिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध उपस्थित किये गये तर्कों का उत्तर निम्नलिखित ढंग से दिया है :—

(१) इस कठिनाई का, कि मतदाताओं को इतने अधिक उम्मीदवारों को मत देने में कठितना होगी, कुछ अर्थ नहीं है। क्योंकि जहाँ कहीं भी यह प्रणाली प्रयोग में लाई गई है वहाँ नष्ट मतों की संख्या नगण्य रही है।

(२) इस आपत्ति का भी, कि सदस्य का सम्पर्क उसके निर्वाचन-क्षेत्र से छूट जायेगा, कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है। क्योंकि विस्तृत मताधिकार इसको पहले ही अवास्ताविक बना चुका है। 'व्यवहार में एक ही राजनीतिक दल के सदस्य बहुसदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र के विभिन्न क्षेत्रों को आपस में बाँट कर एक दूसरे की सहायता करेंगे जैसा कि एडिनबरा ऐसे पाँच सदस्य वाले नगर-क्षेत्र में विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों के उम्मीदवार करते हैं'।

(३) यह तर्क भी, कि इस प्रणाली से दल की कट्टरता बढ़ जायेगी, काल्पनिक हैं क्योंकि इसमें स्वतंत्र विचार वाले व्यक्तियों के निर्वाचित होने की अधिक सम्भावना रहेगी।

(४) इसी प्रकार यह तर्क भी, कि यह बहुत से दलों को जन्म देगी, अवास्तविक और काल्पनिक है क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र में किसी एक विषय पर उम्मीदवार को खड़ा करने के लिये एक दृढ़ मत-संगठन रहता है।

(५) यह कहा गया है कि इस प्रणाली से सरकारें कमजोर होंगी क्योंकि वे कभी भी अप्रत्याशित मत से उलटी जा सकती हैं। परन्तु यह भी काल्पनिक डर है क्योंकि व्यावहारिक रूप में बहुमत के अत्याचार से छुटकारा रहेगा।

(६) यह आपत्ति, कि उप-निर्वाचन लुप्त हो जायेंगे और लोकमत के रुख का पता नहीं चलेगा, बहुत साधारण सी बात है। इसको अनावश्यक महत्व नहीं देना चाहिये जब कि हमारी व्यवस्थापिकाओं में एकप्रतिनिधि-प्रणाली की अपेक्षा कहीं-कहीं अधिक प्रतिनिधित्व रहेगा।

(७) यह दोषारोपण भी, कि शासन की नीति पर जनता का नियंत्रण कम हो जायेगा, किसी महत्व का नहीं है क्योंकि समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में नीति में यकायक परिवर्तन नहीं हुआ करेंगे और एक मध्य मार्ग ग्रहण किया जायगा। आजकल निर्वाचकों का एक अल्पमत एक ऐसी सरकार को पदस्थ कर सकता है जो निर्वाचकों के बहुमत के विरुद्ध जायेगी।

१—कीथ—दि ब्रिटिश केबिनेट सिस्टम, पृ० ३३७-३४०,

उपसंहार

इस प्रकार हम्फ्रीज, राम्जे म्योर और कीथ ने समानुपातिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध लगाये गये दोषारोपणों[1] का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। अतः हम कह सकते हैं कि आधुनिक लेखकों की आलोचना के अनुसार न तो यह बिल्कुल दोषपूर्ण है और न इसके समर्थकों के अनुसार यह निर्दोष ही सिद्ध हुआ है। जब हम देखते है कि धीरे-धीरे सभी आधुनिक शासन-विधानों में इसको स्थान मिलता गया है तो हम बिना यह कहे नहीं रह सकते कि यह हमारे आधुनिक राजनैतिक जीवन की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करता है। यदि इंगलैंड और अमरीका ने इसका अभी नहीं स्वीकार किया है तो इसका कारण इनकी दो दल-प्रणाली की प्राचीन परम्परा है। परन्तु जहाँ यह परम्परा नहीं पाई जाती और प्रवृत्ति बहुदल प्रणाली की ओर है वहाँ समानुपातिक प्रतिनिधित्व की पूर्ण सम्भावना है। सभात्मक शासन का भविष्य, आधुनिक प्रवृत्ति समूह-प्रणाली की ओर होने के कारण, समानुपातिक प्रतिनिधित्व ही जान पड़ता है। इंगलैंड में (यदि अमरीकी संयुक्त राज्य में नहीं) तो पहले ही से दूसरे 'सभापति सम्मेलन' (Speakers' Conference) को निर्वाचन-सुधार के संबंध में बुलाने का आयोजन हो रहा है। और सरकार पार्लिमेंट को पहले ही कह चुका है (अक्टूबर, १९४० फिर अक्टूबर १९४१ में) कि जब व्यापक निर्वाचन सम्भव होगा तो राजकीय सरकार की इच्छा नयी तालिका (Register) बनाने के लिये पर्याप्त अवधि देने की है और यदि पार्लिमेंट चाहेगी तो यह समय उसके निर्वाचन-प्रणाली में संशोधन करने का भी अवसर देगा। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी सरकार ने क्रिप्स-प्रस्ताव के संबंध में मार्च सन् १९४२ में कहा था कि भारतवर्ष में विधान निर्मात्री-परिषद् का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के द्वारा समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि इंगलैंड मे 'समानुपातिक प्रतिनिधित्व समाज' के प्रचार ने समानुपातिक प्रतिनिधित्व को एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करा लिया है और यह कोई आश्चर्य की बात न होगी यदि यह निकट भविष्य में स्वयं इंगलैंड में स्वीकार कर लिया जाये।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व

अल्पमतों के प्रतिनिधित्व संबंधी इन प्रणालियों के अतिरिक्त जो इंगलैंड, अमरीका, जापान तथा संसार के और दूसरे देशों में प्रयोग में लाई गई हैं, हमारे देश में एक और प्रणाली है जो 'साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली' (Communal Representation) कहलाती है। इसका कारण यह है कि हमारे देश में दलों के आधार साधारणतः सामाजिक और आर्थिक नहीं हैं। दल अंशतः धर्म पर आधारित हैं क्योंकि हमारे देश में धार्मिक अल्पमत हैं और इनमें सबसे बड़ा मुस्लिम

१—इस अध्याय के अन्त में दी हुई 'समानुपातिक प्रतिनिधित्व पर एक टिप्पणी' को न केवल इससे प्राप्त होने वाले लाभों के लिये वरन् हैलट के द्वारा अपनी पुस्तक, प्रोपोर्शनल-रेप्रेज़ेन्टेशन' में इसके ऊपर किये गये दोषारोपणों के खंडन के लिये भी पढ़िये।

अल्पमत है। सन् १९०९ में मॉर्ले-मिन्टो सुधार के अनुसार मुसलमानों को धार्मिक प्रतिनिधित्व दिया गया था। सन् १९१६ में लखनऊ वाले कांग्रेस-लीग समझौते में भी इसे स्वीकार किया गया था। इसके पश्चात् सन् १९१९ के क़ानून ने इसको स्वीकार किया था। सन् १९३५ के क़ानून के अनुसार यह अब भी मुस्लिम-प्रतिनिधित्व का आधार है। इस प्रकार साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अर्थ यह है कि मुस्लिम सदस्यों का निर्वाचन सभी मतदाता—हिन्दू और मुस्लिम मिलकर—साधारण निर्वाचन-क्षेत्र में नहीं कर सकते। उनका निर्वाचन केवल मुस्लिम सदस्यों के द्वारा पृथक निर्मित निर्वाचन-क्षेत्रों में हो सकता है। प्रत्येक प्रान्त के मुस्लिम सदस्यों की संख्या या तो जन-संख्या के अनुपात के अनुसार या जहाँ बहुत ही कम संख्या में हैं वहाँ कुछ अधिक स्थान देकर निश्चित कर दी गई है। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में जन-संख्या के अनुपात के अनुसार कुल सदस्यों के एक तिहाई मुस्लिम सदस्य आते हैं।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की आलोचना

इस प्रणाली के विरुद्ध यह कहा गया है कि निर्वाचकों को धर्म के आधार पर विभक्त करने से हिन्दू और मुसलमानों में मतभेद बढ़ गया है जो भारतीय राष्ट्रीयता के लिये घातक सिद्ध हुआ है। निसन्देह संयुक्त-निर्वाचन को स्थानों के संरक्षण सहित स्थापित करने का प्रयत्न किया जा चुका है (नेहरू-रिपोर्ट ने भी इसकी शिफ़ारिश की थी) परन्तु परिणाम कुछ नहीं निकला। इसलिये इस समय पृथक निर्वाचकों के आधार पर साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व केवल प्रचलित ही नहीं है वरन् मुस्लिम अल्पमत[1] भारतवर्ष में इसे पसन्द करता है; इसके पक्ष में है और इसी पर दृढ़ भी है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

अब एक और प्रतिनिधित्व-प्रणाली पर विचार करना रह जाता है। परन्तु इसका संबंध न तो स्थान से है और न राय से। इसका आधार व्यवसाय है। इसीलिये इसका नाम व्यवसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) है। हम पहले ही शक्ति-विभाजन के संबंध में देख चुके हैं कि किस प्रकार कोल महोदय के अनुसार एक व्यक्ति दूसरे के विचार का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, वह उसके व्यवसाय ही का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसलिये प्रतिनिधि-शासन का सम्पूर्ण आधार, जिसमें सदस्य अपने निर्वाचकों के विचार का प्रतिनिधित्व करते हैं, शंकास्पद है। कोल महोदय का यह कथन है कि 'सर्वशक्तिमान प्रतिनिधित्वपूर्ण संगठन कही जाने

१—इधर कुछ समय से मुसलमानों का कहना है कि वे भारतवर्ष में अल्प-मत नहीं हैं, वे एक राष्ट्र हैं और भारतवर्ष में दो राष्ट्र—हिन्दू राष्ट्र और मुस्लिम राष्ट्र हैं। इस विवाद का व्यावहारिक परिणाम यह हुआ है कि संयुक्त व्यवस्थापिका सभा में मुसलमान अब सवर्ण हिन्दुओं के बराबर स्थाना की मांग करते हैं अर्थात् दो राष्ट्रा का बराबर प्रतिनिधित्व होना चाहिये। यह मांग जून सन् १९४५ की वेवल योजना में मान ली गई थी। इसके अनुसार सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों दानों में से प्रत्येक को वायसराय की कार्यकारिणी समिति में ४०% प्रतिनिधित्व मिलता और २०% दूसरे अल्पमतों को।

वाली पार्लिमेंट में कुप्रतिनिधित्व आज सब से बुरे रूप में दिखाई देता है······पार्लिमेंट सभी नागरिकों का सभी मामलों में प्रतिनिधित्व रखने का दावा करती है और इसलिये एक प्रकार से किसी का किसी भी मामले में प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह आ उपस्थित होने वाले प्रत्येक मामले को सुलझाने के लिये चुनी जाती है बिना इसका विचार किये कि आ उपस्थित होने मामलों को सुलझाने के लिये विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है······अपनी वर्तमान सभात्मक शासन-प्रणाली से बचने का केवल एक उपाय है। वह है प्रत्येक व्यवसाय के लिये एक संघ और एक प्रतिनिधित्व-प्रणाली और प्रत्येक संघ और प्रतिनिधि-संस्था के लिये एक पृथक कार्य-योग की व्यवस्था कर देना। दूसरे शब्दों में वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना केवल एक सर्व योग्य प्रतिनिधि सभा से नहीं हो सकती वरन् व्यावसायिक प्रतिनिधि-संस्थाओं में परस्पर सांमजस्य स्थापित करने से हो सकती है।'[1]

इसी तर्क को वे अपनी पुस्तक 'गिल्ड सोशलिज्म रिइस्टेटेड'[2] में दुहराते हैं कि प्रजातंत्रात्मक प्रतिनिधित्व के वास्तविक मूलतत्व ये हैं : सर्वप्रथम निर्वाचक को अपने प्रतिनिधि के अविच्छिन्न सम्पर्क में रहने, और उस पर पर्याप्त नियंत्रण रखने की पूर्ण स्वतंत्रता रहनी चाहिये। दूसरे उसको किसी मनुष्य को, नागरिकता के सभी क्षेत्रों में व्यक्ति अथवा नागरिक की हैसियत से, अपना प्रतिनिधि नहीं चुनना चाहिये वरन् किसी विशेष उद्देश्य या उद्देश्यों के आधार पर चुनना चाहिये, दूसरे शब्दों में किसी विशेष व्यवसाय के लिये। अतः वास्तविक और प्रजातंत्रात्मक प्रतिनिधित्व व्यावसायिक प्रतिनिधित्व ही है।·········इससे यह सिद्धान्त निकला कि समाज में उतनी पृथक निर्वाचित प्रतिनिधि-संस्थायें होनी चाहिये जितने कि स्पष्ट आवश्यक व्यावसायिक-समुदाय हों। स्मिथ मनुष्य-रूप में ब्राउन, जोन्स और राबिन्सन का मनुष्य होने के नाते प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। क्योंकि मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में प्रतिनिधित्व करने में मूलतः असमर्थ होता है। वह केवल ब्राउन, जोन्स और राबिन्सन के उस संयुक्त विचार का प्रतिनिधित्व कर सकता है जिसे वे किसी निश्चित सामाजिक उद्देश्य अथवा उद्देयों के प्रति रखते हैं। अतः ब्राउन, जोन्स, राबिन्सन में से प्रत्येक का एक एकमत नहीं होगा वरन् इतने व्यावसायिक मत होंगे जितनी सामूहिक प्रयत्न को अपेक्षा रखने वाली उनसे संबंधित विभिन्न समस्याएँ होंगी। इस प्रकार अपनी सर्वशक्तिमान पार्लिमेंट युक्त सर्वशक्तिमान राज्य किसी भी प्रजातन्त्रात्मक जाति के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। इसे नष्ट कर देना चाहिये अथवा निर्दयता से समाप्त कर देना चाहिये।'

कोल महोदय के इन कथनों से यह स्पष्ट हो गया कि संपूर्ण समाज का पुनसंगठन व्यवसाय के आधार पर करना होगा और इसलिये वर्तमान राजनैतिक संगठन के अंगों को पूर्ण रूप से अलग अलग करना पड़ेगा।

१—जी० डी० एच० कोल—सोशल थियरी, पृ० २०७

२—जी० डी० एच० कोल—गिल्ड सोशलिज्म रिइस्टेटेड, पृ० ३२-३३

व्यवसायात्मक सिद्धान्त पर अन्य लेखकों के विचार

इसी प्रकार, जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में पहले ही देख चुके हैं, वेब-दम्पति ने 'ब्रिटेन का समाजवादी संयुक्त परिवार' (Socialist Commonwealth of Britain) के लिये एक नये विधान की शिफारिश की है। यदि कोल महोदय औद्योगिक व्यवस्थापिका, धार्मिक व्यवस्थापिका, राजनैतिक व्यवस्थापिका इत्यादि का समर्थन करते हैं तो वेब-दम्पति भी एक सामाजिक और एक राजनैतिक व्यवस्थापिका की स्थापना चाहते हैं। इन विचारों से प्रभावित होकर दूसरे लेखक भी आर्थिक तथा अन्य व्यावसायिक संघों का महत्त्व स्वीकार करने में बाध्य हुये हैं। वे भी यह अनुभव करते हैं कि किसी न किसी प्रकार के व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के लिये कुछ किया जाना चाहिये। इस प्रकार माइमवालाज महोदय का विचार है कि 'जहाँ प्रथम सभा का निर्वाचन प्रादेशिक क्षेत्रों के आधार पर वांछनीय है वहाँ द्वितीय सभा में विभिन्न हितों और व्यावसायिक समुदायों का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है'।[1]

आलोचना

परन्तु व्यावसायिक पुनर्संगठन अथवा प्रतिनिधित्व सरल कार्य नहीं है। इसमें बहुत से व्यावहारिक दोष आ जायेंगे।

सर्व प्रथम, जैसा डा० फ़ाइनर ने कहा है[2], यह राष्ट्र के एकत्व से नहीं आरम्भ होता, वरन् मतभेदों को प्रतिनिधित्व देकर उसकी एकता समाप्त करता है। यह राष्ट्र को ऐसे बहुत से समुदायों में विकीर्ण करने के सिद्धान्त को स्वीकार करके आगे बढ़ता है जिनके एकत्व की स्थापना इसके पश्चात की जाती है। इस प्रकार यह राष्ट्र की एकता भंग कर देगा।

दूसरे, मानव समस्यायें पूर्ण रूप से पृथक्-पृथक नहीं की जा सकतीं। किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व्यवस्थापिकायें अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर रहेंगी? क्या अनावश्यक विवादों का जन्म सदैव नहीं होता रहेगा? मेरियट महोदय का भी यही तात्पर्य है जब वे कहते हैं कि 'यह अत्यधिक वांछनीय है कि ये वर्गगत व्यवस्थापिकायें अपने-अपने ढंग से अपने-अपने क्षेत्रों में विकसित होती रहें। गड़बड़ी तभी उत्पन्न होती है जब एक क्षेत्र का संगठन दूसरे के क्षेत्र में हाथ फैलाता है।'[3]

१—भारतवर्ष में व्यवस्थापिकाओं के संगठन के व्यावसायिक आधार के लिये प्रो० डी० एन० बनर्जी का 'शुड् अवर् लेजिस्लेचर्स बि कॉन्स्टीट्यूटेड् ऑन् फंक्शनल बेसिस् ?' नामक लेख 'दि इन्डियन जर्नल ऑव् पॉलिटिकल साइंस' (अप्रैल जून, १९४३) में पढ़िये।

२—फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑव् मॉडर्न गवर्न्मेंट्स, जिल्द २, पृ० ९०७,

३—मेरियट—दि मेकेनिज़्म ऑव मॉडर्न स्टेट, जिल्द १, पृ० ५०५,

तीसरे, मेरियट महोदय[1] पूछते हैं कि क्या दो आर्थिक हितों के मध्य की सीमायें निश्चित करना वांछनीय होगा जब कि ये स्पष्ट रूप से निर्धारित ही नहीं की जा सकतीं ?

चौथे, यह निश्चित करना नितान्त कठिन होगा कि किन हितों को प्रतिनिधित्व दिया जाये और किनको नहीं। विभिन्न व्यावसायिक संघों के महत्व की माप कैसे होगी ?

पाँचवें, विभिन्न व्यावसायिक संघों के स्वशासन का अर्थ उनका राज्य से संबंध-विच्छेद नहीं है; उसकी प्राप्ति विकेन्द्रीकरण से हो सकती है। शक्ति के विकेन्द्रीकरण से एकरूपता और अनावश्यक केन्द्रीकरण के विरुद्ध वे सभी लाभ प्राप्त होंगे जो बहुरूपता में निहित रहते हैं। परन्तु राज्य को विच्छिन्न करना हानिकर होगा। इससे केवल अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में ही निर्बलता नहीं आ जायेगी वरन् राज्य के आन्तरिक जीवन में भी अस्तव्यस्तता आ जायेगी। मेरियट राज्य के एकत्व पर बहुत ज़ोर देते हैं। उनका कथन है कि 'यदि अरस्तू का यह विचार, कि राज्य का स्थान व्यक्ति से पहले है, ठीक था तो यह स्पष्ट है कि एक नागरिक चिकित्सक अथवा वकील, पंसारी अथवा लोहार से अधिक महत्वपूर्ण हैं। जुलाहा, खान-मज़दूर, नानबाई, अध्यापक में से प्रत्येक का संयुक्त परिवार (राज्य) के प्रति एक कर्तव्य होता है और प्रत्येक को राष्ट्र के हित के लिये अपना योग देना पड़ता है। परन्तु सर्वोपरि उचित तो यह होगा कि ये विभिन्न आर्थिक हित अपने वर्गगत हितों पर ज़ोर देने और अपने आर्थिक विरोधों को बढ़ाने के लिए अपने प्रतिनिधियों को व्यावसायिक आधार पर भेजने की अपेक्षा अपने संयुक्त क्षेत्र से सब मिलकर पार्लिमेंट (व्यवस्थापिका) में प्रतिनिधि भेजें'।[2]

अन्त में, लास्की महोदय[3] स्वयं व्यवसायात्मक सिद्धान्त की सत्यता पर आपत्ति करते हैं। उनका कथन है 'कि केवल व्यवसाय ही, उदाहरण स्वरूप चिकित्सा-व्यवसाय, क्यों व्यवस्थापिका सभा के लिये अधिक उपयुक्त है ? परराष्ट्र-नीति, खानों के राष्ट्रीय-करण अथवा स्वतंत्र व्यापार का कोई चिकित्सा-शास्त्रीय दृष्टिकोण नहीं होता है। यदि चिकित्सक किसी उम्मीदवार के पक्ष में उसके इन विषयों पर विचार देखकर मत देते हैं तो वस्तुतः वे चिकित्सक के रूप में मत नहीं देते। परन्तु यदि वे अपने कुछ सदस्यों को केवल व्यावसायिक हित के आधार पर मत देते हैं तो ये सदस्य उनकी ओर से केवल चिकित्सा-व्यवसाय से संबंधित प्रश्नों को छोड़ कर और विषयों पर बोलने के अधिकारी न होंगे। वस्तुतः व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत और सर्वयोग्य व्यवस्थापिका सभा के मध्य कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं है।' केवल इतना ही नहीं। वे दूसरे स्थान

१—मेरियट—दि मेकेनिज़्म ऑव दि मॉडर्न स्टेट, जिल्द १, पृ० ५०७
२—वही, पृ० ५०७
३—लास्की—दि पार्लिमेंटरी गवर्न्मेंट इन इंगलैंड, पृ० १२२—१२३

पर कहते हैं[1] कि अंग्रेजी कामन-सभा (प्रत्येक सार्वजनिक निर्वाचित प्रथम सभा), यद्यपि प्रादेशिक प्रतिनिधित्व पर आधारित है परन्तु 'वास्तव में यह व्यावसायिक सभा है। निस्सन्देह सदस्य डीवनपोर्ट और डोवर, लन्दन और मेनिंग्ट्री के लिये निर्वाचित होते हैं। परन्तु इससे यह सत्य नहीं छिप सकता कि वे वकील, व्यापारी, अवकाश प्राप्त सैनिक तथा नाविक, बैंकर, रेलवे डायरेक्टर, व्यापार-संघ के कार्यकर्ता तथा इसी प्रकार के और लोग होते हैं। उनमें से कोई भी क़ानून-निर्माण का अपने व्यवसाय के दृष्टि-कोण से देखे बिना शान्त नहीं रह सकता'। इस प्रकार लास्की महोदय व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को न केवल अनावश्यक और असंगत समझ कर वरन् दोष-पूर्ण और बेकार मानकर भी अस्वीकृत करते हैं। इस मौलिक आपत्ति के अतिरिक्त लास्की महोदय का यह भी कथन है कि इसमें केवल पूँजी और श्रम के प्रतिनिधित्व के समानुपात की ही असाध्य कठिनाई नहीं उपस्थित होगी वरन् स्त्रियों के संबंध में भी कठिनाई उठानी पड़ेगी। इस संबंध में वे तीक्ष्ण शब्दों में कहते हैं : 'यदि उनको उनकी संख्या के अनुपातानुसार प्रतिनिधित्व दिया जायेगा तब तो गृह-नारियों के व्यवसाय के बहुत से रूप हैं जब कि देश में ऐसा व्यवसाय बिल्कुल उत्तरदायित्व शून्य है। जब तक कि उनको उनकी संख्या के अनुपातानुसार प्रतिनिधित्व नहीं मिलता तब तक तो कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं दिखाई पड़ता जिसके आधार पर उनका प्रतिनिधित्व निश्चित किया जा सके'।

संघकृतराज्य की अनुशासनात्मक व्यावसायिकात्मकता

अन्त में हम यह भी कह सकते हैं कि यदि इटली के 'संघकृतराज्य' (Corporative State, यह लुप्त हो चुका है) को समाज के व्यावसायिक पुनर्निमाण का उदाहरण मान लिया जाये तो उद्योग-क्षेत्र में स्वशासन के स्वयं समर्थक भ्रम पड़ में पड़ जायेंगे। इटली बाईस उद्योग-संघों मे संगठित किया गया था। प्रत्येक को एक अपनी 'शासन-समिति' थी। ऐसी शासन-समितियाँ 'प्रधान संघ-समिति' में अपने प्रतिनिधि भेजती थीं। परन्तु सभी संघ राज्य के आधिपत्य में थे। यह आत्मनिर्णय के सिद्धान्त वाला औद्योगिक प्रजातंत्र नहीं था। यह फ़ासिस्तवाद था, जिसका अर्थ था 'ऊपर से अनुशासन: नीचे से आज्ञापालन'। यह व्यावसायिक अनुशासनात्मकता थी क्योंकि स्वामियों और श्रमिकों के अलग-अलग संगठन नहीं बन सकते थे।

---

१ —लास्की—दी पार्लिमेंट्री गवर्नमेंट इन इंगलैंड, पृ० १६८

समानुपातिक प्रतिनिधित्व पर टिप्पणी

स० प्र० की विशेषताओं पर सीबरी के विचार

सेमुअल सीबरी ने अपनी हेलेट कृत 'प्रोपार्शनल रेप्रेजेन्टेशन—दि की टु डेमोक्रेसी' की भूमिका में स० प्र० के निम्नलिखित गुण बतलाये हैं :—

'स० प्र० निर्वाचन-क्षेत्रों में दलों का प्रभुत्व स्थापित होने की सम्भावना समाप्त कर देता है। मतदाताओं की संख्या के अनुपात के आधार पर उनके राजनैतिक अधिकारों को स्वीकार करके दल के एकाधिकार को भंग कर देता है। यह प्रत्येक मतदाता को निर्वाचन-स्वतंत्रता प्रदान करता है; उसको दलों में से किसी एक को मत देने की परवशता से मुक्त करता है और इस प्रकार दो बुराइयों में से चुनने की आवश्यकता से छुटकारा दिलाता है। यह अल्पमत-समुदायों को प्रतिनिधित्व प्रदान करता है परन्तु बहुमत-समुदायों को और अधिक प्रतिनिधित्व देता है। यह राजनैतिक दलों को जीवित रहने का पूर्ण अवसर देता है। परन्तु यह बहुसंख्यक दल को दूसरे समुदायों के, उनकी संख्या के अनुपातनुसार, प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में बाधा नहीं डालने देता। यह राजनैतिक शक्ति के निकटतम समविभाजन को निश्चित करता है'।

स० प्र० के लाभों पर हेलेट के विचार

स्वयं हेलेट महोदय ने चौथे अध्याय में निम्नलिखित शीर्षकों में स० प्र० के लाभ दिखलाये हैं :—

(१) *मत शक्ति*—इसमें लगभग प्रत्येक मत की गणना होती है परन्तु बहुत्व-निर्वाचनों (Plurality Elections) में साधारणतः आधे या इससे भी अधिक मत व्यर्थ जाते हैं।

(२) *एकमत निर्वाचन क्षेत्र*—एकप्रतिनिधि-प्रणाली में 'एक सदस्य के निर्वाचकों में नगर के एक ही भाग में सोने के अतिरिक्त कोइ वस्तु सर्वगत नहीं होती'। एक ही सदस्य उस क्षेत्र में सभी हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। स० प्र० में मतदाता नीति के संबंध में एकमत होते हैं और प्रत्येक सदस्य एकमत होने वाले मतदाताओं के एक अंश का प्रविनिधित्व करता है।

(३) *अल्पमत प्रतिनिधित्व*——स० प्र० अल्पसंख्यकों अथवा विभिन्न प्रकार के अल्पमतों को प्रतिनिधित्व प्रदान करता है क्योंकि मतदाता अपने हितों के आधार पर अपने-अपने समुदाय बना लेते हैं।

(४) *बहुमत शासन*—स० प्र० से तो वास्तविक बहुमत-शासन अवश्यम्भावी रहता है परन्तु एक प्रतिनिधि प्रणाली में यह आवश्यक नहीं है कि मतदाताओं का बहुमत सदस्यों के बहुमत को निर्वाचित कर सके। यदि बहुमत में मतभेद भी हो जाये तो स०

प्र० में बहुमत के ही भाग अपने-अपने प्रतिनिधि अलग अलग निर्वाचित कर सकते हैं परन्तु ऐसा मतभेद एकप्रतिनिधि प्रणाली में घातक होगा।

(५) *मत देने में नवीन स्वतंत्रता*—स० प्र० व्यक्ति को एक नयी स्वतंत्रता देता है। वह जिन उम्मीदवारों को चाहे प्रस्तावित कर उनको मत दे सकता है।

६) *दल-शासन पर नियंत्रण*—स० प्र० में दल-शासन के दबाव से बचने का एक मार्ग बना रहता है। इसमें कोई राजनैतिक दल तब तक शासन नहीं कर सकता जब तक वह अपने उम्मीदवारों के लिये सहमत बहुमत का समर्थन न प्राप्त कर ले क्योंकि प्रत्येक मतदाता इसके विरुद्ध मत देने में स्वतंत्र रहता है।

(७) *दलों का स्वपरिवर्तन*—स० प्र० में एक राजनैतिक दल जनता की इच्छा के अनुकूल अपनी नीति में परिवर्तन ला सकता है। इस प्रकार वह लोकप्रिय और विश्वासनीय उम्मीदवारों के नाम प्रस्तावित करता है।

(८) *दल-संगठन पर अनुशासन*—स० प्र० में मतदाता अपने दल को अपने अधीन रखते हैं उसके अधीन स्वयं नहीं रहते।

(९) *क्षैत्रिक प्रभुत्व का अन्त*—स० प्र० समय-समय पर निर्वाचन क्षेत्र की सीमाओं को निश्चित करते रहने की आवश्यकता का अन्त कर देता है। इस प्रकार क्षैत्रिक प्रभुत्व स्थापित करने की सम्भावना कम हो जाती है।

(१०) *पुनर्विभाजन का हल*—स० प्र० में निर्वाचन-क्षेत्रों की सीमाओं के समय-समय पर पुनः निर्धारण का बहुत ही सरल और ठीक हल प्राप्त हो जाता है क्योंकि वर्तमान स्थानीय प्रदेश स्थायी रूप से अपने सदस्यों की नियत संख्या निर्वाचित कर सकते हैं।

(११) *अविच्छिन्नता*—स० प्र० में सदस्यों की अविच्छिन्नता बनी रहती है। वे साधारणतः पुनर्निर्वाचित हो जाते हैं। स० प्र० से राजनैतिक विजय को महत्व नहीं मिल पाता क्योंकि कम लोकप्रिय सदस्य ही आते-जाते हैं; दोंनो पक्ष के नेता तो साधारणतः पदस्थ ही बने रहते हैं।

(१२) *नेतृत्व का विकास*—स० प्र० में योग्य सदस्यों की इस अविच्छिन्नता से भविष्य के नेताओं को प्रसिद्धि प्राप्त करने का अवसर मिलता रहता है।

(१३) *उत्साह का विकास*—स० प्र० में मतदाता मत देने के लिये उत्साहित होते हैं क्योंकि वे जिस व्यक्ति को चाहते हैं उसे मत दे सकते हैं। एकप्रतिनिधि प्रणाली मे में वे या तो मत देने के लिये उपस्थित ही नहीं होते क्योंकि उनकी पसन्द के उम्मीदवार नहीं रहते या यदि मत भी देते हैं तो उन्हें कम बुराई वाले को निर्वाचित करना पड़ता है।

(१४) *धोखेबाज़ी का अभाव*—स० प्र० में मतों की नियंत्रित केन्द्रीय गणना और पुनरावलोकन के कारण अल्पमात्र भी धोखेबाजी नहीं हो सकती।

(१५) *प्रवेशिकाओं का लोप*—स० प्र० में प्रवेशिकाओं (Primaries) (निर्वाचन के लिये खड़े किये जाने के पूर्व किसी दल के उम्मीदवारों को चुने जाने का कार्य)

की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह एक महान राजनैतिक लाभ है। प्रवेशिकाओं की परेशानियों और व्यय से छुटकारा रहता है।

(१४) *सहयोग और सद्भावना*—स० प्र० से निर्वाचन में और उसके पश्चात् शिष्टता और सद्भावना को प्रोत्साहन मिलता रहता है। व्यर्थ में प्रतिद्वंद्वियों पर आक्रमण नहीं होते क्योंकि सदस्यों को केवल अपने ही लिये समर्थक ढूँढ़ना पड़ता है।

हेलेट द्वारा स० प्र० के विरुद्ध आपत्तियों का खंडन

हम्फ्रीज़ महोदय की भाँति हेलेट महाशय भी पाँचवें अध्याय में स० प्र० के विरुद्ध उपस्थित की गई आपत्तियों का उत्तर निम्न प्रकार देते हैं:—

(१) *क्या स० प्र० जातीय और धार्मिक समुदायों को प्रोत्साहन देता है?* यह कहा गया है कि राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक अल्पमतों को प्रतिनिधित्व देने से अलग अलग समूह बन जायेंगे, वे अपने स्वार्थ का ध्यान रक्खेंगे और सार्वजनिक हितों की चिन्ता नहीं करेंगे। यह सम्भव है कि मतदाता इस प्रकार अपने को संगठित कर लें परन्तु यह मान लेना कि वे सदैव अदूरदर्शिता से काम लेंगे ग़लत है।

(२) *क्या स० प्र० क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व से वंचित कर देता है?* यह कहा गया है कि स० प्र० में प्रतिनिधित्व क्षेत्रों के आधार पर नहीं होता वरन् यदि किसी क्षेत्र के मतदाताओं के समुदाय किसी विशेष सदस्य को चाहते हैं तो वह निर्वाचित हो जाता है। स० प्र० उसी प्रकार भूगोल पर व्यर्थ ज़ोर नहीं देता जिस प्रकार वह जाति या धर्म पर नहीं देता।

(३) *क्या स० प्र० चरमपंथियों और शौक़ीनों को प्रोत्साहित करता है?* यह कहा गया है कि शौक़ाक्रान्त दल प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु यदि मतदाताओं की एक पर्याप्त संख्या किसी विशेष उद्देश्य का समर्थन करती है तो उसे प्रतिनिधित्व क्यों न दिया जाये?

(४) *क्या स० प्र० अल्पमतों को मोल-तोल करने की प्रेरणा देती है?* कभी-कभी अल्पमत संतुलन क़ायम करता है और अपनी माँगों को पूरा करवाने के लिये मोल-तोल करता है। परन्तु यह तो कभी-कभी होने वाली घटना पर स्थायी दोष मढ़ना है।

(५) *क्या स० प्र० क़ानून-निर्माण के कार्य में बाधा पहुँचाता है?* यह भय प्रकट किया जाता है कि असवर्ण इकाइयों में मतभेद ही रहेगा मेल भावना नहीं जिसके परिणाम-स्वरूप वे अधिक कुछ न कर पायेंगे। परन्तु अनुभव इस कथन को असत्य सिद्ध करता है।

(६) *क्या स० प्र० एक दल-सरकार को विच्छिन्न कर देता है?* यह कहा जाता है कि स० प्र० में बहुत से दलों का संयोग रहता है। परन्तु वास्तव में यूरोप की बहुदल प्रणाली समानुपतिक प्रतिनिधित्व का परिणाम नहीं थी, स्वयं स० प्र० बहुदल प्रणाली का परिणाम था। आयरलैंड में स० प्र० में एक-दल-प्रणाली बहुत सफल रही है।

(७) *क्या स० प्र० बोधगम्य नहीं है ?* गणना कठिन हो सकती है परन्तु वह तो मतदाता का कार्य नहीं है। स० प्र० में मतदाता एक, दो, तीन को चिन्हों के रूप में अपनी पसन्द प्रकट करने के लिए समझ ही सकता है।

(८) *क्या स० प्र० में मत-गणना में अधिक समय लगता है ?* अनुभव के आधार पर यह ग़लत है।

(९) *क्या स० प्र० में चालबाज़ी होती है ?* अनुभव बतलाता है कि सत्य इसके बिलकुल विपरीत है।

(१०) *क्या स० प्र० में अधिक व्यय करना पड़ता है ?* यह भी ग़लत है। क्योंकि यह 'प्रवेशिकाओं' को लुप्तकरके व्यय को कम कर देता है।

(११) *क्या स० प्र० गुप्तनिर्वाचन को दीर्घकाय बना देता है ?* इसका भी कोई प्रमाण नहीं है।

(१२) *क्या स० प्र० प्रचार-कार्य कठिन कर देता है ।* यह भी कथन सत्य नहीं है क्योंकि प्रमुख व्यक्ति बिना प्रचार के निर्वाचित हो सकते हैं।

(१३) *क्या स० प्र० निर्वाचन के प्रति उत्साह कम कर देता है ?* यह भी प्रमाण के विरुद्ध है क्योंकि क्षेत्र-प्रणाली में मतदाता नहीं उपस्थित होते परन्तु स० प्र० में वे मत देते हैं क्यों कि वे अपनी रुचि का व्यक्ति निर्वाचित कर सकते हैं।

(१४) *क्या स० प्र० का अर्थ अल्पमत का शासन है ?* वास्तव में स० प्र० का उद्देश्य वास्तविक बहुमत शासन स्थापित करना है। क्षेत्रयोजना तो बेतुके बहुमत के शासन को जन्म देता है।

(१५) *क्या स० प्र० मतदाताओं के अधिकारों पर हस्तक्षेप करता है ?* यह भी ग़लत है क्योंकि प्रत्येक मतदाता का एक मत होता है और उसको अपनी पसन्द प्रकट करने का अधिकार रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि जितने उम्मीदवार हों उतने मत प्रत्येक मतदाता को दिये जायें।

(१६) *क्या स० प्र० निर्वाचन को भाग्य पर छोड़ देता है ?* इस कथन में भी सत्य नहीं है क्योंकि भाग्य का तत्व तो एक एकप्रतिनिधि-प्रणाली ही में अधिकतर पाया जाता है।

(विस्तृत अध्ययन के लिये विद्यार्थी को लेखक की पुस्तक को स्वयं अवश्य पढ़ना चाहिये। पूर्ण ज्ञान तभी प्राप्त होगा जब लेखक के दिये हुये दृष्टान्तों को पढ़ा जायेगा)

नवाँ अध्याय

प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण

व्यवस्थापिकाओं का पतन

हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि आधुनिक राज्य एक विशाल प्रादेशिक राज्य होता है जिसमें जनता प्रत्यक्ष रूप में शरीरतः भाग लेने में असमर्थ है। यही कारण है कि आधुनिक प्रजातंत्र प्रतिनिधि-प्रजातन्त्र है। क़ानून-निर्माण के उद्देश्य से जनता अपने प्रतिनिधि पार्लिमेंट, कांग्रेस अथवा नेशनल असेम्बली इत्यादि में भेजती है और इन संस्थाओं के सदस्य सम्पूर्ण देश को प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में विभक्त करके निर्वाचित किये जाते हैं और साधारणतः इनमें एक व्यक्ति को एक ही मत देने के अधिकार के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है। परन्तु वर्तमान समय में हम इन क़ानून-निर्माणक संस्थाओं के केवल पतन[1] और इनके विरुद्ध बढ़ते हुये असन्तोष को ही नहीं पाते हैं वरन् स्वयं निर्वाचन-प्रणाली के पुनर्निर्माण की मांग रखने वाले आन्दोलनों को भी देखते हैं।[2] विभिन्न प्रकार के उपाय निर्वाचन-प्रणाली में सुधार करने के लिये सुझाये

१—विशेष विवरण के लिये कृपया ब्राइस कृत 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द २, अध्याय LVIII पढ़िये।

लोवेल कृत 'पब्लिक ओपीनियन एन्ड पापुलर गवर्न्मेंट' अध्याय १०, पृ० १३०-१३८ भी देखिये जहाँ वे इस विश्वास के खोने के निम्नलिखित कारण बतलाते हैं :—

(क) सम्पूर्ण राष्ट्र की भलाई के प्रतिकूल दल-राजनीति की ओर प्रवृत्ति।

(ख) सम्पूर्ण राष्ट्र के सार्वजनिक हित के स्थान पर स्थानीय और व्यक्तिगत हितों का दबाव। प्रतिनिधि एक स्थान का प्रतिनिधि समझा जाता है जो वह वास्तव में नहीं होता। इसी भाँति व्यक्तिगत संघ इत्यादि सदस्यों पर अपना प्रभाव रखते हैं जो अपने मतों का 'व्यापार' करते हैं।

(ग) मत प्राप्त करने के लिये व्यवस्थापिका के सदस्यों को अपने पक्ष में करने का हर तरह से प्रयत्न करना। यह अत्यन्त नीच कार्य समझा जाता है।

(घ) व्यक्तिगत हितों का दबाव निर्वाचन के समय केवल सदस्यों पर ही नहीं वरन् मतदाताओं पर भी पड़ता है।

इस पतन के प्रतिकूल प्रतिनिधि-शासन की सफलता के लिये आवश्यक परिस्थितियों के लिये कृपया इस अध्याय के अन्त में 'प्रतिनिधि-शासन की सफलता के लिये आवश्यक परिस्थितियों पर एक टिप्पणी' देखिये।

२—निर्वाचन-प्रणाली निम्नलिखित कारणों से असन्तोषजनक सिद्ध हुई है :—

गये हैं जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। अब हम देखेंगे कि किस प्रकार और क्यों बहुत से प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में जनता द्वारा प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के सिद्धान्त को भी समर्थन प्राप्त हो रहा है।

आधुनिक व्यवस्थापिकाओं पर प्रतिबन्ध

आधुनिक राज्यों में पाँच प्रकार के प्रतिबन्धों और सन्तुलनों[1] की व्यवस्था जल्दी में तथा बिना समझे-बूझे क़ानून बनाने से रोकने के लिये की गई है।

सर्व प्रथम, क़ानून बनाने में पुनर्निरीक्षण तथा काफ़ी समय देने की व्यवस्था करने के लिये द्वितीय सभायें बनाई गई हैं।

दूसरे, क़ानून-निर्माण के कार्य को नियमित करने के लिये स्वयं व्यवस्थापिकाओं द्वारा नियम बनाये गये हैं, जिससे प्रत्येक अवस्था में बिल का आलोचनात्मक अनुशीलन हो जाता है।

तीसरे, कुछ विषय (अधिकतर वैधानिक संशोधन-संबंधी) व्यवस्थापिका के अधिकार-क्षेत्र से अलग कर लिये गये हैं और वे जनता की प्रत्यक्ष कार्यवाही के लिये सुरक्षित कर दिये गये हैं।

चौथे, कार्यकारिणी के प्रधानों को (साधारणतः जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं) व्यवस्थापिकाओं के द्वारा पास किये गये बिलों को अस्वीकृत करने का अधिकार दे दिया गया है।

अन्त में, चूँकि व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये बिलों के लिये जनता की अनुमति आवश्यक है इसलिये वे सार्वजनिक मत लेने के लिये रक्खे जाते हैं।

इस अध्याय में अधिकांश रूप में हमारा संबंध अन्तिम नियंत्रण से है।

(क) निर्वाचित प्रतिनिधि जनता के विचारों का प्रतिनिधित्व या तो नासमझी के कारण या बेईमानी के कारण ठीक नहीं करते।

(ख) प्रतिनिधियों का निर्वाचन मतदाताओं के राष्ट्रीय-नीति-संबंधी-विचारों को पूर्ण रूप से नहीं प्रकट कर पाता क्योंकि इसका आधार अधिकतर उम्मीदवारों की व्यक्तिगत विशेषतायें हो जाती हैं मतदाताओं के सिद्धान्त नहीं।

(ग) यह सम्भव है कि मतदाताओं की अपनी कोई राय न हो और वे दूसरों के प्रभाव में आकर मत दें। इसके लिये उनको धमकाया जा सकता है या रिश्वत दी जा सकती है।

(घ) चूँकि प्रत्येक मत का एक ही मूल्य होता है इसलिये बुद्धिमान और मूर्खों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। मतों की गणना होती है संतुलन नहीं। ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द १, पृष्ठ १७०-१७१

१—ब्राइस—माडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द २, अध्याय ६३

सार्वजनिक क़ानून-निर्माण के दो कारण

प्रारम्भ में ही यह याद रखना चाहिये कि केवल व्यवस्थापिकाओं पर से विश्वास उठ जाने के कारण ही जनता क़ानून-निर्माण के कार्य में भाग नहीं लेने लगी है। यह नकारात्मक कारण है। प्रत्यक्ष सार्वजनिक क़ानून-निर्माण का वास्तविक कारण 'सार्वजनिक सत्ता' के सिद्धान्त में भी निहित है। इस सत्ता का उपयोग यूनान में स्वतंत्र नागरिकों की सभा 'इक्लेशिया' (Ecclesia) करती थी; रोम में इसका उपयोग इसकी 'कॉमिटिया ट्रिबूटा' (Comitia Tributa) द्वारा होता था; मध्य काल में ट्यूटन लोग इसका प्रयोग अपनी जन-सभाओं (Folkmoots) द्वारा करते थे और स्विटज़रलैंड में 'लैंड्सजेमींड' (Landsgemeind) ने लोक-सभा के रूप में पुरातन काल से क़ानून निर्माण का कार्य किया है।

आधुनिक काल में रूसो का प्रभाव

आधुनिक काल में इस ऐतिहासिक क्रम के कारण लोगों का ध्यान प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण की ओर नहीं गया। इसका प्रचार रूसो ने किया था। उसने जेनेवा के नागरिक की हैसियत से नगर-राज्य को आदर्श माना था। उसके अनुसार केवल नागरिकों की सभा ही में वास्तविक 'सामूहिक विचार' (General Will) स्थान पा सकता है क्योंकि प्रत्येक नागरिक के अधिकार में सत्ता का एक 'अंश' रहता है। उसका कथन है कि 'प्राचीन प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में यहाँ तक कि एकतंत्रात्मक राज्यों में भी जनता के कोई प्रतिनिधि नहीं होते थे, यह शब्द ही अज्ञात था। इसलिए सत्ता न केवल हस्तान्तरित नहीं की जा सकती, वरन् इसका प्रतिनिधित्व भी नहीं किया जा सकता, यह वस्तुतः 'सामूहिक विचार' में निहित रहती है इसमें प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त नहीं लागू हो सकता······ अतः जनता के प्रतिनिधि इसके प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। वे केवल उसके प्रबन्धकर्ता होते हैं और वे कोई स्वतंत्र कार्य नहीं कर सकते। प्रत्येक क़ानून, जिस की स्वीकृति जनता स्वयं नहीं देती, बेकार है। वास्तव में वह क़ानून ही नहीं है। इंगलैंड की जनता अपने को स्वतंत्र समझती है परन्तु यह उसकी भारी भूल है। वह तो केवल पार्लिमेंट के सदस्यों के निर्वाचन के समय स्वतंत्र रहती है'।[1]

यातायात के साधनों का परिणाम

रूसो का छोटे-छोटे नगर-राज्यों का यह आदर्श, जहाँ जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेती है, आजकल में स्विटज़रलैंड में पाया जाता है। परन्तु जैसा कि लीकॉक का कथन है आजकाल में डाक और तार द्वारा शीघ्र सन्देह-वाहन के विकास के कारण नागरिकों का सम्पूर्ण समुदाय से सम्पर्क रखना सम्भव हो गया है। यह ठीक है कि एक विस्तृत राज्य के लोग मंत्रणात्मक कार्य के लिये किसी एक स्थान पर नहीं एकत्रित हो सकते, परन्तु उन सब के लिये एक ही बार

१—रूसो—सोशल कॉन्ट्रेक्ट, पृ० ८३ (एव्हरीमैन्स लाइब्रेरी)

और एक ही समय में किसी प्रस्तावित बिल पर मत देना सम्भव है[1]। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रतिनिधि-प्रजातंत्रों में भी, यदि लोग प्रत्यक्ष रूप से क़ानून-निर्माण के कार्य में व्यवस्थापिका में भाग नहीं ले सकते, तो कम से कम इस कार्य पर अपनी इच्छानुसार नियंत्रण रख ही सकते हैं।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के साधन

इस कार्य के लिये प्रयोग में लाये जानेवाले साधनों को साधारणतः 'प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के उपकरण' (Instruments of Direct Democracy) कहते हैं। वे 'नेतृत्व' (Initiative) 'सूचना' (Referendum,) और 'वापसी' (Recall, हैं। इनका वास्तविक निवास-स्थान तो स्विटज़रलैंड[2] है जहाँ प्रत्यक्ष प्रजातंत्र और प्रतिनिधि-शासन अब भी वर्तमान हैं और जिसे आधुनिक संसार में सम्पूर्ण सामग्री युक्त राजनीतिक प्रयोग-शाला कहा गया है[3]। परन्तु अमरीका[4] के विभिन्न राज्यों जैसे आधुनिक राज्यों में इनका उपयोग जितना व्यवस्थापिकाओं पर नियंत्रण रखने के लिये किया जाता है उतना प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के लिये नहीं। इसीलिये प्रो० स्ट्रांग ने उनको 'प्रत्यक्ष प्रजातंत्रात्मक नियंत्रण' (Direct Democratic Checks) कहना अधिक अच्छा समझा है। कामन्स महोदय इनकी विशेषता को 'प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माणः जन-रोक' (Direct Legislation : The Peoples Veto) शीर्षक द्वारा स्पष्ट करते हैं जिससे इन प्रजातंत्रात्मक साधनों का दोहरा रूप समझ में आ जाता है। यह और अधिक

१—लीकॉक—एलिमेण्ट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० १६७

२—ब्रूक्स ने इन उपायों से जनता द्वारा क़ानून-निर्माण में भाग लेने के लिये निम्न-लिखित शब्दों में ज़ोर दिया है :—

'स्विटज़रलैंड के लोग 'नेतृत्व' और 'सूचना' के द्वारा भी भाग लेते हैं। उन्होंने इसके लिये अक्सर मौकों पर इतने और प्रभावात्मक ढंग से प्रयत्न किया है कि वे लोग कभी-कभी 'तृतीय सभा' के नाम से पुकारे गये हैं।'

—गवर्न्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स ऑफ स्विटज़रलैंड, पृ० १३४।

३—देखिये ब्रूक्स कृत 'गवर्न्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स ऑफ़ स्टिज़रलैंड'। सम्पादक की भूमिका के पृष्ठ VII—VIII में लिखा है कि स्विटज़रलैंड शासन-विषयक साहसिक प्रयोग की प्रयोगशाला है।

४—ब्रूक्स अपनी पुस्तक 'गवर्न्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स ऑफ स्विटज़रलैंड' के ३४वें पृष्ठ में कहते हैं कि अमरीका में इनके उपयोग का आधार स्विस उदाहरण है और प्रो० रापर्ड तो इसको 'प्रजातंत्रात्मक छूत' कहते हैं।

ब्राइस के कथनानुसार अमरीका में प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के कारण संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

स्पष्ट हो जाता है जब वे कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण केवल क़ानून बनाने का साधन नहीं है, वह क़ानून-निर्माण के कार्य पर नियंत्रण है; यह एक रोक है'[1]।

(क) राज्य-व्यवस्थापिकाओं के ऊपर महान अविश्वास, कि वे यथार्थ में न सार्वजनिक विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करती हैं और न उसके अनुसार कार्य करती हैं क्योंकि वे उन बिलों को नहीं पास करतीं जिन्हें लोग चाहते हैं और उन बिलों को पास करती हैं जिन्हें लोग नहीं चाहते।

(ख) धन की शक्ति के प्रति क्रोध और आशंका, विशेषकर उन बड़ी-बड़ी संगठित कम्पनियों के प्रति जो, व्यवस्थापकों, अधिकारियों और दल-संगठनों पर अपना प्रभाव डालने के कारण लोगों को पीड़ित करने वाली और उनके बल पर अपने को धनवान बनाने वाली समझी जाती हैं।

(ग) शराब-विरोधी ऐसे कुछ बिलों को कार्यान्वित करने की इच्छा जिनको जनता व्यवस्थापकों की अपेक्षा सफलता से पास कर सकती है।

(घ) जनता के विवेक और न्याय-प्रियता पर विश्वास जिसके कारण उसके प्रत्यक्ष कार्य के द्वारा उसके प्रतिनिधियों की अपेक्षा राष्ट्र के अधिक हित होने की सम्भावना रहती है।

१—कामन्स—प्रोपोर्शनल रेप्रेज़ेंटेशन, पृ० २६१ और ३०८

लोवेल भी अपनी पुस्तक 'पब्लिक ओपीनियन एन्ड पापुलर गवर्न्मेंट' में 'सूचना' को परिणाम में नकारात्मक और 'नेतृत्व' को निर्माणात्मक मानते हैं। वे प्रथम को 'जन-रोक' का एक उपकरण कहते हैं (पृ० १६२)। इसी भाँति डाइसी इसको जन-रोक मानते हुये कहते हैं कि 'नाम अच्छा है; इससे प्रकट होता है कि 'सूचना' का मुख्य कार्य किसी भी महत्वपूर्ण क़ानून को पास होने से रोकना है जिसके पीछे निर्वाचकों की स्वीकृति नहीं है। अधिक अध्ययन के लिये 'ला ऑफ़ दि कान्स्टीट्यूशन, पृ० xcii देखिये।

मुनरो ने भी उनकी निर्माणात्मक और नकारात्मक अर्थ में व्याख्या की है। उसका कथन है कि 'नेतृत्व एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अनुसार मतदाताओं की एक नियत संख्या किसी क़ानून का मसविदा तैयार कर सकती है और यह माँग रख सकती है कि या तो व्यवस्थापिका में उसे स्वीकार कर लिया जाये या व्यापक या विशेष निर्वाचन द्वारा जनता की स्वीकृति के लिये सौंप दिया जाये। यदि उसे आवश्यक बहुमत स्वीकार कर लेता है तो यह क़ानून बन जाता है। सूचना एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अनुसार व्यवस्थापिका के द्वारा पास किये हुए किसी भी क़ानून को लागू होने से रोका जा सकता है जब तक कि इसको जनता को सौंप कर निर्वाचन-प्रणाली के आधार पर उसका मत नहीं ले लिया जाता। इस प्रकार वे दोनों साधन एक दूसरे के पूरक हैं; पहले का उद्देश्य निर्माणात्मक है, अर्थात् उस बिल को पास कराना है जिसकी व्यवस्थापिका ने उपेक्षा कर दी है या जिसको पास करने से इन्कार कर दिया है। दूसरे का उद्देश्य नकारात्मक है अर्थात् उस बिल के लिये जन-रोक प्रस्तुत करना है जिसको व्यवस्थापिका तो चाहती है परन्तु जनता नहीं चाहती। वैसे तो नेतृत्व और सूचना दोनों सहगामी हैं परन्तु उनको एक में मिला देना आवश्यक नहीं है क्योंकि प्रत्येक पृथक रूप से उपयोग में आ सकता है—गवर्न्मेंट्स ऑफ़ यूरोप, पृ० ४६-५०

जनादेश

इन साधनों के अतिरिक्त एक और साधन है जिसको 'जनादेश' (Plebiscite)[1] कहते हैं। इसका उपयोग सन् १९१४-१८ के विश्वयुद्ध के बाद से खूब हुआ है। जनादेश शब्द में जन का अर्थ है जनता और आदेश का अर्थ है निर्णय'। इस प्रकार इसका तात्पर्य हुआ जनता का निर्णय अर्थात् सम्पूर्ण जनता या राष्ट्र का मत। यह आदेश साधारणत: सार्वजनिक बालिग़ मताधिकार के आधार पर प्राप्त किया जाता है। लीकॉक के शब्दों में 'जनादेश' शब्द का प्रयोग किसी प्रश्न पर किसी भी प्रकार के सार्वजनिक मत के लिये किया जाता है। परन्तु यह सुविधाजनक होगा कि इसका प्रयोग राय प्रकट करने वाले मतों के लिये, जिनमें कोई क़ानूनी अड़चनें न पड़ें सीमित कर दिया जाये'।[2] इस सीमित प्रयोग का उपयोग प्रो० स्ट्रांग ने किया है। उनका कथन है कि 'जनादेश एक साधन है जिसके द्वारा राजनीतिक महत्व वाली समस्या पर, विशेषकर क़रीब-क़रीब स्थायी राजनीतिक अवस्था लाने के लिये, प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत प्राप्त किया जाता है।' इस प्रकार जनादेश, जैसा कि इसके व्यावहारिक प्रयोग से प्रकट होता है, क़ानून निर्माण-प्रणाली से संबंधित नहीं है। इसका संबंध केवल राजनीतिक महत्व की समस्या से है।[3] संक्षेप में यह राज्य के क़ानूनी यंत्र का भाग नहीं है; इसका संबंध नीति से है केवल नीति से।

ब्रूक्स भी अपनी पुस्तक 'गवर्न्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स ऑफ़ स्विटज़रलैंड, के १३५ वें पृष्ठ में कहते हैं कि 'सूचना एक ऐसा उपाय है जिसके अनुसार व्यवस्थापिका द्वारा पास किये क़ानून पर निर्वाचक समुदाय रोक लगा सकता है। नेतृत्व वास्तव में एक ऐसा उपाय है जिसके अनुसार निर्वाचक-समुदाय व्यवस्थापिका की इच्छा के विरुद्ध क़ानून पास कर सकता है। सूचना की तुलना एक ढाल से की गई है जिसके द्वारा जनता अवांछनीय क़ानून को पास होने से रोकती है; नेतृत्व एक तलवार के समान है जिसके द्वारा वह अपने विचारों को क़ानून में परिणित करने के लिये रास्ता बनाती है। पहले का परिणाम मुँह में एक टुकड़े के समान और दूसरे का व्यवस्थापिका रूपी घोड़े की बग़लों में एड़ के समान है'

१—Plebiscite शब्द की उत्पत्ति फ़्रान्सीसी है। यह लैटिन भाषा के शब्द Plebiscitum—Plebis जनता और Scitum आदेश—से निकला है।

२—लीकॉक—एलिमेंट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० १६८

३—मई सन् १९४५ में मित्र राष्ट्रों के सम्मुख जर्मनी के आत्मसमर्पण के पश्चात् इंगलैंड में यह आवश्यक समझा गया कि दस वर्ष पुरानी पार्लिमेंट को भंग करके नया निर्वाचन हो और देश में तथाकथित संयुक्त अथवा राष्ट्रीय सरकार के स्थान में फिर से दो दल वाली सरकार की स्थापना की जाये। इस पर चर्चिल ने मज़दूर और उदार दलों के समाने यह प्रस्ताव रक्खा कि राष्ट्रीय सरकार को जापान की पराजय तक कायम रक्खा जाये और इस संबंध मे जनता की 'सूचना' (Referendum) ले ली जाये। परन्तु मज़दूर दल ने उत्तर दिया कि 'सूचना' विदेशी साधन है इसका 'हिटलर के नाम से अपवित्र संबंध' है। यहाँ 'सूचना' का प्रयोग जनता की

आधुनिक काल में इसका उपयोग

आधुनिक काल में इसका सर्वप्रथम उपयोग नेपोलियन प्रथम और नेपोलियन तृतीय ने किया और इससे वे क्रमशः १८०४ ई० और १८५१ ई० में अपने को प्रत्यक्ष सार्वजनिक मत[1] द्वारा फ्रान्स के सम्राट चुनवाने में सफल हुये थे। सन् १९१४-१८ के युद्ध के पश्चात् इसका उपयोग अधिकतर यूरोप के पुनर्निमाण के संबंध में किया गया था।

इस प्रकार सर्वप्रथम, इसका प्रयोग यूपेन मालमेडी (Eupen Malmedy) प्रदेश में किया गया था परन्तु हैम्पडन जैक्सन (Hampden Jackson) के अनुसार यह 'जनादेश'[2] सिद्ध हुआ क्योंकि गुप्त तथा स्वतंत्र मत के स्थान में निवासियों पर हर प्रकार का दबाव डाला गया था। इसके पश्चात् विवादात्मक प्रदेश बेल्जियम को दे दिया गया था।

नीति संबंधी राय प्राप्त करने के लिये 'जनादेश' के अर्थ में किया गया था, वैधानिक शासन-यंत्र के अंग के रूप में नहीं जैसा कि अगले पृष्ठों में पायेंगे।

२३ मई, सन् १९४५ के 'डॉन' समाचारपत्र ने इस प्रस्ताव की आलोचना की थी कि 'सूचना किसी प्रश्न पर जनता के विचारों के जानने की उदासीन विधि है। मतदाता के उत्तर के लिये एक प्रश्न रक्खा जाता है जिसके लिये 'हाँ' या 'नहीं' लिखना पड़ता है। यह कार्य जनता के सामने रक्खे हुये प्रश्न के संबंध में जल्दबाज़ निर्वाचन के समान हैं। यदि उत्तर विरुद्ध होता है तो भी पार्लिमेंट के सदस्यों का परिवर्तन नहीं होता। परन्तु व्यापक निर्वाचन बेकार सदस्यों को निकाल फेंकता है और राजनीतिक क्षेत्र में नये रक्त का प्रवेश करता है।'

इसी प्रकार २६ मई, सन् १९४५ के 'लीडर' समाचारपत्र ने लिखा था कि 'सूचना का उपयोग कुछ वैधानिक राज्यों में कुछ विशेष क़ानूनों और साधारण नीति के बारे में निर्वाचकों की राय जानने के लिये किया गया है। परन्तु अंग्रेज़ी विधान में इसका कुछ उल्लेख नहीं है। प्राचीन 'वीमर विधान' (Weimar Constitution) के अनुसार निर्वाचक को अपना समर्थन किसी विशेष उम्मीदवार के पक्ष में नहीं वरन् एक सम्पूर्ण ज़िला-तालिका या टिकिट के पक्ष में प्रकट करना पड़ता था। मत देने की इसी प्रणाली द्वारा आरम्भ में हिटलर को जर्मनी में प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता मिली थी।'

१—वर्तमान काल में भी फ्रान्स के चतुर्थ प्रजातंत्र राज्य के नये विधान की स्थापना के संबंध में 'सूचना' का उपयोग करने का प्रयत्न किया गया था। जनरल डि गॉल (General de Gaulle) के वैधानिक सुधार के प्रस्तावों का आधार यही साधन था। परन्तु जुलाई सन् १९४५ में 'परामर्शात्मक सभा कमीशन' (Consultative Assembly Commission) ने 'सूचना-योजना' को अस्वीकृत कर दिया था, केवल तत्संबोधित तत्कालिक अवैधानिक सरकार के विधान के डर से ही नहीं वरन् इस कारण से भी कि यदि 'सूचना' का समर्थन किया जायेगा तो व्यक्तिगत-प्रभुत्व स्थापित करने के लिये मार्ग खुल जाने का खतरा रहेगा।

२—हैम्पडन जैक्सन—दि पोस्ट वार वर्ल्ड, १९१८-३४, पृ० ४५

दूसरे, मार्च सन् १९२१ में उत्तरी साइलेशिया के संबंध में जनादेश प्राप्त किया गया था। फलानुसार ४० प्रतिशत मतदाता पोलैंड में और ६० प्रतिशत जर्मनी में सम्मिलित रहना चाहते थे। परन्तु विभाजन ऐसा किया गया कि एक तिहाई पोलैंड को मिला और इस प्रकार जनादेश के सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य किया गया। परन्तु दूसरे स्थानों में इसका ध्यान रक्खा गया। इस प्रकार सार प्रदेश, जो राष्ट्र-संघ के अधिकार में था, सन् १९३५ में जर्मनी को दे दिया गया था। क्योंकि जनादेश जर्मनी के पक्ष में था। इसी भाँति अलेन्स्टीन (Allenstein) और सेल्सविग (Schleswig) इत्यादि के संबंध में जनादेश के निर्णय का पालन ईमानदारी से किया गया था।

परन्तु अभी कुछ ही वर्ष पहले नैपोलियन-ढंग से फिर जनादेश का उपयोग किया गया था अर्थात् उस निर्णय के लिये नाममात्र की जनता की सम्मति प्राप्त की गई थी जो पहले ही कार्यान्वित किया जा चुका था। इस ढंग से हिटलर ने राष्ट्रीय जनादेश द्वारा जर्मनी पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। इसी प्रकार कमाल अतातुर्क ने राजनीतिक उद्देश्यों के लिये राष्ट्रीय जनादेश का उपयोग किया था। भारतवर्ष में भी अब जनादेश के प्रयोग की चर्चा होने लगी है। पाकिस्तान के प्रश्न पर मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी समिति ने १० अगस्त, सन् १९४२ में बम्बई में अपना प्रस्ताव पास करके अंग्रेज़ी सरकार से प्रार्थना की थी कि वह शीघ्र ही मुसलमानों के पूर्ण आत्म-निर्णय के अधिकार की स्वीकृति की घोषणा कर दे और मुसलमानों के जनादेश के निर्णय के अनुसार कार्य करने के लिये निश्चय करके अखिल भारतवर्षीय मुस्लिम लीग के मार्च सन् १९४० में पास किये गये लाहौर-प्रस्ताव के मूल सिद्धान्तों के अनुसार पाकिस्तान-योजना को कार्यान्वित करे।

इस प्रकार संक्षेप में 'जनादेश' किसी राजनीतिक महत्व के प्रश्न पर जनता के विचारों को जानने का प्रजातंत्रात्मक साधन है। यदि इसका उपयोग अप्रजातंत्रात्मक ढंग से या न्याय विरुद्ध किया जाता है जैसा कि नेपोलियन ने तथा 'महान राष्ट्रों' (Great Powers) ने साइलेशिया के संबंध में किया था तो इसमें स्वयं साधन का कोई दोष नहीं। किसी भी साधन का दुरुपयोग स्वार्थी व्यक्ति कर सकते हैं। इसलिये जनता के विचारों को प्रकट करने वाले उपकरण के रूप में इसका मूल्य कम नहीं आँका जा सकता। यह निश्चय रूप से आधुनिक विशाल प्रादेशिक राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का स्थान लिये हुये है।

इस प्रकार जनादेश के अर्थ और प्रकृति का अनुशीलन करने के पश्चात् अब सूचना, नेतृत्व और वापसी पर विचार कर सकते हैं।

सूचना

सूचना (Referendum)[1] शब्द सूचित करने से बना है। इस भाँति यह एक प्रणाली है जिसके अनुसार व्यवस्थापिकाओं द्वारा पास किये गये बिलों से

१—अंग्रेज़ी शब्द Referendum (सूचना) 'refer' (सूचित करना) शब्द से बना है।

जनता को सूचित कर दिया जाता है[१]। इसके दो रूप[२] हैं: पहला वैकल्पिक और दूसरा अनिवार्य।

वैकल्पिक सूचना का अर्थ है कि यदि मतदाताओं की एक संख्या कुछ कानूनों पर जनता के विचार-प्रकाशन की प्रार्थना करती है तो वे क़ानून अन्तिम निर्णय के लिये जनता के सामने अवश्य रक्खे जाने चाहिये।

अनिवार्य सूचना से तात्पर्य है कि सभी क़ानून हों साधारण चाहे वैधानिक, प्रत्येक दशा में जनता के अन्तिम निर्णय के लिये उसके सामने रक्खे जाने चाहिये।

सूचना का निवासस्थान

सूचना का वास्तविक निवासस्थान स्विटजरलैंड ही है। विल्सन[३] महोदय का कहना है कि इसका उपयोग १६वीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था जब कि ग्राबन्डन (Graubunden) और वेलेस (Valais) कैन्टनों के कम्यूनों को अपने, प्रतिनिधि 'कैन्टन-सभा' (Cantonal Assembly) में भेजना पड़ता था और प्रतिनिधियों को सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपने-अपने क्षेत्रों का परामर्श लेना पड़ता था। यह प्रारम्भिक सूचना थी जिसकेअनुसार प्रतिनिधि बिना अपने निर्वाचकों के आदेश के कैन्टन-सभाओं में कुछ नहीं कर सकते थे। परन्तु इस समय इसके प्रकृति में परिवर्तन हो गया है और अब यह जनता द्वारा प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण का साधन है।

२—लोवेल महोदय 'सूचना' के प्रयोग के दो कारण बतलाते हैं :—

(क) व्यवस्थापिकाओं के ऊपर अविश्वास। क्योंकि प्रतिनिधि राष्ट्र के हित के कार्य ईमानदारी से करने में असफल रहते हैं। उन्होंने या तो स्थानीय हितों की चिन्ता की है या अपने मतों का व्यापार किया है।

(ख) प्रश्नों को पृथक करने की इच्छा। इसका तात्पर्य यह है कि 'सूचना' कुछ विशेष प्रश्नों पर सार्वजनिक राय प्रकट करने का साधन हैं क्योंकि वे व्यापक निर्वाचन में अस्पष्ट हो जाते हैं। निर्वाचन का तो यह अर्थ है कि मतदाता एक उम्मीदवार या दल का समर्थन दूसरे उम्मीदवार या दल के विरुद्ध करते हैं परन्तु उनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे कार्य-क्रम की पूरी योजना से सहमत हों। परन्तु सूचना प्रश्नों को पृथक करके उनको प्रत्येक के संबंध में स्पष्ट निर्णय देने का अवसर देता है।

—लोवेल कृत 'पब्लिक ओपीनियन एन्ड पापुलर गवर्न्मेंट' पृ० १५५-१५८

३—कामन्स ने अपनी पुस्तक 'प्रोपोर्शनल रेप्रेज़ेन्टेशन' एपेन्डिक्स ३, पृ० २६१ में इनक निम्नलिखित परिभाषा दी है :—

(क) वैकल्पिक सूचना—मतदाताओं के एक अंश, मान लो ५ प्रतिशत, का यह अधिकारी कि उसके प्रार्थना करने पर व्यवस्थापिका, कांग्रेस अथवा म्युनिसिपल सभा द्वारा पास किये गये क़ानून या आर्डिनेंस को सार्वजनिक मत के लिये रक्खा जायेगा।

(ख) अनिवार्य सूचना—यह वैधानिक व्यवस्था कि सभी क़ानून और आर्डिनेंस (संकटकालीन बिलों और तत्कालीन बजट को छोड़कर) सार्वजनिक मत के लिये रक्खे जायेंगे।

४—विल्सन—दि स्टेट, पृ० ३६६

स्विटज़रलैंड के कम्यून

यह याद रखना चाहिये कि प्रत्यक्ष-प्रजातंत्र की सभी प्राचीन संस्थायें अब भी स्विटज़रलैंड में कायम हैं। शृंखला की आरम्भिक कड़ी कम्यून है और इसने सदैव जनता को अपने स्थानीय मामलों में दिलचस्पी लेने और उनका प्रबन्ध करने में अभ्यस्त किया है। यह अब भी राष्ट्र की राजनीतिक इकाई और स्थानीय राजनीतिक जीवन को प्रकाश में लाने का साधन है। यह अपने स्वतंत्र नागरिकों (Freemen) की आरम्भिक सभा द्वारा शिक्षा, पुलीस, दरिद्र-रक्षा, सड़कों, सफ़ाई और जल का प्रबन्ध करती है। इस प्रकार यह केवल स्थानीय स्वायत्त शासन का ही अंग नहीं है वरन् केन्टन-शासन का अंग, निर्वाचन-क्षेत्र और 'सूचना' संबंधी मतदाता-क्षेत्र भी है। इसीलिये यह स्विस शासन-संगठन का प्राण और प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं के सफलतापूर्वक चलाने का शिक्षण-क्षेत्र कहा गया है।

स्विटज़रलैंड के कैन्टन

महत्व के अनुसार कम्यून के पश्चात् कैन्टन आता है छः कैन्टनों का शासन प्रबन्ध अब भी जन-सभा प्रणाली (Folkmoot or Landsgemeind esystem) के द्वारा होता है और शेष उन्नीस कैन्टनों ने अपनी सभाओं का निर्वाचन कर लिया है। जन-सभा प्रणाली के पीछे यह सिद्धान्त है कि वास्तविक राज-सत्ता जनता के हाथ में है और वही सभी क़ानूनों का उद्गम और निर्माणक है। जन-सभा सभी क़ानूनों को पास करती है, सभी प्रकार के कर लगाती है, सभी महत्वपूर्ण पदाधिकारियों को निर्वाचित करती है और विधान-संशोधन भी करती है। 'प्रतिनिधि-सभायें' (ये उन्नीस कैन्टनों में जहाँ ये निर्वाचित होती हैं 'बड़ी सभायें'—Great Councils—या 'कैन्टन-सभायें—Cantonal Councils—कही जाती हैं। क़ानून-निर्माण का कार्य करती हैं और कैन्टन-कार्यकारिणी के कार्यों पर नियंत्रण रखती हैं।

कैन्टनों में 'सूचना'

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये प्रतिनिधि सभायें कैन्टनों में सर्वे-सर्वा हैं। वास्तव में प्रत्येक कैन्टन में (फ्रीबर्ग—Freiburg—को छोड़कर) अन्तिम निर्णय के लिये प्रत्येक महत्वपूर्ण कानून से सूचित होने का स्पष्ट क़ानूनी अधिकार जनता को है। 'जन-सभा' वाले कैन्टनों में जनता को सूचित करने का कार्य तो सदैव से होता चला जा रहा है। दूसरों में जहाँ प्रतिनिधि-सभायें हैं 'सूचना' के दो रूप[1] जिनका उल्लेख पहले हो चुका है, वैकल्पिक और अनिवार्य हैं। वैधानिक संशोधन या परिवर्तन के प्रश्न पर (विधान के आंशिक या पूर्ण परिवर्तन में) सभी कैन्टनों में 'सूचना' अनिवार्य है परन्तु

१—मेरियट महोदय का कहना है कि कैन्टनों में 'सूचना' का तीसरा रूप भी है। यह 'आर्थिक सूचना' (Financial Referendum) कहलाता है। परन्तु यह तीसरा रूप संघ में नहीं ग्रहण किया गया है—दि मेकेनिज़्म ऑफ़ दि माडर्न स्टेट' जिल्द १, पृ० ६७-६८

ग्यारह कैन्टनों ने तो साधारण क़ानून के संबंध में भी अनिवार्य 'सूचना' को लागू कर दिया है।

संघ में 'सूचना'

कैन्टनों के अतिरिक्त जनता राष्ट्रीय अर्थात् संघीय प्रश्नों पर भी 'सूचना' का प्रयोग करती है। यहाँ भी इसका उपयोग साधारण क़ानून और वैधानिक परिवर्तन दोनों के संबंध में किया जाता है। पहली अवस्था में संघ-क़ानून जनता की स्वीकृति या अस्वीकृति के लिये रक्खे जाते हैं यदि ३०,००० मतदाता या आठ कैन्टन सूचना की माँग करते हैं। दूसरी अवस्था अर्थात् वैधानिक परिवर्तन के संबंध में निम्नलिखित विधियों का अनुसरण किया जाता है:—

(क) यदि दोनों सभायें विधान-परिवर्तन के लिये सहमत हो जाती हैं तो साधारण विधि से कार्य सम्पादित किया जाता है। परन्तु 'अनिवार्य सूचना' के लिये इसको रक्खा जाना आवश्यक है।

(ख) यदि एक सभा परिवर्तन चाहती है और दूसरी नहीं सहमत होती, या ५०,००० मतदाता विधान-परिवर्तन की माँग रखते हैं तो परिवर्तन का प्रश्न जनता के मत के लिये रक्खा जाता है, यदि उसका बहुमत परिवर्तन के पक्ष में होता है तो व्यवस्थापिका की नई सभायें निर्वाचित होंगी और वे परिवर्तन का कार्य करेंगी।

अमरीका

परन्तु स्विटज़रलैंड ही एक ऐसा देश नहीं है जहाँ 'सूचना' का उपयोग होता है। अमरीका के बहुत से राज्यों में भी इसका प्रयोग किया जाता है परन्तु संघीय प्रश्नों पर इसका प्रयोग नहीं होता है। विल्सन महोदय का दावा है कि वैधानिक परिवर्तन के संबंध में इसका प्रयोग स्विटज़रलैंड की अपेक्षा अमरीका में पुराना है। परन्तु साधारण क़ानून-निर्माण में इसका प्रयोग दोनों देशों में नया है[1]। अमरीका में 'अनिवार्य सूचना' का प्रयोग वैधानिक परिवर्तनों, ऋण लेने और विद्युत्-उत्पादन-केन्द्र तथा जलागार इत्यादि ऐसे सार्वजनिक उपयोगिता के निर्माण-कार्य में किया गया है और वैकल्पिक रूप का प्रयोग अधिकतर नेबरास्का (Nebraska), ओरेगॉन (Oregon), मिसौरी (Missouri), दक्षिणी डकोटा (South Dakota), केलिफ़ोर्निया (California), कालोरेडो (Colorado) इत्यादि ऐसे कुल २१ पश्चिमी राज्यों ने किया है।

नेतृत्व का अर्थ

'सूचना' के पश्चात् हम 'नेतृत्व' (Imitiative) पर विचार करेंगे। साधारणतः नेतृत्व का अर्थ यह है कि जनता को क़ानून-निर्माण का नेतृत्व लेने का अधिकार है। स्विटज़रलैंड में नागरिकों की एक निश्चित संख्या एक प्रार्थना-पत्र द्वारा किसी क़ानून पर, जिसको वे पास करवाना चाहते हैं, विचार करने तथा उसको पास करने के लिये

१—विल्सन—दि स्टेट, पृ० ३६६

व्यवस्थापिका को वाध्य कर सकते हैं। परन्तु यह केवल प्रार्थना ही नहीं है कि व्यवस्थापिका इसे चाहे माने या न माने। व्यवस्थापक शक्ति को यह कार्य अवश्य करना पड़ेगा। इसलिये 'नेतृत्व' 'प्रार्थना' से कई प्रकार से भिन्न है :—

(क) यह अनिवार्य है अतः इसको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

(ख) यह सर्वशक्तिमान जनता से उसके प्रतिनिधियों में आता है अर्थात् उच्च कोटि से निम्नकोटि में, निम्नकोटि से उच्चकोटि में नहीं।

(ग) इसका संबंध किसी न किसी बिल से रहता है परन्तु प्रार्थना-पत्र किसी विषय पर हो सकता है।

(घ) व्यवस्थापिका 'नेतृत्व' पर मनमानी विचार नहीं कर सकती है। इसको विहित प्रणाली का अनुसरण करना पड़ता है। परन्तु प्रार्थना-पत्र पर तो किसी तरह भी विचार कर सकती है।

स्विटजरलैंड में नेतृत्व

स्विटजरलैंड में इसका प्रयोग कैन्टनों और संघ-शासन दोनों में होता है और इसका उपयोग केवल वैधानिक सुधारों या संशोधनों तक ही सीमित नहीं है वरन् साधारण क़ानून के परिवर्तन और संशोधन में भी होता है। केवल फ्रीबर्ग ही में 'नेतृत्व' का उपयोग साधारण क़ानूनों के संबंध में नहीं किया जा सकता। संघ शासन में ५०,००० मतदाताओं को केवल वैधानिक संशोधन के लिये प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ता है परन्तु कैन्टनों में संख्या भिन्न-भिन्न है।

वैधानिक संशोधन

इन वैधानिक संशोधनों के निम्नलिखित दो रूप हो सकते हैं :—

(१) जब ये व्यवस्थापिका के सामने 'साधारण' रूप में उपस्थित किये जाते हैं, और यदि ये उसके सिद्धान्तानुसार होते हैं तो यह उनके मसविदे तैयार करके बिलों का रूप देती है और जनता के मत के लिये पेश करती है। परन्तु यदि यह उनसे असहमत होती है तो यह उन्हें बिल का रूप नहीं देती। परन्तु यदि उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है तो साधारण-प्रस्तावों को एक निश्चित रूप देना और जनता के सामने अन्तिम निर्णय के लिये उपस्थित करना आवश्यक हो जाता है। साधारण रूप में प्रस्ताव की यह उपस्थिति 'साधारण नेतृत्व' (General Initiative) कहलाता है।

(२) परन्तु यदि प्रस्ताव एक निश्चित और मसविदा-रूप में रक्खे जाते हैं तो व्यवस्थापिका द्वारा उनमें बिना कोई परिवर्तन किये जनता के अन्तिम निर्णय के लिये उपस्थित करना पड़ता है। यदि पास हो जाते हैं तो देश के बुनियादी क़ानून के अंग हो जाते हैं। परन्तु यदि व्यवस्थापिका इन बिलों के सिद्धान्तों से असहमत होती है तो इसके सामने केवल एक ही मार्ग रह जाता है। वह मतदाताओं के बिलों के साथ-साथ अपने बिल भी जनता के मत के लिये उपस्थित कर सकती है, वह जिसे चाहे स्वीकार करे और जिसे चाहे अस्वीकार करे। इन वैधानिक प्रस्तावों के इस रूप को 'निर्धारित नेतृत्व' (Formulateal Initiative) कहते हैं।

साधारण क़ानून-निर्माण

साधारण क़ानून पास करने में कैन्टनों में जिस प्रणाली का अनुसरण किया जाता है वह बहुत सादी है। मतदाताओं की एक नियत संख्या प्रार्थना-पत्र द्वारा निश्चित क़ानूनों का प्रस्ताव रखती है और व्यवस्थापिका जनता के सामने उसका मत जानने के लिये उपस्थित करती है। यदि जनता स्वीकार कर लेती है तो वे देश के क़ानून बन जाते हैं।

इस प्रकार स्विटजरलैंड में जनता क़ानून-निर्माण में व्यवस्थापिका के कार्य को पूर्ण करती है और जो कार्य उसके प्रतिनिधि करने में असफल रहते हैं उसे करती है। इसीलिये कहा गया है कि 'नेतृत्व प्रणाली' प्रतिनिधियों की भूलों के लिये उत्तम औषध है और 'सूचना' उनको अधिक आगे जाने से रोकती है।[1]

अमरीका

स्विटजरलैंड के अतिरिक्त अमरीका के बहुत से राज्यों में भी साधारण और वैधानिक दोनों क़ानूनों के संबंध में 'नेतृत्व' का प्रयोग होता है परन्तु वहाँ दल-राजनीति के कारण बहुत बार इस प्रणाली का दुरुपयोग हुआ है।[2]

वापसी

'सूचना' और 'नेतृत्व' के अर्थ और विशेषता को समझ लेने के पश्चात् 'वापसी' (Recall) के अर्थ पर, जनता के मत को प्रकट करने वाले साधन के रूप में, विचार करना शेष रह जाता है। 'वापसी' का यह अर्थ है कि सर्वप्रधान शक्ति के रूप में जनता अपना कर्तव्य न पालन करने वाले अथवा अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने वाले किसी भी राज्याधिकारी[3] को निकाल सकती है। लीकॉक के शब्दों में 'इस प्रणाली का यह अर्थ है कि वे व्यक्ति, जो राजपदों में नियुक्त हैं, तभी तक अपने पदों पर काम कर सकते हैं जब तक जनता की स्वीकृति उन्हें मिली रहती है; पर जिसी समय मत-दाताओं को बहुमत चाहता है पदाधिकारी अपने पद से अलग कर दिया जाता है।'[4]

१—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द १, पृ० ४४६

२—विशेष विवरण क लिये लोवेल कृत 'पब्लिक ओपीनियन एन्ड पापुलर गवर्न्मेंट', अध्याय १४, देखिये।

३—लोवेल का कथन है कि राज्याधिकारियों और न्यायाधीशों की वापसी के अतिरिक्त हाल ही में इसके द्वारा प्रतिनिधि पर भी उसके क्षेत्र द्वारा नियंत्रण रखने का प्रस्ताव रक्खा गया है। परन्तु इससे यह स्पष्ट होता है कि वह सारे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व नहीं करता केवल निर्वाचन-क्षेत्र ही का करता है। इसका यह भी अर्थ होता है कि वह केवल डेलीगेट है प्रतिनिधि नहीं। लोवेल—पब्लिक ओपीनियन एन्ड पापुलर गवर्मेन्ट, पृ० १४६-१४८

४—लीकॉक—एलिमेंट्स आफ़ पॉलिटिक्स, पृ० १७३

पदाधिकारियों को वापस करने की प्रणाली का उपयोग अमरीका[1] के पश्चिमी राज्यों जैसे ओरेगॉन (Oregon), अरीजोना (Arizona), मोन्टेना (Montana), ओल्केहोमा (Olkahoma), लुइसीनिया (Louisiania), कन्सास (Kansas), वाशिंगटन (Washington), केलिफोर्निया (California) अर्कान्सास (Arkansas), कालोरेडो (Colorado), उत्तरी डकोटा (North Dakota) और निवाडा (Nevada) में विशेष रूप से होता है। ओरेगॉन के विधानानुसार प्रत्येक सार्वजनिक राज्याधिकारी राज्य के अथवा अपने निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं द्वारा वापस बुलाया जा सकता है। परन्तु जब तक बीस प्रतिशत मतदाता माँग नहीं रखते तब तक 'वापसी' के लिये सार्वजनिक मत नहीं लिया जाता[2]। इस प्रकार ओरेगॉन में न्यायाधीश भी वापस बुलाये जा सकते हैं। परन्तु वाशिंगटन में न्यायाधीश नहीं वापस बुलाये जा सकते। कोलोरेडो में तो न्यायाधीशों का निर्णय भी सार्वजनिक मत द्वारा रद्द किया जा सकता है।[3]

स्विटजरलैंड में 'सूचना' और 'नेतृत्व' का व्यावहारिक प्रयोग

सार्वजनिक विचार-प्रकाशन के साधनों के रूप में सूचना, नेतृत्व और वापसी को समझ लेने के पश्चात् अब हम उनका व्यावहारिक प्रयोग देख सकते हैं।[4] स्विटजरलैंड के कैन्टनों में, 'सूचना' के प्रयोग के संबंध में मोरयट महोदय का कहना है कि सन् १६०६ और १६१६ के बीच में जितने भी क़ानून 'अनिवार्य सूचना' के अनुसार उपस्थित किये गये थे उनमें लगभग २५ प्रतिशत अस्वीकृत कर दिये गये थे। इसी काल में जो 'वैकल्पिक सूचना' के अनुसार उपस्थित किये गये थे उनमें २२६ स्वीकृत हुये थे और ७३ अस्वीकृत। एम० बोंजर (M. Bonjour) महोदय का कथन है कि क़ानून, जिन्हें जनता सरलता से नहीं स्वीकार करती, मजिस्ट्रेट, पदाधिकारी तथा राजकर्मचारियों के वेतन तथा नये पदों की स्थापना संबंधी और वैयक्तिक स्वतंत्रता पर

१—कुछ राज्यों और बहुत से नगरों में 'वापसी' नामक राजनीतिक साधन के द्वारा अपने निर्वाचित राज्याधिकारियों पर जनता पूर्ण नियंत्रण रखती है। जहाँ 'वापसी' लागू है वहाँ नागरिकों की एक नित संख्या के शिकायत करने पर सब मतदाता इस प्रश्न पर मत देते हैं कि अवधि समाप्त होने के पहिले पदाधिकारी अपने पद से अलग कर दिया (वापस बुलाया) जाय कि नहीं। यदि मत पदाधिकारी की अलहदगी के पक्ष में रहता है तो उसको अवधि समाप्त होने से पहले ही पद-त्याग करना पड़ता है। जब 'वापसी' द्वारा पदाधिकारी अलग कर दिया जाता है तो उसके स्थान को भरने के लिये एक निर्वाचन होता है जिसमें यदि चाहे तो निकाला हुआ अधिकारी भी उम्मीदवार हो सकता है।

—एस० ई० फ़ोरमैन कृत 'एडवांस्ड सिविक्स' पृ० २३

२—लीकॉक —एलिमेंट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० १७२

३—ब्राइस —मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द २, पृ० १६५ (पादटिप्पणी)। ब्राइस का यह भी कथन है कि न्यायाधीशो समेत राज्याधिकारियों की वापसी का सिद्धान्त छः राज्यों में और न्यायाधीशों के अतिरिक्त दस राज्यों में प्रचलित है।

४—अधिक अध्ययन के लिये लोवेल कृत 'पब्लिक ओपीनियन एन्ड पापुलर गवर्न्मेंट', अध्याय १२ और १३ देखिये।

नियंत्रण रखने वाले या विशेषाधिकारों को क़ायम रखने वाले होते हैं।'[1] संघ में इसके प्रयोग के विषय में भी इसी लेखक का कहना है कि 'सन् १८४८ और १९२५ के बीच संघ-सभा द्वारा प्रस्तावित ४५ वैधानिक संशोधनों में से २४ स्वीकृत किये गये थे और १६ अस्वीकृत किये गये थे.......सन् १८७४ और १९२४ के बीच ३६ प्रश्नों पर (वैकल्पिक) सूचना की मांग साधारण बिलों के संबंध में रक्खी गई थीं। इनमें से २३ प्रश्नों पर विरोध को सफलता प्राप्त हुई थी।'[2]

इसी प्रकार नेतृत्व के उपयोग के बारे में उनका कथन है कि 'कैन्टनों में नेतृत्व के परिमाण आशा से काफ़ी कम क्रान्तिकारी हैं। सन् १९०५ और १९१६ के बीच उपस्थित किये गये ३६ प्रस्तावों में से केवल १० स्वीकृत हुये थे।[3] संघ में भी सन् १९२५ तक के समय में २० बार जनता के विभिन्न अंशों ने विधान में आंशिक परिवर्तन के लिये प्रयत्न किया था परन्तु ५ बार ही उन्हें सफलता मिली थी'। इससे यह प्रकट होता है कि क़ानून-निर्माण में जनता क्रान्तिकारी नहीं सिद्ध हुई। वास्तव में वह रूढ़िवादी ही प्रतीत हुई है।

स्विस राजनीतिक लेखकों के सूचना विषयक परस्पर विरोधी विचार

परन्तु फिर भी स्विटज़रलैंड में इनकी उपयोगिता के विषय में विचारों की एकता नहीं मिलती है। सूचना के बारे में राजनीतिक दार्शनिक और क़ानून-विदों के विचार उत्साहवर्धक नहीं हैं। नेविल (Neville) इसका इसलिये विरोध करते हैं कि जटिल क़ानूनों के लिये उत्तम संस्कृति अपेक्षित है और एक साधारण नागरिक में इसका अभाव है। डिप्लवाइजी (Deploige) का विचार है कि 'सूचना' एक स्पष्ट आदेश देने में असफल रहती है क्योंकि तथाकथित सार्वजनिक निर्णय सहस्रों प्रभावों का परिणाम है, विचारपूर्ण विवेचना का नहीं।[4] यहाँ तक कि सरकार के सदस्य भी इसके विरुद्ध हैं क्योंकि इससे काफ़ी मात्रा में उनके कार्य सीमित हो जाते हैं।

१—मेरियट—दि मेकेनिज़्म ऑफ़ दि मॉडर्न स्टेट, जिल्द १, पृ० ९७

२—वही, पृ० ९८-९९

३—वही, पृ० ९८

४—लोवेल अपनी पुस्तक 'पब्लिक ओपीनियन एन्ड पापुलर गवर्न्मेंट, पृ० १५५-१५७ में कहते हैं कि सार्वजनिक निर्वाचन की भाँति सार्वजनिक निर्णय भी बुरे प्रभावों के शिकार हो सकते हैं और 'सूचना' के विरोधी पूछते हैं कि 'क्या वह जाति जो बुद्धिमान, साहसी और न्याय-प्रिय प्रतिनिधियों को चुनने में असमर्थ है, बिलों के संबंध में विवेक पूर्ण निर्णय दे सकती है; क्या लोकमत उन्हीं प्रणालियों से दूषित नहीं हो सकता जिनसे व्यवस्थापिका दूषित हो जाती है; क्या मतदाता प्रतिनिधि के गुप्त निर्वाचन के समय के दबाव की भाँति दल या नायक का दबाव क़ानून के संबंध में अपना मत प्रकट करने के समय नहीं अनुभव करते'। विरोधियों का यह भी कहना है कि इससे प्रतिनिधि-संस्थाओं की उत्तमता कम हो जाने की आशंका गी क्योंकि उनमें उत्तरदायित्व की भावना की कमी हो जायेगी।

परन्तु कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इसको लोकमत को मालूम करने का एक बड़ा साधन समझते हैं। प्रो० वारिन (Prof. Wuarin) चाहते हैं कि इसका उपयोग बजट तथा कर के मामले में तो हो ही, साम्प्रदायिक-प्रश्नों पर भी हो। डूब्स (Dubs) महोदय, जो किसी समय इसके विरोधी थे, लिखते हैं कि 'अनिवार्य सूचना ही एक ऐसी प्रणाली है जो इस बात की द्योतक है कि जनता को प्रत्यक्ष रूप से क़ानून-निर्माण में भाग लेना चाहिये।' हिटी (Hitty) महाशय इस प्रणाली को प्रतिनिधि-प्रणाली की अपेक्षा उत्तम समझते हैं क्योंकि प्रथम तो, क़ानून-निर्माण से जनता का दोहरा सम्पर्क हो जाता है, जनता को शिक्षा मिलती है विशेषकर जब कि बिलों के साथ व्याख्या भी दी रहती है; इसके अतिरिक्त बिल अत्यन्त स्पष्ट रूप में रक्खे जाते हैं; दूसरे, यह देश-प्रेम को प्रोत्साहित तथा दृढ़ करती है; तीसरे, इससे बहुमत का दृष्टिकोण मालूम हो जाता है और चौथे, यह शासक वर्ग को साधारण नागरिक के सम्पर्क में रहने तथा राजनीतिक शिक्षा में काफ़ी दिलचस्पी लेने के लिये बाध्य करती है।

ब्राइस[1] महोदय का भी कहना है कि एक स्विस मित्र का, जिनकी महान योग्यता और अनुभव के कारण उनकी राय सम्माननीय है, विचार है कि 'सूचना सम्पूर्ण नागरिकों को राज्य के व्यावहारिक प्रश्नों में व्यस्त रहने तथा उन पर अपना निर्णय देने के लिये बाध्य करती है। और इस प्रकार राज्य को जनता के सहारे करके यह व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से राज्य के हित में लगाती है। इससे प्रत्येक नागरिक के व्यक्तित्व की उन्नति होती है। इसके बदले में राज्य जनता के आदेश को सर्वप्रथम स्थान देने के लिये बाध्य होता है। सूचना स्विटजरलैंड में सभी वर्गों और जिलों को राज्य के कार्यों और कर्त्तव्यों में साझीदार बनाती है और इस प्रकार एक जाति की सदस्यता की दृढ़ भावना का निर्माण करती है। प्रत्येक स्विस जनता के निर्णय का पालन करता है।'

स्विस राजनीतिक लेखकों के नेतृत्व विषयक परस्पर विरोधी विचार

इसी भाँति 'नेतृत्व' की उपयोगिता के संबंध में स्विटजरलैंड में एकमत नहीं है। कुछ का विचार है कि यह 'अराजकता फैलाने वाली और क़ानून-निर्माण में अनिश्चयता और गड़बड़ी को जन्म देने वाली प्रणाली है'। ड्रोज (Droz) महाशय का कहना है कि 'नेतृत्व ने देश को एक बड़े खतरे में डाल दिया है, नेतागिरी आरम्भ हो गयी है।' उनके विचार से यह प्रणाली 'विच्छिन्नात्मक एवं नाशात्मक है।' स्टूसी (Stussi) महाशय इसको दो प्रकार से दोषपूर्ण समझते हैं? प्रथम तो इसके कारण दोषपूर्ण और विवेक-शून्य क़ानून बने हैं क्योंकि एक व्यक्ति जो नेतृत्व का उपयोग करना चाहता है, हस्ताक्षर प्राप्त करने के लिए दबाव और जोर डालता है जिससे लोगों को माँग का विषय जाने हुये बिना हस्ताक्षर कर देना पड़ता है। इस प्रकार इस प्रणाली ने एक प्रकार की रिश्वत को प्रोत्साहित किया है जिसका परिणाम हुआ है दायित्वशून्य क़ानून। दूसरे, चूँकि जिन बिलों को प्रार्थी अपने हस्ताक्षरों सहित उपस्थित करते हैं

१—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द १, ४४८ (पादटिप्पणी)

उनमें प्रतिनिधि-सभा परिवर्तन नहीं कर सकती इसलिये उनके दोष वैसे ही बने रहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि सार्वजनिक क़ानून-निर्माण को प्रोत्साहन मिला है।

परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसकी प्रशंसा करते हैं कि यह प्रजातंत्र की आधुनिकतम विजय है। वे इसको 'सार्वजनिक सत्ता का सफल द्योतक' मानते हैं। उनका विश्वास है कि इसने प्रजातंत्र को एक नई अवस्था में पहुँचा दिया है। यदि 'सूचना' पार्लिमेंट और निर्वाचक समुदाय के मध्य साम्य स्थापित करने में सफल हुई है तो 'नेतृत्व' ने 'आकर्षण केन्द्र' को स्थानान्तरित किया है। व्यवस्थापिका क़ानून-निर्माणक यंत्र का अनिवार्य अंग नहीं रह गई है। बोर्जोड महाशय (Borgeoud) का कहना है कि 'बिल में के नेतृत्व ने, (साधारण प्रस्ताव के नेतृत्व में नहीं) सार्वजनिक जीवन के दो अंगों की शक्ति बहुत बढ़ा दी है। पहले में राजनीतिक क्लब आते हैं दूसरे में प्रेस।' बेर्ने (Bernay) महोदय का विचार है कि यह बहुत महत्वपूर्ण खोज है। इसके द्वारा स्विस लोग प्रत्येक क्षेत्र में स्वयं शासन कर सकते हैं। वे क़ानून बना सकते हैं; दंड-प्रणाली निश्चित कर सकते हैं, विदेशियों को नागरिक बना सकते हैं; व्यापक क्षमा प्रदान कर सकते हैं; ऋण ले सकते हैं; राष्ट्रीय ऋण अदा कर सकते हैं, धन की सहायता दे सकते हैं; संधि कर या तोड़ सकते हैं और युद्ध की घोषणा कर सकते हैं।'

स्विस राजनीतिक लेखकों के इन परस्पर विरोधी विचारों के होते हुये भी यह विश्वासनीय है कि आरम्भ में इससे खतरे की सम्भावना थी परन्तु सन् १६०० के पश्चात् से इसकी उपयोगिता सिद्ध होने लगी थी। जैसा कि ब्रूक्स का कहना है 'बाद में उपस्थित किये गये बिल संयत और प्रगत्यात्मक थे। जो असफल रहे उन्होंने सुधार विषयक शिक्षा की नींव डाली और इन सुधारों का निकट भविष्य में कार्यान्वित किया जाना सम्भव है। इनके अतिरिक्त दो सफल संशोधन दृढ़ उन्नति के प्रतीक हैं।'

विदेशी लेखकों के परस्पर विरोधी विचार

परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में इन प्रणालियों की उपयोगिता के संबंध में स्विस राजनीतिक लेखक एकमत नहीं है वहाँ विदेशी आलोचक भी अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति में एक मत नहीं हैं।

१—कामन्स का विचार

साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि 'प्रत्यक्ष-क़ानून-निर्माण स्विटजरलैंड में सफल रहा है परन्तु अमरीका और इंगलैंड में यह सफलता नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि प्रथम तो स्विस लोगों के निश्चित तथा दृढ़ राजनीतिक दल नहीं हैं, दूसरे, वे एक दूसरे के दृष्टिकोण का बहुत ध्यान रखते हैं; तीसरे उनमें धन की खाइयाँ बहुत गहरी नहीं हैं; चौथे वे पुनर्निर्वाचन के लिये व्यवस्थापकों के विरुद्ध मत नहीं देते यद्यपि वे 'सूचना' के अवसर पर उन्हीं व्यवस्थापकों के द्वारा पास किये गये क़ानूनों पर रोक लगा देते हैं और पाँचवें, वे शान्त और स्वदेश में ही रहने वाले लोग हैं'।

परन्तु कामन्स[1] महाशय इस दृष्टिकोण का खंडन करते हैं। उनका विचार है

१ कामन्स—प्रोपोर्शनल रेप्रेज़ेन्टेशन, पृ० २६२—३०२ (पूर्ण अध्ययन के लिये)

कि इन तर्कों में 'कारण और परिणाम का विपर्ययास है'। उनके इस कथन का यह अर्थ है कि इन कारणों ने 'प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण को सफल नहीं बनाया है; इसके प्रतिकूल प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के कारण ही ये सब अच्छाइयाँ स्विटज़रलैंड में आ गई हैं—ये इसके कार्य हैं कारण नहीं। ये सूचना के परिणाम हैं इसके जन्मदाता नहीं।' उनका दावा है कि स्विस लोग अपने व्यवस्थापकों को पुनः निर्वाचित करते हैं किसी 'बेहूदा प्रवृत्ति' के कारण नहीं, परन्तु इसलिये कि वे जानते हैं कि व्यवस्थापक अन्तिम निर्णायक नहीं हैं इसीलिये वे उनकी सुयोग्य राय के लिये तैयार रहते हैं यद्यपि वे उसे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने राजनीतिक दलों का विकास नहीं किया है क्योंकि उनकी प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण-प्रणाली के सामने वे अनावश्यक और फ़ालतू हो जाते हैं'।[1] 'एक स्थायी दल जो सदैव व्यस्त रहता है, शक्ति का अपव्यय है। क्योंकि लोग प्रत्यक्ष मत द्वारा अभीष्ट क़ानून पास करवा सकते हैं।' वे एक दूसरे के विचारों का सम्मान करते हैं और दूसरे के मत पर दबाव डालना निकृष्ट समझते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के विचारों का महत्व है और व्यवस्थापक उनकी अवहेलना नहीं कर सकते। विचारों को तभी सम्मान प्राप्त होता है जब वे शक्ति से अनुप्राणित रहते हैं। इसके अतिरिक्त स्विस लोगों में आर्थिक असमानता अधिक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण कार्य ने राजनीतिक उद्देश्य के लिये रिश्वत देने वालों और एकाधिकारियों के हस्तक्षेप का अन्त कर दिया है। सूचना से पूर्व सन् १८३० और १८६० के बीच हर प्रकार की रिश्वत स्विटज़रलैंड में पायी जाती थी। सूचना का उपयोग राजनीति से रिश्वत के धन को निकालने के लिये किया गया था। लोगों का 'विक्रय' बन्द हो गया है क्योंकि लोग ही उस विक्रय का अनुमोदन करने वाले थे। सूचना 'जन-रोक' थी।

कामन्स महाशय यह कहते हुये दुख प्रकट करते हैं कि अमरीका में आरम्भ से ही जन-रोक का उपयोग नहीं किया गया नहीं तो लोगों का कारपोरेशनों के हाथ विक्रय,

---

१ स्विटज़रलैंड में दलों की अनुपस्थिति के अन्य कारण निम्नलिखित हैं:—

(क) आधी शताब्दी तक वहाँ राष्ट्र के सामने कोई विशेष महत्वपूर्ण समस्यायें नहीं आई जैसे कि फ्रांस में एकतंत्र तथा प्रजातंत्र और अमरीकी संयुक्त राज्य में दासता का प्रश्न उपस्थित हुआ था।

(ख) वहाँ तत्कालिक आर्थिक परिस्थितियों के विरुद्ध असन्तोष का प्रदर्शन नहीं हुआ।

(ग) प्राचीन धार्मिक वैमनस्यों का ज़ोर नहीं है।

(घ) वर्गगत ईर्ष्या-घृणा का अभाव रहा है।

(ङ) और देशों की अपेक्षा वहाँ सार्वजनिक जीवन में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और व्यक्तिगत नेतृत्व का ज़ोर नहीं रहा। राजनीति एक गम्भीर विषय समझी गई है खेल नहीं। किसी दल के व्यक्तिगत सदस्यों को सार्वजनिक जीवन में जो पारितोषिक प्राप्त होते हैं उनकी आशा वहाँ बहुत कम है और वे इस योग्य भी नहीं हैं कि उनके लिये प्रयत्न किया जाय।

(च) स्वदेश प्रेम, जो राष्ट्र के हितों को आन्तरिक्त स्वार्थों के ऊपर रखता है, स्विस लोगों को एकता में बाँधे हुए हैं।

दलों और वर्गों का दबाव, और व्यवस्थापकों द्वारा अपनी शपथों का उल्लंघन न सुनते। 'जन-रोक' के स्थान में जिनका उपयोग किया गया वे थीं शक्ति विभाजन के सिद्धान्तानुसार कार्यकारिणी-रोक और न्यायकारिणी-रोक। इस सिद्धान्त का इतना विस्तार हुआ कि तैंतीस राज्यों में तो न्यायाधीश भी निर्वाचित होने लगे क्योंकि यह समझा गया कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित या कार्यकारिणी के द्वारा नियुक्त किये गये न्यायाधीश स्वतंत्र रूप से कार्य-सम्पादन न कर सकेंगे अर्थात् वे निडर होकर अपनी रोक का उपयोग न कर सकेंगे। इसीलिये उनको सीधे जनता द्वारा अधिकार दिये गये।

२—फ़ाइनर का विचार

जहाँ कामन्स महाशय प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण का इतना समर्थन करते हैं वहाँ फ़ाइनर महोदय उसमें कोई वास्तविक गुण नहीं पाते हैं। इसके प्रतिकूल उनका कहना है कि वे देश जहाँ इसका उपयोग किया गया है 'किसी अच्छी अवस्था में नहीं हैं; शायद बुरी ही अवस्था में हैं। अवश्य ही ऐसी धारणा अमरीका में है। यद्यपि स्विस लोग अमरीकी लोगों की अपेक्षा अपनी कार्य-प्रणाली को अधिक आदर्श-रूप देते हैं परन्तु जब कोई उनकी धारणाओं पर विचार करता है तो वे सीमित विशेषता वाली प्रतीत होती हैं।' उनका यह भी कहना है कि 'इसका कहीं भी प्रमाण नहीं मिलता कि प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण-प्रणाली के आरम्भ होने के पश्चात् व्यवथापिकायें या दल अच्छी या बुरी अवस्था में हैं। वे यह कह कर अपना कथन समाप्त करते हैं कि 'ये देश अच्छी अवस्था में तभी रहेंगे यदि मतदाता अपने-अपने दलों में नामजदगी के द्वारा व्यवस्थापकों को चुनें.... जिससे वे ऐसे व्यक्ति को चुनना सीख जायें जो न्याय-प्रिय, कर्मठ और उनके साधारण दृष्टिकोण और हितों से सहमत हो जिससे कि उस पर विश्वास किया जा सके। मेरा विचार है कि इससे दल-प्रणाली का महत्व शासन के माध्यम के रूप में बढ़ जाता है विशेषकर उन बड़े राज्यों के लिये जिनके हित मिश्रित रूप में रहते हैं जिसके कारण प्रचारक की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं।'[१]

डा० फ़ाइनर अमरीका, स्विटज़रलैंड और जर्मनी की परिस्थितियों का अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचे हैं। वे प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण[२] के पक्ष में कहे गये कारणों का विश्लेषण करते हुये निम्नलिखित विचार प्रकट करते हैं:—

सर्व प्रथम, इसका समर्थन इसलिये किया गया है क्योंकि दलगत वैमनस्य से 'सामूहिक विचार' छिन्न-भिन्न हो जाता है और यह सामूहिक विचार उसी समय प्राप्त होगा जब जनता को प्रश्न से अवगत करा दिया जाये। इसके अतिरिक्त पार्लिमेंट (व्यवस्थापिका) का एक अस्थायी बहुमत पक्षगत या स्वार्थगत क़ानून भी पास करवा सकता है।

१—फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रेक्टिस ऑफ़ मॉडर्न गवर्न्मेंट, जिल्द २, पृ० ६३१-६३२ पूर्ण तर्क के लिये कृपया ६२५—६३१ पृष्ठ पढ़िये।

२—प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के पक्ष में प्रो० स्ट्रांग द्वारा दिये गये पाँच कारणों को विद्यार्थी उनकी पुस्तक 'मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्स' के पृष्ठ २६० में स्वयं पढ़ें।

दूसरे, प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण दो सभाओं के बीच गतिरोध दूर करने का साधन कहा गया है जैसा कि आस्ट्रेलिया में है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि पार्लिमेंट की दोनों सभायें असहमत होती हैं तो केवल जनता ही अन्तिम क़ानूनी निर्णायक शक्ति का कार्य कर सकती है।

तीसरे, यह समानुपातिक प्रतिनिधित्व के अपरिवर्तनशील हो जाने वाले परिणामों का संशोधक कहा गया है जैसा कि जर्मनी के सन् १६१६ के प्रजातंत्रात्मक विधान में। इसके पक्ष की यह दलील थी कि जर्मनी की प्रचलित प्रणाली दलगत अधिकारियों और नेताओं को स्थायी प्रभुत्व स्थापित कर लेने का मौक़ा देगी और दूसरे ये लोग मूर्ख और दूषित भी हो सकते हैं। अतः इनसे बचने का साधन है जनता से प्रत्यक्ष अपील।

चौथे, स्विटज़रलैंड और अमरीका दोनों में इसका पक्ष इसलिये ग्रहण किया गया है क्योंकि यह जनता को शिक्षित करता है और सार्वजनिक विचार के आध्यात्मिक मूल्य और बौद्धिक पूर्णता का समर्थक है।

अन्त में, रूढ़िवादी दलों का यह विश्वास सा हो गया है कि प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण प्रगतिशील होने की अपेक्षा प्राचीनवादी है।

इन तर्कों का उत्तर फ़ाइनर महोदय निम्न ढंग से देते हैं :—

(१) सूचना का शैक्षिक महत्व सन्देहात्मक है क्योंकि इसका प्रयोग कभी-कभी ही होता है। क्या यह व्यापक निर्वाचनों में भाग लेने की अपेक्षा अधिक शिक्षित करता है ?

(२) दलों और व्यवस्थापिकाओं की विचारधारा के सामने सार्वजनिक विचार-धारा के महत्व और उत्तमता पर विश्वास करना धोखा है क्योंकि वे पहले से ही सार्वजनिक विचार की निकटता प्राप्त कर लेते हैं और उनके बनाये हुये क़ानून में फिर किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(३) प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण व्यवस्थापकों के महत्व को कम कर देता है और दूसरे अस्पष्ट तथा दोषपूर्ण क़ानून पास हो जाते हैं।

(४) सूचना के प्रयोग को सीमित क्यों कर दिया गया है ?[1] स्विटज़रलैंड और अमरीका में इसका प्रयोग महत्वपूर्ण बिलों (जैसे संधि, बजट और सर्वव्यापक बिल) में नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि विधान के निर्माता इन महत्व-

---

१—स्विटज़रलैंड और अमरीका में निम्नलिखित विषयों में 'सूचना' का उपयोग नहीं किया गया है :—

(क) विदेशी राज्यों से संधियाँ।

(ख) विशेष प्रस्ताव जैसे कैन्टनीय विधान को स्वीकार करना।

(ग) आर्थिक प्रश्न जैसे वार्षिक बजट और राज्य-अनुमान तथा युद्ध-सामग्री के लिए व्यय।

(घ) संघीय प्रस्ताव जैसे नदियों की चौड़ाई सीमित करने और सड़कों को बनाने के लिये धन की सहायता देना।

पूर्ण विषयों के संबंध में मतदाताओं की अभिज्ञता और स्वार्थ पर विश्वास नहीं कर सकते थे। लोग सफ़ाई सम्बन्धी बिलों के प्रति इसलिये अतार्किक रहे हैं क्यों कि उनसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता सीमित हो जाती; सार्वजनिक अधिकारियों के वेतन के संबंध में कृपणता, यहाँ तक कि घृणा का प्रदर्शन करते रहे हैं; सार्वजनिक धन के व्यय पर बिना विचार किये अपने क्षेत्र के लिये विशेष लाभों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं और कर का भार संभालने के अत्यन्त विरुद्ध रहे हैं यद्यपि अपनी भलाई के इच्छुक रहे हैं।

(५) स्विटज़रलैंड में सूचना और नेतृत्व के प्रयोग के आधार पर यह कहा गया है कि जन-साधारण अग्रगामी नहीं सिद्ध हुये वरन् रूढ़िवादी सिद्ध हुये हैं। इसका क्या अर्थ हुआ? इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि व्यवस्थापक अपने स्वामियों—जन-साधारण—से जो अप्रगतिशील सिद्ध हुये हैं, आगे थे।

(६) जनता के कार्य में स्वाभाविकता नहीं रही है। वह उन्हीं निर्वाचन संबंधी चालों द्वारा उकसाई और प्रभावित की गई है जो प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण-प्रणाली-शून्य देशों में काम में लाई जाती हैं।

(७) बिना समझाये और बिना विशेष आदेश के मतदाता जटिल प्रश्नों पर अपना निर्णय देने में असफल रहे हैं।

(८) साधारणतः जब तक किन्हीं विशेष प्रश्नों का दबाव नहीं पड़ा तब तक मतदाताओं ने प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण में ऐसा उत्साह नहीं दिखाया जिसकी उनसे आशा थी। इसीलिये बहुधा बहुमत के निर्णयों के सामने अल्पमत के निर्णयों का प्रभुत्व रहा है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रतिनिधि-शासन को प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के उपकरणों से कोई लाभ नहीं है। ये नागरिक को, ऐसे कार्य सौंप कर कृतज्ञ कर देते हैं, जिनके लिये न उसमें उत्साह होता और न प्रवृत्ति। इस प्रकार या तो निर्वाचक में उन योग्यताओं को मान लेते हैं जो उसमें होती ही नहीं या राजनीतिक दलों के कथित दोषों को दबाने में प्रयत्नशील हो जाते हैं। ये श्रम-विभाजन के लाभों को भूल जाते हैं और निर्वाचन को छोड़ कर लोकमत के अन्य साधनों की चिन्ता ही नहीं करते। इसके अतिरिक्त इनमें सबसे भारी दोष यह है कि ये राजनीतिक दलों के कर्मचारियों, उनके साधनों और उद्देश्यों को उन्नतिशील करने में मतदाता के सहायक नहीं होते। आशा उन उपकरणों से नहीं है वरन् पद के उम्मीदवारों के और अधिक अच्छे चुनाव शिक्षा से है'[1]।

३—लास्की का विचार

फ़ाइनर के अतिरिक्त लास्की महोदय[2] भी सूचना के प्रयोग के विरुद्ध है। इसके विपक्ष में उन्होंने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये हैं :—

१—फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रेक्टिस ऑफ़ माडर्न गवर्न्मेंट्स, जिल्द २, पृ० ६४५
२—लास्की—दि पार्लिमेंटरी गवर्न्मेंट इन इंगलैंड, पृ० १३१-१३३

(१) जटिल प्रश्न जनसाधारण के मत-प्रकाशन से भली-भाँति नहीं सुलझाये जा सकते। यह प्रश्न कि 'क्या तुम खानों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हो ?' वास्तव में एक बिल की धाराओं से बहुत भिन्न है। इसके अध्ययन के लिये विचारपूर्ण वातावरण की आवश्यकता है जो लाखों की संख्या में पहुँचने वाले निर्वाचक-समुदाय में सम्भव नहीं........यदि यह सैद्धान्तिक प्रश्नों तक सीमित है तब तो मूर्त-विवरणों की अनुपस्थिति में प्रश्न वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं।

(२) यदि मतदाता सरकार की वाह्य नीति की किसी विशेष धारा को नहीं पसन्द करते हैं तो वे इसकी प्रतिष्ठा गिराने के लिये इसके उपयोगी क़ानून को भी अस्वीकार कर सकते हैं। इससे यह अर्थ निकला कि प्रश्नों को अलग-अलग करना कठिन होगा और सरकार के विरोधी इसका प्रयोग उस संकीर्ण क्षेत्र के बाहर करेंगे जिसके अन्दर सूचना के सिद्धान्त के अनुसार मतदाताओं के निर्णय सीमित रहते हैं।

संक्षेप में उनका कथन है कि सूचना का सिद्धान्त निर्वाचक-समुदाय के उद्देश्य को ठीक नहीं समझ पाता। यह राजनीतिक प्रवृत्ति के जाल में विचार-संकलन करता है। यह लोगों को उसी जाल के विशालकाय रूप के पक्ष या विपक्ष में मत देने के लिये तैयार करता है। राजनीतिक दल निर्णय के लिये रूप को अपनी शक्ति भर संगठित करते हैं। इनमें से एक धागे को चुन कर मतदाताओं को उससे पूरे जाल से अलग करने के लिये कहना उनसे ऐसा कार्य करवाना है जिसको लिये वे सामूहिक रूप से अयोग्य हैं। संक्षेप में प्रत्यक्ष शासन स्वशासन नहीं हैं। इस अर्थ में सार्वजनिक सूचना प्रजातंत्र के शस्त्रागार में कोई बहुत लाभदायक योग नहीं है।

४—डाइसी का का विचार

परन्तु फ़ाइनर और लास्की के इन विचारों के होते हुये भी स्वयं इंगलैंड में डाइसी[1] और अन्य लेखकों ने इसका समर्थन किया है। डाइसी के अनुसार इंगलैंड में इसकी मांग के निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) निकट भूत में लगभग संसार के प्रत्येक सभ्य देश में सभात्मक शासन पर से विश्वास का उठ जाना।

(२) पक्षगत स्वार्थवश दल-सरकार का राजनैतिक भ्रष्टाचार की ओर अग्रसर होना।

इंगलैंड में इसको प्रयोग में लाये जाने के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि इससे शक्ति बुद्धि के हाथ से अज्ञता के हाथ में चली जायेगी। 'कामन-सभा के ६७० और लार्ड-सभा क ६०० सदस्यों को यदि साथ मिला कर देखा जाये तो इनमें विशेष बुद्धिवान शिक्षित व्यक्ति तथा राजनीति विशारदों की एक संख्या मिलेगी जो उदाहरण-स्वरूप ८,०००,००० व्यक्तियों के द्वारा भाग्यवश चुने हुये १२७० निर्वाचकों की अपेक्षा अधिक रहेगी। इस प्रकार लोग इतने मूर्ख होते हैं कि उनको सूचना के प्रयोग करने की आज्ञा

१—डाइसी—ला आफ़ दि कान्स्टीट्यूशन, पृ० xcii—c

नहीं दी जा सकती। सूचना केवल एक रोक के समान है। यह सुधारों में भी बाधा डाल सकती है। उदाहरण-स्वरूप वे स्त्री-मताधिकार की मांग को कभी नहीं स्वीकार करेंगे।

परन्तु यह सदैव अनुपयोगी नहीं सिद्ध होगी क्योंकि यह दलगत आवश्यकता से अधिक शक्ति को नियंत्रित रख सकती है और इसलिये यह दल सरकार के स्पष्ट दोषों को कम कर देगी। इसके अतिरिक्त यह निर्वाचकों की बौद्धिक ईमानदारी को प्रोत्साहित करती है जो कि दलों के दबाव से समाप्त हुई जा रही है।

५—मेरियट का विचार

अन्य समर्थकों में से मेरियट[1] महोदय सेंट लो स्ट्रेची (St. Loe Strachey) और लार्ड सेलबोर्न (Lord Selbourne) के नाम देते हैं। इन दोनों महाशयों का

१—मेरियट—दि मेकेनिज़्म ऑफ दि मॉडर्न स्टेट, जि० १, पृ० ४५६-४६१।

परन्तु उन्होने इसके विपक्ष में दो बातें कही हैं। पहली यह कि यह पार्लिमेंट के उत्तर-दायित्व की भावना को, जिसके आधार पर यह इस समय कार्य कर रही है, यदि पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर देगी तो निर्बल तो कर ही देगी। दूसरी यह कि यदि पार्लिमेंट केवल वाद-विवादात्मक सभा ही हो जायेगी तो कार्यकारिणी अपनी शक्ति बढ़ा सकती है।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थी लोवेलकृत 'गवर्न्मेंट ऑफ़ इंगलैंड', पृ० ४११ और सिडनी लो कृत 'गवर्नेंस ऑफ़ इंगलैंड', भूमिका पृ० x vii पढ़ सकते हैं।

ए० बी० कीथ भी अपनी पुस्तक 'दि ब्रिटिश केबिनेट सिस्टम' के पृ० ३४१—३४५ में कहते हैं कि इंगलैंड में भी विवादग्रस्त प्रश्नों को सुलझाने के लिये सूचना के प्रयोग के लिये सुझाव रक्खा गया था जैसा कि सन् १६०६—११ में लार्ड-सभा के स्थान के संबंध में रक्खा गया था। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क थे:—

(क, इसमें एक निश्चित प्रश्न के संबंध में एक निश्चित स्वीकारात्मक या नकारात्मक उत्तर प्राप्त करने की सम्भावना है। (व्यापक निर्वाचन में ऐसा असम्भव है क्योंकि इसमें प्रश्न एक दूसरे में गुंथे रहते हैं)

(ख) प्रश्नों को पृथक-पृथक कर देने से उन्हीं प्रश्नों की ओर ध्यान जायेगा जो सामने रक्खे जायेंगे और वास्तविक राय प्राप्त हो जायेगी।

(ग) सूचना दलबन्दी को समाप्त कर देती है क्योंकि निर्वाचक प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवारों या दल-नेताओं के व्यक्तित्व के प्रभाव के झोंक में नहीं बह जाते।

(घ) सूचना का निर्णय मंत्रियों को नहीं प्रभावित करता जिससे वे अपना कार्य यथावत करते रहते हैं। इस प्रकार उस हस्तक्षेप से मुक्ति मिल जाती है जो व्यापक निर्वाचन में मत प्राप्त करने के लिये आवश्यक हो जाता है।

इसके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये हैं।

(क) यदि सिद्धान्त में नहीं तो कम से कम व्यवहार में प्रश्नों को अलग-अलग करना कठिन कार्य है। यह कहना ग़लत है कि दल निर्वाचन-चालें चलने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति नहीं लगायेंगे। निर्णय तो दल गत-मतों से ही प्राप्त होगा।

कहना था कि सूचना राजनीतिक यंत्र का बहुमूल्य अंग है परन्तु वे नेतृत्व को 'पवित्र शाप' मानते थे। परन्तु मेरियट महोदय का कहना है कि व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से एक को बिना दूसरे के लागू करना कठिन होगा। परन्तु उनका कहना है कि एक बात निश्चित है। सूचना का प्रयोग यदि व्यवस्थापिका के उत्तरदायित्व और प्रतिष्ठा को कम नहीं करेगा, तो निर्वाचक-समुदाय के उत्तरदायित्व के भार को तो बहुत बढ़ा ही देगा जिसके परिणाम-स्वरूप इसके संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार इंगलैंड में इसके प्रयोग के पक्ष में वे निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं:—

(१) यह प्रश्नों को पृथक-पृथक कर देती है जिससे वैधानिक परिवर्तन से संबंध रखनेवाले बिलों और साधारण बिलों को समझने में सरलता हो जाती है। इस प्रकार निर्वाचकों को प्रत्येक उल्लिखित प्रश्न के संबंध में 'हाँ' या 'न' कहने का अवसर मिल जाता है।

(२) यह उस सरकार से होनेवाले भय को, जिसने किसी विशेष प्रश्न पर शक्ति प्राप्त कर लिया है और अपने बहुमत मत के द्वारा ऐसा महत्वपूर्ण अधिक विवादग्रस्त बिल पास करवा लिया है, जिसके संबंध में निर्वाचकों की राय नहीं ली गई थी, यदि दूर नहीं करती तो कम अवश्य ही कर देती है। इसका यह अर्थ हुआ कि जनता का आदेश वास्तविक होगा।

(३) यह मंत्रि-परिषद् में परिवर्तन के बिना निर्वाचकों को क़ानून के बिल के संबंध में अपना निर्णय देना का मौक़ा देगी और इस प्रकार राष्ट्र को दलों और झगड़ों से मुक्त कर देगी। इस तर्क को मेरियट महोदय इंगलैंड के संबंध में नहीं स्वीकार करते यद्यपि अमरीका और स्विटजरलैंड के संबंध में, जहाँ कार्यकारिणी का अस्तित्व व्यवस्थापिका के अधीन नहीं है, स्वीकार करते हैं। इगलैंड में महत्वपूर्ण सरकारी बिल के अस्वीकृत हो जाने पर सरकार का पदस्थ रहना असम्भव हो जाता है।

(४) यह व्यक्तिगत प्रश्नों के महत्व को बहुत कम कर देगी। इसका यही अर्थ हुआ कि राष्ट्र पहले होगा और दूसरी वस्तुयें बाद में।

(ख) यह इंगलैंड ऐसे बड़े क्षेत्रों के लिये अनुपयुक्त है क्योंकि विभिन्न प्रदेशों को विभिन्न क़ानूनों की आवश्यकता हो सकती है।

(ग) यह निर्वाचन के महत्व को गिरा देगी और महत्वपूर्ण प्रश्न सूचना के लिये उपस्थित किये जायेंगे।

(घ) यह पार्लिमेंट-सदस्यों के उत्तरदायित्व की भावना को कम कर देगी।

(ङ) यह पार्लिमेंट की सत्ता और प्रतिष्ठा को गिरा देगी इससे प्रतिनिधि-शासन के सिद्धान्त के लिये भय हो जायेगा।

(च) मंत्रि-दल का पद कठिनता में पड़ जायेगा यदि सूचना का निर्णय इसके विरुद्ध होता है।

प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण की सफलता परिस्थितियों के अधीन है

आलोचकों के इन सभी तर्कों से यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण को अपने आधुनिक राजनीतिक जीवन के सभी दोषों की रामबाण औषध समझ कर न इसका स्वागत ही किया जा सकता है और न इसको पूर्णरूप से विषाक्त अथवा अनावश्यक समझ कर इसको बुरा ही कहा जा सकता है। अतः बहुत कुछ तो परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि इसको स्विटज़रलैंड में सफलता मिली है तो इसका कारण वहाँ की विशेष परिस्थितियाँ थीं। यदि इससे अमरीका में दोष आगये हैं तो इसका भी कारण उस देश की परिस्थितियाँ थीं। इसीलिये फ़ाइनर और ब्राइस दोनों लेखक ठीक ही हैं जब कि वे लगभग एक ही परिणाम पर पहुँचे हैं यद्यपि एक ही वस्तु को विभिन्न ढंग से कहा है। जहाँ फ़ाइनर महोदय 'मिश्रित-स्वार्थों वाले विस्तृत राज्यों के लिये इसको अनुपयुक्त बताते हैं वहाँ ब्राइस महाशय का विचार है कि 'छोटे देश में, जहाँ के लोग सवर्ण, बुद्धिमान और आवेश शून्य हैं और दलों के दबाव से मुक्त हैं तथा दलगत वैषम्य से प्रभावित नहीं हैं, इससे अच्छे लाभ होने की सम्भावना है।'[1]

स्विटज़रलैंड में प्रत्यक्ष क़ानून को समर्थन प्राप्त होने के कारण

स्विटज़रलैंड में इन तीनों उपकरणों सूचना, नेतृत्व और वापसी के प्रयोग का आरम्भ क़ानून के प्रत्येक क्षेत्र में जन-शक्ति का प्रभुत्व स्थापित करने के लिये किया गया था।

(१) इस प्रकार प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण-प्रणाली जनता की सत्ता की पुनर्स्थापना के लिये अर्थात् वास्तविक रूप में ऐसे शासन को जन्म देने के लिये जिसमें सम्पूर्ण जनता अपनी भलाई के लिये अपने ढंग पर शासन-प्रबन्ध करे, ग्रहण की गई थी। सूचना एक ऐसा उपकरण है जिसके द्वारा जनता उस क़ानून को अस्वीकार कर सकती है जिसे उसका बहुमत जन-हित के लिये अनिष्टकारी समझता है। नेतृत्व एक ऐसा उपकरण है जिसके द्वारा जनता उस क़ानून को पास करवा सकती है जिसे सार्वजनिक-विवेचन के बाद, बहुमत जनता के हित में समझता है। इसी प्रकार वापसी एक ऐसा उपकरण है जिसके द्वारा जनता कार्यकारिणी अथवा न्यायकारिणी विभागों के उन पदाधिकारियों को अलग कर सकती है जिनको वह अयोग्य अथवा अविश्वासपात्र समझती है।

(२) प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण-प्रणाली जनता को शिक्षित[1] करने के लिये प्रयोग में

१—जैसा कि पहले कहा जा चुका है फ़ाइनर महाशय ने प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण प्रणाली के शिक्षात्मक महत्व पर आशंका प्रकट की है। परन्तु ब्राइस महोदय इससे असहमत हैं। उनका कथन है कि 'राजनीति का व्यावहारिक ज्ञान देने वाला कोई भी साधन इसके समान नहीं है। मत-प्रकाशन के प्रत्येक अवसर पर नागरिक कर्तव्य का ज्ञान रखने वाले नागरिक को प्रस्तुत प्रश्न को समझने और उस पर अपना निर्णय देने के लिये प्रयत्नशील करता है।'

—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द २, पृ० ४७७

यह कार्य सरल हो जाता है क्योंकि जनता के सामने उपस्थित किये बिल या प्रश्न अत्यन्त साधारण, संक्षेप और स्पष्ट रूप में रहते हैं।

लाई गई थी जिससे कि वह अपनी सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर ले। इससे देश-प्रेम और उत्तरदायित्व की भी भावना बढ़ी है।

(३) इसका उपयोग पक्षगत अथवा स्वार्थगत क़ानून को पास होने से रोकने के लिये और सार्वजनिक हित के लिये क़ानून पास करवाने के लिये किया गया था।

(४) अन्त में, व्यवस्थापिकाओं को वास्तविक रूप में प्रतिनिधि सभायें बनाने के लिये इसका प्रयोग किया गया है क्योंकि यह व्यवस्थापकों में उत्तरदायित्व की भावना भरती थी। इसने व्यवस्थापिकाओं को लोकमत की चिन्ता करने के लिये बाध्य किया क्योंकि उनके सभी क़ानूनों में जनता द्वारा आपत्ति किये जाने की आशंका रहती थी।

प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण प्रणाली के इस प्रयोग ने इसके आरम्भ करने वालों की आशाओं को झूठा नहीं सिद्ध किया। ब्राइस[1] महोदय विशेषकर सूचना की सफलता के संबंध अपने निम्नलिखित विचार उपस्थित करते हैं :—

(१) सूचना के द्वारा हितकर क़ानून के निर्माण में विलम्ब पड़ने से जो हानि हुई है उसकी क्षतिपूर्ति जनता की सार्वजनिक स्वीकृति उन समस्याओं पर प्राप्त करने से हुई है जिनके संबंध में उसका दृष्टिकोण सन्देहात्मक था। ऐसी समस्यायें आवेश और असन्तोष निवारण के समय उपस्थित होती हैं। इस स्वीकृति का यह तात्पर्य है कि व्यवस्थापक सार्वजनिक विचार के परे नहीं हो सकते।

(२) कम्यून ऐसे छोटे क्षेत्रों में इनको बहुत सफलता मिलती है क्योंकि वहाँ नागरिकों को प्रस्तुत समस्याओं का व्यक्तिगत ज्ञान रहता है।

(३) इससे शासन में दृढ़ता भी आई है क्योंकि जनता की दिलचस्पी व्यक्तित्व और दल के प्रति न होकर सार्वजनिक हित वाले क़ानूनों के प्रति हो गई है।

(४) इसने सभी वर्गों के सामने एक सार्वजनिक कर्तव्य उपस्थित करके उनमें एकत्व स्थापित कर दिया है। इसने प्रजातंत्र को आत्म-ज्ञानी बना दिया है।

(५) इसने आशा से अधिक जनता को प्राचीनवादी बना दिया है।

(६) यह सार्वजनिक सत्ता के सिद्धान्त का आवश्यक विकास सिद्ध हुई है।

सूचना के पक्ष में ब्राइस के तर्क

अन्त में हम उन तर्कों को संक्षेप में देख सकते हैं जो अमरीका तथा दूसरे देशों में सूचना नेतृत्व और वापसी के पक्ष और विपक्ष में उपस्थित किये गये हैं। ब्राइस[2] के अनुसार सूचना के पक्ष में निम्नलिखित तर्क हैं:—

(१) सूचना स्वार्थगत, वर्गगत तथा दलगत क़ानूनों को पास होने से रोककर व्यवस्थापिकाओं की त्रुटियाँ को दूर कर देती है। व्यवस्थापिकाओं में परस्पर विरोधी

१—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द १, पृ० ४४७-४४८

२—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द २, पृ०४६७-४६६। डाइसी ने भी अपनी पुस्तक 'ला ऑफ़ दि कान्स्टीस्यूशन' पृ० xci-xcix में इसके पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्कों पर विचार किया है।

दल राष्ट्र के सामने एक दूसरे को नीचा सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। यहाँ तक कि केवल विरोध के लिये उपयोगी क़ानून भी अस्वीकृत कर दिया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय अहित होता है। सूचना सभात्मक शासन की इस कमी को पूरा करती है।

(२) निर्वाचन किसी भी अर्थ में राष्ट्र की सभी समस्याओं को नहीं सुलझा पाता। प्रत्येक दल अपने दृष्टिकोण को उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। परन्तु जनता का निर्णय सभी विवादों को समाप्त कर देता है।

(३) सूचना व्यवस्थापिका को जनता से सम्पर्क क़ायम किये रखने में सहायता देती है। दो सर्वव्यापक निर्वाचनों के मध्य की सूचना निश्चय रूप से यह प्रकट कर देगी कि हवा का रुख किस तरफ़ है।

(४) सूचना उन क़ानूनों को नहीं पास होने देती जो जनता के विचार के प्रतिकूल होते हैं।

(५) सार्वजनिक मत-प्रकाशन राष्ट्र की वर्ग-भावना को कम कर देता है क्योंकि विभिन्न वर्गों और दलों के लोग साथ-साथ उन विषयों पर मत देते हैं जो वर्ग और दल के कार्यक्रम से अलग होते हैं।

(६) जनता की स्वीकृति के कारण क़ानून में शक्ति और दृढ़ता आ जाती है। जनता स्वयं अनुभव करती है कि उसका पालन करना और करवाना उसका कर्तव्य है।

(७) जनता का निर्णय अन्तिम निर्णय है उसके पश्चात् अपील नहीं हो सकती है। विवाद तब तक के लिये शान्त हो जाता है जब तक कि जनता स्वयं अपना दृष्टिकोण नहीं बदल देती।

सूचना के पक्ष में बोन्जर के तर्क

सूचना के पक्ष में एम० बोन्जर[1] (M. Bonjour) के निम्नलिखित तर्क हैं :—

(१) यह निर्वाचित व्यवस्थापिकाओं[2] के उत्तरदायित्व को निर्बल नहीं करती वास्तव में यह उसकी वृद्धि करती है।

१—मेरियट की पुस्तक 'मेकेनिज़्म ऑफ़ दि मॉडर्न स्टेट', जिल्द १, पृ० ९९-१०० में उल्लिखित।

२—ब्रूक्स महाशय अपनी पुस्तक 'गवर्न्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स इन स्विटज़रलैंड' पृ० १६१-१६२ में लिखते हैं :

(क) सूचना के विरुद्ध प्रचलित आपत्ति यह है कि यह व्यवस्थापिका के उत्तरदायित्व की भावना को कम कर देती है। इसलिये कि अन्तिम निर्णय जनता के हाथ में हो जाता है। परन्तु इस विषय के स्विस विशेषज्ञ कुर्ती महोदय का कथन है कि सूचना ने क़ानून को हितकर बनाने में बाधा नहीं पहुँचाई वरन् उसने स्वयं चेतावनी के रूप में हमारे सामने उपस्थित होकर बहुत सी बुराइयों को रोका है। अप्रगतिशील आन्दोलनों के होते हुये भी इसने प्रजातंत्र को रोका नहीं वरन् इसकी प्रगति में दृढ़ता भरी है।

(२) क़ानून के बिल बड़ी सावधानी और सही ढंग से तैयार किये जाते हैं और बड़ी बुद्धिमानी और उत्साह के साथ निर्वाचकों के सामने रक्खे जाते हैं।

(३) सम्भव है यह अनावश्यक बढ़ती हुई क़ानूनों की संख्या को रोक दे। परन्तु यह निश्चित है कि यह व्यक्तिगत निर्वाचकों की राजनैतिक शिक्षा में वृद्धि करती है। और यदि इसका उपयोग नेतृत्व के साथ-साथ किया जाय तो यह अवश्य क्रान्ति से रक्षा करती है।

सूचना के विपक्ष में तर्क

सूचना के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये हैं :—

(१) जनता के सम्मुख क़ानूनों के उपस्थित करने का तात्पर्य है उनको दृष्टिशून्य समूह के हवाले करना। इस कार्य में अज्ञता का समावेश रहता है। इस अज्ञता में उत्तरदायित्व अनुत्तरदायित्व का स्थान लेता है। इसका कारण यह है कि आधुनिक समय में क़ानून-निर्माण इतना जटिल कार्य है कि शिक्षित व्यक्ति भी सरलता से नहीं समझ सकता। इसके लिये विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है इसमें हर व्यक्ति भाग नहीं ले सकता।

(२) व्यवस्थापिकाओं में पूर्णरूप से क़ानूनों पर विचार और विवाद किया जाता है। इन व्यवस्थापिकाओं में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के चुने हुये प्रतिनिधि रहते हैं जो सार्वजनिक हित के लिए शक्ति भर प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार बने हुये क़ानूनों को यदि जनता त्याग देती है या अस्वीकृत कर देती है तो इसका यह अर्थ होता है कि अयोग्यता, पक्षपात और स्वार्थों के लिये अनुभव, शिक्षा और विशेषज्ञता का निरादर होता है।

(३) क़ानून-निर्माण में जनता के भाग लेने का अर्थ है हर तरह के दलों की और वृद्धि करना। ये अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये कोई कसर नहीं उठा रक्खेंगे।

(४) जनता पूर्ण रूप से क्रियाशील और उत्साही नहीं होती। केवल कुछ ही व्यक्तियों में संचालक-शक्ति, उत्साह और क्रियात्मक भाग लेने की आकांक्षा रहती है।[1]

(ख) जन-रोक का भय व्यवस्थापकों को डरपोक बना सकता है, उच्छृंखल नहीं। परन्तु नेतृत्व का उपयोग उनको क्रियाशील बनाने में किया जा सकता है

(ग) प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के विरुद्ध तीसरा तर्क यह उपस्थित किया गया था कि इससे दल-सरकार असम्भव हो जायेगी। 'राजनैतिक अणु संगठन से आगे निकल जायेगा, परन्तु स्विटज़रलैंड में नेतृत्व और सूचना ने राजनैतिक संगठनों को नहीं तोड़ा। वास्तव में, उन्होंने अल्पसंख्यक दलों के प्रभाव में वृद्धि कर दी है।

१—इस विषय में लोवेल महाशय का विचार है कि ऐसे प्रश्नों में, जिनके संबंध में केवल विस्तृत ज्ञान ही से राष्ट्रीय मत निश्चित किया जा सकता है जो साधारण व्यक्ति की पहुँच से बाहर रहता है, सूचना के अविवेकपूर्ण उपयोग की अपेक्षा 'सूचना को केवल साधारण सिद्धान्तों के अन्दर आने वाले प्रश्नों और ऐसे विषयों तक जिनके संबंध में निर्णय के लिये आवश्यक तथ्यों से परिचित है सूचना सीमित रखना अधिक बुद्धिमत्ता का काम होगा।'

—पब्लिक आपीनियन एन्ड पापुलर गवर्न्मेंट, पृ० १२२

जन-समूह को बलात् क्रियाशील बनाया जाता है क्योंकि वह निष्क्रियता और उदासीनता से अभिभूत रहता है। इसका यह अर्थ हुआ कि केवल अल्पसंख्यक ही सूचना में भाग लेता है और उसका निर्णय बहुसंख्यक अथवा सम्पूर्ण जाति का निर्णय माना जाता है।

नेतृत्व के पक्ष में तर्क

नेतृत्व के पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये हैं:—

(१) जनता के द्वारा प्रस्तावित और पास किये गये क़ानून का अर्थ है उसका स्वनिर्मित क़ानून। इससे यह तात्पर्य निकला कि इसके विरुद्ध उसको कोई शिकायत नहीं हो सकती। वह इसका विरोध नहीं कर सकती और न असन्तोष, आन्दोलन, सविनय अवज्ञा अथवा विद्रोह का प्रश्न ही उठ सकता।

(२) जनता के द्वारा उपस्थित तथा पास किये क़ानून का यह अर्थ हुआ कि दलबन्दी का जन्म नहीं हो सकेगा क्योंकि सभी प्रकार के लोग अपने वर्ग अथवा दलगत स्वार्थों को छोड़कर साथ मिलकर उन क़ानूनों के लिये मत देंगे जिनसे सार्वजनिक हित होगा। इस प्रकार सामाजिक हित की योजनायें सरलता से पास हो जायेंगी।

(३) यदि व्यवस्थापिकायें जनता के विचार का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं तो नेतृत्व जनता का सम्पर्क उनसे स्थापित करता है। इस प्रकार क़ानून द्विगुणित लोकप्रिय हो जाता है। यह उस क़ानून को भी पास करने का अवसर देता है जिसे जनता तो चाहती है परन्तु व्यवस्थापक पास करने में असफल रहे हैं। इस प्रकार सरलता से सुधार कार्यान्वित किये जा सकते हैं और कोई भी दल स्वार्थवश विलम्ब नहीं डाल सकता।

(४) नेतृत्व प्रणाली व्यवस्थापकों को क्रियाशील और उत्तरदायी बनाये रखती है क्योंकि वे जानते हैं कि उन्हें उपयोगी क़ानून-निर्माण में अपनी शक्ति भर कोशिश करनी चाहिये नहीं तो जनता स्वयं उस कार्य को करेगी और उनकी प्रतिष्ठा गिर जायेगी। इसका यह अर्थ हुआ कि नेतृत्व शासन को जनता के निकटतर करता है।

(५) यदि जनता व्यवस्थापिकाओं के द्वारा निर्मित क़ानून की आलोचना करने योग्य समझी जाती है तो वह स्वयं अपना बिल क्यों न उपस्थित करे। इसका यह अर्थ हुआ कि नेतृत्व उसको उसका अधिकार ही नहीं प्रदान करता वरन् उसको क़ानून-निर्माण के प्रति सजग भी बनाता है और इस प्रकार उसकी अन्तिम सत्ता को क़ायम भी रखता है।

(६) नेतृत्व क़ानून-निर्माण-कार्य को समिति-भवनों से मुक्त करता है···जहाँ निजी स्वार्थ सरलता से प्रभावित हो जाने वाले सदस्यों के साथ मिल कर षड्यन्त्र रचते रहते हैं।

(७) व्यवस्थापिकाओं में दलगत कार्य-क्रम के आधार पर बिलों पर वाद-विवाद होता है। परन्तु इसमें गुण और उपयोगिता के आधार पर विचार करने का अवसर प्राप्त होता है।

नेतृत्व के विपक्ष में तर्क

'नेतृत्व'[1] के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये हैं :—

(१) यह व्यवस्थापिका का स्थान ले लेता है अथवा कम से कम राज्य के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में उसका महत्व तो कम ही कर देता है।

(२) इसके कारण दोषपूर्ण मसविदा वाले और असंगत क़ानून पास हो जाते हैं क्योंकि प्रस्तुत बिलों में विषय के विशेषज्ञ भी परिवर्तन या संशोधन नहीं कर सकते और दोषपूर्ण मसविदों से अर्थ में गड़बड़ी, अनिश्चयता और अस्पष्टता आ जाती है। उनको व्यवस्थापिका द्वारा आलोचित होने का अवसर ही नहीं मिलता। नेतृत्व से इस अर्थ में असंगत क़ानून पास हो जाते हैं कि उनमें नीति अथवा उद्देश्य का तारतम्य नहीं रहता। अतः क़ानून-संग्रह स्वयं अविवेकपूर्ण क़ानूनों का ढेर हो जाता है।

(३) यह आन्दोलकों और राजनैतिक चालबाजों को जनसाधारण की अज्ञानता, सरलता और छोटे-मोटे हितों से लाभ उठाने का बढ़िया मौक़ा मिल जाता है। वे झूठी आशाओं की प्रतिज्ञा करके उसको अपने वश में कर लेते हैं और इस प्रकार अपनी गुप्त योजनाओं को पूर्ण करते हैं। ब्राइस के शब्दों में इससे दल अथवा सिद्धान्त की चिन्ता न करने वाले नेता को व्यापक परिवर्तन की योजना को उपस्थित करने का लालच बढ़ता है। वह जनता के एक वर्ग को लाभ पहुँचाने की प्रतिज्ञा करता है। वह लाभों का ऐसा हृदयग्राही चित्र खींचता है कि राष्ट्र के वास्तविक खतरों के जानने से पूर्व ही क़ानून पास हो जाता है।

(४) यह कहना अत्युक्ति होगी कि नेता धनी व्यक्ति अथवा कम्पनियाँ नेतृत्व द्वारा प्रस्तावित क़ानून पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं। अमरीका में इस प्रकार की बुराई का विशेष प्रदर्शन हुआ है।

(५) 'वैधानिक नेतृत्व' अपरिवर्तनशील विधान के नियंत्रणों को अर्थशून्य कर देता है क्योंकि जल्दी अथवा जनावेश में अहितकर क़ानून भी सरलता से पास हो जाता है।

(६) नेतृत्व के प्रयोग के पहले बुरे क़ानून का उत्तरदायित्व व्यवस्थापिका पर रक्खा जा सकता था। अब उत्तरदायित्व किसी के सर नहीं मढ़ा जा सकता। इस प्रकार नेतृत्व के परिणाम दोषपूर्ण क़ानून और अनुत्तरदायित्व हैं।

(७) अन्त में, न नेतृत्व का प्रयोग और न सूचना ही का प्रयोग उन देशों में क़ानून-निर्माण में कोई सुधार कर सका है जहाँ ये उपयोग में लाये गये हैं या लाये जा रहे हैं।[2]

१—लोवेल की पुस्तक 'पब्लिक ओपीनियन एण्ड पापुलर गवर्न्मेंट', पृ० २१७-२१६ भी देखिये।

२—लास्की ने भी ऐसे ही तर्क प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण अर्थात् 'नेतृत्व' और 'सूचना' के विरुद्ध उपस्थित किये हैं। उसकी पुस्तक 'ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स' पृ० ३२१-३२३ पढ़िये।

विद्यार्थी लोवेलकृत 'पब्लिक ओपीनियन एण्ड पापुलर गवर्न्मेंट', भाग ३, के १०—११ अध्याय, विशेष कर १२ वें और १३ वें को पढ़ कर लाभ उठा सकते हैं।

वापसी के पक्ष में तर्क

वापसी के पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये हैं :—

(१) अन्य उपकरणों की भाँति यह भी जन-सत्ता का एक उपकरण है। यदि जनता क़ानून पास करवाने का नेतृत्व ग्रहण कर सकती है; उसको स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है तो वह उन राज्याधिकारियों को क्यों नहीं निकाल सकती जो निर्वाचित होने के पश्चात जनता का विश्वास नहीं प्राप्त कर सके हैं? यह राज्याधिकारियों को अनुशासन में रखने का एक साधन है।

(२) यह राजनैतिक भ्रष्टाचार के लिये एक सदैव प्रस्तुत और शर्तिया साधन है।

(३) यह रिश्वतखोरी और धन के प्रभाव को समाप्त करने का भी एक अच्छा साधन है। वापसी के डर के मारे राज्याधिकारी लालच में आसानी से नहीं आ सकते।

वापसी के विपक्ष में तर्क

वापसी[1] के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये हैं :—

(१) जनता पूर्ण विवेकी और सर्वदर्शी नहीं होती। वह न्याय-प्रिय राज्याधिकारी को भी वापस बुला लेती है। उदाहरणस्वरूप यदि कोई वर्ग उसके कर्तव्य-पालन से अप्रसन्न हो जाता है तो वह लोगों को भड़का कर और जोश दिलाकर उसको अलग करवा देता है। इस प्रकार राज्याधिकारी असत्य प्रचार और झूठी बदनामी के शिकार हो जाते हैं।

(२) इसी झूठी निन्दा और विरोधी प्रचार के कारण दृढ़ तथा स्वतंत्र विचार वाले और जन-सेवा की भावना वाले व्यक्ति पद ग्रहण करने से इन्कार कर देते हैं। इसके परिणाम स्वरूप शासन-प्रबन्ध अधोमुख हो जाता है।

(३) पद की अनिश्चयता और संभावी दुर्भाग्य को सोच कर राज्याधिकारियों द्वारा न्यायानुकूल कर्तव्य पालन कठिन हो जाता है। इससे प्रत्येक राज्याधिकारी पराधीन रहता है। क़ानून को लागू करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। अधिकारी डरपोक और दास भावना युक्त हो जाते हैं।

(४) वापसी का प्रभाव न्यायाधिकारियों पर विशेषकर बुरा पड़ता है। अधिक बुरा प्रभाव तो तब पड़ता है जब न्यायकारिणी के निर्णय ही अस्वीकृत कर दिये जाते हैं। न्यायाधीश के निर्णय का आधार केवल लोकमत नहीं होता इसका आधार तथ्य, साक्ष और क़ानून के अर्थ और प्रकृति का गम्भीर अनुशीलन होता है। ऐसे जटिल और विशेष कार्य को जन-साधारण के निर्णय के लिये छोड़ देना अज्ञानता, अन्धविश्वास और अयोग्यता का शासन स्थापित करना है। इस प्रकार की वापसी का परिणाम यह होगा कि न्यायाधीश मनमानो निर्णय देंगे; वे न्याय-प्रियता और स्वतंत्रता से काम नहीं कर सकेंगे और चारों ओर भ्रष्टाचार दृष्टिगोचर होगा।

१—वापसी के विरुद्ध लोवेल के तर्कों के लिये उसकी पुस्तक 'पब्लिक ओपीनियन एण्ड पापुलर गवर्न्मेंट'; पृ० १४७ पढ़िये।

(५) बहुधा इसका उपयोग सार्वजनिक हित के लिये न किया जाकर व्यक्तिगत शत्रुता के कारण होगा।

(६) यदि इसका प्रयोग व्यवस्थापकों के भी साथ किया जायेगा तो वे बेचारी भेड़ों के समान हो जायेंगे अर्थात् वे केवल दूतों की भाँति होंगे उनके कोई अपने विचार नहीं होंगे।

वापसी पर लास्की के विचार

वापसी का प्रयोग व्यापक रूप के नहीं हुआ है। अमरीकी संयुक्त राज्य में जहाँ इसकी परीक्षा ली गई है, इसका प्रयोग केवल कार्यकारिणी और न्यायकारिणी में ही किया गया है, व्यवस्थापकों के संबंध में नहीं। आधुनिक लेखक साधारणतः इसके प्रयोग के विरोधी देख पड़ते हैं। परन्तु लास्की[1] महोदय व्यवस्थापकों के विरुद्ध एक ऐसी 'सीमित वापसी' का समर्थन करते हैं जिसका प्रयोग कभी-कभी हो। लास्की महोदय इसके प्रयोग के लिये निम्नलिखित आवश्यकतायें बतलाते हैं :—

(१) इसका उपयोग सदस्य के निर्वाचन के एक वर्ष बाद ही होना चाहिये।

(२) इसका उपयोग व्यवस्थापिका की अवधि के अन्तिम वर्ष में नहीं होना चाहिये।

(३) तब तक वापसी का उपयोग न किया जाय जबतक कि सदस्य के आधे निर्वाचक इसकी मांग न उपस्थित करें। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग उपनिर्वाचन द्वारा हो।

(४) वापसी तभी कार्यान्वित हो जब मतदाताओं का दो-तिहाई इसको चाहता हो।

अन्त में उनका कहना है कि इस प्रकार की वापसी[2] प्रतिनिधि-शासन पर अविश्वास का सूचक नहीं है वरन् व्यवस्थापिका को चेतावनी देने का साधन है कि वह अपने को विश्वास योग्य बनाये।

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स पृ० ३२०—३२१

२—जहाँ लास्की महोदय 'सीमित वापसी' की सिफ़ारिश करते हैं वहाँ ब्राइस महाशय ने भी 'सूचना' या 'नेतृत्व' अर्थात् प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के दोषों को कम करने के लिये कुछ आवश्यकतायें बतलाई हैं। उनकी पुस्तक 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़', जिल्द २, पृ० ४७२-७४ में इन आवश्यकतों को देख सकते हैं।

प्रतिनिधि-शासन की सफलता की आवश्यकताओं पर एक टिप्पणी

बेज्हाट कथित पाँच आवश्यकतायें

प्रतिनिधि-शासन की सफलता के लिये बेज्हाट ने निम्नलिखित पाँच आवश्यकतायें बतलाई हैं :—

(१) इसके लिये बुद्धि और सदाशयता से कुछ अधिक आवश्यक है। जनता दलों में विभक्त रह सकती है परन्तु शासन के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में उसमें एकता की मूल भावना होनी चाहिये और उसे वैषम्य और विरोध की ओर नहीं जाना चाहिये।

(२) किसी भी वर्ग को सदैव के लिये राज्य-शक्ति से वंचित नहीं रखना चाहिये जिससे कि वह हमेशा असन्तोष प्रदर्शित करता रहे। सामिष्टिक लाभों में सभी वर्गों का भाग रहना चाहिये।

(२) राष्ट्र में सहिष्णुता और समझौते की भावना रहनी चाहिये। सभी वर्गों को एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करना चाहिये और एक दूसरे के दृष्टिकोण का सम्मान करना चाहिये। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उसका परिणाम आपसी मतभेद होगा।

(४) उनमें सम्मान की भावना होनी चाहिये। चाहे वह राजा के लिये हो चाहे विधान के लिये।

(५) उनको अज्ञानी जनसाधारण के प्रभाव में अधिक नहीं आना चाहिये क्योंकि इसका अर्थ होगा अज्ञानता का प्रभुत्व विवेक पर, संख्या का ज्ञान पर।

(अंग्रेजी विधान के संदर्भ में उपरोक्त के विषय में लास्की विचारों के लिये कृपया उनकी पुस्तक 'दि पार्लिमेंटरी गवर्नमेंट इन इंगलैंड', अध्याय १, प्रारम्भिक देखिये)

मिल कथित आवश्यकतायें

इसी प्रकार मिल महोदय ने भी प्रतिनिधि-शासन की सफलता के लिये निम्न-लिखित आवश्यकतायें बतलाई हैं:—

(१) जनता में इसकी स्थापना की इच्छा होनी चाहिये।

(२) उसमें इसकी रक्षा करने की इच्छा और योग्यता होनी चाहिये।

(३) उसमें इसके द्वारा निश्चित किये हुये कर्तव्यों का पालन और कार्यों को करने की इच्छा और योग्यता होनी चाहिये।

असफलता पर मिल के विचार

उन्होंने उन सामाजिक परिस्थितियों को भी बताया है जहाँ यह असफल होगा :—

(१) जहाँ जनता ने आज्ञापालन का अर्थ नहीं समझा है अर्थात् उच्छृंखल स्वभाव वाली जनता इसको सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं कर सकती।

(२) जनता की हद दर्जे की निष्क्रियता और कठोरता के सामने तुरन्त आत्म-समर्पण कर देने की भावना दोनों इसकी सफलता में बाधक होंगी।

(३) स्थानीयत्व की भावना भी इसके द्वारा सार्वजनिक लाभ पहुँचने में बाधा डाल सकती है।

(४) दो मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ—(१) दूसरों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा और (२) अपने ऊपर दूसरों के प्रभुत्व की अनिच्छा राष्ट्र को प्रतिनिधि-शासन के अयोग्य बना देती है।

सबसे बड़े खतरे प्रतिनिधि-शासन[1] के लिये अज्ञानी और अयोग्य के हाथ में शक्ति सौंप देने और ऐसे स्वार्थों के वशीभूत हो जाने में रहता है जो जाति के व्यापक हित से विभिन्न होते हैं।—रेप्रेज़ेन्टेटिव गवर्न्मेंट, अध्याय ४ और ६।

१—विद्यार्थियों को भारत में प्रतिनिधि-शासन की सफलता और असफलता के संबंध में इन बातों पर स्वयं विचार करके इनको लागू करना चाहिये। और उन्हें यह देखना चाहिये कि आया शासन् का यह रूप हमारे देश में सफल होगा। यदि उन्हें शंका हो तो वे पूरी समस्या पर विचार करके इसको वास्तविक रूप में सफल बनाने के लिये दोषों को दूर करने के सुझाव उपस्थित कर सकते हैं।

अध्याय १०

दल प्रणाली

हमने देख लिया है कि क़ानून-निर्माण का कार्य व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा किया जाता है। ये सभायें जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाई जाती हैं। इन प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिये समस्त देश को भिन्न-भिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है और इन्हीं क्षेत्रों में से व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों का चुनाव होता है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिये, जो देश की सेवा करना चाहता है, स्वयं इन बड़े क्षेत्रों में निर्वाचन में सफल होना आसान नहीं है। स्वयं तो वह अपने को अपने निर्वाचकों से परिचित कराने में भी असमर्थ होगा। इसलिये वह उन व्यक्तियों के साथ मिलकर काम करना चाहेगा जो सार्वजनिक मामलों पर उसके विचार से सहमत हों। इसका यह अर्थ हुआ कि वह किसी एक ऐसे दल का सदस्य होगा जो निर्वाचन में अपने सदस्यों को सफलता के लिये प्रयत्न करेगा।

राजनीतिक दल का अर्थ

इस प्रकार के दल का क्या अर्थ होगा? साधारण रूप से तो हम दल का अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से लगाते हैं जो किसी एक समस्या पर एक सा विचार रखते हैं और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक हो कर प्रयत्न करते हैं। इसलिये राजनीतिक दल का तात्पर्य उन व्यक्तियों से होता है जो तत्कालीन समस्याओं पर एक विचार के होते हैं और मिलकर अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं। एडमण्ड बर्क पहला आधुनिक राजनीतिज्ञ था जिसने राजनीतिक दल की परिभाषा दी। उसके अनुसार राजनीतिक दल 'उन व्यक्तियों का एक संगठन है जो किसी सिद्धान्त के आधार पर एकमत होकर राष्ट्रीय हित को बढ़ाने का मिल कर प्रयत्न करते हैं।' बर्क का अनुसरण करते हुए दूसरे आधुनिक लेखकों ने भी अपनी-अपनी परिभाषा दी है। लीकॉक के कथनानुसार 'राजनीतिक दल से हमारा तात्पर्य नागरिकों के उस संगठित समूह से है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक समस्याओं पर या तो वे एकमत के होते हैं या एकमत स्वीकार कर लेते हैं और एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अपने मत का प्रयोग करते हैं और शासन-सूत्र को ग्रहण करने की कोशिश करते हैं। वे एक क़िस्म की संयुक्त कम्पनी का निर्माण करते हैं जिसमें प्रत्येक सदस्य अपना भाग अपनी राजनीतिक शक्ति के रूप में देता है। इस प्रकार वे मिल कर इतनी शक्ति हासिल कर लेते हैं जितनी वे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त कर सकते।'[1] इसी प्रकार गिलक्राइस्ट ने भी अपनी परिभाषा दी है। उसके अनुसार 'राजनीतिक दल ऐसे नागरिकों का संगठित समूह

१—लीकॉक—एलिमेंट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृष्ठ ३११

है जो एक क़िस्म के राजनीतिक विचारों में विश्वास रखते हैं और एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करके शासन को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करते हैं। राजनीतिक दल का मुख्य उद्देश्य अपने मत तथा नीति को प्रचलित करना होता है। ऐसा करने के लिये राज्य की व्यवस्थापिका सभा पर अपना प्रभुत्व जमाना आवश्यक है। व्यवस्थापिका सभा पर प्रभुत्व स्थापित करने का तात्पर्य हुआ कि सभा में उसी दल के प्रतिनिधि बहुमत में हों। इसीलिये राजनीतिक दलों का संगठन अच्छी तरह से किया जाता है। जिस दल का आदेश जितने ही अधिक सदस्य मानते हैं वह दल उतना ही क़ानून-निर्माण में अधिक अधिकार रख सकता है।'[1]

दलों का स्थान

इन परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनिधि-प्रजातन्त्र को उचित रूप से चलाने के लिये राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। इनके अभाव में न तो निर्वाचन का संगठन ही हो सकता है और न निर्वाचकों का निर्णय प्राप्त करने के लिये उनके सम्मुख समस्यायें ही रक्खी जा सकती है। बिना राजनीतिक दलों के व्यवस्थापिका सभा का भी कार्यक्रम ठिकाने से नहीं चल सकता क्योंकि दलों के बग़ैर व्यवस्थापिका सभा यह निश्चय नहीं कर सकती कि किस प्रकार के क़ानून जनता के लिये लाभकारी होंगे। मैरियट भी हमारे कथन का समर्थन ही करता है। वह कहता है कि 'निसन्देह दलों का संगठन पूर्णरूप से ग़ैर सरकारी होता है। वे धुंधले प्रकाश में कार्य करते हैं; (अर्थात्) उनके दफ़्तरों में वह शान-शौकत नहीं पाई जाती जो बड़े सरकारी विभागों में मिलती है। किन्तु प्रतिनिधि-प्रजातन्त्र-प्रणाली में—शायद प्रजातन्त्र के किसी रूप के शासन में भी उनका कार्य महत्वपूर्ण ही नहीं वरन् अत्यावश्यक है। दल के अध्यक्ष और केन्द्रीय कार्य-समिति से लेकर निर्वाचन क्षेत्र के एजेन्ट और वार्ड समिति तक दलों का संगठन आधुनिक प्रजातन्त्र में महत्वपूर्ण कार्य करता है।'[2] मेरियट के इस कथन को ब्राइस ने और भी स्पष्ट कर दिया है। उसका कहना है कि लोकप्रिय शासनों में दलों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। प्रत्येक स्थान पर नागरिक को मत प्रकट करने का अधिकार प्राप्त होता है और उसका यह कर्त्तव्य होता है कि निर्वाचन के अवसर पर वह उसका प्रयोग करे। प्रत्येक दल के लिये, जो शासन को अपने हाथों में लेना चाहता है, यह आवश्यक हो जाता है कि वह ज्यादा से ज्यादा मतों को अपनी तरफ लाये। इसके लिये वह निर्वाचकों का स्थानीय संगठन करता है, भाषण तथा लेख द्वारा उनसे अपील करता है और उन्हें मत देने के स्थान पर लाता है। चूँकि अब राजनीतिक झगड़े में तलवारों का स्थान मतों

१—गिलक्राइस्ट—प्रिंसिपिल्स ऑफ पॉलिटिकल साइंस, पृष्ठ ३२७-२८

सेट ने भी अपनी 'अमेरिकन पार्टीज़ ऐण्ड इलेक्शन्स' में राजनीतिक दल की परिभाषा देते हुए कहा है कि राजनीतिक दल वह संगठित समूह है जो शासन की नीति तथा इसके व्यक्तियों पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

२—मेरियट—मेकेनिज्म ऑफ़ मॉडर्न स्टेट, जिल्द २, पृष्ठ ४२६-३०

द्वारा ले लिया गया है इसलिये प्रत्येक नागरिक किसी न किसी दल की तरफ हो जाता है और अपने नेताओं का कुछ न कुछ कहना मानता है।[1]

दल-शासन की उत्पत्ति

किन्तु इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि राजनीतिक दल का शासन-यन्त्र के आवश्यक पुर्जे के रूप में आविर्भाव यकायक नहीं हुआ। प्रजातन्त्र के साथ-साथ इसका भी विकास हुआ है। ब्राइस का यह कहना कि राजनीतिक दल प्रजातन्त्र से पुराने हैं ठीक अवश्य है क्योंकि मध्य काल में भी ग्वेल्फ्स (Guelfs) और गिबेलीन्स (Ghibellines) ने जर्मनी को दो विरोधी दलों में बाँट रक्खा था। (रोम में तो हमें समाज ही प्लैबियन्स-Plebians और पैट्रिसियन्स—Patricians नामक दो वर्गों में विभाजित मिलता है) किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनका सम्बन्ध शासन-यन्त्र के कार्यों से था। वे स्वयं शासन के रूप में भी नहीं आये थे। इसलिये वास्तव में हम जिसे दल प्रणाली या दलों द्वारा शासन कहते हैं वह भी अँग्रेज़ जाति की ही देन है। ऐतिहासिक रूप से दल प्रणाली का विकास इंगलैण्ड के शासन-विधान के विकास से सम्बन्धित है। इसलिये अगर इंगलैण्ड की पार्लिमेन्ट व्यवस्थापिका सभाओं की जननी कही गई है तो वहाँ के राजनीतिक दल भी आधुनिक दलों के पूर्वज कहे जा सकते हैं। जैसा कि रेडलिश (Redlich) ने कहा है आधुनिक अंग्रेज़ी पार्लिमेन्ट के मामलों में दलों का अस्तित्व तय मान लिया गया है और यही बात सभात्मक शासन वाले प्रत्येक राष्ट्र में अपना ली गई है।

दलों की मनोवैज्ञानिक उत्पत्ति

किन्तु शासन के साधन तथा ढंग के रूप में दलों की यह ऐतिहासिक व्याख्या उनके उत्पत्ति की व्याख्या नहीं मानी जा सकी। आखिर दलों का आविर्भाव क्यों होता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका हमने अभी कोई उत्तर नहीं दिया है। प्रारम्भ में ही हमें कह देना चाहिए कि यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। मनुष्यों की योग्यता तथा उनकी मानसिक शक्तियों के प्राकृतिक अन्तर[2] को स्वीकार कर लेने के पश्चात् हम यह कैसे मान सकते हैं कि सभी विषयों पर सभी मनुष्य एक मत के होंगे और उनमें कोई मतभेद न होगा। इसका यह तात्पर्य हुआ कि जो लोग एकमत के होंगे वे एक राजनीतिक दल बनायेंगे और दूसरे मत से सहमत होने वाले लोग अपना दूसरा दल बनायेंगे।

१—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रैसीज़, जिल्द १, पृष्ठ १२५

२—राजनीतिक दलों की उत्पत्ति-सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों के लिये कृपया लास्की की 'ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृष्ठ ३१३ पढ़िये।

१९वीं सदी के रोमर (Rhomer) नामक लेखक ने दलों की उत्पत्ति का कारण मनुष्य के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अन्तर बताया है। इस प्रकार युवक लोक स्वभावतः नवीनतावादी होते हैं, प्रौढ़ लोग सुधार वादी।

दलों की चार किस्में

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुधा लोग चार किस्मों में विभाजित किये जा सकते हैं।[१] कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो किसी भी जाति, वर्ग या सम्प्रदाय के क्यों न हों समय के साथ चलना चाहते हैं और वर्तमान संस्थाओं में सुधार करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोग उदार (Liberals) कहे जाते हैं। इनके विपरीत कुछ लोग ऐसे होते हैं जो परिवर्त्तन से घबड़ाते हैं और संस्थाओं को ज्यों का त्यों रखना चाहते हैं। इस प्रकार के लोग अनुदार (Conservatives) के नाम से पुकारे जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो वर्त्तमान संस्थाओं से भी असन्तुष्ट रहते हैं और प्राचीन संस्थाओं, प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों को फिर से वापस लाना चाहते हैं। इस क़िस्म के लोग प्रतिक्रियावादी (Reactionray) कहे जाते हैं। अन्त में ऐसे लोग आते हैं जो वर्त्तमान संस्थाओं से पूर्णरूप से असन्तुष्ट हैं और सुधार के लिये भी प्रतीक्षा नहीं करना चाहते। वे इन संस्थाओं को जड़ से बरबाद कर अपनी इच्छानुसार नई संस्थाओं को स्थापित करना चाहते हैं चाहे उसके लिये उन्हें खूँरेजी और क्रान्ति ही क्यों न करनी पड़े। ऐसे लोगों को नवीनतावादी (Radical) या पूर्ण सुधारवादी कहते हैं।

टार्डे ने दलों की उत्पत्ति का कारण मनुष्य की नक़ल करने की प्रवत्ति बताई है। कुछ लोग नये रस्म को नक़ल करते हैं और कुछ पुराने। कृपया लोवेल की 'पबलिक ओपीनियन एण्ड पापुलर गवर्न्मेंट' पृष्ठ ६४-६५ देखिये।

इसी प्रकार सर हेनरी मेन दलों की उत्पत्ति का मूल मनुष्य की लड़ने की प्रवृत्ति में बताते हैं। उनका कहना है कि दल प्रणाली मनुष्य की प्रारंभिक लड़ने की प्रवृत्ति का शेष तथा फल है। नगर के बाहर का युद्ध नगर के अन्दर के युद्ध के रूप में बदल गया है। इससे विशेष लाभ यह हुआ है कि राष्ट्र का वह भाग जो सशस्त्र शत्रु का रूप धारण कर सकता था केवल दलमात्र होकर रह गया है।' —'पापुलर गवर्न्मेंट' पृष्ठ १०१

१—अपनी पुस्तक 'अमेरिकन पार्टीज़ ऐण्ड एलेक्शन्स' पृष्ठ १४५-१५३ में सेट ने दलों के आधारों को संक्षेप में (१) सम्प्रदाय (२) जाति (३) स्वभाव तथा (४) आर्थिक हित बताया है। सम्प्रदाय के आधार पर भारतवर्ष में हिन्दू महासभा और मुसलिम लीग दो दल हैं जो कुछ अंश में तो साम्प्रदायिक हैं और कुछ अंश में राजनीतिक। जाति के आधार पर भारतवर्ष तथा दक्षिणी अफ्रीका में यूरोपीय तथा भारतीय दल हैं। स्वभाव के आधार पर मैकाले का कहना था कि कुछ लोग तो स्वभावतः प्राचीनवादी होते हैं और बड़ी सतर्कता तथा सावधानी के साथ परिवर्त्तन पर राज़ी होते हैं। इनके विपरीत कुछ ऐसे होते हैं जो अत्यन्त आशावादी होते हैं और परिवर्त्तन से नहीं घबड़ाते। ऐसे लोग सतत उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। पहली क़िस्म के लोगों का दल शान्ति-प्रिय और सत्ता को मनाने वाला होता है। दूसरी किस्म का स्वतन्त्रता और उन्नति पर ज़ोर देता है। क़िन्तु मनुष्यों के स्वभाव में इस क़िस्म का स्पष्ट अन्तर नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त कुछ लोग प्रतिक्रियावादी होते हैं जिनकी दृष्टि हमेशा भूत पर रहती है और कुछ लोग नवीनतावादी होते हैं जो हमेशा भविष्य पर ही ज़ोर देते हैं। अन्त में आर्थिक

राजनीतिक दल विभिन्न हितों का संश्लेषण होता है

किन्तु यह इस समस्या की बड़ी सरल व्याख्या हुई। इसको भली भाँति समझने के लिये अधिक विश्लेषण की आवश्यकता है। लोग एक साथ कार्य करने के लिये किसी मनोवैज्ञानिक प्रेरणा के कारण नहीं तैयार होते। वे एक दल में इसलिये शामिल होते हैं कि जीवन के विभिन्न पहलुओं पर वे एक तरह प्रभावित होते हैं। इस प्रकार कभी तो राजनीतिक दलों का विभाजन राजनीतिक मसलों के आधार पर होता है जैसे 'जनराज्यवादी' और 'राजदल'। कभी वे आर्थिक मसलों के आधार पर अलग हो जाते हैं जैसे 'स्वतंत्र व्यापारवादी' और 'संरक्षणवादी'। कभी-कभी दो दल साम्प्रदायिक, सामाजिक, जातीय और वर्गगत हितों के आधार पर अलग हो जाते हैं। इसका यह तात्पर्य हुआ कि राजनीतिक दलों के वास्तविक स्वभावों को समझने के लिये हमें उन राजनीतिक तथा सामाजिक शक्तियों की तरफ़ ध्यान देना चाहिए जो मिल कर दलों को बनाती हैं। केवल ऐतिहासिक विकास या व्यक्तियों की मानसिक प्रवृत्तियों की व्याख्या से हम दलों के वास्तविक स्वभाव को

हित के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिन लोगों के पास पर्याप्त सम्पत्ति है वे हमेशा प्राचीन-वादी तथा प्रतिक्रियावादी होंगे क्योंकि वे परिवर्त्तन से हमेशा डरेंगे और शान्ति, सुरक्षा तथा राजनीतिक सत्ता को क़ायम रखना चाहेंगे। जिन लोगों के पास कोई भी सम्पत्ति नहीं है वे हमेशा परिवर्त्तन के पक्ष में रहेंगे क्यों उन्हें इसके फलस्वरूप किसी नुकसान का डर नहीं। नये समाज में उन्हें उन्नति की ही आशा दिखाई देती है।

अपनी 'पार्लिमेन्टरी गवर्न्मेंट इन इंगलैण्ड' पृष्ठ ६८ में प्रो० लास्की दलों के संगठन का मुख्य आधार आर्थिक हित को ही मानते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि साम्प्रदायिक आधार पर संगठित दलों को भी किसी आर्थिक योजना को अंगीभूत करना पड़ता है। इस प्रकार वे कहते हैं कि "वे सभी दल जो कुछ काल तक स्थायी रहते हैं आर्थिक आधार पर संगठित होते हैं। यही बात इंगलैण्ड के ह्विग और टोरी तथा अमरीका के जन-राज्यवादी और प्रजातंत्रवादी दलों पर भी लागू होती है। यही बात इंगलैण्ड के मज़दूर दल तथा अमरीका के किसान दल के साथ भी लागू है। सम्प्रदाय के आधार पर संगठित किये हुए दल ज़्यादा अरसे तक नहीं चल सकते। अगर कभी ऐसा हुआ भी है तो उन्हें आर्थिक योजना को अपनाना पड़ा है। यही नियम इंगलैंड के आइरिश तथा बेल्जियम के फ़्लेमिश दलों के साथ भी लागू होता है जो राष्ट्रीय दल हैं। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माँग केवल विदेशी शक्ति द्वारा आर्थिक सुविधाओं के अपहरण का विरोध है।' प्रो० लास्की का यह विचार सही मालूम पड़ता है क्योंकि भारतवर्ष में मुसलिम लीग ने भी, जिसे हमने कुछ अंश में साम्प्रदायिक और कुछ अंश में राजनीतिक दल कहा है, आर्थिक योजना बनाना प्रारम्भ कर दिया है। अपने कराची के अधिवेशन में इसने एक समिति नियुक्त की थी जिसको पाकिस्तान प्रदेशों की आर्थिक, सामाजिक तथा व्यवसायिक उन्नति के लिये योजना बनाने का कार्य सौंपा गया था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भी अपनी आर्थिक योजना है और यह सब आर्थिक सुविधाओं के अपहरण के विरोध ही में किया गया है।

नहीं समझ सकते। मेरियम के अनुसार 'दल उन सभी सामाजिक हितों का केन्द्र है जो शासन की नीति या कार्य से प्रभावित होते हैं। दल शासन का निकटतम रूप भी है। यह वास्तविक शासन भी कहा जा सकता है। दलों के सिद्धान्तों की घोषणा और उनके सदस्यों के निर्वाचन के संघर्ष में सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, उनका आपस में संघर्ष भी होता है और समझौते के आधार पर पारस्परिक मुठभेड़ बचाई जाती है। इस प्रकार रेलवे, मोटर-लारी तथा जहाज; बड़े व्यवसायी तथा छोटे सौदागर; कृषक तथा उपभोक्ता और संगठित तथा असंगठित संघ; उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, और पश्चिमी; सामाजिक, साम्प्रदायिक और विभिन्न श्रेणियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले तथा प्राचीन और अर्वाचीन सिद्धान्तों, और महत्वाकांक्षी नेताओं की दो सेनायें आमने-सामने खड़ी हो जाती हैं। ये सब मिलकर एक समझौते पर पहुँचते हैं और इनमें से कुछ लोग एक दल बना लेते हैं और कुछ दूसरा। अब दल को भली भाँति समझने के लिये दल को बनाने वाली इन विभिन्न शक्तियों को भली भाँति समझना आवश्यक हो जाता है।'[1]

सारांश

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक दल मनुष्यों की मानसिक प्रवृत्तियाँ, उनके हितों तथा सामाजिक परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होते हैं। हमारे उपरोक्त कथन को ब्राइस ने बड़ी सुन्दरता के साथ रक्खा है: 'यद्यपि किसी दल के अस्तित्व का मुख्य कारण कुछ सिद्धान्तों का प्रचार कहा जाता है किन्तु इन अमूर्त सिद्धान्तों के साथ एक मूर्त अंग भी होता है। अमूर्त अंग तो इस माने में है कि यह एक ही मत को मानने वाले बहुत से मस्तिष्कों का प्रतिनिधित्व करता है। मूर्त अंग में वे व्यक्ति शामिल होते हैं जो उपरोक्त मत को मानते हैं।'[2]

दल के उद्देश्य

इस प्रकार ब्राइस ही के अनुसार 'सभी दल चार प्रवृत्तियों या शक्तियों के बल पर स्थायी रहते हैं और कार्य करते हैं। ये शक्तियाँ सहानुभूति, अनुकरण, प्रतियोगिता और कलह-प्रियता हैं। अगर दलों की उत्पत्ति बौद्धिक विश्वास के कारण होती है तो इसे जीवन तथा शक्ति मनोवेगों द्वारा ही दान की जाती है'। इसका यह तात्पर्य हुआ कि एक बार संगठित हो जाने के पश्चात् दलों का कार्य मनोवैज्ञानिक प्रेरणा ही के कारण चलता रहता है। सहानुभूति से यहाँ हमारा तात्पर्य दूसरों में एक क़िस्म की मनोभावनाओं को देख कर प्रभावित हो जाने से ही नहीं वरन् मनुष्य की उन समस्त प्रवृत्तियों से है जिनकी वजह से वह दूसरों की तरह अनुभव करता है और कार्य करता है। यह केवल अनुकरण मात्र नहीं है। इसमें भावनाओं का समावेश होता है और इनके फल-स्वरूप सामूहिक भावना का जन्म होता है। इस सामूहिक भावना के परिणाम स्वरूप

१—मेरियम—अमेरिकन पार्टी सिस्टम, पृष्ठ ५८-५९

२—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रैसीज़, जिल्द १, पृष्ठ १२६

पक्षानुराग की उत्पत्ति होती है जो जातीय भावना, वर्ग-चेतना या राष्ट्रीय भावना का रूप ले सकती है। इसी से प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धा पैदा होती है और इनसे कलह और वैर बढ़ जाता है। इस प्रकार अपना उद्देश्य तथा गौरव प्राप्त करने के लिये एक दल अपने विरोधी दल को उचित तथा अनुचित सभी ढंगों से नीचा दिखाने और लोगों की दृष्टि में अयोग्य तथा निकम्मा साबित करने का प्रयत्न करता है।

दल संगठन

किन्तु यह सब एक अस्थायी जनसमुदाय द्वारा नहीं हासिल किया जा सकता। दलों को प्रभावशाली होने के लिये आवश्यक है कि इनका संगठन स्थानीय शाखाओं से लेकर केन्द्र तक हो। इसे हम अपने देश ही के विभिन्न दलों के संगठन के आधार पर भली भाँति समझ सकते हैं। यह साधारण तौर से मानी हुई बात है कि भारत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही सबसे सुसंगठित दल है। केवल गाँवों और तहसीलों ही में इसकी शाखायें नहीं हैं वरन् ज़िलों और सूबों में भी कांग्रेस की कमेटियाँ स्थापित हैं। ये सब एक केन्द्रीय संगठन की मातहती में कार्य करती हैं। कांग्रेस का सभापति इस संगठन का अध्यक्ष होता है और केन्द्रीय संगठन के सभी कार्यों का ब्योरा मन्त्री द्वारा रक्खा जाता है। इसी प्रकार हिन्दू महासभा, मुसलिम लीग, उदार दल तथा कम्युनिस्ट पार्टी के भी अपने-अपने संगठन हैं। इन दलों के भी अपने केन्द्रीय आफ़िस और स्थानीय शाखायें हैं। प्रत्येक दल अपना कोष रखता है और इनके अपने सिद्धान्त तथा योजनायें होती हैं जिन्हें ये वार्षिक अधिवेशन में देश के सामने रखते हैं।

दलों के कर्त्तव्य

इस प्रकार प्रजातन्त्रात्मक शासनों में अपने संगठन के बल पर ही दल कार्य करने के योग्य हुए हैं। प्रश्न यह उठ सकता है कि आज के राजनीतिक जीवन में दलों के क्या कर्त्तव्य हैं? प्रोफ़ेसर मेरियम[1] ने दलों के निम्नलिखित कर्त्तव्य[2] गिनाये हैं:—

१—मेरियम—अमेरिकन पार्टी सिस्टम, पृष्ठ ३९१-४०४। कृपया ब्राइस की 'मॉडर्न डिमोक्रैसीज़' जिल्द १, पृष्ठ १२८ भी देखिये।

२—लोवेल ने अपनी पुस्तक 'पब्लिक ओपिनियन एण्ड पापुलर गवर्न्मेंट्स' के पृष्ठ ६७-७० में दल का कर्त्तव्य इस प्रकार बताया है:—

(१) ये मतदाताओं को सामूहिक रूप में कार्य करने के योग्य बनाते हैं।

(२) ये सार्वजनिक निर्णय के लिये मसले पेश करते हैं।

अपनी 'अमेरिकन पार्टीज़ एण्ड इलेक्शन्स' के पृष्ठ १४१-१४५ में सेट ने लिखा है कि राजनीतिक दल (१) शासन की नीति सामने रखते हैं और (२) शासन पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करते हैं। बर्क ने नीति निश्चित करने के कार्य पर अधिक ज़ोर दिया है। उसका कहना है कि राजनीतिक दल सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देते हैं। किन्तु बहुधा राजनीतिज्ञ शासन के अधिकारियों पर अधिक ज़ोर देते हैं। वे एक नीति को इसलिये नहीं अपनाते कि

(१) सरकारी अधिकारियों का चुनाव,

(२) सार्वजनिक नीति का स्थिर करना,

(३) शासन की समालोचना,

(४) राजनीतिक शिक्षा,

(५) और शासन तथा व्यक्ति के बीच मध्यस्थ का कार्य करना।

अधिकारियों के चुनाव से हमारा तात्पर्य यह है कि दलों को निर्वाचन के लिये संगठन करना पड़ता है और लड़ना पड़ता है। जिन सदस्यों को बहुसंख्या में मत मिलते हैं वे व्यवस्थापिका में जनता के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। इसलिये प्रत्येक दल अपने में से सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को ही चुनता है। राजनीतिक दल इस प्रकार एक बहुत बड़ी चलनी के समान हैं जिससे होकर निर्वाचन में आने वाले लोग चाल कर चुने जाते हैं।

सार्वजनिक नीति स्थिर करने का तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक दल विभिन्न समस्यायों पर जनता के सामने अपने सुझाव तथा योजनायें रखता है। इस प्रकार निर्वाचकों को विभिन्न दलों के सिद्धांतों को जानने का अवसर मिलता है। इसके पश्चात् दल के हित तथा सार्वजनिक लाभ के मुताबिक़ इन सिद्धान्तों की व्याख्या की

वे उसके सिद्धान्तों पर विश्वास रखते हैं वरन् इसलिये कि उस नीति को अपनाकर वे अपने मतदाताओं को खुश रख सकेंगे और ज़्यादा अरसे तक शासन को अपने हाथों में रक्खेंगे।

मुनरो ने अपनी पुस्तक 'गवर्न्मेंट ऑफ़ दि युनाइटेड स्टेट्स' पृष्ठ १३३-१३६ में दलों के चार कर्त्तव्य बतलाये हैं :—

(१) जनता के लिये राजनीतिक मसलों को तय करना,

(२) उम्मीदवारों को चुनना,

(३) सामूहिक तथा स्थायी उत्तरदायित्व को स्थापित करना और

(४) नागरिक शिक्षा के साधन के रूप में कार्य करना तथा लोगों की दिलचस्पी को कायम रखना।

अगर इन कार्यों का प्रतिपादन दलों द्वारा नहीं किया जाता तो ये सब के कार्य हो जायँगे और इस प्रकार किसी के भी नहीं रह सकेंगे। तात्पर्य यह हुआ कि कोई भी इन कार्यों में विशेष दिलचस्पी नहीं लेगा।

पैटरसन ने भी अपनी पुस्तक 'अमेरिकन गवर्न्मेंट' पृष्ठ १७५-७६ में दलों के निम्नलिखित कर्त्तव्य बतलाये हैं :—

(१) ये (दल) राष्ट्र की एकता की भावना को बढ़ाते तथा इसे कायम रखते हैं।

(२) जहाँ कहीं भी शासन के विभिन्न अंगों में पृथकता रहती है दल उनमें एकता लाते हैं।

(३) वे आर्थिक हितों के संघर्षों की तीव्रता को कम करते हैं क्योंकि विभिन्न आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व दलों द्वारा हो जाता है।

(४) वे निर्वाचकों को अपना कर्त्तव्य करने का आदेश देते हैं।

जाती है, इन पर वादविवाद होता है और इनका समर्थन तथा विरोध किया जाता है। इस कार्य के लिये सार्वजनिक सभायें की जाती हैं, पर्चे बाँटे जाते हैं पोस्टर चिपकाये जाते हैं और दलों तथा उनके उम्मीदवारों की सहायता के लिये सार्वजनिक प्रेस की भी मदद ली जाती है। इस प्रकार की व्याख्या, वादविवाद तथा पचार से निर्वाचकों को विभिन्न योजनाओं की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ ज्ञात हो जाती हैं, क्योंकि सभी समस्यायों का स्पष्टीकरण विरोधी दलों की आलोचना तथा समालोचना से हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप मतदाता केवल उसी उम्मीदवार को मत देता है जिसके दल के सिद्धान्त को वह अधिक से अधिक पसन्द करता है।

शासन की समालोचना का यह अर्थ हुआ कि अगर बहुसंख्यक दल ने मन्त्रि-मंडल का निर्माण किया है और शासन कार्य चला रहा है तो दूसरे दल जो अल्पसँख्या में है विरोध पक्ष में आ जाँय। इस हालत में शासन सत्ता को हाथ में रखने वाला दल विरोधी पक्ष की आलोचना के डर से व्यवस्थापिका के सामने सोच-समझ कर ही प्रस्ताव पेश करेंगे और विरोधी पक्ष वाले शासक दल द्वारा पेश किये गये प्रस्तावों की त्रुटियों तथा दोषों की कड़ी आलोचना करेंगे। इस प्रकार दलों द्वारा शासन के परिणाम स्वरूप क़ानूनों का निर्माण विचार तथा वादविवाद के पश्चात् होता है। जब कभी शासक दल अपनी नीति तथा योजना को पालन करने में असफल होता है तो इसके विरुद्ध असन्तोष की भावना पैदा हो जाती है और इसे शासन-सूत्र छोड़ना पड़ता है। इस दशा में विरोधी दल वैकल्पिक सरकार के रूप में आ जाता है और देश को क्रान्ति तथा उथल-पुथल का सामना नहीं करना पड़ता। इसलिये पराजय और त्यागपत्र से बचने के लिये बहुसंख्यक दल प्रारम्भ से ही अपने सदस्यों को संगठित रखने का प्रयत्न करता है और अपने सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार दलों के संघर्ष से शासन अच्छा और उत्तरदायी दोनों बना रहता है।

राजनीतिक शिक्षा से हमारा तात्पर्य यह हुआ कि अपने सदस्यों की सहायता के लिये विभिन्न दलों द्वारा जो प्रचार किया जाता है साधारण मतदाता के लिये वह बहुत ही ज्ञानप्रद है। साधारण तौर से जनता शासन के कार्यों में दिलचस्पी नहीं लेती। किन्तु अगर उत्तरदायी शासन में मतदाताओं को इसी प्रकार रहने दिया जाय तो शासन का बुरा अन्त होगा। लेकिन दलों के प्रचार से मतदाताओं को जागरित रक्खा जाता है, उन्हें विचार करने तथा अपना निर्णय देने के लिये मजबूर किया जाता है। व्यक्तियों तथा नीति के समर्थन में प्रेस, मंच तथा व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा प्रत्येक दल मतदाताओं को शिक्षा देता है। दलों की अपीलों से जनता पर विशेष प्रभाव पड़ता है और उनमें जिज्ञासा की भावना पैदा हो जाती है जिसे हम राजनीतिक शिक्षा का प्रारम्भ कह सकते हैं।

अन्त में व्यक्ति तथा शासन के बीच मध्यस्थ से हमारा तात्पर्य यह है कि दलों द्वारा नागरिकों तथा उनके शासकों में सम्पर्क क़ायम रक्खा जाता है। दल व्यक्ति को

जाति तथा राष्ट्र से संयुक्त करने में संयुक्त चिन्ह और बकसुए का कार्य करता है।[1] यह इसलिये है क्योंकि दल के सदस्य अपने शासन की योग्यता और अच्छाई पर मतदाताओं को विश्वास कराते हैं। इस प्रकार अनेकों बार वे मतदाताओं को शासन के कार्यों तथा नीति को समझाते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं और इस प्रकार नागरिकों का शासन करने वालों से सम्पर्क कायम रखते हैं।

दल-प्रणाली के गुण

किन्तु इन कर्त्तव्यों के बावजूद भी दलों की उपयोगिता पर लोग एकमत नहीं हैं। कुछ ने तो इस प्रणाली को अत्यन्त प्राकृतिक कह कर इसकी प्रशंसा की है और कुछ ने अत्यन्त प्राकृतिक राजनीतिक घटना कह कर इसकी बुराई की है। प्रशंसकों ने दल-प्रणाली के निम्नलिखित गुण गिनाये हैं :—

(१) इस प्रणाली से 'सहयोग ही शक्ति है' कहावत का महत्व राजनीतिक क्षेत्र में पूर्णरूप से साबित हो जाता है। अकेले व्यक्तिगत रूप में कोई भी सदस्य मतदाताओं का विश्वासपात्र नहीं हो सकता। इस दशा में प्रतिनिधित्व मुश्किल हो जायेगा और प्रतिनिधि-शासन सफल नहीं हो सकता।

(२) चूंकि व्यक्तियों में मत की भिन्नता प्राकृतिक है इसलिये उनको संगठित करना भी प्राकृतिक ही है। इसलिये अगर प्रतिक्रियावादी तथा प्राचीनवादी और सुधारवादी तथा नवीनवादी आपस मे न केवल मनोवैज्ञानिक आधार पर वरन् राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर भी संगठित हो जाते हैं तो दो विरोध दल क़ायम हो जाते हैं। इससे दोनों की तीव्रता कम हो जाती है और वे एक बीच के सुझाव पर पहुँच सकते हैं। इस प्रकार वादविवाद के आधार पर होने वाला शासन विरोधी दृष्टिकोण को समझने तथा समझौते के सिद्धान्त पर आधारित रहता है।

(३) लीकॉक का कहता है कि 'न केवल इसका (दल-प्रणाली) प्रजातन्त्रात्मक शासन से कोई संघर्ष नहीं होता वरन् इससे उपरोक्त किस्म का शासन सम्भव बनाया जाता है। यह असम्भव है कि सभी व्यक्ति अलग-अलग एक साथ शासन कर सकें। इसलिये कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों के लिये बहुसंख्या में रहकर स्थायी तथा दृढ़ शासन करने के लिये आवश्यक है कि वे आपस में एकमत होने के लिये तैयार हों। 'आज का प्रजातन्त्रात्मक राज्य इस बनावटी किन्तु आवश्यक मतैक्य के बग़ैर व्यक्तिगत मतों का गड़बड़ झमेला मात्र होगा।'[2]

(४) जिस किसी भी राज्य में दो दल रहते हैं जिनमें से एक तो शासन करता है और दूसरा विरोध के लिये रहता है वहाँ अच्छा शासन तो होता ही है सार्वजनिक उथल-पथल और क्रान्ति से भी लोग बच जाते हैं। अच्छा शासन तो इसलिये रहता है

१—मेरियम ने राजनीतिक दल के लिये कहा है कि 'यह मध्यस्थ के समान है जो व्यक्ति और समज के बीच सामंजस्य स्थापित करता है।'

२—लीकॉक—एलिमेंट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृष्ठ ३१३

कि शासक-दल का प्रत्येक कार्य बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ होता है क्योंकि विरोधी दल हमेशा शासन की त्रुटियों को जनता के सामने रखने के लिये तत्पर रहता है। उथल-पुथल और क्रान्ति से मुक्ति इसलिये मिल जाती है कि अगर शासन दल जनता की निगाह में अयोग्य तथा निकम्मा साबित हो जाता है और जनता का विश्वास खो देने के पश्चात इसे त्याग पत्र देने के लिये वाध्य होना पड़ता है तो तुरन्त ही विरोधी दल शासक-दल का स्थान ग्रहण कर लेता है और राज्यकार्य चलाने लगता है।

(५) चूंकि सभी प्रस्तावों पर विरोधी दल पर्याप्त वाद्‌विवाद करता है इसलिये जो क़ानून पास होते हैं उनमें पक्षपात नहीं रह जाता। जैसा कि लोवेल ने कहा है 'अगर राजनीतिक दल कुछ अंश तक लोकमत का (अपने मतलब के लिये) दुरुपयोग करते हैं तो इसको क्षणिक आवेगों द्वारा इसका अधिक दुरुपयोग होने से बचाते भी हैं······ दल राजनीतिक ज्वार को रोकते हैं। वे स्वभावतः नये अनुभवों का विरोध करते हैं।'[1] संयम तथा नेतृत्व के आदी होने के कारण दलों पर आवेशात्मक अपीलों का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता और इसीलिये स्थिर तथा सतर्क उपदेशों का बहुधा प्रयोग होता है।

(६) दल-प्रणाली की वजह से शासन को प्रबल तथा निरंकुश होने से भी रोका जा सकता है। यह इसलिये सम्भव हो सकता है क्योंकि दलों के संघर्ष से शासन क़ाबू में रक्खा जा सकता है। जैसा कि लोवेल ने कहा है 'दल जनता को शासन पर नियन्त्रण रखने के योग्य बनाते हैं।' एक विरोधी दल की निरन्तर उपस्थिति निरंकुश शासन के मार्ग में रोड़े का काम करती है। जनता द्वारा स्वीकार की जाने योग्य योजना के साथ विरोधी दल न केवल निरंकुश शासन पर ही नियन्त्रण रखता है बल्कि यह बहुसंख्यक दल को भी निरंकुश नहीं होने देता।

(७) चूँकि दल-प्रणाली में निर्वाचकों के सम्मुख कई योजनायें रक्खी जाती हैं इसलिये उन्हें सार्वजनिक महत्वपूर्ण विषयों पर अपना निर्णय करने में सहायता मिलती है। इन योजनाओं की अनुपस्थिति में न तो वे पेचीदे मसलों को समझ ही सकते हैं और न उन्हें इनका ज्ञान ही हो सकता है।

(८) लोकप्रिय शासन के लिये मतदाताओं में जिस दिलचस्पी तथा जिज्ञासा की आवश्यकता होती है वह दलों के झगड़ों तथा प्रेस, सभाओं और भाषणों द्वारा किये गये प्रचार से ही हासिल की जा सकती है। किसी दूसरे साधन से यह सम्भव नहीं। इससे वे अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक रहते हैं और उनमें उतनी दिलचस्पी पैदा हो जाती है जितनी उनसे आशा की जाती है।

ब्राइस का भी कहना है कि 'दल राष्ट्र के मस्तिष्क को क्रियाशील रखते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे लहरों के तीव्र उत्थान तथा पतन से समुद्र की खाड़ी का जल स्वच्छ

१—लोवेल—पबलिक ओपीनियन एण्ड पॉपुलर गवर्न्मेंट,' पृष्ठ ९६-९७। कृपया लास्की की 'ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स' पृष्ठ ३१३ भी देखिये।

रहता है। निर्वाचन के पहले प्रत्येक दल में महत्वपूर्ण मसलों पर विचार-विमर्श तथा वादविवाद होता है। इसके उपरान्त अपने-अपने सिद्धान्तों तथा सुझावों को लेकर प्रत्येक दल जनता के सामने आता है। इसके परिणाम-स्वरूप कुछ न कुछ मसले अपनी तरफ़ लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं और तब वे उन पर विचार करते है। बहुधा लोग अपनी समस्याओं के बाहर नहीं जाना चाहते और अगर दलों द्वारा विभिन्न मसलों पर प्रकाश न डाला जाय तो लोकमत अस्पष्ट तथा अप्रभावशाली रहेगा'।[1]

(६) दल-प्रणाली में सयंम की आवश्यकता होती है। इससे असंख्य मतदाताओं की विश्रृंखलता को शृंखला वद्ध हो नहीं किया जाता वरन् दलों के सदस्यों को स्थिरता और अनुराग की शिक्षा भी दी जाती है। व्यवस्थापिका में दलों द्वारा उन सदस्यों पर नियन्त्रण लग जाता है जो सार्वजनिक हित का ध्यान न रखकर अपनी ही उन्नति का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त भ्रष्टता तथा घूसखोरी भी रोकी जाती है। अगर प्रत्येक सदस्य अपना निजी मार्ग अपनाता है और अपनी बुद्धि का प्रयोग अपनी उन्नति के ही लिये करता है तो सभात्मक शासन नहीं चल सकता क्योंकि लोक-सभा में बहुसंख्यक सदस्य कब तक शासन के पक्ष में रहेंगे निश्चित नहीं हो सकता।

(१०) अमरीका ऐसे देशों में जहाँ शासन का संगठन शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर है दल-प्रणाली की उत्पत्ति ने शासन के विभिन्न अंगों को जोड़ने में 'खोई हुई कड़ी' का कार्य किया है। क़ानूनी व्यवस्था के उपरान्त इस प्रणाली के विकास ने विधान को नष्ट होने से बचाया है क्यों इससे कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका का मिल कर कार्य करना सम्भव हुआ है। मेरियम का भी यही तात्पर्य है जब वह कहता है कि शासन की शक्तियाँ बिखरी रहने की वजह से दलों के लिये यह आवश्यक हो गया है कि शासन के सूत्रों को एकत्र करके उन्हें उत्तरदायी शासन का रूप दें। इस प्रकार इसने शासन के विभिन्न अंगों में उचित संबंध स्थापित किया है[2]।

१—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रैसीज, जिल्द १, पृष्ठ १३४-३५.

२—अपनी 'अमेरिकन पार्टीज़ एण्ड इलकेशन्स' पृष्ठ १५६-१६४ में सेट ने भी दलों की निम्नलिखित उपयोगिता बताई है :—

(अ) वे शासन के विभिन्न अंगों में ऐक्य स्थापित करते हैं। केन्द्रीय तथा राज्य-विधानो के अन्तर्गत स्थापित किये गये शासन के जटिल यन्त्र को वे एकता प्रदान करते हैं। कुछ अंश तक वे संघीय प्रणाली के दोषों को कम करते हैं। राज्यों तथा राष्ट्र की नीति में वे सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। लेकिन इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण कार्य संतुलन तथा नियन्त्रण के प्रभाव को कम करने में है। यह प्रणाली जैसा कि उडरो विल्सन ने कहा है विधान-निर्माताओं द्वारा इसलिये कायम की गई थी कि शासन के विभिन्न अंगों को एक दूसरे के विरुद्ध रख कर संतुलित रक्खा जाय। इसके अलावा संतुलन प्रणाली का मुख्य उद्देश्य यह भी था कि किसी अवसर पर जनता की इच्छा शासन पर बेरोक प्रभुत्व न स्थापित कर सके।

(११) दल-प्रणाली ने कुछ अंश तक राजनीतिक एकता तथा सहयोग को भी जन्म दिया है। स्थानीय हितों तथा राज्यों के विरुद्ध इसका प्रभाव राष्ट्रीयता के पक्ष में रहा है। अमरीका में जहाँ हमेशा स्थानीय राज्यों के प्रति भक्ति रही है दल-प्रणाली ने मतदाताओं तथा सदस्यों की बुद्धि-सीमा को विकसित किया है। इस प्रकार इसने राज्यों की स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण में सामञ्जस्य स्थापित किया है। इसने विभिन्न राज्यों के नागरिकों को अमरीका का नागरिक बनाया है। इसके अतिरिक्त मेकी तथा विल्सन के अनुसार दलों ने जाति तथा सम्प्रदाय की भावना को नष्ट करके अमरीका के प्रति राष्ट्र भावना उत्पन्न की है जो किसी भी दूसरे साधन से नहीं पैदा की जा सकती थी।

दल-प्रणाली के दोष

इस प्रणाली में उपरोक्त गुणों के साथ कुछ गम्भीर दोष[1] भी हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) लोगों का कहना है कि दलों द्वारा राष्ट्र में दलबन्दी पैदा हो जाती है। इसीलिये वाशिंगटन इनके विरुद्ध था और उसने अमरीका निवासियों को निम्नलिखित शब्दों में दलों की भावना से सचेत किया था :—

'दलभावना के विनाशकारी प्रभाव से मैं आपको बड़ी गम्भीरतापूर्वक सचेत कर देना चाहता हूँ। अभाग्यवश यह भावना हमारे स्वभाव से ही अलग नहीं की जा सकती। इसकी जड़ें मानव मस्तिष्क के तीव्र आवेगों में विद्यमान हैं। प्रत्येक क़िस्म

(ब) असंख्य मातदाता राष्ट्रीय दलों के माध्यम द्वारा ही कार्य करने के योग्य होते हैं। दलों के बिना हमारे राष्ट्र की राजनीति विभिन्न प्रतियोगी गुटों के आपसी संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेगी। यह संघर्ष ऐसा अस्पष्ट, दुर्बोध तथा दुरूह होगा कि लोकमत का पता लगाना भी असम्भव हो जायगा।

(स) दलो ने राष्ट्रीय एकता की भावना के विकास तथा इसको कायम रखने में भी मदद दी है। अमरीका के लोगों में सादृश्य नहीं है। उनमें साम्प्रदायिक तथा आर्थिक हितों की विभिन्नता है और उनकी उत्पत्ति भी एक नहीं है। अगर इस विभिन्नता को स्वतन्त्र मार्ग ग्रहण करने का मौक़ा दे दिया जाय तो इसका विनाशकारी प्रभाव पड़ेगा। दलों द्वारा इस प्रकार साम्प्रदायिक असहिष्णुता रोकी जाती है और अर्थिक संघर्षों को कम किया जाता है।

१—लोवेल ने दल-प्रणाली के निम्नलिखित दोष दिखलाये हैं :—

(अ) दल अप्राकृतिक विभाजन पैदा करते हैं और इस प्रकार वे लोकमत का झूठा प्रतिनिधित्व करते हैं। मनुष्य स्वभाव से ही दो या दो से अधिक दलों में नहीं विभक्त रहते। वे विभिन्न मतों के संयोग को प्रदर्शित करते हैं। इसके अलावा वाह्य एकता को क़ायम रखने के लिये सदस्यों के मतभेद को अनुकलित नहीं किया जाता बल्कि केवल इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि उनमें कोई संघर्ष न पैदा हो। इसलिये एक दल की वाह्य एकता आन्तरिक मतभेद पर ही आधारित है।

के शासन में यह भावना किसी न किसी रूप में पाई जाती है चाहे दमन करके इसे वश में क्यों न रक्खा जाय। किन्तु जहाँ कहीं भी जनता का शासन है वहाँ यह अपने विकराल रूप में प्रकट होती है और यह इस क़िस्म के शासन का सबसे महान शत्रु है।······क़ानूनों के लागू करने में सभी प्रकार के अवरोध गुटबन्दियों के संगठन में सहायक होते हैं और इसे कृत्रिम तथा वाह्य शक्ति प्रदान करते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप राष्ट्र की इच्छा का स्थान दल की इच्छा ग्रहण कर लेती है जो बहुधा साहसी तथा होशियार अल्पसंख्यकों की इच्छा होती है। इस प्रकार विभिन्न दलों की विजय के साथ सार्वजनिक शासन पारस्परिक हितों के आधार पर स्थिर तथा हितकर योजनायों का प्रतीक न होकर गुटबन्दियों की असंगत तथा बेमेल युक्तियों का दर्पण मात्र होगा।' वाशिंगटन ही के शब्दों में 'विभिन्न कालों में बारी-बारी से एक दल के शासन ने मतभेद तथा प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर दूसरे दल वालों पर अनेकों क्रूरतायें की हैं। इस प्रकार इस क़िस्म का शासन किसी भी प्रजापीड़क शासन से कम नहीं है।.........यह (दल-भावना) हमेशा लोगों को विभ्रान्त करती है और सार्वजनिक शासन को कमज़ोर बनाती है। राष्ट्र में झूठ तथा ईर्ष्या के आधार पर हलचल पैदा करती है और एक भाग को दूसरे के विरुद्ध करती है। इससे समय-समय पर बलवों तथा विद्रोहों को उत्तेजना मिलती है और विदेशी प्रभाव तथा भ्रष्टता के लिये राष्ट्र का द्वार खुल जाता है। दलों की सहायता से ये बुराइयाँ शासन तक पहुँच जाती हैं।

(२)(३) सभात्मक शासन-प्रणाली में शासन बहुसंख्यक दल द्वारा किया जाता है। इससे एक ही दल में से योग्य व्यक्तियों को चुना जाता है। विरोधी दल के योग्य

(ब) दल पक्षानुराग उत्पन्न करते हैं और प्रत्येक मतदाता किसी सिद्धान्त या योजना के प्रति इतना आकर्षित हो जाता है या उसके विरुद्ध हो जाता है कि वह स्वतन्त्र तथ निष्पक्ष निर्णय तक नहीं पहुँच सकता।

(स) अगर दो दल हैं तो मतदाताओं को केवल 'हाँ' या 'नहीं' करना पड़ता है। अगर कई दल हैं तो मतदाता केवल एक ही सिद्धान्त पर 'हाँ' या 'नहीं' कर सकते हैं। इस प्रकार मतभेदों का अनुकलन नहीं हो पाता और प्रत्येक मत किसी सम्पूर्ण सिद्धान्त के पक्ष में नहीं दिया जाता। वह केवल किसी विशेष सिद्धान्त के कुछ अंश के पक्ष में दिया जाता है। लोकमत का इस प्रकार झूठा प्रतिनिधित्व होता है।

(द) दल का नेतृत्व करने वाले वही लोग होते हैं जो अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन तीव्रता के साथ करते हैं। उदार विचार वाले तो केवल अनुयायी मात्र रहते हैं। वे किसी दल से अलग इसलिये नहीं होते कि बाहर रह कर वे कुछ काम नहीं कर पाते। इस प्रकार मतभेद रखते हुए भी वे अपने दल के गरम अंश का आदेश पालन करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि लोकमत के वास्तिविक रूप का पता नहीं चल पाता।

कभी-कभी गरम अंश अपने नेताओं को ऐसे कार्य करने पर विवश करता है जिसे वे नहीं करना चाहते। ऐसे अवसर पर भी लोकमत का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं होता।

—पबलिक ओपिनियन एण्ड पापुलर गवर्न्मेंट, पृष्ठ ८६—६५.

व्यक्ति शासन के बाहर रह जाते हैं और बहुधा बहुसंख्यक दल को अयोग्य व्यक्तियों की सहायता से ही शासन करना पड़ता है। दलों की इस विरोधी भावना के परिणाम-स्वरूप राष्ट्र के कितने ही योग्य पुरुष शासन के बाहर रह जाते हैं; सार्वजनिक भलाई के लिए उनकी योग्यताओं का प्रयोग नहीं हो पाता और वे व्यर्थ जाती हैं।

(३) प्रायः विरोधी दल शासक-दल का विरोध आदर्शों तथा सिद्धान्तों के आधार पर न करके केवल विरोध मात्र ही के लिये करता है। इसका कर्त्तव्य शासन में त्रुटि निकालना, क़ानून निर्माण करने के कार्य में बाधा डालना तथा शासन को अयोग्य साबित करना रह जाता है। इससे सार्वजनिक हित को हानि पहुँचती है और दलों के हित का खयाल राष्ट्र के हितके पहले किया जाने लगता है।[1]

(४) केवल व्यवस्थापिका ही में विभाजन नहीं होता। कम से कम निर्वाचन के अवसर पर तो समस्त राष्ट्र विरोधी दलों में बँट जाता है। ब्राइस के शब्दों में 'दल व्यवस्थापिका ही को नहीं बल्कि पूरे राष्ट्र को विपक्षी दलों में विभाजित देते हैं और विदेशी शक्ति के सम्मुख भी राष्ट्र को विभाजित दशा ही में उपस्थित करते हैं। राष्ट्रीयता के स्थान पर आवेगों तथा आपसी मतभेदों को रखते हैं और नागरिकों में पक्षपात की भावना पैदा करते हैं। इससे एक दल दूसरे के प्रस्तावों पर सन्देह रखने लगता है और समस्याओं पर विचार उनकी अच्छाइयों तथा बुराइयों के आधार पर नहीं हो पाता; प्रतिनिधियों के स्वतन्त्र विचार तथा निर्णय की शक्ति को समाप्त कर दिया जाता है और उनका प्रथम कर्त्तव्य दल को दृढ़ करना तथा दल का निर्णय स्वीकार करना हो जाता है।[2] इस प्रकार निर्वाचन के बाद भी ईर्ष्या, द्वेष तथा आपसी मनमुटाव की भावना रह जाती है और विरोध तथा प्रतिस्पर्धा के कारण सामाजिक जीवन कटु हो जाता है।

(५) इसके अलावा दल जाति तथा राष्ट्र को बुनियादी मसलों पर विभाजित नहीं करते। इनका विभाजन प्रायः साधारण बातों पर ही होता है। एक दल के लोगों का मेल उतना ही साधारण तथा अवास्तविक होता है जितना दूसरे दल से उनका मतभेद। इस प्रकार 'खोखलापन तथा असुरक्षितता' बढ़ जाती है और लोग एक दल को छोड़कर दूसरे दल में विश्वास के कारण नहीं जाते बल्कि अपने हितों तथा इच्छाओं को पूरा करने के लिये जाते हैं। इसके अलावा दल में सदस्यों की भर्ती योग्यता के लिये नहीं बल्कि संख्या बढ़ाने के लिये की जाती है। इसीलिये ब्राइस ने अमरीका के दलों की तुलना दो खाली बोतलों से की है जिनमें उनके नामों को क़ायम रखते हुए किसी भी प्रकार की मदिरा डाली जा सकती है।[3] इसके उपरान्त वह खोखलापन निर्वाचन के आदर्श-वाक्यों के कारण और भी बढ़ जाता है क्योंकि इनका प्रयोग

१—ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रैसीज़, जिल्द १, पृष्ठ १३१
२—वही, पृष्ठ १३१
३—वही, पृष्ठ १३१

सोची-समझी नीति को पालन करने के लिये न होकर निर्वाचन में सफलता प्राप्त करने के लिये होता है। इसीलिये दल-प्रणाली को संगठित पाखण्ड कहा गया है।

(६) तथा कथित दलों के अनुशासन में व्यक्तिगत विश्वास और स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं रहता। प्रत्येक सदस्य दल-यन्त्र का एक पुर्जा मात्र हो जाता है जो हमेशा यंत्र के साथ चलता रहता है और जिसकी अपनी कोई गति नहीं होती। इसका यह तात्पर्य हुआ कि सदस्य अपने व्यक्तित्व को खो बैठते हैं और उनमें अपने विश्वास के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। लीकॉक के शब्दों में 'व्यक्तिगत निर्णय दल के साँचे में जमा रहता है। इस प्रकार का मतैक्य समालोचकों की दृष्टि में भी झूठा तथा हानिप्रद है; यह व्यक्तिगत मत तथा कार्य की उसी स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है जो प्रजातन्त्रात्मक शासन का प्रमुख सिद्धान्त है।'[1]

(७) दल-प्रणाली सदस्यों के दृष्टिकोण को संकीर्ण बना देती है और वे दल का स्थान राष्ट्र के पहले रखने लगते हैं। इस प्रकार जब कि उन्हें सार्वजनिक हितों को ध्यान में रखने वाला नागरिक होना चाहिए वे पक्षानुरागी दल-सदस्य हो जाते हैं। गोल्डस्मिथ ने जब बर्क के बारे में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखीं तो उसका भी यही तात्पर्य था।

'जिसने विश्व-हित के लिये जन्म लिया था उसने अपना मस्तिष्क संकुचित कर लिया क्योंकि जो मानवजाति के हित के लिये था उसे एक वर्ग विशेष को सौंप दिया।'

इससे स्पष्ट है कि दलों की सदस्यता नागरिकों के दृष्टिकोण को संकीर्ण कर देती है और उनमें आदर्श नागरिक की उदार भावना नहीं रह जाती। मेरियट ने भी इसी बात का समर्थन किया है: 'दलों के प्रति सदस्यों की निष्ठा अतिशय हो जाने से राष्ट्रीय भावना में कमी आ जाती है। दलों के नेताओं तथा संगठन करने वालों द्वारा मत प्राप्त करने पर अधिक जोर देने के कारण देश की आवश्यक माँगों को स्थगित करना पड़ता है और कभी-कभी तो इनकी उपेक्षा भी की जाती है।'[2]

(८) दल-प्रणाली के परिणाम-स्वरूप सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति में भी योग्य व्यक्तियों के स्थान पर अयोग्य सहायकों को पद मिलता है। शासक-दल को अनेकों उपाधि तथा पद देने का अवसर मिलता है और यह सब योग्यता का ख्याल न करके केवल अपने दल के सदस्यों तथा सहायकों को दिया जाता है। इस पक्षपात का व्यावहारिक परिणाम शासन को ही नहीं खराब करता, इससे राष्ट्र में ईर्ष्या तथा द्वेष की भावना भी पैदा हो जाती है। इससे चारों तरफ़ असन्तोष पैदा होता है। मारकिस ऑफ़् सैलिसबरी ने भी दलों के इस दोष को इन शब्दों में स्वीकार किया है 'दलों की नियम-निष्ठा एक महान उद्देश्य का साधन है। किन्तु कुछ अवसरों पर तथा कुछ नेताओं के प्रभाव में यह उसी उद्देश्य को नष्ट कर देती है।

१—लीकॉक—एलिमेंट्स ऑफ़् पॉलिटिक्स, पृष्ठ ३१२

२—वही, पृष्ठ ३१२

······अगर इसी उद्देश्य को हटा दिया जाय तो दल पदों की प्राप्ति तथा उसे कायम रखने के लिये संयुक्त कम्पनी मात्र रह जाते हैं।

(९) दल-प्रणाली अपने संगठन के कारण बड़े आसानी से गुट बन्दियों के प्रभाव में आ जाती है। इसलिये कुछ सक्रिय किन्तु षड्यन्त्रकारियों के हाथ के प्रभुत्व में दल ही नहीं वरन् राष्ट्र भी आ जाता है। इस मानी में दलों का शासन केवल कुछ ही व्यक्तियों का शासन हो जाता है।

(१०) मत प्राप्त करने की अभिलाषा से शक्तिशाली दल ऐसे क़ानूनों का निर्माण करता है जिसमें अधिक लोगों की सहायता मिल सके। इसलिये क़ानून-निर्माण करने का कार्य राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता। उसका एकमात्र उद्देश्य लोगों की सहानुभूति प्राप्त करना रहता है। इसका व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि आवश्यक क़ानूनों के स्थान पर लोकप्रिय क़ानून पास किये जाते हैं।

(११) बड़े-बड़े व्यवसायी देशों में पूँजीपतियों द्वारा दलों के सदस्य खरीद लिये जाते हैं और इसके परिणाम-स्वरूप 'अदृश्य शासन' स्थापित होता है। इससे भ्रष्ट तथा पूँजीपतियों के हित वाले क़ानूनों का निर्माण होता है और दलों के सदस्यों की स्वार्थान्धता के कारण राष्ट्र का नुक़सान होता है।

(१२) जैसा कि गिल्क्राइस्ट का कहना है सभी दल अपने हित के लिये सत्य को छिपाते हैं और अपनी बात साबित करने के लिये झूठी दलीलों को पेश करते हैं। इससे स्पष्ट है कि दल मतदाताओं की अमानत से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं और वे प्रायः उन्हें धोखा देने में सफल होते हैं। इस प्रकार प्रचार की मदद से मतदाताओं को ग़लत रास्ते पर रक्खा जाता है और उनके सम्मुख झूठी बातें रक्खी जाती हैं। इसका यह फल होता है कि जनता के तथाकथित प्रतिनिधि लोकमत का ग़लत प्रतिनिधित्व करते हैं।

(१३) स्थानीय जीवन के ऊपर भी दल-प्रणाली का बुरा प्रभाव पड़ता है। स्थानीय निर्वाचनों में उम्मीदवारों को उनकी योग्यता तथा स्थानीय हितों के आधार पर चुनना चाहिए। किन्तु दलों के कारण स्थानीय समस्यायों का कुछ भी ख्याल न करके राष्ट्रीय समस्यायों तथा दलों के मतभेद के आधार पर स्थानीय निर्वाचन होता है।

(१४) दलों का संगठन प्रायः आदर्शों तथा सिद्धान्तों[1] के आधार पर न होकर व्यक्तियों के आधार पर होता है। इससे भ्रष्ट व्यक्ति भी नायक मान लिये जाते हैं और जो नेता लोकप्रिय होते हैं उन्हें आसमान पर चढ़ा दिया जाता है और उनकी पूजा होने लगती है। इसका सारा परिणाम यह होता है कि लोग मनुष्यों के ग़ुलाम हो जाते हैं और सिद्धान्तों को भूल जाते हैं।

(१५) यह भी कहा गया है कि दल प्रणाली ने द्वैध-शासन को जन्म दिया है। शासन की वास्तविक शक्ति क़ानूनी उत्तरदायित्व से मुक्त रहती है। इस प्रकार प्रजातन्त्रात्मक शासन में उत्तरदायित्व केवल नाममात्र के लिये रह जाता है।

१—कृपया लास्की की 'ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स', पृष्ठ ३१३ देखिये।

(१६) स्टीफेन्स का तो यहाँ तक कहना है कि दल प्रणाली सामाजिक राजद्रोह का संगठित रूप है और दलों का नेता प्रमुख राजद्रोही होता है। वह जनता का विश्वासपात्र बनकर उन्हें पूँजीपतियों तथा धनी संस्थाओं के हाथ बेंच देता है। इसीलिये ओस्ट्रोगोस्की[1] ने दलों को हटाकर उनके स्थान पर विशेष तथा अधिक स्फूर्त संगठन का समर्थन किया है। इस किस्म के संगठन कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये होंगे। सामाजिक समस्याओं के परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन होता रहेगा। इससे स्पष्ट है कि वह आज के स्थिर तथा रूढ़ दलों के स्थान पर विभिन्न परिवर्त्तनशील हितों के आधार पर बनाये गये समुदायों के पक्ष में हैं। लेकिन हमारा विश्वास है कि इसमें भी कुछ समय बाद आधुनिक दलों के दोष आने लगेंगे।

अंग्रेज़ी राजनीतिक दलों की उत्पत्ति

इन साधारण पहलुओं पर ग़ौर कर चुकने के पश्चात हम इंगलैण्ड की दल-प्रणाली की उत्पत्ति पर ध्यान दे सकते हैं। इसका प्रारम्भ १७वीं सदी के राजा तथा पार्लिमेन्ट के संघर्ष से होता है। ट्यूडरकाल में राजाओं ने जनता को प्रसन्न रक्खा था। इसके अलावा विदेशी शक्तियों के डर से भी जनता ने राजा की निरंकुशता के विरुद्ध आवाज़ उठाना उचित न समझा। किन्तु एलिज़बेथ के शासनकाल में प्युरिटनों ने उसकी असहिष्णुता तथा विशेषाधिकारों का विरोध करना शुरू कर दिया था। स्टुअर्ट काल में इस विरोध ने ज़्यादा जोर पकड़ा क्योंकि जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम दोनों दैवी अधिकार के आधार पर निरंकुश शासन करना चाहते थे। जेम्स ने तो यहाँ तक एलान कर दिया था कि 'मैं जनता की भलाई के लिये शासन करूँगा, उनकी इच्छा के अनुसार नहीं।'

१—ओस्ट्रोगोंस्की रूढ़िवादी दलों के पक्ष में नहीं है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि वह दलों के ही पक्ष में नहीं है। वह दलों को स्वयंजात संगठन बनाना चाहता है। इस प्रकार वह यह कभी नहीं चाहता कि मतदाता दल की सभी बातों को स्वीकार करें। मतदाताओं की स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे जिस किसी भी दल की बातों से सहमत हों उसके लिये मत दे सकें। अगर वे किसी दल की कुछ ही बातों को स्वीकार करते हैं तो उनके पक्ष में मत दे सकें और दूसरे दल की जिन बातों को स्वीकार करते हों उनके पक्ष में भी मत देने का उन्हें अधिकार हो। इससे स्पष्ट है कि ओस्ट्रोगोंस्की स्थायी दलों के पक्ष में नहीं है। वह स्वयंजात संगठन चाहता है जो किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिये संगठित किये जायँ और उद्देश्य प्राप्ति के बाद उनका विघटन हो जाय। इस प्रकार दलों का संगठन तो अवश्य होगा किन्तु उनका एक ही उद्देश्य रहेगा। जैसा कि ओस्ट्रोगोंस्की स्वयं कहता है 'वे स्वयंजात संगठन होंगे जो जीवन की समस्यायों के परिवर्त्तन के साथ बदलते रहेंगे। जो नागरिक एक समस्या पर अलग होंगे दूसरी पर एक साथ मिल कर कार्य करेंगे।.... ... ...किसी एक संगठन के आदेशों तथा सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से न मान कर नागरिक हमेशा नई-नई समस्यायों पर स्वयं सोचने के लिए तथा अपना निर्णय करने के लिये बाध्य होंगे'।

—'डेमोक्रैसी एण्ड दि आरगनिज़ेशन ऑफ पॉलिटिकल पार्टीज़', जिल्द २, पृष्ठ ६५–८८

इस निरंकुशता के विरुद्ध पार्लिमेन्ट ने भी अपने प्राचीन अधिकारों के लिये लड़ना निश्चय कर लिया। इसके परिणाम-स्वरूप राजा तथा पार्लिमेन्ट के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहा। राजा ने पार्लिमेन्ट के बग़ैर भी शासन करने का प्रयत्न किया। पार्लिमेन्ट ने कई बार राजा को रुपया देने से इनकार किया। इस प्रकार राजा की सहायता करने वाले एंगलिकन्स राजवादी कहे जाने लगे और पार्लिमेन्ट के पक्ष में लड़ने वाले प्युरिटन्स का नाम सभावादी पड़ा। चार्ल्स प्रथम के शासन-काल में होने वाले गृह-युद्ध में राजा के सहायकों का नाम केवालियर्स पड़ा और विरोधी दल राउण्ड-हेड्स के नाम से पुकारा जाने लगा।

आधुनिक दलों का उदय

किन्तु आधुनिक अर्थ में दलों का विकास चार्ल्स द्वितीय के काल से प्रारम्भ होता है। जिन लोगों ने पर्लिमेन्ट बुलाने के लिये राजा को बाध्य किया वे 'प्रार्थी' (पिटीशनर्स) कहे जाने लगे और जिन्होंने इसका विरोध किया उनका नाम 'घृणालु' (एव्होरर्स) पड़ा। बहिष्कार बिल पर किये गये १६८० के वाद-विवाद में राजा के सहायकों का नाम टोरी पड़ा और सभावादियों को लोगों ने ह्विग कहना आरम्भ किया। इस प्रकार टोरी-दल राजा का सहायक था। इसमें इंगलैंड का चर्च तथा रोमन कैथलिक भी शामिल थे। ह्विग-दल में बहुधा प्रोटेस्टैन्टस थे जो पार्लिमेन्ट के अधिकार के पक्ष में थे। इस दल में मध्यम श्रेणी के लोग थे। इस प्रकार इंगलैण्ड में दो प्रमुख दलों का संगठन हुआ जिन्होंने ह्विग तथा टोरी के नाम से लगभग १५० वर्ष तक इँगलैण्ड की पार्लिमेंटीय राजनीति का नेतृत्व किया। टोरी दल का प्रभुत्व १६८८ ई० तक रहा। उसी वर्ष इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण राज्य-क्रान्ति हुई जिससे जेम्स द्वितीय के निरंकुश शासन का अन्त हुआ और विलियम तथा मेरी इंगलैण्ड के शासक बनाये गये और वैधानिक शासन की स्थापना की गई। इस उत्तरदायी शासन के साथ ह्विग-दल का प्रभुत्व बढ़ा और इँगलैण्ड के सभात्मक शासन ने अपना आधुनिक रूप ग्रहण किया। इसीलिये १६३० के समय को प्युरिटन क्रान्ति का काल और १६६० से १६८८ के समय को प्रोटेस्टैन्ट क्रान्ति का काल कहा गया है। पहले काल में पार्लिमेन्ट का संघर्ष अपने अस्तित्व के लिये था और दूसरे में शक्ति के लिये। १६८८ ई० में इसने उस शक्ति को प्राप्त किया और देश की सर्वशक्तिशाली संस्था हो गई।

दल-प्रणाली का विकास

सर्व प्रथम विलियम ने अपने मन्त्रियों को ह्विग-दल में से, जो बहुसंख्या में था, चुना। इसके बाद रानी ऐन ने टोरी बहुसंख्यक दल में से मन्त्रियों का चुनाव किया। इस प्रकार बहुसंख्यक दल से ही मन्त्रियों को चुनने का सिद्धान्त धीरे-धीरे स्थापित हो गया। जब जार्ज प्रथम इंगलैण्ड का राजा हुआ तो शासन के अध्यक्ष का स्थान प्रधान मन्त्री द्वारा ग्रहण किया गया। चूंकि राजा जर्मन था और अंग्रेज़ी नहीं जानता था इसलिये उसने मन्त्रिमंडल की बैठकों में सभापति का स्थान ग्रहण करना बन्द कर दिया। इस प्रकार वालपोल इंगलैण्ड का प्रथम प्रधान मन्त्री हुआ। लेकिन कुछ समय

बाद पार्लिमेन्ट में हार जाने के कारण उसने त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार दलों द्वारा शासन का दूसरा सिद्धान्त भी स्थापित हो गया। इस सिद्धान्त के अनुसार पार्लिमेन्ट का विश्वास खो देने के पश्चात् शासन को त्यागपत्र देना आवश्यक हो गया।

सिद्धान्तों के आधार पर दलों का संगठन

धीरे-धीरे इंगलैण्ड की दल प्रणाली ने जिसका आधार राजा का व्यक्तित्व और धर्म था अपना आधुनिक रूप ग्रहण किया। अब इनका संगठन राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर होने लगा। ह्विग-दल सुधार तथा उन्नति का पक्षपाती हुआ और टोरी-दल व्यवस्था, तथा स्थिरता का हिमायती हुआ। १६वीं सदी में इनका नाम क्रमशः उदार (Liberals) तथा अनुदार (Conservatives) पड़ा। किन्तु १८८६ ई० में आयरलैण्ड के होमरूल बिल पर लिबरल-दल में मतभेद हुआ और इसके कुछ सदस्य जो इस बिल के विरुद्ध थे अनुदार दल में शामिल हो गये (१८६५)। इस प्रकार यूनियनिस्ट दल क़ायम हुआ जो १६३१ ई० तक चलता रहा। अब उदार दल शान्ति, निःशुल्क व्यापार तथा सुधार का हिमायती हुआ और यूनियनिस्ट दल साम्राज्यवादी राष्ट्रीयता, संरक्षण, तथा स्थापित चर्च का पक्षपाती हुआ।

उचित दल प्रणाली

१६वीं सदी के अन्त तक इंगलैण्ड में दल प्रणाली ने अपना उचित रूप ग्रहण कर लिया था और दलों द्वारा शासन[1] ठिकाने से चलने लगा था। अगर एक दल मन्त्रिमंडल बनाता था और शासन कार्य करता था तो दूसरा विरोध में रहता था। इंगलैण्ड के अनुभव को ध्यान में रखते हुए लोवेल ने उचित दल प्रणाली के लिये निम्नलिखित शर्तें रक्खी हैं:—

१—अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स—ए प्रीफ़ेस' पृष्ठ ५२१ (फ़ुटनोट) में सेट ने लिखा है—

" 'दो दल' शब्द से हमारा तात्पर्य नहीं कि केवल दो ही दल होते हैं बल्कि दूसरे दलों की उपेक्षणीय शक्ति के कारण ये दल बिना संयुक्त सरकार बनाये ही शासन कर सकते हैं। परिवर्तन के समय 'तीसरे दल' का उदय हो सकता है किन्तु कुछ समय बाद या तो यह पहले के किसी दल का स्थान ग्रहण कर लेगा या उससे मिल जायगा अथवा नगण्य हो जायगा। आस्ट्रेलिया में उदार तथा अनुदार दल नये मज़दूर दल की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिये एक हो गये। इँगलैण्ड में भी राजनीति का विकास इसी तरफ़ जा रहा है। यद्यपि वहाँ का उदार दल (लिबरल) अपने जीवन को क़ायम रखने के लिये कहता है कि इंगलैण्ड में तीन दल प्रणाली है किन्तु उसका अस्तित्व अब केवल नाममात्र है। यद्यपि नये दलों का उदय हो सकता है और पुराने दलों में मतभेद हो सकता है किन्तु अंग्रेज़ी बोलने वाले सभी देशों में साधारण तौर से दो ही दलों की तरफ़ प्रवृत्ति है। यह व्यवहार इतना समरूप और दीर्घकालीन रहा है कि इसके पीछे किसी वास्तविक मूल शक्ति का अस्तित्व प्रतीत होता है।"

(१) विरोधी दल को एक क़ानूनी संस्था के रूप में स्वीकार करना चाहिए। किन्तु इसके लिये आवश्यक होना चाहिए कि यह गुटबन्दियों को मिला कर न बना हो। इसके अलावा विरोधी दल को क्रान्तिकारी विचारों का न होना चाहिए। इसे वैधानिक सिद्धान्तों पर लड़ना चाहिए और अपने विचारों को जनता के सम्मुख रख कर निर्वाचकों को अपने पक्ष में लाने का प्रयन्त करना चाहिए।

(२) वर्ग या सम्प्रदाय के आधार पर दलों का विभाजन नहीं होना चाहिए। इनका विभाजन तथा संगठन राजनीतिक सिद्धान्तों पर होना चाहिए।

(३) समस्यायों का आधार सार्वजनिक मामले होने चाहिए स्थानीय मामलात तथा व्यक्तिगत फ़ायदे नहीं।

दो दल प्रणाली का ह्रास

किन्तु इंगलैण्ड में भी दो दल प्रणाली अधिक दिनों तक न चल सकी। १९०६ ई० में मजदूर दल की स्थापना हुई और अब अंग्रेजी राजनीति में त्रिभुजाकार संघर्ष प्रारम्भ हुआ—यूनियनिस्ट, उदार तथा मजदूर दल के बीच। किन्तु इसके अतिरिक्त यूनियनिस्ट तथा उदार दल के बीच का अन्तर धीरे-धीरे अस्पष्ट होता गया। अगर उदार वाले सामाजिक सुधार के पक्ष में थे तो यूनियनिस्ट दल वालों ने भी सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार पर जोर देना प्रारम्भ कर दिया। १९१४-१८ के महायुद्ध में दलों के मतभेद का खयाल न करके सभी दलों को मिला कर संयुक्त राष्ट्रीय सरकार कायम हुई। किन्तु १९२२ ई० के बाद दल-प्रणाली ने अपना पुराना रूप पुनः ग्रहण किया। सन् १९२४ में मजदूर दल ने प्रथम बार, मन्त्रिमंडल का निर्माण किया किन्तु यह शक्तिशाली न हो सका। १९२५ के निर्वाचन में उदार (लिबरल) दल की बुरी तरह हार हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि कहने के लिये तो इंगलैण्ड में तीन दल थे किन्तु वास्तव में दो दल प्रणाली ही पुनः वापस आ गई क्योंकि अब अनुदार या यूनियनिस्ट दल का विरोध मजदूर दल द्वारा ही

लोवेल के अनुसार दो दल प्रणाली राजनीतिक अनुभव का परिणाम है। (इसके विपरीत प्रजातन्त्रात्मक अनुभव की कमी के कारण योरप में बहुदल प्रणाली है) देखिये 'पबलिक ओपिनियन एण्ड पापुलर गवर्नमेन्ट' पृष्ठ ८०-८५

अपनी पुस्तक 'दि गवर्नमेन्टस ऑफ़ योरप' में मुनरो ने दो दल प्रणाली के लाभ इस प्रकार रक्खा है:—

"प्रतिनिधि शासन का सबसे सन्तोष जनक कार्य दो दल प्रणाली ही में होता है; एक दल संयुक्त रूप से शासन की तरफ़ रहता है और दूसरा विरोध करता है। जब शासन के सहायक विभाजित रहते हैं तो इसे अपनी शक्ति का पूर्ण ज्ञान नहीं रहता। इसका परिणाम यह होता है कि व्यवस्थापिका सभाओं में बहुमत प्राप्त करने के लिये इसे समझौता करना पड़ता है। इस परिस्थिति में शासन की नीति दृढ़ नहीं हो सकती। इसके विपरीत अगर विरोधी दल विभाजित रहता है तो शासन की वह कड़ी समालोचना नहीं हो सकती जो इसे जनता के सम्मुख अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक रखता है।'

किया जा सकता था। १९३१ के विश्व-व्यापी आर्थिक संकट के समय इंगलैण्ड के व्यवसाय को भी कड़ा धक्का लगा और बेकारी की समस्या बढ़ गयी। इस संकट से बचने के लिये मजदूर दल के प्रधान-मन्त्री मैकडानेल्ड ने राष्ट्रीय सरकार बनाने का महत्वपूर्ण किन्तु अवैधानिक कार्य किया। इस प्रकार विशेष अवसरों के लिए एक किस्म का राष्ट्रीय दल बना और यह राष्ट्रीय सरकार १९३१ से १९३५ तक चली। किन्तु इस बात का शीघ्र ही पता चल गया कि यह राष्ट्रीय दल वास्तव में अनुदार दल की बहुसंख्या थी। १९३९-४५ के युद्ध में भी मिस्टर चर्चिल के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार क़ायम हुई और इसमें भी बहुसंख्यक अनुदार दल ही का बोलबाला रहा। इस प्रकार इंगलैण्ड की दो दल प्रणाली को जो मजदूर दल की उपस्थिति से समाप्त हो रही थी आर्थिक तथा अतर्राष्ट्रीय संकटों ने अव्यवस्थित कर दिया।[1]

दो दल प्रणाली का फिर से लौटना

किन्तु यह अव्यवस्थित दशा ज्यादा अर्से तक नहीं रही। मई २३, १९४५ को चर्चिल ने त्याग-पत्र दिया और राष्ट्रीय संयुक्त सरकार का अन्त हुआ। बादशाह ने चर्चिल के त्याग-पत्र को स्वीकार किया लेकिन नयी सरकार बनाने के लिये उसे पुनः प्रधान-मन्त्री के पद पर नियुक्त किया। इस प्रकार नई पार्लिमेन्ट के निर्वाचित होने तक के लिये शासन-भार सँभालने के लिये एक अस्थायी सरकार क़ायम की गई। १५ जून, १९४५ को पार्लिमेन्ट विघटित की गई और ५ जुलाई को निर्वाचन हुआ। इस निर्वाचन का फल २६ जुलाई को एलान किया जिससे सभी लोग आश्चर्यान्वित हो गये। अनुदार दल की बुरी हाल हुई और इंगलैण्ड के इतिहास में पहली बार मजदूर दल शक्तिशाली हुआ। चर्चिल को फिर त्याग-पत्र देना पड़ा और बादशाह ने मजदूर दल के नेता क्लीमेन्ट एटली को नये शासन का निर्माण करने के लिये आमन्त्रित किया। इस प्रकार अपने इतिहास में मजदूर दल ने सर्व प्रथम स्पष्ट

१—अपनी पुस्तक 'पार्लिमेन्टरी गवर्नमेन्ट' पृष्ठ ९०-९७ में प्रो० लास्की ने कहा है कि इंगलैण्ड के दलों का भेद अब गुणात्मक नहीं रह गया है; अब वह केवल परिमाणात्मक है। उदार तथा अनुदार दल की योजनायों तथा नीति में केवल कम और ज्यादा का अन्तर था क्योंकि दोनों का आधार पूँजीवादी ही था। मज़दूर दल के उदय से राजनीतिक प्रजातन्त्र के साथ सामाजिक तथा आर्थिक प्रजातन्त्र को क़ायम करने का भी प्रयत्न किया जायगा। अब सामाजिक उन्नति, व्यावसायिक केन्द्रों में काम करने वालों की दशा में सुधार तथा प्रमुख व्यवसायों का समाजीकरण और ज़मीन के राष्ट्रीयकरण का प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार मज़दूर दल सम्पत्ति के आधार पर ही सन्देह करेगा। इसका अर्थ हुआ कि मज़दूर दल तथा उदार और अनुदार दल का भेद ज़्यादा और कम का नहीं है। समाज के लक्ष्य के बारे में ही इसका मतभेद है। इसलिये इनमें कोई समझौता सम्भव नहीं। अब आवश्यकता परिवर्त्तन की है जिससे पुरानी व्यवस्था को हटा कर नई क़ायम की जाय।

बहुसंख्या[१] में शासन-भार लिया। इस भांति इंगलैण्ड फिर अपनी पुरानी दो दल प्रणाली पर लौट आया।

अमेरिका की दल-प्रणाली

इंगलैण्ड की दल-प्रणाली का जो 'दल-प्रणाली की जननी' कही गई है, अध्ययन कर लेने के पश्चात हम अमरीका की दल-प्रणाली की ओर ध्यान देंगे। किन्तु यहाँ दलों के सिद्धान्त उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितना कि उनका संगठन। इसलिये हम रिपबलिकन तथा डिमोक्रैटिक दलों के विकास तथा उनके सिद्धान्तों पर जोर न देकर संक्षेप में उन दोषों के ऊपर ध्यान देंगे जो दल-प्रणाली को सुसंगठित राजनीतिक यन्त्र के रूप में बदल देने के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होते हैं।

अमेरिका मे दलों के सुसंगठित होने का कारण

अमेरिकन दलों के इस सुसंगठन का निम्नलिखित कारण बताया गया है :—

(१) अमेरिकन विधान में शक्ति विभाजन होने के कारण व्यवस्थापिका तथा कार्य-कारिणी में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये किसी एजेन्सी का होना आवश्यक हो जाता है। इस हालत में दल संगठन शासन के विभिन्न अंगों में एकता स्थापित करने का एक

१—विभिन्न दलों द्वारा प्राप्त किये गये कुल मतों की संख्या तथा लोक-सभा में उनके सदस्यों की संख्या इस प्रकार है:—

दल	मत		सदस्य	
(१) मज़दूर दल	११,६४१,५०१	मत	३०६	सदस्य
(२) अनुदार दल	६,०५६,६७२	,,	१६५	,,
(३) उदार	२,२२१,१४५	,,	११	,,
(४) राष्ट्रीय उदार दल	७७६,७८१	,,	१४	,,
(५) स्वतन्त्र	५३६,२२८	,,	१०	,,
(६) राष्ट्रीय (निर्दल)	१३७,७१८	,,	१	,,
(७) कामनवेल्थ	११४,७३०	,,	१	,,
(८) कम्युनिस्ट	१०२,७८०	,,	२	,,
(६) स्वतन्त्र मज़दूर	४६,६७६	,,	३	,,

देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इंगलैण्ड में आज भी ६ राजनीतिक दल हैं। किन्तु, ये केवल नाममात्र को हैं, क्योंकि मज़दूर दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है और केवल अनुदार दल ही प्रभावशाली, विरोधी दल है। उदार दल भी अब उपेक्षणीय हो गया है। इससे स्पष्ट है कि मज़दूर दल अपनी योजनायों की पूर्ति कर सकता है। इसके नेता ने तो कह भी दिया था कि "हम प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता तथा सामाजिक न्याय की ओर अग्रसर हो रहे हैं।" इस प्रकार अब इंगलैण्ड समाजवादी हो रहा है और यहाँ के नये शासन ने एलान भी कर दिया है कि शीघ्र ही बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड, कोयले और लोहे की खानों तथा रेलवे का राष्ट्रीयकरण हो जायगा।

मात्र साधन है। अमेरिका के शासन में दलों के महत्व को ब्राइस ने इस प्रकार रक्खा है : 'अमेरिका में दल की भावना तथा शक्ति शासन-यन्त्र के कार्य के लिये उतना ही आवश्यक है जितना एंजिन के लिये भाप; या शासन के अंगों के लिये दल संगठन वही कार्य करते हैं जो मानव शरीर में अस्थि-पिञ्जर तथा मांसपेशियों के लिये शिराओं द्वारा किया जाता है। इनसे ही संचालन शक्ति का प्रवाह होता है और अंगों के कार्य करने के लिये दिशाओं का निर्णय किया जाता है।'[1]

(२) चूँकि अमेरिका एक बहुत बड़ा देश है इसलिये राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति ऐसे राष्ट्रीय पदों के निर्वाचन के लिये इस प्रकार के उचित संगठन आवश्यक हो जाते हैं।

(३) चूँकि राज्य के अनेकों पदों पर निर्वाचन द्वारा नियुक्ति होती है इसलिये अक्सर निर्वाचन होने के कारण ऐसा यन्त्र आवश्यक हो जाता है जो निर्वाचनों का संगठन करे।

(४) इंगलैण्ड में मन्त्रिमंडल के सदस्य अपने दल के नेता होते हैं इसलिये वे व्यवस्थापिका में अपने दल के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु अमेरिका में मन्त्रिमंडल के सदस्यों को यह नेतृत्व नहीं प्राप्त है इसलिये यह स्वभावतः 'कॉक्स' या नामजद करने वाली एजेन्सी के हाथ चला जाता है। इसलिये यहाँ दल संगठन अधिक शक्तिशाली और रूढ़ हो जाता है।

'कनवेन्शन्स' की शृंखला

अमेरिका का दल-संगठन निर्वाचन कार्य करने के लिये 'कनवेन्शन' की धारणा पर आधारित है। यह 'कनवेन्शन' एक दल के प्रतिनिधियों की सभा मात्र है जो विभिन्न पदों के लिये उम्मीदवारों को चुनने के लिये बैठती है।

(१) कनवेन्शन्स की इस शृंखला में सबसे नीचे की कड़ी प्राइमरी या कॉक्स[1] है। निर्वाचन-क्षेत्र में मतदाता इकट्ठा होते हैं और दल की एक स्थानीय कमेटी का निर्वाचन करते हैं, दलों के उम्मीदवारों को नामजद करते हैं और बड़े क्षेत्र के दल की मीटिंग के लिये डेलीगेट भेजते हैं।

१—ब्राइस, 'अमेरिकन कामनवेल्थ,' जिल्द २, पृष्ठ ३,

१—मैरियट के अनुसार 'कॉक्स' का अर्थ विस्तृत दल-संगठन है। विलोबी का कहना है कि :—

"कॉक्स प्रणाली के विकास में दो आवश्यकातायें पूरी करनी पड़ीं। सर्वप्रथम उन साधनों का प्रबन्ध करना जिनकी सहायता से दल अपने निर्णयों पर पहुँच सके और दूसरे ऐसे साधनों को उत्पन्न करना जिनसे इन निर्णयों को व्यवहार में लागू किया जाय। इनमें से पहली आवश्यकता कॉक्स द्वारा पूरी की गई। यह ऐसी संस्था है जो दोनों सभाओं में दल के समस्त सदस्यों को मिला कर बनती है और जिसका उत्तरदायित्व विभिन्न पदों के लिये व्यक्तियों का चुनाव करना तथा दल की नीति का निर्णय करना रहता है'। 'दि गवर्नमेन्टस ऑफ् मार्डन स्टेट्स, पृ० ५१३

(२) चूँकि काउन्टी कनवेन्शन में सभी मतदाताओं के लिये इकट्ठा होना असम्भव है इसलिये प्राइमरी सभाओं के डेलीगेट इकट्ठा होते हैं और वे फिर एक दल कमेटी का निर्वाचन करते हैं, निर्वाचन के लिये उम्मीदवारों को नामज़द करते हैं और इससे बड़े क्षेत्र के लिए डेलीगेट भेजते हैं।

(३) काउन्टी कनवेन्शन से भेजे हुए डेलीगेट राज्य के कनवेन्शन में इकट्ठा होते हैं और वे भी पहली दो कनवेन्शन की सभाओं की भाँति कार्य करते हैं। इस प्रकार वे राष्ट्रीय कनवेन्शन के लिये डेलीगेट भेजते हैं।

(४) इस प्रकार राष्ट्रीय कनवेन्शन में विभिन्न राज्यों (States) के डेलीगेट एकत्रित होते हैं और राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति को नामज़द करते हैं।

दल संगठन के दोष

दलों के कनवेन्शन द्वारा नामज़दगी हो जाने के पश्चात् निर्वाचन का संघर्ष प्रारम्भ होता है और इसी संघर्ष में दल संगठन के दोष प्रकट होते हैं; इनका प्रभाव व्यवस्थापिका सभा पर भी पड़ता है। इसका यह अर्थ हुआ कि दल संगठन का निदान-शास्त्र व्यवस्थापिका का भी निदान-शास्त्र है और यह न केवल अमेरिका ही पर बल्कि विश्व की सभी प्रजातन्त्रात्मक जातियों पर लागू होता है।

(१) निर्वाचनों के संगठन ने दल को एक ऐसे यन्त्र[1] का रूप दे दिया है जो राजनीतिक नियन्त्रण के साधन का काम देता है। स्वभावतः यह ऐसे आदमियों के हाथ में चला गया है जो राजनीति को पेशा समझ कर ग्रहण करते हैं और जिन्हें 'पेशेवर राजनीतिज्ञ' कह सकते हैं।

(२) ऐसे पेशेवर राजनीतिज्ञ अपना एक दायरा बना लेते हैं जिसमें प्राय: वही लोग रहते हैं जो सबसे चालाक होते हैं। ये लोग गुट बना कर मिलकर कार्य करते हैं और चूँकि यही लोग दलों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं इसलिये विभिन्न कमेटियों में वही लोग रक्खे जाते हैं जो इनके आज्ञापालक तथा विश्वासपात्र हों।

(३) किन्तु इस दायरे में प्राय: एक ऐसा प्रमुख व्यक्ति रहता है जो प्रभावशाली होता है और नेतृत्व करता है। दूसरे लोग उसका अनुसरण करते हैं। वह इस दल का अध्यक्ष हो जाता है। जैसा कि मेरियम ने कहा है 'उसके पास पेशेवर राजनीतिज्ञों की सेना होती है जिसमें राजनीतिक युद्ध में अनुभव प्राप्त लोग रहते हैं......इस सेना की मानसिक अवस्था अच्छी होती है। सख़्ती से डिसिप्लिन क़ायम रक्खी जाती है और अयोग्यता और अवज्ञा पर दण्ड दिया जाता है।'[2] 'उसमें आदमियों को पहचानने तथा परिस्थिति के अनुसार शीघ्र निर्णय करने की शक्ति होती है और वह कार्य-निर्वाह में निपुण तथा षड्यन्त्र और कूटनीति का पूर्ण ज्ञाता होता है। अपने गुप्तचरों की सहायता

१—सेट का कथन है कि प्रचलित प्रयोग के अनुसार यन्त्र को भ्रष्ट किन्तु सुसंगठित तथा योग्य दल संगठन कहा जा सकता, जिस प्रकार बॉस (Boss) को भ्रष्ट किन्तु योग्य नेता कह सकते हैं'—पृष्ठ ३४८ 'अमेरिकन पार्टीज़ एण्ड इलेक्शन्स'।

२—मेरियम—'अमेरिकन पार्टी सिस्टम' पृष्ठ १६७ और १६६।

से दुश्मन की शक्ति तथा नीति, सर्वसाधारण जनता की अवस्था तथा जाति की दूसरी महत्वपूर्ण शक्तियों के बारे में उसे सभी बातें शीघ्र मालूम हो जाती हैं। इस प्रकार वह स्वभावतः राजनीतिक नेता हो जाता है और उसके हाथ में अनेकों उपकार तथा नियुक्त करने की शक्ति रहती है।

(४) इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पूरा दल-यन्त्र स्वयं ही कार्य नहीं करता। यह कुछ ऐसे लोगों द्वारा चलाया और नियन्त्रित किया जाता है जो प्रभावशाली होते हैं। इस भाँति कनवेन्शन में जब डेलीगेटों के नाम उपस्थित किये जाते हैं तो इसका कार्य केवल उन नामों का स्वीकार करना रह जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि डेलीगेट किसी भी माने में कनवेन्शन के प्रतिनिधि नहीं होते; वे केवल बॉस तथा उसके सीमित दायरे वाले लोगों द्वारा नामज़द किये हुए व्यक्ति होते हैं। इस प्रकार नामज़द किये गये लोगों की सूची को स्वीकार करने को पारिभाषिक शब्दों में 'स्लेट' (Slate) को स्वीकार करना कहा गया है।

(५) इसके अलावा कभी-कभी बड़े व्यवसायी तथा धनी संस्थायें इस सीमित दायरे तथा उनके अध्यक्ष (बॉस) को खरीद लेती हैं और उनके द्वारा ऐसे क़ानून पास किये जाते हैं जिनसे उनके हित की पूर्ति होती हो। इसे पारिभाषिक तौर पर पर 'ग्रैफ़्ट या लॉग रोलिंग' (Graft or Log-rolling) कहा गया है।

(६) जेरीमान्डरिंग का अर्थ तो हम 'निर्वाचक' के अध्याय में देख चुके हैं। इससे एक विशेष दल निर्वाचन क्षेत्रों का इस प्रकार प्रबन्ध करता है कि दूसरे दल के बहुत सारे मत बेकार जाँय और इस दल का फ़ायदा हो।

(७) इसके पश्चात् 'फ़िलिबस्टरिंग' की प्रथा आती है। इंगलैण्ड में इसे बाधा डालना[1] (Obstruction) और आस्ट्रेलिया में स्टोन-वालिंग (Ston-Walling) कहते हैं। यह वह प्रथा है जिससे विरोधी दल वाले व्यवस्थापिका के कार्य में अधिक समय तक बोलकर या अनेकों प्रस्ताव रखकर बाधा पहुँचाते हैं और सभा को किसी निर्णय तक पहुँचने नहीं देते।

(८) कुछ लोग व्यवस्थापिका के सदस्य न होते हुए भी किसी प्रस्ताव के पास कराने में सदस्यों को प्रभावित करते हैं। इन्हें दर्शक-कक्ष (Lobby) कहा जाता है। इसमें दो प्रकार के लोग रहते हैं। कुछ तो किसी विशेष प्रस्ताव में दिलचस्पी रखने के कारण उसे पास कराने का प्रयत्न करते हैं और कुछ इस कार्य को पेशे के रूप में अपना लेते हैं। ये लोग प्रस्ताव पास होने के समय व्यवस्थापिका-भवन में आते-जाते रहते हैं।

(९) अन्त में हम अमेरिका की 'लूट-प्रणाली' (Spoils-System) के बारे में भी कुछ कह सकते हैं। यह दल संगठन का सबसे बड़ा दोष है और शासन के सभी

१—कृपया ब्राइस की 'मॉडर्न डिमोक्रैसीज़'—जिल्द २, पृष्ठ ३७८ और जेनिंग्स की 'ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन' पृष्ठ ८१ देखिये।

विभागों पर इसका असर हुआ है। जैसा कि मेरियम[1] ने कहा है सर्वप्रथम इसका प्रयोग सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति में हो सकता है। लोग अपनी योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि दल से सम्बन्ध रखने के कारण चुने जाते हैं। प्रेसीडेन्ट जैकसन के काल में ऐसा ही किया गया था और राज्य के पद दल की सेवा के बदले इनाम में दिये गये।

दूसरे, यह केवल उपकार तथा नियुक्ति में पक्षपात करने की ही प्रणाली नहीं है। इससे सार्वजनिक पद का व्यक्तिगत फ़ायदे के लिये ग़ैरक़ानूनी दुरुपयोग भी किया जा सकता है। अमेरिका में तो यह शासन के सम्पूर्ण यन्त्र—व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्यायकारिणी में प्रचलित है। यहीं तक नहीं सभी सरकारी कामों में जैसे ठेका देना, सरकारी सामान खरीदना और सार्वजनिक कोष के प्रयोग में भी दलों के सदस्यों का ख़याल रक्खा जाता है। इस प्रथा के कुछ रूप निम्नलिखित हैं :—

१—प्रायः क़ानून तोड़ने वालों को मौन सम्मति देना।

२—राजनीतिक उपकार के लिये पास किये गये असंगत क़ानूनों की युक्तिपूर्ण व्याख्या करना।

३—क़ानून तोड़ने वालों को कम सज़ा देना।

४—न्यायाधीशों को प्रभावित करके उन्हें अनुचित निर्णय देने पर वाध्य करना इत्यादि।

बहु-दल-प्रणाली

इंगलैण्ड की दल-प्रणाली के सिद्धान्त तथा अमेरिका की दल-प्रणाली के संगठन का अध्ययन कर लेने के पश्चात् हम आधुनिक प्रजातन्त्रों में अनेकों दलों के विकास पर ध्यान देंगे। इंगलैण्ड के सम्बन्ध में तो हमने पहले ही देख लिया है कि १९४५ के निर्वाचन में मजदूर-दल की स्पष्ट विजय होने के बावजूद भी वहाँ कम से कम कहने के लिये आठ राजनीतिक दल और भी हैं। अमेरिका में यद्यपि दो ही बड़े दल हैं—रिपबलिकन और डिमोक्रैट। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वहाँ दूसरे दलों का अभाव है। वहाँ भी मजदूर-दल का संगठन हो गया है और पहले से भी 'ग्रीन बैक', 'पापुलिस्ट' और 'प्रोग्रेसिव' (प्रगतिवादी) दल चले आते हैं। किन्तु योरप के महादेश में बहु-दल प्रणाली का ही प्रचार है। इससे हमारा यह तात्पर्य है कि फ़्रान्स[2] ऐसे देशों

१—मेरियम—'पार्टी सिस्टम', अध्याय ४

२—अपनी पुस्तक 'गवर्नमेन्ट एण्ड पार्टीज़ इन कान्टीनेन्टल योरप' जिल्द १, पृष्ठ १०१-१२५, में लोवेल ने फ़्रान्स में अनेकों दल होने के निम्नलिखित कारण बताये हैं:—

(i) राजनीतिक मतैक्य का अभाव। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो स्थापित शासन को कभी उचित नहीं मानते। इसलिये वे राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं को बदलने के लिये सभी प्रयत्नों का प्रयोग करते हैं। चूँकि वे थोड़े होते हैं और शासन-भार सँभालने के योग्य नहीं होते इसलिये उनका एकमात्र कार्य उपद्रव करना रहता है।

(ii) किन्तु शासन को स्वीकार करने का जो मतैक्य इंगलैण्ड तथा अमेरिका में है बनावटी ढंग से नहीं बनाया जा सकता। यह सदैव स्वाभाविक होता है। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति

में दो-दल-प्रणाली का विकास नहीं हो सका है। वहाँ अपने राजनीतिक तथा दूसरे उद्देश्यों[1] की प्राप्ति के लिये छः राजनीतिक दल तक थे। इस बहु-दल प्रणाली का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि कोई भी एक दल इतना शक्तिशाली नहीं हो पाता कि वह शासन चला सके। इसलिये कई दलों को मिला कर संयुक्त शासन स्थापित किया जाता है। लेकिन अपने हितों को पूरा करने के लिये बहुधा ये दल एक पक्ष से दूसरे पक्ष में आ जाते हैं। इस प्रकार दृढ़ तथा स्थिर शासन नहीं क़ायम

ने सभी प्रकार के राजनीतिक मतैक्य को समाप्त कर दिया। वहाँ के लोगों का सभी पुरानी संस्थाओं के प्रति विश्वास जाता रहा और ऐसी नई संस्थायें जिनके प्रति सब का विश्वास हो नहीं उत्पन्न की जा सकीं। इसीलिये वहाँ के दलों में समझौता नहीं हो पाता।

(३) फ्रान्स के लोग सिद्धान्तवादी तथा आदर्शवादी हैं। इसीलिये अपने दार्शनिक आदर्शों के आधार पर अलग अलग दल बन गये हैं। इस दृष्टिकोण का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि दिन प्रति दिन की समस्याओं पर भी वे एकमत नहीं हो पाते। फ्रांस के लोग समाचारपत्रों को विचारों के लिये पढ़ते हैं और इसलिये वे कई अखबार पढ़ते हैं। इंगलैण्ड के लोग उन्हें समाचार के लिये पढ़ते हैं इसलिये एक से ही उनका काम चल जाता है। इसीसे फ्रान्स वालों की भावुक प्रवृत्ति का पता चलता है और इसीलिये वे राजनीति में सुलभता से एकमत पर नहीं पहुँच पाते।

(४) वहाँ की निर्वाचन-पद्धति, व्यवस्थापिका की कमेटी प्रणाली तथा प्रश्न करने की प्रथा से भी अधिक दल उत्पन्न होते हैं।

(५) ब्राइस ने एक छठा कारण भी बताया है। देश के प्रादेशिक विभाजन से भी कम से कम छः वर्ग के लोग पैदा हो जाते हैं जिनके हित पृथक रहते हैं। किसान, मज़दूर, व्यापारी वर्ग, पेशेवर तथा धनाढ्यवर्ग और धार्मिक वर्गों के भी अपने अलग-अलग हित रहते हैं।

विस्तारपूर्वक व्याख्या के लिये कृपया बुयेल (Buell) की 'Contemporary French Politics' के पहले अध्याय (पृष्ठ १-८) को देखिये। उसमें उन्होंने दलों के दर्शन का अध्ययन किया है।

मुनरो कृत 'गवर्नमेन्ट्स ऑफ़ योरप' पृष्ठ ५०६-५११ भी देखिये।

१—अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स'—ए प्रीफेस पृष्ठ ५२० में सेट ने बहु-दल-प्रणाली के दोष को इस प्रकार रक्खा है:—

'योरप के कुछ देशों में दस, बीस और कभी-कभी तो तीस दल एक समय पर बहुमत प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस हालत में प्रत्येक मतदाता को ऐसे कुछ लोग मिल जाते हैं जिनसे वह सहमत हो। क्षण भर के लिये तो उसे सन्तोष प्राप्त हो जाता है। किन्तु शीघ्र ही उसे मालूम पड़ता है कि जिस समझौते से वह निर्वाचन के समय बच गया था उसका उसकी स्वीकृति के बिना ही निर्वाचन के पश्चात् होना आवश्यक है। शासन की सहायता करने के लिये या किसी प्रस्ताव को पास कराने के लिये बहुमत के लिये प्रतिनिधि लोग अपना वोट बेचते हैं और अपने सिद्धान्तों का त्याग करते हैं। व्यवस्थापिका के अधिवेशन के समय असंख्य गुप्त समझौता का कौन उत्तरदायी है। इस दशा में दो-दल प्रणाली की व्यावहारिक सुलभता को स्वीकार करना पड़ता है।'

हो पाता।[2] संयुक्त शासन कमजोर होता है और विभिन्न दलों के मौज के साथ मन्त्रिमंडल बनता और बिगड़ता रहता है।[3]

इसके अलावा बार्कर ने अपनी 'नेशनल केरैक्टर' पृष्ठ १७१ में इस प्रणाली के निम्नलिखित और दोष बताये हैं :—

साधारण तौर पर योरपीय महाद्वीप के देशों में दलों का वह सुलभ रूप नहीं विकसित हो पाया है जिसमें सामयिक कठिनाइयों के बावजूद भी दो ही दल रहते हैं; दोनों दल संगठित रहते हैं और शासन प्राप्त करके अपने सिद्धान्तों को कार्यरूप में लाने का प्रयत्न करते हैं।.......... वहाँ बहुत से दल पैदा हो गये हैं और नियमों को सिद्धान्तों का जामा पहना दिया गया है। इससे वादविवाद इतना सूक्ष्म हो जाता है कि इसकी व्यवहारिकता जाती रहती है और उसमें इतनी तीव्रता आ जाती है कि कोई काम नहीं हो पाता।'

इस प्रकार बार्कर के अनुसार इस प्रणाली के मुख्य दोष (१) नियमों को सिद्धान्तों का रूप देना, (२) वादविवाद का सूक्ष्म (बारीक) बनाना, और (३) मतभेदों को अधिक तीव्र करना हैं।

२—इसके विपरीत हम यह भी कह सकते हैं कि कई दलों की उपस्थिति में देश बहुसंख्यक दल की निरंकुशता से बच जाता है। ऐसा दल जो बहुसंख्या में है ऐसे क़ानून पास करा सकता है जिसमें अल्पसंख्यकों के हित की हानि होने का अन्देशा हो। संयुक्त शासन हमेशा समझौते के आधार पर बनता है इसलिये इसमें सभी हितों का ध्यान रक्खा जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि संयुक्त शासन में देश असन्तोष से बचा रहता है।

बहुसंख्यक दल प्रणाली के अन्य गुणों के लिये कृपया मुनरो की 'गवर्नमेन्ट ऑफ योरप' पृष्ठ २४६ देखिये।

३—निम्नलिखित कारणों से फ्रान्स में (१६३६-४५ के युद्ध के पूर्व) मन्त्रिमंडल स्थायी नहीं रह सकता था।

(१) व्यवस्थापिका में अनेक दलों तथा गुटबन्दियों का होना और उनमें डिसिप्लिन की कमी। लोग एक दल से दूसरे दल में, और दल एक पक्ष से दूसरे पक्ष में बहुधा चले जाते हैं।

(२) राजनीतिक संकटों का उत्पन्न होना। अधिवेशन के समय किसी भी प्रश्न से मन्त्रिमंडल समाप्त हो सकता है।

(३) मन्त्रिमंडल को परास्त करने के लिये या सामयिक प्रश्नों पर सहमत होने के कारण गरम दलों में मिलने की प्रवृत्ति।

(४) देश का प्रादेशिक विभाजन। इससे राजनीतिक समस्यायों पर एकमत प्राप्त करना मुश्किल हो जाता है।

(५) ऐसे नेता का अभाव जिसके आदेश को सभी लोग मान सकें।

(६) मन्त्रिमंडल के हाथ में व्यवस्थापिका को विघटित करने की शक्ति का न होना। इसके अभाव में मन्त्रिमंडल जनता का निर्णय नहीं पा सकता। इसलिये विरोधी दलों की बाधाओं से ऊबकर इसे त्यागपत्र ही देना पड़ता है।

एक दल की तानाशाही

१६३६-४५ के युद्ध में पराजित होने के पूर्व जर्मनी तथा इटली में न तो दो-दल प्रणाली थी और न बहुदल। वहाँ केवल एक दल की तानाशाही थी। इसका यह अर्थ हुआ कि इन देशों में शासन प्रजातंत्रात्मक नहीं था। यह केवल अल्पसंख्यकों की तानाशाही थी क्योंकि इसने अपने विरोधियों को समाप्त करके तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण करके कुछ अपने चुने हुए लोगों का शासन स्थापित किया। तानाशाह इस शासन का अध्यक्ष था और उसी के आदेशानुसार शासन-यन्त्र चलता था। लेकिन इस स्पष्ट निरंकुशता के होते हुए भी हम देखते हैं कि उसका निर्वाचन राष्ट्र के बहुमत द्वारा दो या चार वर्ष के लिये नहीं वरन् उसके जीवन काल भर के लिये होता था। स्वर्गीय डाक्टर बेनी प्रसाद के अनुसार तानाशाही शासन इसलिये सफल हुए कि इन्होंने अपना वाह्य रूप प्रजातन्त्रात्मक रक्खा और कुछ ऐसी योजनायों को अपनाया जो प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ही विकसित हुईं।[1] इसी प्रकार सोवियत रूस में भी न तो दो-दल प्रणाली है और न बहुदल प्रणाली। यहाँ का शासन भी एक दल की तानाशाही है। और स्तालिन यहाँ का तानाशाह है। इस शासन-प्रणाली ने भी अपने शासन-संगठन को प्रजातन्त्रात्मक रूप दे रक्खा है। यद्यपि टर्की इन देशों

---

(७) मन्त्रिमंडल सेनेट के सम्मुख भी उत्तरदायी होता है। इसलिये इसे दो संस्थाओं को खुश रखना पड़ता है। असहमत होने पर सेनेट भी मन्त्रिमंडल के कार्य में बाधा डाल सकती है और इसे त्यागपत्र देने पर वाध्य कर सकती है।

(८) सरकारी विरोधी पक्ष का अभाव। शासन की आलोचना करने वाले दल प्रायः अनुत्तरदायी होते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उन्हें शासन का निर्माण नहीं करना होगा। इसके विपरीत इंगलैण्ड में विरोधी पक्ष को हमेशा इस बात का ध्यान रहता है कि शासन का निर्माण करने के पश्चात इसे अपनी आलोचनाओं को सही प्रमाणित करना होगा। इसलिये वहाँ विरोधी दल मनमानी आलोचना नहीं करता।

ई० यम० सेट ने मन्त्रिमंडल की इस अस्थिरता के निम्नलिखित दोष बताये हैं:—

(१) उत्तरदायित्व का छिन्न-भिन्न होना। सभी मन्त्री जानते हैं कि वे शीघ्र ही हटाये जायँगे। वे अपनी योजनायों को पूरा नहीं कर सकते।

(ब) क़ानून-निर्माण करने में भी बाधा पड़ती है। अस्थिर मन्त्रिमडल किसी महत्वपूर्ण क़ानून को नहीं पास करा सकता।

(स) शासन कार्य भी सुचारु रूप से नहीं चल पाता। ज्यों ही मन्त्रियों को अपने कार्य का अनुभव प्राप्त होता है वे बाहर कर दिये जाते हैं। इसलिये कर्मचारियों के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं रहता और शासन दोषपूर्ण तथा ढीला रह जाता है।

—'गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ फ्रान्स', पृष्ठ ६६-६६

१—बेनीप्रसाद—'डिमोक्रैटिक प्रोसेस, पृष्ठ २४५-२४६

से अधिक प्रजातन्त्रात्मक है किन्तु वहाँ का शासन भी एक ही दल की तानशाही द्वारा चलाया जाता है।[२]

भारतवर्ष के राजनीतिक दल

अन्त में हम भारतवर्ष के दलों[१] के सम्बन्ध में भी कुछ कह सकते हैं। प्रारम्भ में ही मानना पड़ेगा कि भारतवर्ष में दो दल प्रणाली का विकास आसानी से नहीं हो

२—जुलाई ६, १९४५ को ओरियन्ट प्रेस द्वारा भेजा गया निम्नलिखित समाचार टर्की के बारे में भारतीय पत्रों में छपा था:—

"टर्की धीरे-धीरे शासन के प्रजातन्त्रात्मक रूप की ओर अग्रसर हो रहा है और इस विकास के साथ टर्की की राष्ट्रीय महासभा में एक दूसरे राजनीतिक दल की सम्भावना दिखाई दे रही है। हाल ही में, पॉपुलर पार्टी की प्रबन्धात्मक समिति से तीन प्रतिनिधियों के त्यागपत्र से यह प्रकट होता है कि नये राजनीतिक संगठन के विकास के मार्ग में यह पहला क़दम होगा। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात टर्की के पार्लिमेन्ट के छ: रिक्त स्थानों के लिये होने वाले उप-निर्वाचन में पॉपुलर पार्टी का अलग रहना है।

एक प्रभावशाली विरोधी पक्ष (जो कालान्तर में एक सुसंगठित राजनीतिक दल में विकसित हो सके) के विकास की पहली प्रवृत्ति उस समय दिखाई पड़ी थी जब शासन की आर्थिक तथा व्यवसायिक नीति की कड़ी आलोचना होने पर आर्थिक मन्त्री जलाल सीरेन ने त्यागपत्र दिया। टर्की के कुछ प्रभावशाली राजनीतिक क्षेत्रों का यह विचार है कि एक दृढ़ विरोधी दल की उपस्थिति टर्की के राजनीति के लिये लाभप्रद होगी। विशेष कर अगर इसमें ऐसे प्रमुख टर्क शामिल होते हैं जिन्होंने अब तक अपने को राजनीति के बाहर रक्खा है। इस सम्बन्ध में भूतपूर्व पर-राष्ट्र मन्त्री तौफ़ीकरूस्तू आरस और लन्दन के भूतपूर्व राजदूत रऊफ़ ऑरबे के नामों की अधिक चर्चा हो रही है। यह स्मरण करने योग्य है कि तौफ़ी करुस्तू आरस ने रूस और टर्की के बीच किये गये १९२५ के सुलहनामे (Nan-Agressian Pact of 1925) के बातचीत के सम्बन्ध में काफ़ी नीति-कुशलता दिखाई थी। (इस सुलहनामे को अब सोवियत यूनियन ने ठुकरा दिया है)

एक नये दल की सम्भावना का साधारण पत्रों ने स्वागत किया है यद्यपि कुछ का यह कहना है कि १९३० में कमाल अतातुर्क की सम्मति से फेथी बे द्वारा रिपब्लिकन पार्टी को स्थापित करने का अनुभव असफल ही हुआ और पुनः नये दल का यही अन्त हो सकता है। इस आलोचना का दूसरे समालोचकों ने प्रत्युत्तर दिया है। उनका कहना है अता तुर्क के ज़माने तथा आज के समय में काफ़ी अन्तर है। नई सन्तानों के विकास के साथ और विश्व घटनाओं के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप अब टर्क जाति काफ़ी प्रौढ़ हो गई है। इसीलिये आज एक दूसरा दल इतना आवश्यक है।"

१—कृपया 'इण्डियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल सांइस' अक्टूबर-दिसम्बर १९३९ के अंक में प्रो० दीपचन्द्र वर्मा द्वारा लिखा गया 'प्राब्लेम्स बिफ़ोर दि प्राविन्शियल गवर्नमेन्टस: प्राविशियल गवर्नमेन्टस् ऐण्ड पार्टी आर्गनाइजेशन्स' देखिये। इसके अलावा १९४१ के अप्रेल-जून के अंक में डा० डी० यन० बनर्जी द्वारा लिखा गया 'दि पार्टी गवर्नमेन्ट इन इण्डिया' का भी अध्ययन कीजिये।

सकता क्योंकि हमारे समाज में केवल आर्थिक या राजनीतिक सिद्धान्तों पर ही मतभेद नहीं उत्पन्न होता। यहाँ तो सम्प्रदाय, जाति, वर्ग तथा सामाजिक मतभेद के आधार पर दलों का संगठन होता है। हमारे यहाँ हिन्दू, मुसलमान तथा दलित वर्गों के दल हैं जैसे हिन्दू महासभा, मुसलिम लीग, और जसटिस पार्टी। यदि हम आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों पर इण्डियन नेशनल कांग्रेस, लिबरल फ़ेडरेशन और कम्युनिस्ट पार्टी की भाँति दलों का निर्माण करते भी हैं तो हम यह नहीं भूल सकते कि आखिरकार हम हिन्दू, मुसलमान और ईसाई हैं। इसका यह तात्पर्य है कि भारतीयों के विचार पर धर्म का हमेशा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। गांधी जी के बारे में भी कहा जाता है कि उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि उनकी राजनीति का मार्ग प्रदर्शक धर्म ही रहा है। इसके अलावा फ्रान्स वालों की भाँति हम भावुक तथा आदर्श वादी भी हैं। इसलिये हम सुलभता से किसी समझौते पर नहीं पहुँच पाते। फिर जमींदारों का वर्ग है जो प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों से समझौता करके कुछ नहीं प्राप्त कर सकता; उनकी हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है। इसलिये वे अपने प्रभाव का प्रयोग हमेशा प्राचीनवाद के लिये ही करते हैं। अन्त में हमें इसे भी नहीं भूलना चाहिए कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में हिन्दुओं के हमेशा ७०% प्रतिनिधि रहेंगे और मुसलमानों के केवल ३०%। इसका यह अर्थ हुआ कि इस प्रतिनिधित्व के आधार पर जो शासन बनेगा वह प्रजातन्त्रात्मक न हो कर बहुसंख्यक दल का स्थायी तानाशाही शासन होगा। इसलिये अल्पसँख्यक मुसलमान हमेशा विरोधी पक्ष में रहेंगे और प्रजातन्त्रात्मक अर्थ में ये कभी भी शासन का निर्माण नहीं कर सकते। यही कारण है कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस और मुसलिम लीग हमेशा एक दूसरे का विरोध करते हैं और यही कारण पाकिस्तान के रूप में मुसलिम राष्ट्र की आत्म-निर्णय की योजना के पीछे भी है।

अविभाज्य भारत

किन्तु हिन्दोस्तान में बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो इस दो राष्ट्र के सिद्धान्त में नहीं विश्वास करते। वे हिन्दोस्तान का विभाजन करना नहीं चाहते। उनका ध्येय अविभाज्य भारत या अखण्ड हिन्दोस्तान है। इसलिये उन्होंने हिन्दोस्तान के सभी राजनीतिक दलों को शामिल करके वास्तविक राष्ट्रीय शासन का समर्थन करना शुरू कर दिया है किन्तु इस संयुक्त शासन के सिद्धान्त पर भी अभी कोई समझौता नहीं प्राप्त हो सका है।

वैवेल-योजना

जून १४, १६४५ को वाइसराय लार्ड वैवेल ने ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के प्रस्ताव का एलान किया जिसमें भारतीय नेताओं को नई कार्यकारिणी बनाने के लिये निमन्त्रित किया। यह कार्य कारिणी "संगठित लोकमत का अधिक प्रतिनिधित्व" कर सकता था और इसके निम्नलिखित आधार थे।

(१) मौजूदा राजनीतिक दशा को सुधारना और भारतवर्ष को पूर्ण स्वराज्य के ध्येय के निकट ले जाना।

(२) उनसे वैधानिक बन्दोबस्त की आशा नहीं की गई थी और अस्थायी सरकार के निर्माण से वैधानिक बन्दोबस्त में कोई रुकावट पड़ने की सम्भावना नहीं थी।

(३) हिज़ मैजेस्टी की गवर्नमेन्ट ने आशा की थी कि भारतीय दलों के नेता साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता प्राप्त कर लेंगे किन्तु यह आशा पूरी नहीं हो सकी……(इसीलिये प्रस्तावित नई कौंसिल में सभी प्रमुख जातियों को प्रतिनिधित्व रहेगा और सवर्ण हिन्दुओं तथा मुसलमानों को बराबर स्थान मिलेगा।)

(४) अगर इसका निर्माण हो गया तो यह मौजूदा विधान के अनुसार ही काय करेगी। इसलिये गवर्नर-जनरल द्वारा नियन्त्रण के अधिकार को न प्रयोग करने पर राजी होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु इसका प्रयोग अकारण नहीं होगा।

(५) यह पूर्णरूप से भारतीय कौंसिल होगी। केवल वाइसराय तथा कमान्डर-इन चीफ़ विदेशी होंगे। (पहली बार अर्थ तथा गृह सदस्य भारतीय होंगे)

(६) पर-राष्ट्र सम्बन्धी विभाग भी भारतीय सदस्य के हाथ सौंप दिया जायगा। कौंसिल के सदस्यों को वाइसराय राजनीतिक नेताओं से परामर्श लेकर चुनेगा और उनके नियुक्त के लिये बादशाह की स्वीकृति आवश्यक होगी।

(७) हिन्दोस्तान में अंग्रेजी व्यावसायिक हितों की रक्षा के लिये अंग्रेजी हाई कमिश्नर की नियुक्ति की जायगी।

(८) ये प्रस्ताव केवल ब्रिटिश भारतवर्ष के लिये थे और इनसे देशी राजाओं तथा अंग्रेजी राजा के प्रतिनिधि के सम्बन्ध में कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता था।

शिमला-सम्मेलन, जून-जुलाई, ४५

वाइसराय द्वारा इस प्रकार आमन्त्रित किये गये नेताओं का शिमला में सम्मेलन हुआ। यद्यपि यह स्पष्ट हो गया था कि कौंसिल में भारतीय सदस्यों का अनुपात ४०% सवर्ण हिन्दू, ४०% मुसलमान और २०% दूसरे अल्पसंख्यकों का होगा लेकिन शिमला-सम्मेलन में विभिन्न दलों द्वारा कोई समझौता नहीं प्राप्त हो सका। इसका कारण यह था कि एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि उसे सवर्ण हिन्दू, सिख, ईसाई तथा दलित वर्गों के साथ मुसलमान नामजद करने का भी अधिकार है। मुसलिम लीग इस बात के लिये तैयार न थी। इसका दावा था कि यह मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है और इसके अलावा किसी संस्था को मुसलमान सदस्य नामजद करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। मुसलिम लीग की कार्यकारिणी ने लार्ड वैवेल से इस बात का आश्वासन चाहा कि कार्यकारिणी कौंसिल में सभी मुसलमान सदस्य मुसलिम लीग द्वारा नामजद किये गये लोग होंगे। यह आश्वासन न पाने पर लीग ने अपने उम्मीदवारों का नाम देने से इनकार कर दिया। वाइसराय ने सम्मेलन को असफल समझकर विघटित कर दिया।

क्लोज़र गिलोटिन और कंगारू पर एक टिप्पणी

१८८० में इंगलैण्ड की पार्लिमेन्ट में आयरलैण्ड के होमरूल की समस्या पर इसके समर्थन करने वालों ने पार्लिमेन्ट के कार्य में बाधा डालने का निश्चय कर लिया। डिबेट की सीमा के बाहर भी वे अपना भाषण जारी रखते थे और इस प्रकार उनका कार्य समय नष्ट करना मात्र हो गया था। प्रधान मन्त्री के सुझाव पर इस नीति का मुकाबला करने के लिये नये नियम बनायेंगे और इस प्रकार 'क्लोज़र' (Closure) की प्रणाली चली।

(१) 'साधारण क्लोज़र का प्रस्ताव किसी सदस्य के भाषण के मध्य में या उसके अन्त में रक्खा जा सकता है। यह कहा जाता है कि अब (विचार की जाने वाली) समस्या पर वोट लिया जाय। अगर स्पीकर यह नहीं कहता की प्रस्ताव सभा के नियम के विरुद्ध है या इससे अल्पसंख्यकों के अधिकार पर चोट पहुँचती है तो प्रस्तुत समस्या पर बग़ैर डिबेट के वोट ले लिया जाता है। अगर बहुसंख्यक दल अपनी स्वीकृति देता है तो उस प्रस्ताव पर डिबेट समाप्त हो जाता है। हाइन बर्ग, 'कम्पेरेटिव मेजर योरोपियन गवर्नमेन्ट्स,' पृष्ठ २४८।

(२) अगर किसी प्रस्ताव पर काफ़ी अर्से तक डिबेट हो चुका है और स्पीकर को यह सन्तोष हो जाता है कि इतना पर्याप्त है तो वह सभा के बहुसंख्यकों को डिबेट समाप्त करने की इजाज़त दे देता है। इस प्रकार बाधा डालने वाली नीति की सम्भावना जाती रहती है।

(३) बाद में 'Closure by compartments' की प्रथा निकाली गई। इससे बिल को कई अंशों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक अंश पर 'गिलोटिन' गिराने के पहले कुछ न कुछ डिबेट हो जाता है। इससे यह नहीं होता कि डिबेट का समय समाप्त हो जाय और बिल का महत्त्वपूर्ण अंश बिना डिबेट के ही क़ानून बन जाय।'

पृष्ठ २४८ पर हाइनबर्ग ने इन तरीकों की व्याख्या इस प्रकार की है:

"गिलोटिन प्रणाली में किसी प्रस्ताव पर डिबेट के लिये कुछ समय निश्चित कर दिया जाता है। जब यह समय समाप्त हो जाता है तो डिबेट भी बन्द हो जाता है चाहे बिल के सभी अंशों पर डिबेट हुआ हो या नहीं। इंगलैण्ड में १८९३ ई० में गिलोटिन प्रणाली में कुछ परिवर्तन हुआ और 'Closure by compartments' की प्रथा चली। इस प्रथा में बिल के विभिन्न अंशों के लिये या इसकी अवस्थाओं के लिये समय निश्चित किया जाता है। विरोधी पक्ष को बोलने का अवसर दिया जाता है किन्तु निश्चित समय के समाप्त हो जाने पर बिल के दूसरे अंश पर डिबेट होता है

और इस प्रकार एक-एक अंश करके पूरा बिल पास किया जाता है। समय मन्त्रिमंडल द्वारा ही निश्चित किया जाता है और यही क्लोज़र के लिये प्रस्ताव भी रखता है।

(४) 'इससे भी आधुनिक विकास 'कंगारू' की प्रथा के रूप में हुई है। इस प्रकार के 'क्लोज़र' से स्पीकर बिल की डिबेट करने योग्य धाराओं को चुन लेता है और इस प्रकार सभा (कंगारू की भाँति) छलाँग मारती हुई बिल के महत्वपूर्ण अंशों पर विवाद कर सकती है। इस प्रकार बिल तभी पास होता है जब बहस करने योग्य आवश्यक धाराओं पर डिबेट हो जाता है।'

—स्पेन्सर, गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स एब्रॉड, पृष्ठ ७१-७२

हाइनबर्ग ने पुनः पृष्ठ २४८ में इसे इस प्रकार समझाया है। 'कंगारू' या 'संशोधनों के चुनाव' की प्रणाली से स्पीकर को इस बात का अवसर मिलता है कि वह प्रस्तावित संशोधनों में से उनको चुन सके जो सभा के सम्मुख डिबेट के लिये पेश किये जायँगे। इसके लिये किसी मन्त्री को यह कहना पड़ता है कि इतनी धारायें या सतरें बिल के अंश हैं और केवल उन्हीं संशोधनों पर वादविवाद होगा जिसे स्पीकर इस योग्य समझ कर चुनता है।'

ग्यारहवाँ अध्याय

कार्यकारिणी

कार्यकारिणी और प्रबन्धक

यदि व्यवस्थापिका राज्य का क़ानून-निर्माणक अंग है तो कार्यकारिणी क़ानूनों को कार्यान्वित करने वाली शक्ति है। परन्तु क़ानूनों को लागू करना सरल कार्य नहीं है। सर्वप्रथम उच्च राज्याधिकारी और मंत्रियों की आवश्यकता होती है जो अनुसरण की जाने वाली नीति निर्धारित करते हैं और फिर यह देखते हैं कि वह नीति पूर्ण रूप से कार्यान्वित की जा रही है या नहीं। परन्तु कौन इस नीति को कार्य-रूप में परिणित करेगा ? निःसन्देह यह कार्य निम्न अधिकारी क्लर्क और छोटे-मोटे कर्मचारी करेंगे जो ऊपर से आदेश प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वे राज्याधिकारी और मंत्री अथवा विभागों के प्रधान जो आदेश देते और पथप्रदर्शन करते हैं वास्तव में मिलकर कार्य-कारिणी कहलाते हैं और जो आदेशों को पालन करते हैं और कार्यरूप में परिणित करते हैं वे मिलकर प्रबन्धक[1] (Administration), सिविल सर्विस (Civil Service) अथवा नौकरशाही (Bureaucracy) कहलाते हैं। साधारणतः कार्यकारिणी शब्द का प्रयोग सदैव उच्च राज्याधिारियों और निम्न राज्याधिकारियों दोनों के लिये किया जाता रहा है। परन्तु हमारे काल में इनके पृथकीकरण पर ज्यादा ज़ोर दिया जा रहा है। इसका कारण यह है कि आधुनिक राज्य स्वयं एक विस्तृत संगठन हो गया है और प्रबन्धक-यंत्र इतना जटिल और महत्वपूर्ण हो गया है कि पूर्णरूप से समझने के लिये इसके स्वभाव और इसकी कार्यप्रणाली के पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता है।

कार्य-कारिणियों के रूप

आधुनिक कार्यकारिणियों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है:—

सर्व प्रथम, इनके नामधारी और वास्तविक रूप दिखाये गये हैं। नामधारी कार्यकारिणी का तात्पर्य उस सत्ता से है जो स्वयं कुछ आदेश नहीं दे सकती वरन् उसके नाम पर सब काम होते हैं। जैसे इंगलैंड में प्रत्येक काम राजा के नाम पर होता है वह स्वयं कोई कार्य नहीं करता। इसका अर्थ हुआ कि राजा शासन का प्रधान नाम का है देश की वास्तविक कार्य-कारिणी मंत्रि-मंडल है जिसका नेता प्रधान मंत्री होता है। यही दशा जापान सम्राट की है। वह भी शासन का नाममात्र का प्रधान है।

१—नीति निर्धारित करने वाली कार्य-कारिणी को मेरियट लास्की तथा अन्य लेखक राजनीतिक कार्यकारिणी करते हैं और प्रबन्धक अंश को स्थायी कार्यकारिणी कहते हैं।

दूसरे इनके एकात्मक (Single) और बहुात्मक (Plural) के रूपों पर विचार किया गया है। एकात्मक कार्यकारिणी का तात्पर्य उस सत्ता से है जिसके अधिकार विभाजित न होकर एक व्यक्ति में केंद्रित हों। इस भाँति अफग़ानिस्तान का राजा जाहिरशाह और अरब का राजा इब्न सऊद एकात्मक कार्यकारिणी के रूप हैं। इसी प्रकार अमरीका के संयुक्त राज्य का अध्यक्ष अपने कार्यों के लिये पूर्ण उत्तरदायी है और वह राष्ट्र का प्रधान है। उसके मंत्री उसके स्वामी नहीं है, वे उसके सेवक हैं। उनकी नियुक्ति वही करता है और वे उसके सामने उत्तरदायी हैं। हमारे देश में भी गवर्नर-जनरल एकात्मक कार्यकारिणी का रूप है क्योंकि वह इस देश में सर्वशक्तिम है और भारतवर्ष की रक्षा और सुशासन का उत्तरदायित्व भी उसी पर है। उपरोक्त उदाहरण हमारे समय की तीन प्रकार की कार्यकारिणियों को प्रकट करते हैं। वे पैतृक, निर्वाचित और मनोनीत हैं। उपरोक्त राजे पैतृक आधार पर अपनी सत्ता का उपयोग करते हैं; अमरीका का अध्यक्ष निर्वाचित प्रधान है और भारत वर्ष का गवर्नर-जनरल अंग्रेजी पार्लिमेंट द्वारा मनोनीत अथवा नियुक्त किया जाता है। परन्तु स्वयं इंगलैंड में कुछ दूसरी ही परिस्थिति हैं। वहाँ की कार्यकारिणी बहुात्मक है क्योंकि उत्तर-दायित्व किसी एक व्यक्ति पर केन्द्रित नहीं है, यह पन्द्रह से लेकर बीस मंत्रियों में विभक्त है। यह निःसन्देह सत्य है कि वे सब प्रधान मंत्री के नेतृत्व में काम करते हैं और शासन कार्य के लिये संयुक्त रूप से उत्तरदायी हैं परन्तु तथ्य तो यह है कि सत्ता कई व्यक्तियों में बँटी हुई है। स्विटजरलैंड में बहुात्मक अथवा मंडलात्मक[1] (Plural or Collegeate) कार्यकारिणी वास्तविक अर्थ में है। वहाँ पर समानाधिकारी सात सदस्यों की 'संघ समिति' है। इन सदस्यों में से एक प्रति वर्ष स्विटजरलैंड का अध्यक्ष निर्वाचित होता है। इस प्रकार स्विस अध्यक्ष का स्थान अपने सहकारियों में ऊँचा नहीं है। वह अधिक से अधिक समकक्षियों में प्रथम है। इससे अधिक वह कुछ नहीं है।

सर वारेन फ़िशर कहते हैं कि 'नीति-निर्धारण मंत्रियों का कार्य है। और एक बार जब नीति निर्धारित कर दी जाती है तो इसनीति को कार्यान्वित करना सिविलसर्वेन्ट का कर्त्तव्य हो जाता है।'

१—वेब-दम्पति ने अपनी पुस्तक 'एकान्स्टीट्यूशन फॉर दि सोशलिस्ट कामनवेल्थ ऑव् ग्रेटब्रिटेन' में (Double-executive or Dyarchy P. 112) की एक तजवीज़ पेश की है जो राष्ट्रीय सभा के राजनीतिक और सामाजिकदो पार्लिमेंटो में विभाजन के पक्ष में है।

राजनीतिक पार्लिमेंट कार्यकारिणी प्रधान मंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिमंडल होगा। इसमें एक परराष्ट्र मंत्री, एक उपनिवेश मंत्री और एक न्याय मंत्री होगा (पृ० ११२)। इस भाँति इसका विस्तार कम होगा क्योंकि सामाजिक और आर्थिक विषय सामाजिक पार्लिमेंट के हाथ में चले जायेंगे (पृ० ११६)। यह मंत्रिमंडल संयुक्त रूप से राजनीतिक पार्लिमेंट के सामने उत्तरदायी रहेगा (पृ० ११७)।

तीसरे इसके सभात्मक (Parliamentary) और असभात्मक[1] या अनिवारणीय अथवा नियत (Non-Parliamentary or Irremovable or Fixed) रूपों पर भी विचार किया गया है। पहले रूप में इंगलैंड की मंत्रिमंडल प्रणाली है। यदि यह कामन-सभा का विश्वास खो देती है तो इसके स्थान पर विरोधी दल मंत्रिमंडल बनाता है। अर्थात् कार्यकारिणी निवारणीय है। परन्तु नियत कार्यकारिणी वह है जो वस्तुतः पैतृक है अथवा निर्वाचित है परन्तु जिसको व्यवस्थापिका नहीं हटा सकती[1]। इस भाँति उपरोक्त उदाहरणों में अफ़ग़ानिस्तान और अरब के राजे पैतृक आधार पर नियत कार्यकारिणी हैं और अमरीका का अध्यक्ष निर्वाचन-सिद्धान्त पर नियत कार्यकारिणी है। जब वह एक बार चार वर्ष के लिये निर्वाचित हो जाता है तो अमरीकी कांग्रेस उसको नहीं हटा सकती। उसके मंत्रियों को भी पदत्याग करने पर वाध्य नहीं किया जा सकता क्यों वही उनकी नियुक्ति करता है और वे उसी के सामने उत्तरदायी होते हैं व्यवस्थापिका के संमुख नहीं। इन उदाहरणों के अतिरिक्त हम अपने समय में नियत कार्यकारिणियों के अन्य उदाहरण दे सकते हैं। सन् १६१६ से पूर्व जर्मन सम्राट पैतृक सिद्धान्त के अनुसार नियत कार्यकारिणी था। परन्तु सन् १६१६ के 'वीमर विधान' में मंत्रिमंडलात्मक उत्तरदायित्व की व्यवस्था की गई थी जिससे शासन का रूप सभात्मक हो गया था। हिटलर के आने से फिर शासन के

१—पूर्ण व्याख्या के लिये कृपया डाइसीकृत लॉ आव् कान्स्टीटूयूशन्, पृष्ठ ४८०-४८१ (टिप्पणी ३) पढ़िये।

सामाजिक पार्लिमेंट की कार्यकारिणीय मंत्रिमंडल के लिये संयुक्त-उत्तरदायित्व की अवश्यकता नहीं है (पृ० ११६)। इसका कार्यस्थायी समितियों (Standing Committees) के द्वारा सरलता से हो जायेगा जैसे कि म्युनिसपिलटियों में होता है (पृ० ११६७) वे अपना-अपना सभापति चुनेंगी और न एक दूसरे के प्रति और एक दूसरे के कार्य के लिये उत्तर दायी होंगी। ये समितियाँ अर्थ, स्वास्थ्य, शिक्षा, यातायात, खान तथा अन्य विकासशील उद्योगों की होंगी। सामाजिक और आर्थिक अनुसंधान की भी समितियाँ होंगी। इनके अतिरिक्त एक 'साधारण विषय समिति' होगी।

१—भारतवर्ष के लिये सुझाये हुये कार्यकारिणी के विभिन्न, रूपों के ज्ञान के लिये निम्नलिखित लेख 'दि इन्डियन जर्नल ऑव् पॉलिटिकल साइंस में पढ़िये:—

(क) 'डा० ई० आशीर्वादम् कृत—कोयलिशन और कम्पोज़िट केबिनट्स' (जूलाई-सितम्बर १६४२)

(ख) प्रो० एस० पारदसानी कृत "दि टाइप ऑव् इक्जीक्यूटिव सूटेड टु इन्डियाज कांस्टट्यूशनल डिव्हलपमेंट' (जूलाई-सितम्बर, १६४२)

(ग) प्रो० वी० के० नन्दन मेनन कृत 'कम्पोज़िट इक्ज़क्यूटिवज़-फॉरिन एक्सपीरियन्स एन्ड इन्डियन कन्डीशन्स' (जूलाई-सितम्बर, १६४३)

(घ) प्रो० वी० एस० राम तथा श्री० एल० पी० चौधरी कृत 'ए सजेशन फ़ॉर वर्केबल इक्ज़ीक्यूटिव्ज़ इन इन्डिया' (जूलाई-सितम्बर १६४३)

रूप में परिवर्तन हुआ। तानाशाही की स्थापना हुई और कार्यकारिणी का रूप पूर्णतः असभात्मक अथवा नियत हो गया। इटली में भी मुसालिनी सभात्मक कार्यकारिणी की कार्यप्रणाली को पूर्णरूप से उलटने में समर्थ हुआ। ड्यूस तानाशाही की स्थापना में सफल हुआ और इस प्रकार इटली में भी नियत कार्यकारिणी हो गई। टर्की में कमाल अतातुर्क एक नियत कार्यकारिणी स्थापित करने में सफल हुआ था और जैसा स्ट्रांग महोदय का कथन है 'यहाँ विचित्र परिस्थिति है। यहाँ के अध्यक्ष के हाथ में जनतंत्र मंत्रिमंडल, सभा, और सभा के बहुमत की चार अध्यक्षतायें रहती हैं। आधुनिक काल में ऐसा विधान कहीं भी नहीं है।

नामधारी कार्यकारिणी

अब हम संक्षेप में इन कार्यकारिणियों के वर्तमान रूपों पर विचार और उनको विवेचना करेंगे।

१. अंग्रेजी राजा

सिद्धान्त रूप में अंग्रेजी राजा अब भी राष्ट्र का अधिष्ठाता है। ग्लेडस्टन का कथन है कि 'इंगलैंड में राजा राष्ट्रीय एकता का प्रतीक; सामाजिक ढाँचे का शिखर क़ानूनों का निर्माता; चर्च का प्रधान शासक; न्याय का स्रोत; प्रतिष्ठा का अकेला उद्गम और सैनिक, नाविक तथा नागरिक सेवाओं का अधिकारी है। राजा विशाल सम्पत्ति का स्वामी होता है, क़ानून की दृष्टि से राज्य का सारा राजस्व उसको मिलता है और वही उसका अधिकारी होता है; वह मंत्रियों की नियुक्ति करता तथा उनको अलग करता है, सन्धियाँ करता है, अपराध क्षमा करता है, युद्ध-घोषणा करता है, सुलह करता है, पार्लिमेंट को बुलाता और भंग करता है।' परन्तु व्यवहार रूप में उसके अधिकार बहुत सीमित हैं क्योंकि राज्य का सारा कार्य उसके मंत्री करते हैं और वे उसके प्रति उत्तर-दायी न होकर अंग्रेजी पार्लिमेंट के प्रति होते हैं।[1] इसीलिये कहा जाता है कि 'अंग्रेजी राजा राज करता है शासन नहीं करता।' यह भी कहा गया है कि अंग्रेजी 'राजा से कोई त्रुटि नहीं हो सकती।' इसका भी यही अर्थ है कि राजा के सभी कार्यों के लिये मंत्री उत्तरदायी ठहराये जायेंगे और कोई भी मंत्री राजा की आज्ञा के पीछे शरण नहीं ले सकता। अन्त में यह भी कहा गया है कि 'ताज की कभी मृत्यु नहीं होती।' इसका यह अर्थ है कि वैयक्तिक रूप में राजा की मृत्यु हो सकती है परन्तु 'ताज' संस्था के रूप में सदैव बना रहता है। ताज से तात्पर्य राजायुक्त पार्लिमेंट से है। इससे इस कथन का भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि राजा की मृत्यु हो गई है, राजा चिरजीवी हो' अर्थात् जैसे ही एक राजा की मृत्यु होती है पार्लिमेंट तुरन्त ही दूसरे को राजा बनाती है।

अंग्रेजी राजा के अधिकार

अब यदि राजा का कोई वास्तविक अधिकार नहीं है तो क्या उसका कोई अधिकार नहीं है? एक महान् अंग्रेजी लेखक बेज्हॉट महोदय का कथन है कि अंग्रेजी

१—कृपया मुनरो कृत 'दि गवर्न्मेंट्स ऑफ़ यूरोप', पृ० १३-१४ भी पढ़िये।

राजा के अब भी तीन अधिकार हैं—'मंत्रणा देने का अधिकार, उत्साहित करने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार। विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम और जार्ज पंचम ने इन अधिकारों का प्रयोग सफलतापूर्वक करके वैधानिक एकतंत्र के अस्तित्व की उपयोगिता सिद्ध की है। लोवेल का कहना है कि 'यदि अब शासन-क्षेत्र के अन्तर्गत राजा राज्य-जलयान की गतिदायिनी शक्ति नहीं रही तो वह शैल-बाहु है जो पाल का आधार है और इस प्रकार यह जलयान का केवल उपयोगी ही अंग नहीं वरन् एक आवश्यक अंग है।'

२. जापान का सम्राट

जापान में भी नामधारी कार्यकारिणी कम उपयोगी नहीं है। सिद्धान्त में जापानी सम्राट के अधिकारों की सूची उतनी ही विशाल है जितनी की इंगलैंड में अंग्रेजी सम्राट की। शायद पहली दूसरी से बड़ी है। परन्तु व्यवहार में राज्य संबंधी सभी क़ानून, राजाज्ञाओं और शाही घोषणाओं में राज्य-मंत्री के हस्ताक्षर आवश्यक है। मंत्री राजा को राज्यनीति के सभी प्रश्नों पर परामर्श देते हैं और वे उस परामर्श के लिये उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं क्योंकि अभी पूर्णरूप से इस सिद्धान्त की स्थापना नहीं हुई है कि वे जापान की व्यवस्थापिका 'राजकीय डाइट' के प्रति उत्तरदायी हैं।

३. इटली का राजा

इटली में १९४४ ई० तक भी वैधानिक राजत्व कोई उपयोगी संस्था नहीं रही। क्योंकि फ़ासिस्तवाद के उत्कर्ष से सारी शक्ति मुसोलिनी के हाथ में चली गई थी। इसके परिणाम-स्वरूप तानाशाह राज्य-जलयान की मुख्य गतिवाहिनी शक्ति हो गया था। परन्तु मुसोलिनी के पतन से, जिसमें राजा का भी हाथ था फ़ासिस्तवाद तो समाप्त हो गया है किन्तु राजा का वास्तविक स्थान अभी स्पष्ट नहीं हुआ है।

४. फ्रान्सीसी अध्यक्ष (सन् १९३९ से पूर्व)

अन्त में, जर्मनी से पराजित होने के पूर्व के फ्रान्स का भी उदाहरण ले सकते हैं। सन् १८७० के बाद फ्रान्स में राजत्व की संस्था समाप्त हो गई थी और 'तृतीय जनतंत्र' ने सात वर्ष के लिये अपना अध्यक्ष चुनना आरम्भ कर दिया था।[1] परन्तु यह अध्यक्ष विधान में वास्तविक शक्ति नहीं था क्योंकि उसकी सभी कारवाइयों पर मंत्री का भी हस्ताक्षर आवश्यक था। सर हेनरी मेन का कथन है कि 'कोई ऐसा जीवित कार्यकर्ता नहीं है जिसकी अवस्था फ्रान्सीसी अध्यक्ष से अधिक शोचनीय है। फ्रान्स के पुराने राजा राज करते थे और शासन भी करते थे। एम० थियेर महोदय के अनुसार वैधानिक राजा राज करता है शासन नहीं। संयुक्त राज्य का अध्यक्ष शासन करता है राज नहीं। फ्रान्सीसी अध्यक्ष न तो राज करता है और न शासन।' यहाँ तक कि फ्रान्सीसियों ने स्वयं कहा है कि उनका अध्यक्ष 'लौह-पिंजर में बन्दी' 'मन्दिर में गूँगी

१—इस अध्याय के अन्त में दी हुई 'एकतंत्र की आशा पर आधारित फ्रान्सीसी विधान एक टिप्पणी' को पढ़िये।

मूर्ति', 'केवल एक कठपुतली' के समान है। वह 'शशकों का पीछा करता है शासन नहीं।'[1] इसी तरह के अन्य शब्दों का प्रयोग किया है।

एकात्मक कार्यकारिणी की विशेषतायें

नामधारी कार्यकारिणी के पश्चात् अब हम एकात्मक कार्यकारिणी पर विचार कर सकते हैं। इसके तीन उदाहरण दिये जा चुके हैं। वे हैं पैतृक, निर्वाचित, मनोनीत। सदैव से यह धारणा रही है कि शासन के कार्यकारिणी अंग में निर्णय-शीघ्रता और उद्देश्य एकाग्रता होनी चाहिए। इसका यह अर्थ है कि क़ानून-निर्माण के लिये लोगों की एक विशाल सभा की आवश्यकता पड़ती है क्यों कि उन्हें प्रस्ताव रखने पड़ते हैं, उन पर वाद्-विवाद करना पड़ता है, मंत्रणा करनी पड़ती है और आलोचना करनी पड़ती है। तत्पश्चात् प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार करने के बाद किसी एक निर्णय पर पहुँचना पड़ता है। परन्तु कार्यकारिणी में एक विशाल जन-संख्या का समावेश करना असम्भव है क्योंकि इसका कार्य कार्यान्वित करना और लागू करना है। अतः इसमें एकता, शीघ्रता, गोपन और निर्णय ऐसे गुण आवश्यक हैं। हेमिल्टन महोदय ने लिखा था कि 'कार्यकारिणी की क्रियाशीलता सुशासन की परिभाषा का प्रधान अंश है। वाह्य आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करने के लिये यह आवश्यक तो है ही, क़ानूनों को भली-भाँति लागू करने, बहुधा न्याय में बाधा पहुँचाने वाले जबरदस्त तथा अनियमित गुट्टों से सम्पत्ति-रक्षा करने, अवसरवादिता और महत्वाकांक्षा, दलबन्दी, अराजकता के आक्रमणों से स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये भी कम आवश्यक नहीं है।' यह क्रियाशीलता, शक्ति और गति शासन में तब तक नहीं आ सकती जब तक यह विभिन्न व्यक्तियों में विभक्त रहेगी। और इस विभाजन के परिणाम-स्वरूप अनुत्तरदायित्व का जन्म होगा। शक्ति के केवल एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होने से शासन में सुचारुता, निर्णय में क्षिप्रता और नवीन परिस्थितियों की माँगों को पूर्ण करने में शीघ्रता सम्भव हो सकती है। इसीलिये यह कहा गया है कि कार्यकारिणी की कार्यशीलता के मुख्य अंश एकता, अवधि, इसकी सहायता की उचित व्यवस्था तथा शक्तिशाली अधिकार हैं।

बहुात्मक कार्यकारिणी के गुण-दोष

विभक्त अथवा बहुात्मक कार्यकारिणी की अपेक्षा एकात्मक कार्यकारिणी अधिक पसन्द की गई है। बहुात्मक कार्य कारिणी के पक्ष में यह सत्य ही कहा गया है कि इसमें विभिन्न सदस्य एक दूसरे के लिये नियंत्रण-स्वरूप हैं जिससे देश कठोर-तन्त्र अथवा तानाशाही से बचा रहता है। इसके अतिरिक्त एक मस्तिष्क की अपेक्षा बहुत से मस्तिष्क सदैव हितकर रहे हैं क्योंकि सदस्य एक दूसरे की कमियों को पूरा कर सकते हैं। परन्तु इसके ये सब गुण केवल सैद्धान्तिक तर्कों पर आधारित हैं क्योंकि कार्यकारिणी की प्रधान विशेषतायें निर्णयःशीघ्रता और उद्देश्यैकता समानाधिकारियों के मध्य प्राप्त होनी असम्भव हैं। इस सम्बन्ध में नैपोलियन के कथन का समर्थन करना पड़ेगा कि 'दो अच्छे

1—'A prisoner in an iron cage,' 'a mute ideal in a pagoda,' or 'a mere dummy,' and one 'who chases rabbits but does not govern' and so on.

सेनापतियों की अपेक्षा एक बुरा सेनापति श्रेष्ठतर हो जाता है।' इसका यह अभिप्राय है कि दो सेनापति एक दूसरे पर प्रतिबन्ध का कार्य नहीं कर सकते; मतभेद, विभक्त उत्तरदायित्व, निर्णय-शून्यता तथा छिद्रान्वेषण से वे पूरे युद्ध-विधान को व्यर्थ कर देते हैं। ऐसा ही लीकॉक महोदय का विचार है। उनका कथन है कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि बहुात्मक कार्यकारिणी अथवा प्रधान शासनात्मक सत्ता से युक्त जन-मंडल के विरुद्ध, जिसमें किसी को भी दूसरे अधिक अधिकार नहीं प्राप्त हैं, धारणा बन गई है। ऐसा संगठन केवल संयुक्तनिर्णय पर ही काम कर सकता है। आरम्भ में तो ऐसा ज्ञात होता है कि इस प्रणाली से परिपक्व निर्णय का लाभ प्राप्त होगा और सदस्य एक दूसरे पर नियन्त्रण रक्खेंगे जिससे उनमें से कोई भी ज्यादती न कर सकेगा। परन्तु इस लाभ की अपेक्षा अवश्यम्भावी हानि संकट-काल में मतभेद और विचार-वैषम्य के कारण होगी। वास्तव में बहुात्मक कार्यकारिणी तब तक कार्य नहीं कर सकती जब तक कार्य और कर्तव्यों को सदस्यों में अलग-अलग विभक्त न कर दिया जाये। उदाहरण-स्वरूप 'सार्वजनिक रक्षा समिति' (Committee of Public Safety), जो ग्यारह सदस्यों की एक संयुक्त कार्यकारिणी थी और सन् १७९३-९४ के 'आतंक काल' में फ्रान्स की शासक थी, यही योजना थी। इतिहास में बहुात्मक कार्यकारिणियों के बहुत से उदाहरण[1] मिलते हैं जैसे स्पार्टा में द्वैध राजा तथा रोम में कांसल। परन्तु अनुभव शासन की इस योजना के बिल्कुल विरुद्ध रहा है।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारणतः न तो सिद्धान्त रूप में और न व्यवहार रूप में ही बहुात्मक कार्यकारिणी को समर्थन मिला है। जहाँ कहीं भी इसका प्रयोग किया गया है और इसमें कमी मिली है वहाँ अन्त में एकात्मक कार्यकारिणी ही का उपयोग किया गया है। अतः हम अब पूर्वकथित विभिन्न एकात्मक कार्यकारिणियों के पक्ष और विपक्ष में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(अ) पैतृक कार्यकारिणी

पैतृक कार्यकारिणियों के सम्बन्ध में हमने केवल अफ़ग़ानिस्तान और अरब के राजाओं की ओर संकेत किया था क्योंकि वे अब भी अपने देशों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अंग्रेजी और जापानी सम्राट पैतृक राजा नहीं हैं। वास्तव में अंग्रेजी राजत्व, गृहयुद्धोत्तर घटनाओं के बावजूद भी इंगलैंड में एक अविच्छिन्न संस्था रहा है। इस प्रकार वर्तमान प्राचीन राजत्वों में अंग्रेजी राजत्व एक है। जापान में तो सम्राट शाश्वत काल से चले आने वाले वंश का है। इसीलिये उसका व्यक्तित्व पवित्र और निर्दोष माना जाता है।

महायुद्ध के पश्चात् राजत्वों का अन्त

सन् १९१४-१८ के युद्ध के पश्चात् संसार के बहुत से राजत्व समाप्त कर दिये गये थे। न केवल जर्मनी में कैसर-शासन और आस्ट्रिया-हंगरी में हैप्सबर्ग-शासन का अन्त

१—बहुात्मक कार्यकारिणी का दूसरा उदाहरण 'क्रान्तिकारी फ्रांस की निर्देशिका' (Directory of Revolutionary France) थी जिसमें पाँच सदस्य थे (१७९५)।

कर दिया गया अपितु टर्की का सुल्तान भी इस्लाम के महान खलीफा-पद से हटा दिया गया था। स्वयं खिलाफत की संस्था का ही अन्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त सन् १९२० ई० और सन् १९३० ई० के बीच बहुत से अन्य राजत्वों को भी ऐसे ही भाग्य का शिकार होना पड़ा था।[1]

अंग्रेजी राजत्व बनाये रखने के कारण

परन्तु यह एक अनोखी बात है कि ऐसी महान घटनाओं के होते हुये भी अंग्रेजी राजत्व को जनता का समर्थन प्राप्त है। इसके निम्नलिखित कारण हैं।[2]

(१) अंग्रेज स्वभावतः रूढ़िवादी प्रकृति के होते हैं। वे शनैः-शनैः परिवर्तन करते हैं। राजत्व की समाप्ति का अर्थ होगा मूल से एकाएक सम्बन्ध-विच्छेद। यह कार्य पूर्ण रूप से उनके स्वभाव के विरुद्ध पड़ेगा। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राजत्व को समाप्त करने के विषय पर कभी सोचा भी नहीं गया। प्रसिद्ध अंग्रेजी न्यायविद् बेन्थम ने इसको समाप्त कर देने के पक्ष में लिखा था। परन्तु ऐसे आक्रमण अपवादस्वरूप थे किसी राजनैतिक सिद्धान्त अथवा आन्दोलन के रूप में नहीं। अतः अंग्रेजी राजत्व इतने दीर्घ काल तक अचल रहा है।

(२) अंग्रेजी इतिहास के आरम्भ काल से राज्य का प्रत्येक कार्य राजा के नाम पर होता आया है। इस कार्य ने राजा के प्रति राजभक्ति को जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वास्तव में राजा से कोई त्रुटि नहीं हो सकती क्योंकि सभी अयप्रद अधिकार उससे छीन लिये गये हैं।

(३) सन् १६८८ की राज्यक्रान्ति के बाद से वैधानिक राजत्व का व्यावहारिक परिणाम इससे लाभ ही के पक्ष में रहा इसके विरुद्ध नहीं। विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम और जार्ज पंचम के शासनों ने यह सिद्ध किया है कि राजा और रानी राज्य के राजनैतिक मामलों में हितकर प्रभाव डालते हैं।

(४) राजा साम्राज्य का प्रधान समझा जाता है। वह राजकीय शक्ति का केन्द्र है। वह विकीर्ण देशों और जातियों को जोड़ने वाली कड़ी है। 'वेल्स-राजकुमार' अथवा राजवंश के किसी अन्य सदस्य के भ्रमण से एकता की कड़ी और दृढ़ होती है।

१—सन् १९३९-४५ के युद्ध-काल में डेनमार्क, बेल्जियम, नार्वे, अल्बानिया, यूगोस्लाविया और ग्रीस के भी राजत्वों का पतन किसी न किसी प्रकार हुआ था (अर्थात् या तो राजाओं ने जर्मनी के सामने आत्मसमर्पण किया था या इंगलैंड आकर शरण ली थी)। इस प्रकार सम्भव है कि इनमें से कुछ राजा अपने सिंहासन न पा सकें क्योंकि या तो उनके पुनः सिंहासनारोहण का विरोध किया जा रहा है या जनतन्त्रों की घोषणा करने के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं।

२—अधिक विवरण के लिये मुनरो कृत 'दि गवर्नमेंट्स ऑफ़ यूरोप' पृ० ४४-५८ देखिये।

हैरल्ड लास्की कृत 'दि पार्लिमेंटरी गवर्नमेंट इन इंगलैंड' पृ० ३८८-३९५ भी पढ़िये।

(५) देश के समारोहों और उत्सवों में भाग लेने के कारण वह समाज का भी प्रधान है।

(६) यदि राजत्व समाप्त भी कर दिया जाता है तो किसी न किसी को अध्यक्ष बनाना ही पड़ेगा और उसका निर्वाचन समय-समय पर करना पड़ेगा। इस प्रकार मुख्य कार्यकर्ता की विशेषता दलपरांमुखता समाप्त हो जायेगी।

(७) एक सरकार के पदच्युत होते ही राजा कभी-कभी तब तक शासन की व्यवस्था करता है जब तक दूसरी सरकार पदस्थ नहीं हो जाती। इस प्रकार वह शासन-प्रबन्ध की अविछिन्नता क़ायम रखता है।

(८) चूँकि अंग्रेजी राजा से सभी वास्तविक अधिकार छीन लिये गये हैं इसलिये राजत्व को समाप्त कर देने से अंग्रेजों को कुछ लाभ तो होगा नहीं। तब वे ऐसी संस्था को क्यों समाप्त करें जो कई प्रकार से लाभदायक ही है हानिकर नहीं ?

(९) जैसा कि बेज्हॉट ने कहा है राजा 'विधान के प्रतिष्ठित अंश का आधार है।' वह एक ऐसा स्पष्ट व्यक्तित्व है जो सरकार के प्रति श्रद्धा को जन्म देता है। ऐसा जनतन्त्रात्मक संस्थाओं के किसी रूप में सम्भव नहीं। 'राजतन्त्र ऐसा शासन है जिसमें राष्ट्र का ध्यान एक ऐसे व्यक्ति पर केन्द्रित रहता है जो सरस कार्य करता है, जनतन्त्र ऐसा शासन है जिसमें ध्यान ऐसे बहुत से व्यक्तियों में विभक्त रहता है जो नीरस कार्य करते हैं।'

(१०) राजत्व शासन और धर्म के बन्धन को दृढ़ करता है। यह भावनाओं को रुचता है क्योंकि साधारण जनता राजा को समझती और उसका सम्मान करती है और उसीका दामन पकड़े रहती है। इस प्रकार राजा के व्यक्तित्व में किसी राष्ट्र के निर्वाचित प्रधान की अपेक्षा अधिक गौरव रहता है।

(११) राजत्व इसलिये भी अमूल्य है क्योंकि यह समाज के प्रधानत्व के लिये प्रतिस्पर्द्धिता को स्थान नहीं देता। 'इसका कार्य गुप्त रहता है; यह हमारे शासकों को परिवर्तित होने का अवसर देता है परन्तु ध्यान रहित लोगों को मालूम नहीं होता।'

स्वेच्छाचारी पैतृक राजत्व के विरुद्ध आपत्तियाँ

बहरहाल अंग्रेजी राजत्व को क़ायम रखने के चाहे जो कारण रहे हों आज तो प्रवृत्ति इस संस्था के विरुद्ध है। विशेषकर जब यह स्वेच्छाचारी हो। लीकॉक का कथन है कि 'पैतृक शासन वाह्य रूप में ऐसा ही बेतुका जान पड़ता है जैसे एक पैतृक गणितज्ञ अथवा पैतृक राजकवि'।

इसलिये पैतृक स्वेच्छाचारी राजा के विरुद्ध आपत्ति की गई है[1]। क्योंकि सर्वप्रथम, जैसा कि रूसो का कथन है कि प्रत्येक शासन पतनोन्मुख रहता है और जैसा कि हम प्रजातन्त्रात्मक शासन में देखते हैं बहुत से शासकों की अपेक्षा एक राजा के पतित होने की अधिक सम्भावना है।

१—एकतन्त्र के दोषों को कृपया इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में भी देखिये।

दूसरे, एक योग्य और कुशल शासक के उत्तराधिकारी का भी योग्य होना आवश्यक नहीं है। इतिहास इसका साक्षी है।

तीसरे, एक स्वेच्छाचारी राजा, बिना किसी परिणाम की चिन्ता के, केवल भयंकर अत्याचार ही नहीं कर सकता, वह अपनी सनकों और शौकों से राज्य को भी नष्ट कर सकता है।

अन्त में, उत्तराधिकार भी निरापद नहीं हो सकता। क्योंकि या तो मरणासन्न राजा को देख कर दरबार में षड्यन्त्र आरम्भ हो सकते हैं अथवा उत्तराधिकार-युद्ध छिड़ सकता है। अतः यह तर्क कि पैतृकसिद्धान्त में अविच्छिन्नता और स्थिरता निहित हैं, ग़लत है।

वैधानिक पैतृक राजत्व के गुण

परन्तु स्वेच्छाचारी पैतृक राजत्वों के विरुद्ध की गई आपत्तियाँ महत्वशून्य हो जाती हैं जब वे वैधानिक राजत्वों के विरुद्ध लागू की जाती हैं। इस दशा में हमें पैतृक सिद्धान्त की विशेषतायें स्पष्ट हो जाती हैं।

सर्वप्रथम, यह सत्य है कि पैतृक राजत्व राष्ट्र को समय-समय पर होने वाले निर्वाचनों से मुक्त रखता है। और इस प्रकार निर्वाचनों के हंगामों तथा उसकी परेशानियों और उद्विग्नताओं से राष्ट्र की रक्षा करता है।

दूसरे, यह शासन-प्रबन्ध में अविच्छिन्नता और स्थिरता अवश्य क़ायम रखता है। क्योंकि जैसे ही एक राजा की मृत्यु हो जाती है दूसरा राजा तुरन्त ही बिना क्रान्ति, गृह-युद्ध अथवा शासन-कार्य की अस्तव्यस्तता के कर के सिंहासनारूढ़ होता है।

.. चौथे, 'यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि परम्परायें, जो दीर्घकालगत राजत्व से सम्बन्धित रहती हैं, शासन के वास्तविक प्रधानों में उत्तरदायित्व और गौरव को जन्म देती हैं जिसका परिणाम अच्छा होता है।

(ख) निर्वाचित एकात्मक कार्यकारिणी

एकात्मक कार्यकारिणी के एक रूप पैतृक राजत्व पर विचार करने के पश्चात् अब हम निर्वाचित एकात्मक कार्यकारिणी का अध्ययन करेंगे। हमने शासन के निर्वाचित प्रधान के रूप में केवल अमरीकी अध्यक्ष का उदाहरण दिया था। यहाँ हम इस प्रश्न की विस्तृत विवेचना करेंगे क्योंकि आधुनिक शासन के प्रधान को निर्वाचित करने की तीन प्रणालियाँ हैं।

सर्वप्रथम, जनता द्वारा प्रत्यक्ष-निर्वाचन की प्रणाली है। यह प्रणाली विशेषतः इस समय पेरू, ब्राज़ील ऐसे दक्षिणी अमरीका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। प्रत्येक जनतन्त्र-राज्य का अध्यक्ष जनता द्वारा निर्वाचित होता है।

दूसरे, अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली है। यह प्रणाली अमरीकी संयुक्तराज्य और फ़िनलैंड में प्रचलित है। अमरीकी संयुक्त राज्य में अध्यक्ष एक निर्वाचक-मंडल द्वारा निर्वाचित होता है। इसमें प्रत्येक सदस्य-राज्य के उतने ही प्रतिनिधि रहते हैं जितने कि उस राज्य के कांग्रेस में रहते हैं। ऐसी ही प्रणाली फ़िनलैंड में भी प्रचलित है।

तीसरे, व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन की प्रणाली है। फ्रान्स के पतन के पूर्व (१९३९) फ्रान्सीसी अध्यक्ष 'राष्ट्रीय सभा' (व्यवस्थापिका) के द्वारा निर्वाचित किया जाता था। स्विटज़रलैंड में आज भी अध्यक्ष 'संघ-समिति' के सात सदस्यों में से 'संघ-सभा' के द्वारा निर्वाचित किया जाता है।'

अब हम इन प्रणालियों के पक्ष और विपक्ष में उपस्थित किये गये तर्कों पर विचार करेंगे।

मुख्य कार्यकर्ताओं का प्रत्यक्ष निर्वाचन

मुख्य कार्यकर्ताओं के प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली के पक्ष में यह तर्क उपस्थित किया गया है कि ऐसा निर्वाचन लोकप्रिय और प्रजातंत्रात्मक शासन की आधुनिक धारणाओं के अनुरूप है और इस प्रकार इसके कारण लोगों की दिलचस्पी अपने शासन में बनी रहती है। यह विचार, कि राज्य के सर्वप्रधान पदाधिकार का निर्वाचन उन्हीं के द्वारा होगा, उनको सार्वजनिक मामलों में भाग लेने को उत्साहित करता रहता है। इसका यह अर्थ हुआ कि जनता को अध्यक्ष-संबंधी प्रत्येक निर्वाचन से राजनैतिक शिक्षा मिलती रहती है और वह स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहती है।

परन्तु इस प्रणाली में वास्तविक गुणों की अपेक्षा दोष अधिक है।

(१) यह विचार, कि प्रधान कार्यकर्ता का निर्वाचन राजनैतिक दिलचस्पी पैदा करता, है, तर्क पूर्ण नहीं है। यह दिलचस्पी व्यवस्थापिकाओं के निर्वाचनों से बनी रहती है। सच तो यह है कि इस प्रकार के निर्वाचन से सारे देश में व्यर्थ राजनैतिक हंगामा और गड़बड़ी पैदा हो जाती है। शान्ति भंग हो जाती है, और जनता में आवेश फैल जाता है। कभी-कभी तो शक्ति प्राप्ति करने के लिये संघर्ष छिड़ जाता है जिससे नागरिक-स्वतंत्रता संकट में पड़ जाती है।

(२) विशाल जन-समूह प्रतिद्वन्दी उम्मीदवारों की योग्यताओं से सरलतापूर्वक परिचित नहीं हो सकते। दूसरे दल संगठन अपने-अपने प्रचारों से उनको अपने प्रभाव में भी ला सकते हैं। इस प्रकार योग्य उम्मीदवार पराजित किये जा सकते हैं और मूर्ख निर्वाचित हो सकते हैं।

(३) ऐसे निर्वाचन-काल में जो दल-वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है वह उसी समय समाप्त नहीं हो जाता। यह निरन्तर देश में विषमता स्थापित किये रहता है। इससे स्पष्ट है कि दल-वैमनस्य और षड्यंत्र सदैव बने ही रहते हैं और जैसे ही दूसरा निर्वाचन समीप आता है दल अपना प्रचार कार्य आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार दल-वैमनस्य, गुटबन्दी जोश, उबाल, और नेतागिरी राष्ट्र को विभाजित किये रहते हैं। यह सब सार्वजनिक हित को दृष्टि में रख कर नहीं किया जाता वरन् इसका आधार महत्वांक्षा, व्यक्तिगत उत्कर्ष और बल प्रदर्शन होता है।

(४) चूँकि अध्यक्ष का निर्वाचन थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् होता रहता है इसलिये केवल प्रतिद्वन्दी दल ही सदैव प्रस्तुत प्रश्न पर लड़ने के लिये तैयार नहीं रहते वरन् अलग होने वाला अध्यक्ष और उसका दल भी निर्वाचकों तथा दूसरे प्रभावशाली

व्यक्तियों को अपनी ओर किये रखने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखते। इससे स्पष्ट है कि शासन में पक्षपात किया जाता है, अपने व्यक्तियों को सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाता है तथा उनको सहायता दी जाती है। ऐसे कार्य का कोई अन्त नहीं। इसके परिणाम-स्वरूप अपने व्यक्तिगत अथवा दल के हित के सामने शासन सुयोग्य हाथों में नहीं रहने पाता। इस अर्थ में अध्यक्ष का पूर्ण कार्य-काल अग्रिम निर्वाचनार्थ प्रचार में बीतता है क्योंकि यदि वह जनता को प्रसन्न किये रहता है तो आने वाले निर्वाचन में उसकी सफलता पूर्ण-रूप से सम्भव रहती है।

मुख्य कार्यकर्ता का अप्रत्यक्ष निर्वाचन

प्रत्यक्ष के इन निर्वाचन दोषों के कारण यह सोचा गया था कि अच्छा तो यह होगा कि मुख्य कार्यकर्ता का निर्वाचन कुछ चुने हुये प्रतिनिधियों द्वारा हो। इसलिये अमरीका में निर्वाचक-मंडल बनाना आरम्भ किया गया था परन्तु व्यवहार में ये प्रतिनिधि भी दल के ही आधार पर निर्वाचित होते हैं। इसलिये वे भी अपने दल के उम्मीदवारों को ही मत देते हैं। इस प्रकार यद्यपि यह अप्रत्यक्ष प्रणाली राष्ट्र को देशव्यापी हंगामे से बचा लेती है किन्तु यह सर्वश्रेष्ठ उम्मीदवार को चुनने में असफल रही है। क्योंकि प्रतिनिधि चुनाव में अपने विवेक से काम नहीं लेते, वे केवल अपने दलों की आज्ञा का पालन करते हैं।

मुख्य कार्यकर्ता का व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन को भी पसन्द किया गया था क्योंकि इसमें भी अप्रत्यक्ष निर्वाचन का सिद्धान्त निहित है। इससे भी देश निर्वाचन के हंगामे से मुक्त रह सकता है और राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि देश के उच्च पदों के लिये अत्यन्त सुयोग्य व्यक्तियों को निर्वाचित कर सकते हैं। परन्तु इसके व्यावहारिक पहलू से निर्वाचन के दोष स्पष्ट हो गये हैं। इस प्रणाली में स्वयं व्यवस्थापिका में दलों के प्रचार के कारण तनातनी भयंकर रूप धारण कर लेती है और साधारण निर्वाचन के सारे दोष आ जाते हैं। फिर भी व्यवस्थापिका का यह उभार अल्पमात्रा में होता है और हम इससे मुक्त भी नहीं रह सकते यदि निर्वाचन को प्रजातंत्र का आधार रहना है। इस प्रणाली के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति इस दृष्टिकोण से की गई है कि शक्तिशाली उम्मीदवार व्यवस्थापिका के अपने समर्थकों को सुविधायें देने का वचन दे सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यवस्थापिका कार्यकारिणी के हाथ की पुतली हो जायेगी। परन्तु इसके विपरीत एक अशक्त उम्मीद व्यवस्थापिका के हाथ का खिलौना हो जायेगा और कार्यकारिणी की पूरी स्वतंत्रता समाप्त हो जायेगी।

आधुनिक प्रवृत्ति

बहरहाल आधुनिक राज्यों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन की अपेक्षा व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन को अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है। सन् १९१४-१८ के युद्ध के पश्चात् नवनिर्मित राज्यों—जेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया और पौलैंड ने इसको अपना लिया

था और सन् १९३९ में जर्मनी द्वारा पददलित होने से पूर्व तक यह प्रणाली संतोष प्रद रही थी। अब ये राज्य मुक्त हो गये हैं और हमें यह देखना है कि ये किस प्रकार अपने वैधानिक जीवन या राजनैतिक प्रणाली को पुनर्संगठित करते हैं।

(ग) मनोनीत कार्यकारिणी

एकात्मक कार्यकारिणी का तीसरा रूप, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मनोनीत कार्यकारिणी है। यह रूप विशेषकर बड़े राज्यों के अधीन देशों में पाया जाता है। भारत के गवर्नर जनरल का उदाहरण पहले दिया जा चुका है। इसी प्रकार भारत के विभिन्न प्रान्तों के गवर्नर भी अंग्रेजी सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और कोरिया का गवर्नर जनरल भी जापानी सम्राट और 'इम्पीरियल डाइट' द्वारा नियुक्त किया जाता है। इन नियुक्तियों से पता चलता है कि इन उच्च तथा उत्तरदायित्व पूर्ण स्थानों के लिये व्यक्ति अनियमित ढंग से नहीं चुन लिये जाते हैं। उनके चुनावों का आधार उनकी योग्यतायें और पद के लिये आवश्यक उनकी विशेष कुशलता हैं। उनकी नियुक्ति के लिये उनके देशसेवा के कार्यों की सूची उनकी शासनात्मक विशेष योग्यता तथा उनकी प्रतिभा पर पूर्ण विचार किया जाता है। यह सत्य है कि कभी-कभी सुविधा प्रदान करने और पक्षपात करने के दोषों का आरोप मनोनीत करने के सिद्धान्त के विरुद्ध किया जाता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि एक दल के द्वितीय श्रेणी के लोग दूसरे दलों के प्रतिभावान तथा प्रथम श्रेणी के लोगों के मुकाबिले नियुक्त कर दिये जाते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस बुराई को दूर करने का कोई अन्य उपाय नहीं है। निर्वाचन का सिद्धान्त, यहाँ तक कि योग्यता-परीक्षा भी इन पदों के लिये अधिक अच्छे उम्मीदवार नहीं दे सकती।

मुख्य कार्यकर्ता का कार्य-काल

मुख्य कार्यकर्ता की नियुक्ति की विभिन्न प्रणालियों के गुणों और दोषों के विवेचन के पश्चात् अब हम उसके कार्य-काल और पुनर्नियुक्ति के प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से पैतृक कार्यकारिणी पर विचार ही नहीं हो सकता क्योंकि जो व्यक्ति सिंहासनारूढ़ होता है वह साधारणत: अपनी मृत्यु तक सिंहासन पर रहता है यदि वह आन्तरिक क्रान्ति से सिंहासन-च्युत नहीं कर दिया जाता जैसा कि अफ़गानिस्तान के राजा अमानुल्ला, टर्की के सुल्तान इत्यादि के साथ हुआ था अथवा वह स्वयं परिस्थितिवश अथवा स्वेच्छानुसार सिंहासन छोड़ता है जैसा कि ईरान के रज़ाशाह पहलवी तथा इंगलैंड के एडवर्ड अष्टम ने किया था। इस प्रकार पैतृक राजा का कार्यकाल आजीवन रहता और वह उसकी मृत्यु पर ही समाप्त होता है।

परन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आजीवन कार्यकाल निर्वाचित अथवा मनोनीत प्रधानों के संबंध में उचित नहीं समझा गया है। अमरीकी संयुक्त राज्य के बहुत से राज्यों में गवर्नर दो वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते हैं और स्विटजरलैंड का अध्यक्ष 'संघ-समिति के सदस्यों में से जो स्वयं तीन वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते हैं, एक वर्ष के लिये निर्वाचित किया जाता है। अमरीकी संयुक्त राज्य का अध्यक्ष चार वर्ष के

लिये निर्वाचित होता है और भारत के गवर्नर जनरल की नियुक्ति पाँच वर्ष के लिये होती है। पेरू का अध्यक्ष पाँच वर्ष के लिये, चिली और अर्जेनटाइना के अध्यक्ष छः वर्ष के लिये; सन् १९३९-४५ के युद्ध के पूर्व फ्रान्स तथा हिटलर के उत्कर्ष से पर्व जनतंत्रात्मक जर्मनी के अध्यक्ष सात वर्ष के लिये निर्वाचित होते थे। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न राज्यों के प्रधान-कार्यकर्ता एक वर्ष से लेकर सात वर्ष तक की अवधि के लिये निर्वाचित (अथवा मनोनीत) किये गये हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ राज्यों में अल्प अवधि और कुछ में दीर्घ अवधि पसन्द की गई है।

अल्प अवधि के गुण तथा दोष

जहाँ तक अल्प अवधि का प्रश्न है इसका यह गुण बताया गया है कि इससे राष्ट्र स्वेच्छारिता से बचाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि निर्वाचित प्रधान एक वर्ष अथवा दो वर्ष के पश्चात् बदलता रहेगा इसलिये वह इतना प्रभाव नहीं स्थापित कर सकेगा जिससे कि वह सम्पूर्ण शक्ति हस्तगत कर ले, या तानाशाह बन जाये अथवा पैतृक एकतंत्र स्थापित कर सके। इस प्रणाली में जनता भी काफी जागरूक रहेगी और प्रत्येक वर्ष अथवा दो वर्ष के बाद लोगों को इस बात की चेतावनी मिलती रहेगी कि राज्य सत्ता उन्हीं के हाथ में है। परन्तु अल्प अवधि में बड़े दोष भी हैं। प्रत्येक अध्यक्ष-निर्वाचन-काल में हर एक अथवा दूसरे वर्ष के पश्चात् देश में निर्वाचन-दौड़ का बोलबाला रहेगा, देश में तनातनी और अस्त-व्यस्तता फैलेगी। इस प्रकार देश की स्थिरता झमेले में पड़ जायेगी। अध्यक्ष को भी अपनी शासन-कुशलता सिद्ध करने का पूर्ण अवसर नहीं मिलेगा। एक-दो वर्ष तो उसे अपने कार्यों और कर्तव्यों को समझने में लगेंगे और जैसे ही वह अपना कार्य समझने लगेगा उसको पद-त्याग करने पर बाध्य होना पड़ेगा। इसका परिणाम होगा अनुत्तरदायित्व, अयोग्यता, और अकुशलता क्योंकि शासन-नीति में अविच्छिन्नता का अभाव रहेगा

दीर्घ अवधि के गुण और दोष

दीर्घ अवधि के संबंध में यह कहा गया है कि इससे स्वस्थ और परिपक्व अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलता है क्योंकि पदस्थ व्यक्ति यह समझता है कि उसका कार्य-काल सुरक्षित रहेगा क्योंकि उसको कम से कम एक ही दो वर्ष के पश्चात तो पद-त्याग नहीं करना पड़ेगा। उसको दृढ़ नीति का अनुसरण करने और हितकर क़ानून पास करने का अवसर मिलता है। वह प्रयत्न करता है कि उसके कार्यों का फल उसके कार्य-काल ही में प्राप्त हो जाये। इसका अर्थ यह हुआ कि दीर्घ अवधि में अध्यक्ष को अपनी योग्यता का प्रदर्शन और देश-सेवा करने का काफ़ी अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त निर्वाचनों की संख्या कम होने से देश निर्वाचन दौड़ के दोष से मुक्त रहता है। जिसके परिणाम स्वरूप दल-वैषम्य देश व्यापी अस्तव्यस्तता, षड्यन्त्र और तनातनी काफ़ी मात्रा में कम हो जाते हैं। परन्तु इन अच्छाइयों के साथ-साथ दीर्घ अवधि से भय भी रहता है। वह यह कि इसमें शक्ति को केन्द्रित कर लेने और पूर्ण शासन को बलात् हस्तगत कर लेने की आशंका रहती है। इस प्रकार इससे केवल तानाशाही का ही जन्म नहीं हो

सकता वरन् जनता को प्रभावित करके पदस्थ व्यक्ति अपने को सम्राट निर्वाचित करा सकता है (नैपोलियन ने ऐसा ही किया था)। हमारे समय ही में हिटलर ऐसे तानाशाहों ने जनता के मतों द्वारा अपने को आजीवन पदस्थ कराने में सफल हुये थे। इससे यह प्रकट होता है कि एक शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी व्यक्ति केवल एकतंत्र ही स्थापित करने में सफल नहीं हो सकता, जनता के लिये उसके दास हो जाने और उसी की आज्ञानुसार चलने की भी सम्भावना रहती है।

अतः सर्वोत्तम मार्ग तो यही ज्ञान पड़ता है कि प्रधान कार्यकर्ता की अवधि न तो अत्यन्त अल्प होनी चाहिये और न अत्यन्त दीर्घ ही। साधारणत: चार-पाँच वर्ष की अवधि उचित समझी गई है क्योंकि इसमें अल्प और दीर्घ अवधि दोनों के दोषों का अभाव रहता है और दोनों के गुण उचित मात्रा में आ जाते हैं।

पुनर्निर्वाचन

इन अल्प और दीर्घ अवधियों से संबंधित पुनर्नियुक्ति का प्रश्न है। जो लोग अल्प अवधि के पक्ष में हैं उनका कहना है कि पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था हो जाने से वास्तविक योग्य व्यक्ति को हर दूसरे-तीसरे वर्ष जनता के सामने अपनी योग्यता को प्रमाणित करने का अवसर मिलता है। इसके परिणाम-स्वरूप नीति में केवल अविच्छिन्नता ही नहीं आती है अपितु स्वतंत्र राष्ट्र को राज्य के सर्वोच्च अंग की पर्यालोचना करने का भी मौक़ा मिलता है। इस प्रकार एक ओर जहाँ इससे उत्तरदायित्व को स्थान मिलता है और अध्यक्ष नियंत्रित रहता है वहाँ दूसरी ओर जनता अपने कर्तव्यों के प्रति सदैव सजग और सावधान रहती है। परन्तु जो दीर्घ अवधि जैसे छः-सात वर्ष के पक्ष में हैं वे साधारणत: पूर्व कथित कारणों से ही पुनर्निर्वाचन के पक्ष में नहीं हैं यद्यपि वे स्वीकार करते हैं कि देश एक महान नेता को सेवाओं से ऐसे समय में वंचित हो जाता है जब कि वह अपने परिपक्व अनुभव के कारण विशेष रूप से अपने पद के पूर्ण योग्य होता है। अमरीका में अध्यक्ष चार वर्ष के लिये निर्वाचित किया जाता है परन्तु पुनर्निर्वाचन की रोक के लिये कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं है। अत: अध्यक्ष दो अवधियों के लिये चुने जाते थे और यह प्रथा हो गई थी कि कोई अध्यक्ष तीसरी बार न चुना जाये। परन्तु यह प्रथा भी हमारे ही समय में टूट गयी है क्योंकि स्वर्गीय अध्यक्ष रूजवेल्ट चौथी बार भी चुने गये थे। सन् १९३९ ई० से पूर्व फ्रांस में अध्यक्ष पुनर्निवाचन के लिये खड़ा हो सकता था। परन्तु मैक्सिको के विधान ऐसे और भी विधान हैं जिनमें स्पष्ट रूप से पुनर्निर्वाचन को मनाही है। इसका कारण यह है कि पुनर्निर्वाचन की आशा उम्मोदवार की आँखों के सामने नाचती रहती है और लोक प्रियता प्राप्त करने के लिये वह तरह-तरह की चालें चलता है। सस्ती लोकप्रियता की यह चाह केवल शासन-कौशल को ही हानि नहीं पहुँचाती वरन् अन्य योग्य उम्मीदवारों के खड़े होने में बाधा पहुँचाती है। इसीलिये जहां कहीं भी एक ही अवधि को स्वीकार किया गया है उसका कारण यह रहा है कि यह महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को लोकप्रिय होने के लिये चालें चलने से रोकती हैं। इससे देश की प्रधान विभूति अपने कार्य में स्वतंत्र

रहती है क्योंकि लोगों को प्रसन्न करके उसे अपने भविष्य के लिये कुछ आशा नहीं करनी है।

इस भाँति नामधारी और एकात्मक कार्यकारिणियों का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब सभात्मक अथवा मंत्रि-मंडलात्मक कार्यकारिणी पर विचार करना रह जाता है।

आधुनिक राज्य की कार्यकारिणी

प्रो० लास्की ने कहा है कि आधुनिक राज्य की कार्यकारिणी के तीन पक्ष हैं।[1] सर्व प्रथम यह व्यवस्थापिका सभा के बहुमत दल की एक समिति के रूप में उसकी राय से कार्य करती है। दूसरे, यह प्रबन्धात्मक संगठन के रूप में क़ानूनों को लागू करती है। और तीसरे, यह शासनात्मक साधन के रूप में जनता के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहती है।

राजनैतिक कार्यकारिणी के रूप में मंत्रिमंडल

बहुमत की समिति के रूप में अर्थात् राजनैतिक रूप में इसके मुख्य तीन कर्तव्य हैं। सर्वप्रथम, यह नीति निर्धारित करती है और मंत्री साधारणतः बहुमत दल के सदस्य होते हैं। यदि व्यवस्थापिका उनकी नीति को स्वीकार कर लेती है अर्थात् उनके बिलों को पास कर देती है तो ऐसी दशा में उसका दूसरा कार्य यह होता है कि वह देखे कि उसकी नीति अधीन अधिकारियों द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। तीसरे, इसका यह भी कार्य है कि वह देखे कि विभिन्न विभागों में संघर्ष नहीं होता है और वे पारस्परिक सहयोग से कार्य करते है।

अंग्रेजी और अमरीकी प्रणालियाँ

हम पहले ही अंग्रेजी और अमरीकी शासन-प्रणालियों के अन्तर पर विचार कर चुके हैं। अमरीकी प्रणाली में अध्यक्ष एक स्थायी और वास्तविक कार्यकर्ता है। वही अपने मंत्रियों को नियुक्त करता है और वे अपने विभागों के कार्यों के लिये उसी के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। अंग्रेजी प्रणाली में राजा नामधारी कार्यकर्ता रहता है परन्तु उसका मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यकारिणी है और यह राजा के प्रति उत्तरदायी न होकर व्यवस्थापिका के प्रति रहता है। प्रधान मंत्री अपने सहकारियों को स्वयं चुनता है और लोक-सभा अर्थात् कामन-सभा में उनका नेतृत्व ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रधान मन्त्री राजा और मंत्रि-मंडल का संयोजक है। यह ठीक ही कहा गया है कि वह मंत्रिमंडल रूपी मेहराब का शिलाधार है। वह चार प्रकार का प्रधान है।[2] वह कार्यकारिणी (मंत्रिमंडल) का सभापति होता है; कामन-सभा का नेता होता है; अप्रत्यक्ष रूप स

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० ३५६

२—प्रधान मंत्री के कर्तव्यों के विस्तृत अध्ययन के लिये राम्ज़े म्योर कृत 'हाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड ?', जेनिंग्स कृत 'दि केबिनेट सिस्टम' तथा लास्की कृत 'दि पार्लिमेंटरी गवर्नमेंट इन इंगलैंड' के अतिरिक्त वांग्टेह यू कृत 'दि इंगलिश केबिनेट सिस्टम' पृष्ठ ८३-१४२ अवश्य देखिये।

राजनैतिक सत्ता-निर्वाचक-मंडल का मनोमीत प्रधान होता है[1] और वह राजा का एक विशेष विश्वास प्राप्त परामर्शदाता होता है। अतः सिडनी लो ने यह ठीक ही कहा है कि कामन-सभा में स्थायी और दृढ़ बहुमत प्राप्त होने के कारण प्रधान मंत्री को अमरीकी अध्यक्ष से भी अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

मंत्रिमंडल का निर्माण

अंग्रेजी मंत्रिमंडल में मंत्रियों की संख्या चार-पाँच से लेकर बाईस तक रही है। यह अन्तिम संख्या सन् १९१४-१८ के युद्ध-काल में हो गई थी। उस युद्ध-काल में लायड जार्ज ने यह निश्चय किया था कि चार-पाँच सहकारियों का युद्ध-मंत्रिमंडल बनाया जाय जो केवल युद्ध-नीति ही पर विचार करे। उसने अन्य विभागों का साधारण शासन-प्रबन्ध दूसरे मंत्रियों के सुपुर्द कर दिया था। लास्की नीति और शासन-प्रबन्ध को अलग-अलग रखने के पक्ष में नहीं है। शासन की गहराइयों और उसकी प्रणाली को जाने बग़ैर मंत्री अपना कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकते क्योंकि सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये वे सिविल शासन-विभाग के आश्रित रहेंगे।[2] जैसा कि राम्जे-म्योर ने संकेत किया है इसका यह अर्थ हुआ कि वास्तविक शक्ति मंत्रिमंडल से नौकरशाही अथवा मंत्रिकार्यालय के कर्मचारियों के हाथ में चली जायेगी। वह मंत्रियों की संख्या भी अधिक नहीं चाहता है। उसका कहना है कि दस-बारह मंत्री इस कार्य के लिये अत्युत्तम हैं। अधिक संख्या होने से मंत्रि-मंडल के अन्दर छोटा मंत्रि-मंडल पैदा हो जाता है जो अपने निर्णय के सामने दूसरों की बातों पर विचार नहीं करता। दूसरी ओर यदि मंत्रियों की संख्या अधिक होगी तो इसका अर्थ होगा मंत्रिमंडल के कार्य का विस्तार। इसके परिणाम-स्वरूप नीति में सामञ्जस्य असम्भव हो जायेगा और प्रत्येक मंत्री अपने विभाग का अनियंत्रित प्रधान हो जायेगा।

१—डा० फ़ाइनर ज़ोरदार शब्दों में कहते हैं कि निम्नलिखित सुविधायें न होतीं तो अंग्रेजी मंत्रिमंडल प्रणाली सफता पूर्वक कार्य न कर सकती।

(क) विशेषज्ञों द्वार सुविधा...(१) सिविल पदाधिकारियों की पक्षपात शून्यता तथा गुमनामी; यदि ये हर सरकार के साथ बदलते रहें तो अव्यवस्था को छोड़ कर दूसरा परिणाम नहीं होगा।

(२) मंत्रिमंडल के कार्य का मंत्रि-कार्यालय द्वारा संगठन। सन् १९१६ से पहले मंत्रि-मंडल की बैठक बिना किसी अजेण्डा के होती थी और कार्यवाहियों का विवरण भी नहीं लिपिबद्ध किया जाता था। अब ये दोष नहीं रह गये हैं।

(३) नीति के विकास में विशेषज्ञों से प्राप्त सहायता। स्थायी पदाधिकारी सदैव इसको दक्ष परामर्श देते हैं।

(ख) दलों से प्राप्त सुविधायें....(४) कॉक्स के द्वारा दल का अनुशासन। 'प्राचीनवादी दल' में रुढ़िवादियों या जिन्जर दल का जन्म हो गया है जो मंत्रिमंडल को सच्ची प्राचीनवादी परम्परा के अनुसार गति देता है।

राज्य के विभाग

प्रत्येक देश में मंत्रिमंडलका कार्य साधारणतः विभिन्न विभागों में विभाजित रहता है। वे लगभग ये हैं—(१) पर‌राष्ट्र-विभाग, (२) गृह-विभाग, (३) युद्ध-विभाग, (४) न्याय-विभाग (५) क़ानून-विभाग, (६) अर्थ-विभाग, (७) भूमि-आय-विभाग, (८) कृषि-विभाग (९) उद्योग-विभाग (१०) श्रम-विभाग, (११) निर्माण-विभाग, (१२) स्वास्थ्य-स्वच्छता-विभाग, (१३) शिक्षा-विभाग। साधारणतः मंत्रिमंडल का एक मंत्री एक या एक से अधिक विभागों का प्रधान होता है। अंग्रेजी प्रणाली में सब मंत्री सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के सामने उत्तरदायी होते हैं। लास्की का विचार है कि प्रधान मंत्री के ऊपर किसी विभाग का भार नहीं डालना चाहिये यद्यपि उसको शासन-प्रबन्ध की रूप-रेखा से परिचित रक्खा जा सकता है।

कार्यकारिणी के कर्तव्य

मंत्रिमंडल प्रणाली के संबंध में विभागों की इस गणना से अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण कार्यकारिणी का वास्तविक कर्तव्य भी स्पष्ट हो जाता है। इस कर्तव्य को या तो वास्तविक कार्यकर्त्ता अध्यक्ष अपने मंत्रियों की सहायता से करता है अथवा मंत्रि-मंडल करता है। कार्यकारिणियों के निर्माण की विभिन्नता से उनके कर्तव्य में अन्तर नहीं आता। इस कर्तव्य को स्पष्ट करते हुये सिजविक महोदय कहते हैं कि 'शासनात्मक कर्तव्य में वे सभी कार्य आने चाहिये जो विदेशी राष्ट्रों के संबंध में (विशेषतः राज्य की सेनाओं का संगठन और संचालन) राष्ट्र के हितों की रक्षा के लिये आवश्यक हैं; वे सब कार्य जो पूर्णरूप से न्यायात्मक नहीं है और राष्ट्र के सदस्यों को एक दूसरे को हानि पहुँचाने से रोकने के लिये, अथवा सार्वजनिक हितों के लिये तथा सार्वजनिक भलाई के लिये उनका सहयोग प्राप्त करने के लिये उस सीमा तक आवश्यक है जहाँ तक इसको राष्ट्र की इच्छा पर छोड़ देना ठीक नहीं है; अन्त में, इसमें वे सब उद्योग आते हैं जिनको, राष्ट्र के धन तथा साधनों को उपयोग में लाने के लिये सार्वजनिक अधिकार में रखना जरूरी है तथा राज्य अथवा इसके सदस्यों को ऐसा सामान देने के लिये, जो व्यक्तिगत उद्योग और स्वतंत्र विनिमय से पूर्ण सम्भव नहीं, आवश्यक है। इसका यह अर्थ हुआ कि कार्यकारिणी का कर्तव्य जल, थल और वायु-सेनायें रखकर केवल देश की रक्षा करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्यों को सुलझाना, तथा पुलीस और जेल की व्यवस्था करके आन्तरिक शान्ति ही स्थापित रखना नहीं हैं। वरन् इसको राष्ट्र के आर्थिक और औद्योगिक जीवन का भी संगठन करना पड़ता हैं।

---

(५) विरोध-पक्ष के नेताओं से निर्मित 'छाया-मंत्रिमंडल' का अविच्छिन्न अस्तित्व
—विशेष अध्ययन के लिये 'दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑफ़ माडर्न गवर्न्मेंट्स', जिल्द १, पृ० ६८७-६६२ देखिये।

गार्नर[1] ने इन कर्तव्यों का निम्नलिखित शीर्षकों में वर्गीकरण करके इनको और भी स्पष्ट कर दिया है:

(१) परराष्ट्रात्मक कर्तव्य—जिसका संबंध विदेशी मामलों, सन्धि, राजदूतों की नियुक्ति इत्यादि से रहता है।

(२) प्रबन्धात्मक—जिसका संबंध क़ानूनों को लागू करने और निम्न कोटि के पदाधिकारियों की नियुक्ति से रहता है।

(३) सैनिक कर्तव्य—जिसका संबंध स्थल, जल तथा सेनाओं के संगठन तथा शान्ति और युद्ध की समस्याओं से रहता है।

(४) न्यायात्मक कर्तव्य—जिसका संबंध अपराध क्षमा करने के अधिकार से रहता है।

(५) क़ानून निर्माणात्मक कर्तव्य—जिसका संबंध केवल मसविदा तैयार करने तथा उसको उपस्थित करने से ही नहीं रहता वरन् आर्डिनेन्स पास करने तथा विभाग-संबंधी नियम बनाने से भी रहता है। पास किये हुये क़ानून को अस्वीकृत कर देने का अधिकार भी इस शीर्षक में आता है।

कार्यकारिणी के न्यायात्मक और क़ानून निर्माणात्मक अधिकारों के उदाहरण

इनमें से प्रथम तीन के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। चौथे और पाँचवें को भारतीय उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जब भारत का गवर्नर-जनरल जेल की सजा अथवा मृत्यु-दंड पाये हुये अपराधियों को क्षमा करता है तब वह न्यायात्मक अधिकार का उपयोग करता है।[2] जब वह विशेष परिस्थितियों के लिये, जिनमें देश के साधारण क़ानून का उपयोग नहीं हो सकता, आर्डिनेंस पास करता है तब क़ानून-निर्माणात्मक अधिकार का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त इसी अधिकार के अन्तर्गत भारतीय व्यवस्थापिका द्वारा कोई बिल न पास होने पर भी वह अपनी स्वीकृति देकर उस बिल को क़ानून का रूप दे सकता है। ऐसे न्यायात्मक और क़ानून-निर्माणात्मक अधिकारों का उपयोग सभी प्रधान कार्यकर्ता किसी न किसी सीमा तक करते हैं (इसी कारण शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि मानव-समस्याओं का पूर्ण विभाजन असम्भव है और एक विभाग दूसरे विभाग से अवश्य संबंधित रहता है)।

अब तक इन कार्यकारिणी के विभिन्न पक्षों-इसकी चुनाव-प्रणाली, इसकी अवधि तथा इसके कार्य तथा संगठन पर विचार कर चुके हैं। परन्तु इस अवस्था तक हमने इसके केवल उस भाग का अध्ययन किया है जिसका कार्य नीति को निर्धारित करके

१—गार्नर—पॉलिटिकल साइंस एन्ड गवर्न्मेंट, पृष्ठ ७०५

२—गवर्नरजनरल ने इस अधिकार का उपयोग अभी हाल ही में किया था। उसने अष्टी-चिमूर के बन्दियों के अपराध को क्षमा करके मृत्यु-दंड से बचाया। (अगस्त, १९४५)

उसको कार्यान्वित करना है। अतः हम अब संक्षेप में देखेंगे कि किस प्रकार अधीन पदाधिकारी ऊपर से प्राप्त आदेशों का पालन करते हैं अर्थात् हम यह देखेंगे कि किस प्रकार राज्य-प्रबन्ध चलाया जाता है।

नौसिखियों द्वारा शासन

सर्व प्रथम यह स्मरण रखने योग्य बात है कि अंग्रेजी मंत्रिमंडल प्रणाली में मंत्री साधारणतः ऐसे व्यक्ति होते हैं जो उस कार्य के विशेषज्ञ नहीं होते जो उनके सुपुर्द किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अंग्रेजी प्रणाली में शासन-प्रबन्ध नौसिखियों द्वारा होता है।[1] और जहाँ कहीं भी इस प्रणाली का उपयोग किया गया है, स्वभावतः यह विशेषता आ ही जाती है। उदाहरण-स्वरूप भारतवर्ष में भी शिक्षा-मंत्री ऐसा हो सकता है जो पहले वकालत करता रहा हो और कृषि-मंत्री ऐसा हो सकता है जो कि किसी प्राच्य भाषा का अध्यापक रहा हो। फिर भी वे अपने को सफल शासक सिद्ध कर सकते हैं। इस झमेले का रहस्य यह है कि मंत्री ऋतु-पक्षियों की भाँति होते हैं जो राजनैतिक जलवायु के परिवर्तन के साथ आते जाते रहते हैं। अर्थात् उनका उत्थान-पतन देश की राजनैतिक विचारधारा के ज्वार-भाटा पर निर्भर है। परन्तु राज्य-प्रबन्ध अविच्छिन्न रूप से स्थायी अधिकारियों के कारण चलता रहता है।

१—यह विचारणीय है कि वर्तमान काल में सरकार के कर्तव्य इतने विस्तृत हो गये हैं कि कोई भी मंत्री प्रत्येक बात की जानकारी नहीं रख सकता है। अतः, यद्यपि मंत्री को अपने विभाग की नीति को निर्धारित करना चाहिये, वह साधारणतः अपने उप-सचिव और नीचे के कर्मचारियों से परामर्श लेकर काम करता है। इसीलिये राम्जे म्योर तथा अन्य लेखकों का कहना है कि यदि गत शताब्दियों में शक्ति कामन-सभा से मंत्रिमंडल में चली गई थी, तो हमारे समय में यह मंत्रिमंडल से सिविल सर्विस के हाथ जा रही है। स्पेन्सर महोदय का कथन है कि 'पार्लिमेंट में पूछे जाने वाले प्रश्नों की संख्या, राज्य-प्रबन्धात्मक निर्णयों का क्षेत्र दीर्घ काय हो गया है। कोई भी व्यक्ति, ऊपरी ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त, विभागों के बहुसंख्यक कार्यों को नहीं समझ सकता है। आज का आदर्श स्थायी उप सचिव असाधारण व्यक्ति होता है किन्तु ऐसे मनुष्यों की बहुत कमी हैं। मंत्री की दशा तो और बुरी है। परिस्थिति ऐसी है कि वह शक्ति-हीन या अपने मातहतों के अधीन होता चला जा रहा है। वे ही पार्लिमेंटीय प्रश्नों के उत्तर तैयार करते हैं और वह सर्वज्ञता के झूठे प्रदर्शन के साथ उन प्रश्नों का उत्तर देता है। वे ही असंख्य राज्य-प्रबन्धात्मक निर्णयों को प्रस्तुत करते हैं जो उसीके विभाग का कार्य होता है......अफ़िस का प्रदर्शनकारी नौकर शाही, जिसके हाथ में सत्ता रहती है और जिसके हाथ में यह रहनी भी चाहिये पार्लिमेंटीय प्रश्न और मंत्री के उत्तरदायित्व से नियंत्रित नहीं रहता है। (भाग्यवश कभी-कभी हो जाता है)। उसका झुकाव अनुत्तरदायी स्वच्छाचारिता की ओर रहता है। उसके ऊपर केवल अस्पष्ट प्रजातन्त्रात्मक नियंत्रण रहता है और यह भी अप्रत्यक्ष और दूर अधिक रहता है'—गवर्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स एब्रॉड, पृ० ५६-५७

स्थायी अधिकारी अथवा सिविल सर्विस

स्थायी अधिकारी राजनैतिक दलों के उत्थान और पतन के साथ नहीं आते जाते। चाहे जो दल शासन की बागडोर संभाले हो और चाहे जो उसकी राजनैतिक धारणा हो वे अपना कार्य करते रहते हैं और विश्वासपूर्वक अपने प्रधानों की आज्ञा पालन करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे दलबन्दी से परे होते हैं। उनका कार्य मंत्रियों द्वारा निर्धारित नीति को कार्यान्वित करना है। वे दलबन्दी से दूर रह कर स्थायी अधिकारी तो होते ही हैं। इसके अतिरिक्त वे नौसिखिये नहीं होते। वे अपने कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त किये रहते हैं और इसीलिये मंत्रियों को उनकी राय पर विश्वास करना पड़ता है। अन्त में उन्हें केवल पक्षपातशून्य और विशेषज्ञ ही नहीं होना पड़ता, उनका अज्ञात रहना आवश्यक है।[1] उन्हें अपना कार्य चुपचाप अज्ञात रूप से करना पड़ता है। बाहर उन्हें कोई नहीं जानता। इस प्रकार विभिन्न राज्य-विभागों के एक उदाहरण-स्वरूप विज्ञ डॉक्टर शिक्षा-मंत्री हो सकता है परन्तु 'सार्वजनिक शिक्षा-संचालक' (डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) और उसके प्रधान अफ़सर ऐसे नहीं हो सकते। उनको शिक्षा-विज्ञान तथा शिक्षा-कला दोनों में दक्ष होना आवश्यक है। इन पदों पर ऐसे व्यक्तियों को होना चाहिये जिनका सम्पर्क शिक्षा की समस्याओं, प्रयोग और प्रबन्ध से सदैव रहा हो। इसी प्रकार स्वास्थ्य तथा स्वच्छता-मंत्री भी एक वकील हो सकता है परन्तु 'सार्वजनिक स्वास्थ्य संचालक' (डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक हेल्थ) अथवा अस्पतालों के 'प्रधान निरीक्षक' (इन्सपेक्टर-जनरल) और उसके अधीन कर्मचारी मंडल के लिये चिकित्सा-ज्ञान आवश्यक है। इससे यह प्रकट होता है कि शासन-प्रबन्ध के लिये विशेषज्ञता एक आवश्यक योग्यता है परन्तु नीति-निर्धारण में ऐसा नहीं है। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि 'पार्लिमेंटीय कार्यकारिणी स्थायी सिविल सर्विस की सहायता के बिना अव्यावहारिक होगी'।

सिविल सर्विस का महत्व

यह बात केवल सभात्मक शासन के ही संबंध में सत्य नहीं है। शासन के किसी भी रूप का कार्य सिविल सर्विस के बिना नहीं चल सकता। डा० फ़ाइनर का कहना है कि आधुनिक राज्य में इसका कार्य केवल शासन-कार्य में सुचारुता ही लाना नहीं है, वस्तुतः इसके बिना शासन-कार्य असंभव हो जायेगा। सिविल सर्विस स्थायी दक्ष तथ, वेतन पाने वाले पदाधिकारियों का व्यवसायात्मक 'संगठन है।[2]

आधुनिक राज्य की प्रकृति

विज्ञान, यातायात तथा उद्योग में उन्नति होने के कारण राज्य ने स्वयं एक विशाल संगठन का रूप धारण कर लिया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रारम्भिक काल में

१—कृपया जेनिंग्सकृत 'ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन' पृ० १४४, और मेरियट कृत 'दि मेकेनिज़्म ऑफ़ दि मॉडर्न स्टेट, जि० २, पृ० १२०-१२१ देखिये।

२—फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑफ़ माडर्न गवर्नमेंटस अध्याय २७, पृ० ११६५

राज्य के पास कोई कार्य[1] ही नहीं था। इससे हमारा केवल यह तात्पर्य है कि जहाँ तक इसके कार्य के विस्तार, गम्भीरता, जटिलता और विशालता का संबंध है वहाँ तक यह गतशाब्दियों के प्रत्येक राज्य से अधिक कार्यशील और जटिल है। इसका विस्तार 'शायद ही मनुष्य के भौतिक तथा नैतिक प्रयत्नों की किसी भी शाखा को अछूता छोड़ता हो। इसका प्रमाण सड़कें, नालियाँ, इमारतें और वे आश्चर्यजनक कार्य हैं जिससे समाज का आवश्यक बौद्धिक विकास हो सके, अत्याचारियों और यंत्रचालित यानों से शारीरिक रक्षा हो सके तथा घातक बैक्टीरिया से व्यक्तियों का बचाव हो सके। हजारों वार्षिक नियम और आदेश तथा आधुनिक राज्यों की वर्तमान विस्तृत कार्य-योजना इस बात की द्योतक है कि किस प्रकार राज्य प्रत्येक व्यक्ति पर केन्द्रित होता है और उसके प्रत्येक विचार को अपने अस्तित्व के असँख्य तागों वाले वस्त्र में बुनता है....राज्य प्रत्येक स्थान पर है, शायद ही यह कोई स्थान रिक्त छोड़ता है'।[2]

आधुनिक राज्य और प्रारम्भिक राज्य में अन्तर

इस प्रकार आधुनिक राज्य केवल विस्तार और क्षेत्र ही में प्रारम्भिक राज्य से भिन्न नहीं है वरन् प्रणाली और प्रक्रिया में भी भिन्न है। प्रारम्भिक राज्य का कार्य केवल क़ानून, आदेश, घोषणा और नियम जारी कर देना था। अब आधुनिक राज्य विचार करता है, नियंत्रण करता है और अपने आदेशों को स्थायी अफ़सरों द्वारा कार्यान्वित करता है। पहले जहाँ राज्य का कार्य केवल घोषणा जारी कर देना था वहाँ आज वह उस कार्य के लिये एक अधिकारी नियुक्त करता है। अन्तर संगठन का है उद्देश्य का अन्तर तो थोड़ा सा है। इससे प्रकट होता है कि वास्तविक शासन-प्रबन्ध-राजनैतिक शक्ति का एक व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण जनता पर पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने का कार्य सिविल सर्विस के द्वारा किया जाता है जनता, पार्लिमेंट अथवा मंत्रिमंडल के द्वारा नहीं। वेबर महोदय का भी कहना है कि 'आधुनिक राज्य में शासन-कार्य न तो पार्लिमेंटीय वाद-विवादों से चलता है और न राजकीय घोषणाओं से यह कार्य तो अनिवार्य रूप से सिविल सर्विस के हाथों से दैनिक राज्य-प्रबन्ध में होता है'।

विभाग-संगठन पर लास्की के पाँच सिद्धान्त

लास्की के अनुसार यह अधिक अच्छा होता कि विभागों का संगठन पाँच स्पष्ट सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता[2]।

सर्व प्रथम, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं एक मंत्री होना चाहिये जो विभाग-कार्य के लिये व्यवस्थापिका के सामने उत्तरदायी हो।

१—फाइनर—दि थियरी एन्ड प्रैक्टिसस ऑफ़ मॉडर्न गवर्न्मेंट्स, अध्याय २७, पृ० ११६३.

२—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० ३७०-७१

दूसरे, प्रत्येक विभाग में आर्थिक नियंत्रण की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिये। इससे उसका तात्पर्य है कि एक ऐसे अधिकारी (आर्थिक सलाहकार के समान) की नियुक्ति होनी चाहिये जो विभाग के द्वारा व्यय किये जाने वाले धन के लिये उत्तरदायी हों और विभाग के प्रस्तावित व्यय का ब्योरा रक्खे।

तीसरे प्रत्येक मंत्रिमंडल को व्यवस्थापिका के सदस्यों की एक ऐसी समिति की आवश्यकता है जिसके संपर्क में वह संगठित रूप से रह सके।

चौथे, विभागों के परस्पर सहयोग के लिये एक निश्चित व्यवस्था होनी चाहिये।

अन्त में अनुसन्धान और खोज के लिये विशेष व्यवस्था होनी चाहिये।

शासन के विभागों के वर्तमान संगठन में सुधार करने के लिये ये बहुत उत्तम सुझाव हैं। भारतवर्ष में तो कृषि, उद्योग इत्यदि में अनुसंधान करने की व्यवस्था हो गई है।

सिविल सर्विस के सुधार के लिये लास्की के सुझाव

लास्की ने केवल विभागों में सुधार करने के ही सुझाव नहीं रक्खे हैं। उसने सिविल सर्विस में सुधार करने के सुझाव भी उपस्थित किये हैं।[1]

उसका कथन है कि सरकारी नौकरियाँ दो किस्मों में विभाजित की जा सकती हैं। पहली वे हैं जिनका कार्य वृत्तात्मक[2] है और दूसरी वे जिनका कार्य रचनात्मक है। पहले प्रकार की नौकरियों का काम केवल पत्र-व्यवहार, फ़ार्म-पूर्ति और हिसाब-किताब रखना है। दूसरे प्रकार की नौकरियों का कार्य नीति-निर्धारण, अनुसंधान तथा निर्णय करना है। इन्हीं नौकरियों में सुधार की आवश्यकता है जिससे वे समाज की अधिक भलाई कर सकें।

सर्व प्रथम, यह कार्य 'सार्वजनिक परामर्शदात्री समितियों को' उनके सम्पर्क में लाने से ठीक हो सकता है क्योंकि तब अधिकारी को अपनी योग्यता और अपने अनुभव को अधिक विस्तृत योग्यता तथा जानकारी के सम्मुख परखने को बाध्य होना पड़ेगा। वह आफ़िस की रिपोर्टों से निर्णय निकालना कम कर देगा, वह व्यवसायियों, व्यापार-संघियों, डाक्टरों तथा अध्यापकों के सम्पर्क से अपनी नीति निर्धारित करेगा।

दूसरे, सिविल सर्विस को केवल व्यवसाय ही नहीं होना चाहिये उसको विद्वत्ता-व्यवसाय होना चाहिये। अधिकारियों को शासनात्मक संगठन के संबंध में अपनी राय लिखने और प्रकाशित करने तथा उपयुक्त सुधारों की योजनायें उपस्थित करने की व्यवस्था होनी चाहिये। उसके परिणाम-स्वरूप शासन-प्रबन्ध में उत्तमता आयेगी क्योंकि अधिकारी अपने व्यावहारिक अनुभव से सुझाव रक्खेगा।

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० ३९९-४०५

तीसरे, अधिारियों के लिये 'अवकाश काल' निश्चित कर देना उचित है जिससे उनको भ्रमण, अनुसन्धान इत्यादि का अवसर मिले। उनका प्रत्येक वर्ष फ़ाइलों के पृष्ठ उलटते और कागज़-पत्रों ही में व्यस्त रहते बीतता है। वे वास्तविकताओं से दूर रहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उनके मस्तिष्क की ताज़गी और शक्ति क्षीण हो जाती हैं। अतः कार्य और स्थान का परिवर्तन उनकी प्रथम आवश्यकता है।

चौथे आजकाल की अपेक्षा सरकारी नौकरियों और विश्वविद्यालयों में और अधिक आंगिक संबंध होना चाहिये। शासन-प्रबन्ध की समस्याओं पर राजनीति-विज्ञान के आधार पर पूर्ण रूप से विचार करने के लिये विश्वविद्यालय सर्वोत्तम स्थान हैं। यहाँ मस्तिष्क पक्षपात-शून्य रहेगा क्योंकि विद्या-विशारदों के सम्पर्क से अधिकारी बुद्धि और तर्क को अपना पथ-प्रदर्शक बनायेंगे।

अन्त में, अधिकारियों का कार्य-काल कम कर दिया जाना चाहिये क्योंकि अधिकारीगण एक वर्ग का रूप ग्रहण कर लेते हैं और प्राचीन परिपाटी के अनुगामी होने के कारण नवीनता के पक्ष में नहीं रहते।

डा० वेणीप्रसाद् की सुधार-योजना

लास्की के अतिरिक्त भारतवर्ष में भी स्वर्गीय डा० वेणीप्रसाद् ने भी कार्यकारिणी के कार्यों के संगठन के लिये बहुत से सुझाव[1] उपस्थित किये थे। उनका कहना था कि आधुनिक शासन के उत्तरदायित्वों की संख्या तथा उनका भार अधिक हो जाने से कार्यकारिणी के ढाँचे में सुधार करना आवश्यक है।

सर्व प्रथम, मंत्रियों का कार्य केवल विभागों को सुचारु रूप से चलाना ही नहीं है, उनको नियमित रूप से नीति और सुधारों पर भी विचार करना चाहिये। मंत्रिमंडल को दो अंगों में विभक्त किया जा सकता है। एक को वैभागिक नियंत्रण-कार्य से मुक्त करके शासन-प्रबन्धात्मक समस्याओं पर विस्तृत रूप से विचार करने का कार्य सौंप दिया जाना चाहिये।

दूसरे, मंत्रिमंडल को 'योजना-समिति' से संबंधित रहना चाहिये। इस समिति में विशेषज्ञ और व्यावसायिक संघो के मनोनीत सदस्य रहेंगे। इसका कार्य आर्थिक व्यवस्था पर विचार करना, समय-समय पर योजनायें तथा अपने कार्य की रिपोर्ट उपस्थित करना तथा वार्षिक बजट पर परामर्श देना होगा।

तीसरे, एक 'राष्ट्रीय पूंजी बोर्ड' की स्थापना की जानी चाहिये जिसका कार्य कृषि और उद्योग-योजनाओं को ऋण देकर तथा हिस्से खरीद् कर सहायता करना रहे। ऐसे ही बोर्ड आयात-निर्यात कर, रेलवे तथा यातायात के साधनों, तथा जंगल इत्यादि के लिये भी स्थापित किये जाने चाहिये। इनसे राजनैतिक कार्यकारिणी-विभाग, तथा स्थायी अधिकारियों को ऐसे कार्य के बोझ से छुटकारा मिल जायगा जिनके लिये वे योग्य नहीं होते।

१—वेणीप्रसाद—दि डेमोक्रेटिक प्रोसेस, पृ० २५६-२६३

चौथे, शासनात्मक कर्त्तव्यों के प्रतिपल विस्तृत होने वाले क्षेत्र का अर्थ है राजनैतिक नियंत्रण के प्रत्येक स्थान पर नौकरशाही का बोलबाला। और वैभागिक लिखा-पढ़ी कार्यवाहियों से व्यर्थ में कार्य में विलम्ब लगने की सम्भावना रहती है। अतः नौकरशाही के दोषों को दूर करना आवश्यक है। यह कार्य योग्यता परीक्षाओं की प्रणाली को विस्तृत करने से अधिक सरलता से हो सकता है क्योंकि निसंदेह यह शासन-प्रबन्ध को प्रजातंत्रात्मक बना देगा। इसी की वजह से शासन-कार्य में सुचारुता आई है, भ्रष्टाचार तथा पक्षपात कम हो गये हैं, सार्वजनिक जीवन का स्तर ऊँचा हो गया है और शिक्षा को प्रोत्साहन मिला है। इस प्रकार योग्यता परीक्षाओं के द्वारा नियुक्त किये हुये प्रतिभाशील व्यक्तियों को आफ़िस के दैनिक नीरस वातावरण से बचाना चाहिये। उनको अध्ययन तथा विचार करने का, उनको सौंपे गये हुये विषयों पर अनुसन्धान करने का अवसर मिलना चाहिए। उनको एक नियमित शासन प्रबन्धात्मक यंत्र का सहयोग मिलना चाहिये जो नवीन आवश्यकताओं के अनुसार शासन प्रबन्ध को आगे बढ़ाता रहे।

अन्त में ऐसी विभिन्न 'परामर्शदात्री समितियों'[1] की व्यवस्था होनी चाहिये जिनमें विशेषज्ञ और सार्वजनिक व्यक्ति हों। इनका संबंध शासन-विभागों अथवा उनकी नीचे से लेकर ऊपर तक की शाखाओं से होना चाहिये। इन समितियों का कार्य सरकारी नौकरियों और लोकमत में आंगिक संबन्ध स्थापित करना, विचारों और सुझावों को ग्रहण करना, तथा लोकमत को शिक्षित करने का आवश्यक कार्य करना होगा। इस प्रकार अधिकारी और विशेषज्ञ एक दूसरे के तथा जनता के परामर्शदाता हो जायेंगे। ये 'विचारक-संगठन' व्यवस्थापिकाओं और मंत्रिमंडलों की प्रवृत्ति को स्वेच्छाचारिणी होने से तथा अधिकारियों को जीवन-शून्य यंत्र होने से रोकेंगे।

इंगलैंड में सिविल सर्विस का विकास

शासन-विभागों और सिविल सर्विसों में सुधार करने के आवश्यक सुझावों पर विचार करने के पश्चात् अब हम इंगलैंड की सिविल सर्विस के विकास का अध्ययन कर सकते हैं। प्रारम्भ में इस देश में सभी पदों की पूर्ति निजी नियुक्ति के सिद्धान्त पर की जाती थी क्योंकि उस समय क्लर्कों और अधीन अधिकारियों की इतनी अधिक संख्या में आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसका कारण यह था कि शासन का कर्तव्य केवल

१—लास्की इस प्रकार की परामर्शदात्री समितियों का निम्नलिखित कर्तव्य बताते हैं:—

(क) प्रस्तुत बिलों के संबंध में पूर्व परामर्श।
(ख) साधारण शासन-प्रबन्ध प्रणाली में परामर्श।
(ग) सुझाव उपस्थित करना।
(घ) टेकनीकल विषयों पर विशेष परामर्श देना।

—विशेष विवरण के लिये 'ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स' पृ० ३८०-३८३ देखिये।

(१) गृह तथा उपनिवेश-विभाग सहित परराष्ट्र-विभाग, (२) रक्षा-विभाग, (३) राजस्व (४) न्यायधीशों की नियुक्ति तथा (५) डाक-विभाग तक ही सीमित थे। सिविल सर्विस का सामाजिक तथा आर्थिक मामलों में कोई नियंत्रण नहीं था। सन् १८३२ ई० के पश्चात् ये कार्य विस्तृत होने लगे और नये स्थापित किये गये विभागों तथा आफिसों के कार्य सम्पादन के लिये और अधिक व्यक्तियों को नियुक्त करने की आवश्यकता पड़ी।

राम्जे म्योर कथित शासन-प्रबन्ध के विकास की तीन अवस्थायें

इंगलैंड के शासन-प्रबन्ध के विकास में राम्जे म्योर[1] ने तीन अवस्थायें बतलाई हैं :—

(१) पहली अवस्था सन् १८३२ में आरम्भ होकर सन् १८५५ तक रहती है। वैसे तो फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के युद्ध-काल में ही एक नये युद्ध तथा उपनिवेश मंत्री की नियुक्ति हो गई थी परन्तु सन् १८३२ के सुधार-क़ानून के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक असुविधाओं को दूर करने के लिये सन् १८३३ का 'फ़ेक्टरी क़ानून', सन् १८३४ का 'दरिद्र क़ानून', सन् १८४८ का 'सार्वजनिक स्वास्थ्य क़ानून' इत्यादि पास हुये। इसके परिणाम स्वरूप नवीन सामाजिक व्यवस्था के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिये अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता हुई। इस प्रकार नौकरशाही का जन्म हुआ। ईस्ट इंडिया कम्पनी की नियुक्तियों के लिये लार्ड मॉर्ले सन् १८३३ ई० में योग्यता-परीक्षा के सिद्धान्त की स्थापना पहले ही कर चुका था। सन् १८५३ ई० में ट्रेवेलियन-रिपोर्ट ने यह सिफ़ारिश की कि निजी नियुक्ति का सिद्धान्त समाप्त कर दिया जाये और सिविल सर्विस के लिये योग्यता परीक्षा की व्यवस्था की जाय।

(२) दूसरी अवस्था सन् १८५५ में सिविल सर्विस कमीशन की स्थापना से आरम्भ होकर सन् १६०६ तक रहती है। इस काल में नियुक्तियाँ योग्यता-परीक्षा के सिद्धान्त पर होने लगीं। जैसा कि लास्की[2] का कथन है सिविल सर्विस का आधुनिक रूप सन् १८७० से आरम्भ हुआ। नये विभागों अथवा बोर्डों जैसे स्थानीय शासन-बोर्ड (१८७१), कृषि तथा मछली बोर्ड (१८८६), तथा सन् १८७१ के शिक्षा-क़ानून के अनुसार शिक्षा-बोर्ड (१८६६) की भी स्थापना हुई। व्यापार-बोर्ड नये उद्योगों का नियंत्रण करने लगा और परराष्ट्र-विभाग में बाह्य देशों से व्यापार की देख-भाल के लिये आफ़िस जोड़ दिये गये। यहाँ तक कि फ़ैक्टरी क़ानून और भोजन तथा पेय-क़ानून भी पास हुये। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य के कार्यों में वृद्धि होने से शासन-प्रबन्ध की सभी शाखाओं में सिविल सर्विस की और भी वृद्धि हुई।

(३) तीसरी अवस्था सन् १६०६ से आरम्भ होती है जिसका क्रम अभी चल रहा है। इस काल में शासनात्मक नियंत्रण में असीमित वृद्धि हुई। उद्योगों की वृद्धि से मजदूरी की दर पर नियंत्रण रखने के लिये, व्यावहारिक विवादों में समझौता कराने

१—राम्जे म्योर—'ह्वाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड' १, अध्याय २,। कृपया मेरियट कृत 'दि मैकेनिज़्म ऑफ़ दि मॉडर्न स्टेट', जिल्द २, पृष्ठ ११०-१२१ पढ़िये।

तथा निर्णय देने के लिये, वृद्धों की सामाजिक इन्श्योरेन्स के लिये, बेकारी की समस्याओं पर विचार करने के लिये तथा ऐसी ही योजनाओं के लिये 'व्यापार-बोर्ड' की स्थापना हुई। एक सड़क-बोर्ड बना और टेलीफोन-व्यवस्था भी राज्य ने अपने हाथ में ली। इसलिये इन सब के प्रबन्ध के लिये और लोग नौकर रक्खे गये। सन् १६१२-१४ में राजकीय कमीशन ने रिपोर्ट की कि योग्यता-परीक्षा का सिद्धान्त खूब सफल हुआ है। इसके बाद सन् १६१४-१८ का युद्ध आया। इसके परिणाम-स्वरूप सारे राष्ट्र का केवल भोजन ही नहीं सीमित किया गया और केवल कोयला, रूई, लकड़ी तथा कृषि उत्पादन का नियंत्रण ही नहीं किया गया वरन् यांत्रिक उद्योग मंत्री तथा जल-व्यापार भी समुद्र-विभाग के अधीन किये गये। युद्ध के बाद खानों, स्वास्थ्य, यातायात तथा श्रम के मंत्रियों की नियुक्तियाँ की गईं। इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या में नियुक्तियाँ हुईं जिनका कार्य केवल शासन-प्रबन्ध था। सन् १६३६-४५ के युद्ध में हमने देखा है कि किस प्रकार सिविल नौकरों की संख्या बढ़ी है और किस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शासकीय नियंत्रण हो गया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शासनात्मक कार्यों की वृद्धि से सैकड़ों नये संगठनों का जन्म हुआ और केवल रसद, सूचना तथा ब्रॉडकास्टिंग, आर्थिक-युद्ध, वायु-उत्पादन ऐसे विभागों की स्थापना और बोर्डों, कमीशनों, कारपोरेशनों, कम्पनियों तथा समितियों की संख्या में ही बढ़ती नहीं हुई है वरन् इनके कार्य-सम्पादन के लिये सिविल नौकरों, जैसे इक्जीक्यूटिव अफसरों, एकाउन्टेन्टों, सेक्रेटरियों, इंजीनियरों, सुपरिन्टे-न्डेन्टों, क्लर्कों, टाइपिस्टों, पोर्टरों, और संदेश-वाहकों इत्यादि की संख्या में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है[1]।

अमरीकी संयुक्त-राज्य

इसी प्रकार हम अमरीकी संयुक्त-राज्य की सिविल-सर्विस के विकास के सम्बन्ध में भी कुछ कह सकते हैं। यहाँ भी आरम्भ में निजी तौर पर नियुक्तियाँ होती थीं। अध्यक्ष जैक्सन के कार्य-काल में सन् १८२६ में पुराने कर्मचारियों को निकाल कर खुले रूप में अध्यक्ष के राजनैतिक अनुगामियों को नियुक्त किया जाने लगा था। इसके परिणाम स्वरूप अन्याय बहुत बढ़ा और शासन-प्रबन्ध से सुचारुता लोप हो गई। इसीलिये सिविल सर्विस में सुधार करने के लिये आन्दोलन आरम्भ हुआ। सन् १८८३ ई० में सिविल सर्विस क़ानून पास हुआ। इस सुधार क़ानून के निम्नलिखित सिद्धान्त थे :

(१) सिविल सर्विस राजनीति से अलग रक्खी जायेगी।

(२) सिविल-सर्विस की नियुक्तियाँ योग्यता परीक्षाओं के आधार पर होंगी।

(३) ऐसी परीक्षाओं के लिये तीन कमिश्नर नियम बनायेंगे।

इंगलैंड और अमरीका की सिविल सर्विसों के इस विकास से यह अब स्पष्ट हो

१ —जेनिंग्स —ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन, पृ० ११५-११६

जाता है कि निजी नियुक्तियों के स्थान पर नियुक्तियाँ योग्यता-परीक्षा के आधार पर होने लगी हैं। भारतवर्ष में भी यही प्रणाली प्रचलित है। यहाँ पब्लिक-सर्विस कमीशन शासन की सभी नियुक्तियों के लिये योग्यता-परीक्षाओं का प्रबन्ध करते हैं और उम्मीदवार योग्यता के आधार पर चुने जाते हैं; पक्ष-ग्रहण, सामाजिक स्थान अथवा प्रभाव के कारण नहीं।

इंगलैंड में सिविल सर्विस के विकास के परिणाम

परन्तु इंगलैंड की सिविल सर्विस (यह नौकरशाही भी कही जाती है) के इस विकास ने एक बड़ी भारी आशंका को जन्म दिया है। लार्ड हेवर्ट ने इसको 'नवीन निरंकुशता' कहा है। राम्जे म्योर का तो विचार है कि यह मंत्रिपदीय उत्तरदायित्व की ओट में शक्ति शाली हुई है और अब भी हो रही है तथा इसकी छाया मंत्रिमंडल पर पड़ चुकी है। उसका कथन है कि राज्य के तीन कार्यों शासन-प्रबन्ध, क़ानून-निर्माण और आर्थिक मामलों में यही मुख्य चालक और नियंत्रण शक्ति है। एलिन महोदय ने इसे नौकरशाही की विजय कहा है। शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में मान लीजिये शिक्षा-मंत्री से पार्लिमेंट में एक प्रश्न पूछा गया। चूँकि वह नौसिखिया है इसलिए प्रश्न का उत्तर उसके विभाग के स्थायी अधिकारी देंगे जो स्वभावत: अपने कार्य के विशेषज्ञ हैं। मंत्री को एक लिखा उत्तर दे दिया जायेगा और वह उसे पार्लिमेंट में पढ़ देगा। इसका अर्थ यह हुआ कि वह ग्रामोफोन की भाँति है। इसके अतिरिक्त यदि वह कोई भाषण देना चाहता है तो इसकी भी सामग्री ढूँढ़ता है और जिसे अधिकारी वर्ग ही उपस्थित करते हैं अब यदि पार्लिमेंट उसकी नीति पर आपत्ति करती है तो उसके कार्यों और भाषणों का उत्तरदायित्व उसी के ऊपर रहेगा विभाग के ऊपर नहीं। इस प्रकार राम्जे म्योर का तर्क है कि सिविल नौकर मंत्रियों के साधन होने के स्थान पर उनके स्वामी हो गये हैं और विभाग के कार्य के उत्तरदायित्व से बचकर बड़े शक्तिशाली हो गये हैं। क़ानून-निर्माण में भी हम देखते हैं कि सिविल अधिकारी बिलों का केवल मसविदा ही नहीं तैयार करते वरना उनका स्वरूप-निर्माण भी करते हैं। इतना ही नहीं है। अधिकृत क़ानून-निर्माण के सम्बन्ध में, जिसके लिये पार्लिमेंट मंत्रियों को अपने आदेशों और नियमों द्वारा क़ानून बना देने का भार सौंप देती है, हम देखते हैं कि स्थायी अधिकारी ही वास्तविक क़ानून निर्माता और संकलनकर्ता होते हैं। अन्त में, राजस्व के सम्बन्ध में भी आयव्यय का अनुमान विभाग ही तैयार करता है। अर्थमंत्री तो उसको व्यवस्थापिका द्वारा केवल पास करवाता है। संक्षेप में, सिविल अधिकारी सभी विभागों में सर्वेसर्वा हो गये हैं और मंत्री उनके हाथ की कठपुतली बन गये हैं, उनका कोई अपना अस्तित्व ही नहीं रह गया है।

लास्की का दृष्टिकोण

परन्तु सिविल अधिकारीवर्ग की शक्ति के सम्बन्ध में राम्जे म्योर के इस विचार को लास्की[1] नहीं स्वीकार करता है। सर्वप्रथम, उसका कथन है कि नकारात्मक राज्य

१—लास्की—दि पार्लिमेंटरी गवर्नमेंट इन इंगलैंड, अध्याय-सिविल-सर्विस

के प्रतिकूल क्रियात्मक राज्य की धारणा के लिये क्लर्कों और अन्य निम्न अधिकारियों की एक बड़ी संख्या आवश्यक है। मंत्री केवल नीति ही निर्धारित कर सकते हैं, वे प्रत्येक बात की देख-भाल तो नहीं कर सकते।

दूसरे, यह कहना अनुचित है कि स्थायी अधिकारी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये जबरदस्ती करते हैं। वास्तव में शक्ति, प्रभाव और स्वतंत्रता योग्यता के अनुगामी हैं और वे विश्वविद्यालय के अत्यन्त योग्य व्यक्ति होते हैं जो खुली प्रतियोगिता-परीक्षा के पश्चात् सिविल सर्विस में प्रवेश करते हैं। योग्यता के साथ-साथ वे अपने कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं इसलिये मंत्रियों के पास अपनी रायें रख कर वे किसी विशेष नीति अथवा कार्य-प्रणाली के परिणामों पर प्रकाश डालते हैं। वे जबरदस्ती अपने आदेश नहीं मनवाते हैं[1]।

तीसरे, यह कहना भी ग़लत है कि मंत्री उनके हाथ के केवल कठपुतले होते हैं। एक शक्तिशाली मंत्री अपने विभाग की नीति स्वयं दृढ़ता से निर्धारित करता है।

अधिकृत क़ानून-निर्माण और प्रबन्धात्मक क़ानून के विरुद्ध भी लास्की कुछ नहीं कहता है। पार्लिमेंट के पास इतना समय नहीं रहता कि वह सभी बिलों की प्रत्येक बात का निरीक्षण करें। अतः क़ानून-निर्माण का कार्य सौंप देने से पार्लिमेंट का वह बहुमूल्य समय बच जाता है जो अन्य महत्वपूर्ण बिल पास करने में लगाया जा सकता है। बिलों की छान-बीन करने तथा उनका निरीक्षण करने के लिये एक स्थायी समिति को नियुक्त कर देने से यह कठिनता दूर हो जायेगी। कार्यकारिणी को Quasi-Judicial अधिकार देने में भी वह कोई हानि नहीं देखता। उसका कथन है कि एक अध्यापक और संचालक-समिति के मध्य झगड़ा हो जाने पर न्यायालय की अपेक्षा शिक्षा-बोर्ड सर्वोत्तम निर्णायक तो होगा ही, यह न्यायालाय को कार्य-भार से दबने से भी बचा लेगा।

इस प्रकार लास्की पार्लिमेंट और न्यायालयों के अधिकारों को कम करके क़ानून-निर्माण के कुछ भार को कर्मचारियों पर सौंप देने के कार्य को आशंका की दृष्टि से नहीं देखता है। उसकी दृष्टि में अधिकारों के इस हस्तान्तरण से उनका उपयोग और उत्तम ढंग से होता है। सन् १९२२ में उसने भी अपनी पुस्तक 'दि डिव्हलपमेंट ऑफ़ सिविल सर्विस' में लिखा था कि पार्लिमेंट मंत्री के हाथ का खिलौना है और मंत्री स्थायी अधिकारीवर्ग के हाथ का। परन्तु उसका यह विचार अब बदल गया है जैसा कि हमने अभी ऊपर देखा है। इसमें सन्देह नहीं है कि स्थायी अधिकारीवर्ग की विजय घोषित करना अतिशयोक्ति है। परन्तु, हमको यह भी नहीं भूल जाना चाहिये कि इसने द्रुतगति से शक्ति और प्रभाव प्राप्त कर लिया है।

१—जोड महोदय का भी ऐसा ही कथन है कि 'विशेषज्ञ को परामर्श देना चाहिये आदेश नहीं। वास्तव में विशेषज्ञ को राय देने के लिये तैयार रहना चाहिये लेने के लिये नहीं'।

अन्त में, जैसा कि जेनिंग्स[1] का कथन है कि, जो प्रश्न पूछे जाते हैं या पूछे जा सकते हैं उनके महत्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। मंत्री को परेशानी से बचाने के लिये स्थायी अधिकारी उसको सहायता पहुँचाने का भरसक प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वैभागिक नीति सिविल अधिकारियों का सामूहिक अनुभव होती है; वे मंत्री के विरुद्ध कोई नौकरशाही षडयंत्र नहीं करते।

इतना होते हुये भी हमको इस बात की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि जहाँ कहीं भी अधिकारतंत्र शक्ति और प्रभाव प्राप्त कर लेता है इसमें निम्न लिखित दोष अवश्य आ जाते हैं।[2]

(१) यह प्रथा और कार्य-परिपाटी पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देती है। प्रत्यक्ष कार्य-सम्पादन की अपेक्षा यह कार्य विधि और फ़ाइलों को अधिक महत्व देने लगती है। यह प्राचीन चलन को छोड़ना ही नहीं चाहती है। इसका यह अर्थ हुआ कि अधिकारियों की विचार-शक्ति क्षीण हो जाती है। उनकी रचनात्मक शक्ति और मौलिकता का ह्रास होने लगता है। इसके परिणाम-स्वरूप उनके व्यक्तित्व पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) चूँकि इसमें अधिकारीगण अपने-अपने कार्य के विशेषज्ञ होते हैं इसलिए उनमें अपनी शक्ति बढ़ाने और अपने महत्व का प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति आ जाती है। इसके परिणाम स्वरूप उनका दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है और वे नौसिखियों को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं।

(३) शासनकार्य विभागों और वर्गों में बँट जाने से अन्तर्विभागीय तथा अन्तर्वर्गीय ईर्ष्या और कलह होने लगती हैं। इस प्रकार इस विभाजन से कार्य में सहयोग नहीं उत्पन्न हो सकता। इसके परिणाम स्वरूप आवश्यकता से अधिक काम के होने, दूसरे के अधिकारों पर हस्तक्षेप करने, एक काम दुबारा हो जाने, प्रतियोगिता की भावना आने तथा असहयोग उत्पन्न होने के दोष आ जाते हैं।[3]

(४) सिविल पदाधिकारीगण अपने को एक विशेषाधिकारी वर्ग समझने लगते हैं। इसका उदाहरण तो हमें भारतवर्ष ही में मिलता है जहाँ हम उनकी नौकरशाही भावना की निन्दा करने से नहीं चूकते।

१—जेनिंग्स—दि ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन, पृ० १३४। सिविल सर्विस के (क) सूचना एकत्रीकरण, (ख) वैभागिक नीति तथा (ग) शासन-नीति संबंधी कर्तव्यों के लिये पृष्ठ १२७-१२६ भी देखिये।

२—इस संबंध में राम्ज़े म्योर कृत 'हाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड' पृष्ठ ७१-७७ तथा स्पेन्सर कृत 'गवर्न्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स एब्रॉड,' पृष्ठ २०१-२०२ अवश्य पढ़िये।

३. विशेष अध्ययन के लिये जेनिंग्स कृत 'दि ब्रिटिश कान्स्टीट्यूशन, पृ० १६७-१७१ देखिये।

(५) जितना ही विशाल प्रबन्धात्मक कर्मचारी-मंडल होगा उतनी ही अधिक कर्मचारी-संघ स्थापित होने की सम्भावना रहेगी। इस प्रकार वे अपनी मत-शक्ति द्वारा निर्वाचनों पर सरलता से प्रभाव डाल सकते हैं।

(६) अधिकारी अहंकारी और अशिष्ट भी हो जाते हैं। अत: वे बहुधा दुर्व्यवहार करने लगते हैं।[1]

(७) वैभागिक सिद्धान्तों पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देने के कारण कोई काम तो होता नहीं, उत्तरदायित्व अवश्य ऊपर की ओर खिसका दिया जाता है। इसमें काग़ज़ का घोड़ा दौड़ता है और अनुत्तरदायित्व के बादल छाये रहते हैं।

(८) अन्त में अतिशय केन्द्रीकरण का सदैव यह तात्पर्य होता है कि सोचने का कार्य केवल प्रधान ही कर सकता है। यह विभाग के प्रधान का एकाधिकार सा हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि 'छोरों पर रक्ताभाव रहता है और मस्तिष्क में अचेतनता अथवा रक्ताधिक्य'।

---

१. डा० फ़ाइनर ने किसी अज्ञात जर्मन लेखक के अधिकारी-तंत्र संबंधी दस आदेशों को उद्धृत किया है:—

(१) मेरे अतिरिक्त तुम्हारे अन्य देवता नहीं हैं। जो इस धर्म-सिद्धान्त को नहीं मानते वे अधर्मी और नास्तिक हैं।

(२) मेरी अत्रुट्यात्मकता पर विश्वास करो और दास की भाँति इसे स्वीकार करो क्योंकि मुझसे कभी त्रुटि नहीं होती; मैं स्वयं निर्णय कर सकता हूँ, केवल मुझी को निर्णय करने का अधिकार है।

(३) मेरे कथन को काटो नहीं। यदि ऐसा करते हो तो तुम्हें अपने वेतन से हाथ धोना पड़ेगा।

(४) तुम्हारी सुनवाई नहीं होगी क्योंकि मैं ही वेतन वृद्धि का प्रस्ताव रखता हूँ।

(५) आचार संबंधी गुप्त रिपोर्टों को स्मरण रक्खो।

(६) तुमको कोई भी नहीं जानेगा। मैं ही उपाधि और प्रशंसा-पत्रों की सिफ़ारिश करता हूँ।

(७) मेरी निन्दा करने में आनन्द मत लो।

(८) मेरे प्रति विश्वास रक्खो और सच्चे रहो। मैं ही तुमको अन्य नौकरी दिला सकता हूँ।

(९) मेरा सम्मान करो और मुझे धोखा मत दो। मैं ही प्रतिष्ठा-पद की सिफ़ारिश करता हूँ।

(१०) तुम सदैव मुझे प्रसन्न करते हुये दिखलाई पड़ो क्योंकि सेवा-कार्य के उपलक्ष में दिये जाने वाले धन को व्यय करने का अधिकार मुझी को है।

—दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑफ़ माडर्न गवर्मेंट्स, पृ० १२१४

सिविल सर्विस का संगठन

इस प्रकार इंगलैंड और अमरीका में सिविल सर्विस के विकास तथा इंगलैंड में इसके विकास के परिणामों पर विचार कर लेने के पश्चात् हम संक्षेप में सिविल सर्विस के दूसरे पहलुओं पर भी विचार कर सकते हैं। प्रत्येक देश में सिविल सर्विस का विभाजन केवल केन्द्रीय और प्रान्तीय रूपों में ही नहीं किया गया है जैसा कि हम भारतवर्ष में भारतीय सिविल सर्विस तथा प्रान्तीय सिविल सर्विस पाते हैं; वरन् वह दूसरी क़िस्मों में भी विभाजित की गई है जैसे उच्चकोटीय, निम्नकोटीय, तथा क्लर्क वर्ग इत्यादि। ये सब क़िस्में सभी विभागों में पाई जाती हैं। विभागों के कार्यों का संगठन मंत्रि-कार्यालयों, जिला-कार्यालयों तथा उनकी शाखाओं के द्वारा किया जाता है। उच्चकोटि की नियुक्तियाँ जैसा कि पहले बताया जा चुका है साधारणतः प्रतियोगिता परीक्षाओं द्वारा होती हैं। भारतवर्ष में नयी दिल्ली में कर्मचारी चुनाव-परीक्षाओं की व्यवस्था होती है। निम्न कोटि की नियुक्तियाँ भी वैभागिक परीक्षाओं द्वारा होती हैं। मनोनीत अथवा निजी नियुक्तियाँ केवल चपरासियों दफ़्तरियों, अरदलियों इत्यादि की ही हो सकती है।

सिविल सर्विस के आधारभूत सिद्धान्त

सिविल सर्विस के संगठन के पश्चात् हम अब यह जानने का भी प्रयत्न कर सकते हैं कि किन सिद्धान्तों के आधार पर इनका संगठन किया जाता है। डा० फ़ाइनर[1] ने ख़ास तौर से इस पहलू पर विचार किया है। उसने निम्नलिखित विशेषतायें पाई हैं:—

१. फ़ाइनर—दि थियरी एन्ड प्रैक्टिस ऑफ़ माडर्न गवर्न्मेंट्स, जिल्द २, पृ० ११७४-११८२। इसके अतिरिक्त फ़ाइनर कथित सिविल सर्विस की सुचारुता के लिये चौदह आवश्यक बातों को दूसरी जिल्द के पृष्ठ १३६८ में देखिये और सिविल अधिकारियों के लिये उसके द्वारा कहे हुये निम्नलिखित आदेशों को भी दूसरी ही जिल्द के पृष्ठ १३७५-७६ में देखिये।

(१) सावधानी पूर्वक कर्तव्य-पालन;

(२) सच्चाई, परिश्रम और स्वार्थ-त्याग;

(३) ठीक समय पर काम करना :

(४) साधारण समय से अधिक देर तक काम करने के लिये कहा जाने पर अधिक वेतन की माँग रक्खे बिना आज्ञापालन कर काम करना;

(५) सच्चा रहना और विभाग की भलाई के लिये सभी महत्वपूर्ण बातों को बतलाना;

(६) अपने ऊँचे अधिकारियों के प्रति सम्मान रखना;

(७) जुआबाज़ी तथा व्यसनों से दूर रहकर नैतिकता की कोटि तक पहुँचना;

(८) अपनी बेइज्ज़ती से सतर्क रहना नहीं तो नौकरी को लोग नीची निगाह से देखेंगे;

(९) कोई दूसरी नौकरी न करना और दलबन्दी से परे रहना;

(१०) और वैभागिक मामलों को गुप्त रखना।

(१) जब हम देखते हैं कि आज राज्य का नियंत्रण-क्षेत्र समझौतों की सरकारी रजिस्ट्री से लेकर, मूल्य-निर्णय और उद्योग-प्रबन्ध तक है, सड़क के सफ़ाई-कार्य से लेकर बीमार नागरिक के अनिवार्य एकान्तीकरण तक है तो हम यह समझते हैं कि राज्य इन कामों को निजी प्रयत्नों या देखभाल में नहीं छोड़ देता क्योंकि सार्वजनिक हित अत्यधिक आवश्यक है और राज्य की अविच्छिन्नता तथा अस्तित्व के लिये यह आवश्यक है। इसका यह अर्थ हुआ कि सरकारी नौकरियों में स्थायित्व और अविच्छिन्नता अवश्य रहनी चाहिए।

(२) राज्य के उद्देश्यों में आवश्यकता और सार्वजनिक हित के अतिरिक्त एक और बात है। राज्य को एकाधिकार प्राप्त है परन्तु वह लाभ-वृद्धि की चिन्ता नहीं करता। यह अपने ग्राहकों के साथ एक सा व्यवहार रखता है और वह इतना मूल्य नहीं लेता जितना उसे बाज़ार में मिल सकता है। मौलिक रूप से सरकारी नौकरियों का कर्तव्य यह है कि उन सभी के लिये आवश्यक सेवाओं की व्यापक व्यवस्था करना, जो इनकी आवश्यकता रखते हैं। यहाँ मूल्य का निर्णय प्रतियोगिता द्वारा नहीं किया जाता है।

(४) सिविल सर्विस का कार्य क्षेत्र क़ानून द्वारा सीमित रहता है। यह सीमित इस अर्थ में रहता है कि सिविल अधिकारी सार्वजनिक हित के लिये जो चाहें वह कर भी नहीं सकते। वे निश्चित की हुई सीमा के बाहर नहीं जा सकते और यदि उल्लंघन करते है तो दंड के भागी होते हैं।

(५) सिविल सर्विस अवैयक्तिक होती है। इसका संबंध परिस्थितियों की वास्तविकता तथा जन-सम्पर्क की अपेक्षा फ़ाइल से अधिक रहता है।

(६) चूँकि सिविल अधिकारी जन-सेवक होते हैं इसलिये प्रत्येक अवसर पर उनसे जवाबतलब किया जा सकता है। अत: उनको गत परिपाटी के अनुसार चलना पड़ता है। यही कारण है कि वे शीघ्र निर्णय नहीं कर पाते। जनता की यह जवाब तलबी शासन-प्रबंध की प्रत्येक शाखा से संबंधित है।

(७) सिविल सर्विसों का संगठन क्रमिक सोपानों में किया जाता है। इसमें बहुत से स्थान रहते हैं। उनके कर्तव्य होते हैं। और इन्हीं दोनों के अनुसार वेतन नियत रहते हैं। इस प्रकार अधिकारियों और क्लर्कों की बहुत सी श्रेणियाँ रहती हैं।

(८) जहाँ तक नागरिकों का संबंध है सिविल अधिकारी उनके प्रत्यक्ष शासक होते हैं। वे देखते हैं कि क़ानूनों का पालन किया जा रहा है। बाध्य करने की इस प्रवृत्ति से लोग उनसे घृणा करने लगते हैं और वे अप्रिय हो जाते हैं।

(९) सिविल सर्विस को कठोरता की भावना से मुक्त रहनी चाहिये। उन्हें पूर्ण, उत्तम तथा दया-भावना से युक्त होना चाहिये। आधुनिक राज्य आदर्श स्वामी बनने का प्रयत्न करता है और लोग सरकारी नौकरी अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि इसमें स्थायित्व रहता है। न सहकारी और न प्रधान अधिकारी ही एक दूसरे की अथवा अपने मातहतों की बुराई करते हैं। अनुशासन-दंड बहुत कम प्रयोग में लाया

जाता है और नौकरी से लोग निकाले भी बहुत कम जाते हैं। इस प्रकार एक बार सरकारी नौकरी मिल जाने पर हमेशा क़ायम रहती है।

(१०) सिविल अधिकारियों को जनता की प्रशंसा अथवा दोषारोपण की चिन्ता किये बिना पक्षपातशून्य होकर मंत्रियों तथा मंत्रिमंडल की नीति को कार्यान्वित करना चाहिये। चूँकि सरकारी नीति का पालन उनके लिये अनिवार्य है, अतः उन्हें इसका सहायक होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञात रहना[1] और पक्षपातरहित रहना भी सिविल सर्विस की विशेषतायें हैं। चाहे बरसात हो चाहे गर्मी, चाहे करों में वृद्धि हो चाहे कमी, चाहे प्राचीन अधिकार छीन लिये जायँ चाहे उनमें वृद्धि हो, सिविल अधिकारी कभी चिन्ता नहीं करते। वे राज्य-कोष से वेतन पाते हैं और विशेष रूप से निर्मित अपने सुरक्षित विभागों के एकान्त कमरों में अविच्छिन्न, अज्ञात रूप से प्रशंसा से दूर रहकर अपना काम करते हैं।

सारांश

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सर्विस की विशेषताओं का आधार राष्ट्र की महत्वपूर्ण आवश्यकतायें हैं। उनका संगठन लाभ के लिये नहीं किया जाता। उनको सबके साथ बराबरी का व्यवहार करना चाहिये; उन्हें निर्धारित सीमा के अन्दर ही काम करना चाहिये; उन्हें अवैयक्तिक रूप से कार्य-सम्पादन करना चाहिये; अपने कार्यों और निर्णयों के लिये उत्तरदायी होना चाहिये; उनका संगठन सोपानों और वर्गों में होना चाहिये; उन्हें क़ानून के मनवाने के लिये लोगों को विवश करना पड़ता है अतः वे अप्रिय होते हैं; उनमें कठोरता की भावना नहीं रहती और प्रधान अधिकारी तथा मातहत साधारणतः एक दूसरे की बुराई नहीं करते और अनुशासन-दंड तथा बरखास्तगी बहुत कम काम में लाये जाते हैं; अन्त में अधिकारी अपना कार्य पक्षपातशून्य होकर तथा बिना किसी व्यक्तिगत प्रशंसा की इच्छा से करते हैं।

१—बेव्हरिज महोदय के शब्दों में सिविल अधिकारी को दरिद्रता, अज्ञातवास तथा आज्ञापालन की तेहरी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है।

एकतंत्र की आशा पर आधारित फ्रान्सीसी शासन-विधान पर एक टिप्पणी

शासन-प्रबन्ध का केन्द्रीकरण

यह कहा गया है कि सन् १८७१-७५ का फ्रान्सीसी विधान (जो सन् १९३९ तक रहा) एकतंत्र की आशा पर आधारित था। यह कथन एक अर्थ में सत्य है क्योंकि बहुत सी क्रान्तियों के होने और जनतंत्र राज्यों की स्थापना होने पर भी शासन-प्रबन्ध केंद्रित ही रहा और स्थानीय स्वायत्त शासन के कोई चिन्ह ही नहीं दिखलाई पड़े। इस प्रकार राजा के आने से स्वायत्त शासन की जनतंत्रात्मक संस्थाओं में पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी, केन्द्र में केवल शासन के रूप का नाम एकतंत्र से जनतंत्र कर देने से काम बन गया। इसको हम सरलता से समझ सकते हैं यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि आधुनिक काल के आरम्भ में रिचलू (Richelieu) और मैजरिन (Mazarin) ने शासन-प्रबन्ध को इतना केन्द्रित कर दिया था कि लुई चौदहवें ने निर्भय होकर घोषित किया कि 'मैं राज्य हूँ'। जब १८८९ ई० में फ्रान्सीसी क्रान्ति आरम्भ हुई उस समय तक स्टेट्स जनरल (तत्कालीन व्यवस्थापिका) सन् १६१४ से नहीं बुलाई गई थी। न प्रतिनिधि-संस्थाओं का कोई चिन्ह था और न स्थानीय स्वायत्त शासन ही का। क्रान्ति ने अभिजात-वर्ग के विशेषधिकारों को भी समाप्त कर दिया। और जब नैपोलियन बोनापार्ट ने शासन-संगठन किया तो उसने इसको और केन्द्रित कर दिया और प्रीफेक्ट जो प्रान्तीय शासक कहलाते थे, केन्द्रीय सरकार के केवल नौकर मात्र रह गये।

द्वितीय और तृतीय जनतंत्र राज्य

सन् १८१४ ई० में नैपोलियन के पतन के पश्चात् बोरबोन वंश को फिर राज्याधिकार मिला। परन्तु सन् १८३० ई० में फिर क्रान्ति हुई और ओरलियेन्स वंश का लुई फिलिप फ्रान्सीसियों का राजा हुआ। सन् १८४८ की क्रान्ति से उसको भी सिंहासनच्युत कर दिया गया। परन्तु तुरन्त ही लुई नैपोलियन ने अपने को फ्रान्स का सम्राट निर्वाचित करा लिया। उसने सन् १८७० तक राज किया। उसी वर्ष जर्मनी ने फ्रान्स को पराजित किया और उसको भी सिंहासन छोड़ना पड़ा। फ्रान्स तीसरी बार जनतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया।

एकतंत्रवादियों में मतभेद

इस समय नई व्यवस्थापिका सभा में निस्संदेह एकतंत्रवादियों का बहुमत था परन्तु वे एकाएक एकतंत्र की स्थापना के पक्ष में नहीं थे क्योंकि अभी जर्मनी और फ्रान्स के सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर होना बाक़ी था। वे नहीं चाहते थे कि राजवंश एक अपमानपूर्ण सन्धि पर हस्ताक्षर करके अपने को नीचे गिरा दे। इसलिये थिवे (Thieo) का जनतंत्र

का प्रधान चुने जाने में कोई कठिनाई न हुई। उन्होंने जनतंत्र शब्द के प्रयोग में भी कोई आपत्ति नहीं की। केवल इतना ही पर्याप्त नहीं था। स्वयं एकतंत्रवादियों में एकमत नहीं था। कुछ बोरबोन वंशीय काउन्ट डि केम्बर्ड; कुछ ओर्लियेंस वंशीय काउन्ट ऑफ पेरिस और कुछ लुई नैपोलियन के पुत्र के पक्ष में थे। यह सत्य है कि सन् १८७३ में थियें को निकालने के लिये सब मिल गये थे परन्तु उनमें सहयोग न स्थापित हो सका। इसके परिणाम स्वरूप जनतंत्रवादियों की शक्ति बढ़ गई और जब सन् १८७५ में नया विधान बनाया गया तो 'अध्यक्ष' की उपाधि केवल एक मत की अधिकता से स्वीकार कर ली गई।

शासन-परिवर्तन का प्रयत्न

थियें के पश्चात् मेकमोहन (Macmahon) जनतंत्र का अध्यक्ष हुआ। वह बोनापार्टवादी सैनिक था परन्तु बोरबोन वंश के पक्ष में था। इसलिये यह आशा की जाती थी कि वह राजनैतिक झटके (Coup d'etat) से एकतंत्र की स्थापना कर देगा। उसने प्रतिनिधि-भवन को भंग कर दिया। परन्तु निर्वाचन में जनतंत्रवादी ही बहुमत में आये इसलिये वह भी बलात् शासन-सत्ता हस्तगत करने में असफल रहा और उसने पद-त्याग कर दिया। जब सन् १८८७ में जनरल बुलेन्जर (General Boulanger) आया तो उसने राजनीतिक झटके के लिये प्रयत्न किया परन्तु उसको अपनी जीवन-रक्षा के लिये भगना पड़ा।

अवसर की ताक

इससे अब स्पष्ट हो गया कि आरम्भ से यही आशा की जाती थी कि जनतंत्र एक अस्थायी घटना है और अन्त में एकतंत्र की स्थापना होगी। यही कारण था कि सन् १८७५ की सभा में एकतंत्रवादी अध्यक्ष के सप्तवर्षीय कार्य-काल को मान गये थे और उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया था कि वह कितनी ही बार निर्वाचित किया जा सकता है क्योंकि उनका विश्वास था कि किसी उचित अवसर पर वे अध्यक्ष को राजा या सम्राट बना देंगे। उनके लिये भाग्य ही का विषय था कि जनतंत्र में भी शासन-प्रबन्ध केन्द्रित ही रहा। अतः उन्हें स्वायत्त-शासन की संस्थाओं को समाप्त करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ा। जिस वस्तु के लिये वे प्रयत्नशील थे वह था सर्वोच्च पदाधिकारी के नाम में परिवर्तन। वे अध्यक्ष के स्थान पर राजा नाम चाहते थे।

बारहवाँ अध्याय

न्यायकारिणी

न्यायकारिणी का स्थान और महत्व

ब्राइस का कथन है कि 'न्याय व्यवस्था की कार्यक्षमता की अपेक्षा शासन की उत्तमता सिद्ध करने की कोई अन्य उचित कसौटी नहीं है क्योंकि किसी भी वस्तु का एक साधारण नागरिक के हित और उसकी सुरक्षा से इतना गहरा संबंध नहीं है जितना कि उसकी इस भावना का कि उसके साथ एक उचित न्याय तुरन्त ही किया जायेगा। क़ानून का सम्मान तभी होता है जब यह निर्दोष के लिये ढाल के समान और प्रत्येक नागरिक के अधिकार के लिये एक पक्षपात शून्य अभिभावक की भाँति हो। कानून सभी के लिये नैतिकता का मूल्य निर्धारित करता है और फिर यह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ऐसे मूल्य को क़ायम रखता है। परन्तु यदि क़ानून न्याय विरुद्ध लागू किया गया तब तो क़ानून का उद्देश्य ही मारा जाता है। और यदि यह शिथिलता अथवा सनक में लागू किया जाता है तो एक रूपता की गारंटी भंग हो जाती है क्योंकि दंड की कठोरता की अपेक्षा दंड पाने की सम्भावना से अपराध कम होते हैं। यदि अंधकार में न्याय-दीपक बुझ जाय तो आप उस अन्धकार की घोरता की कल्पना कर सकते हैं।'[1] इसी प्रकार सेजविक महोदय शासन-संगठन में न्यायकारिणी के महत्व पर प्रकाश डालते हुये कहते है कि 'राजनैतिक विधान में न्याय-कारिणी का महत्व विशाल होने की अपेक्षा गम्भीर है। एक ओर तो शासन के रूपों और परिवर्तनों की साधारण चर्चाओं में न्याय-अंग बहुधा दृष्टि से परे हो जाता है; दूसरी ओर राजनैतिक विकास में राष्ट्र का स्थान निश्चित करने के लिये क़ानून-विदित न्याय पद्धति के अनुसार दो व्यक्तिगत नागरिकों के मध्य तथा व्यक्तिगत नागरिकों और शासन के मध्य न्याय को कार्यान्वित करने की मात्रा की अपेक्षा कोई दूसरी शुद्ध कसौटी नहीं है।'[2]

नागरिक तथा न्यायकारिणी

इन कथनों से यह स्पष्ट है कि साधारणतः सभी देशों में लोग व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी के निर्माण तथा संगठन में अपनी शक्ति केन्द्रित करते हैं और जान में अथवा अनजान में न्यायकारिणी तथा उसकी कार्य-प्रणाली की उपेक्षा करते हैं। परन्तु फिर भी, जैसा कि मेरियट का कथन है 'शासन के सभी कार्यों में अनिवार्यतः

१. ब्राइस—मॉडर्न डेमोक्रेसीज़, जिल्द २, पृ० ४२१

२. सेजविक—एलिमेंट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स पृ० ४८१

इसका अत्यन्त गहरा संबंध व्यक्तिगत नागरिक के साथ है। कानून-निर्माणक यंत्र चाहे कितना ही विशद हो, कितना ही इसका उत्पादन वैज्ञानिक हो, कितना ही पूर्ण कार्यकारिणी का संगठन हो, फिर भी नागरिक का जीवन विषम हो सकता है; उसका शरीर और उसकी सम्पत्ति दोनों असुरक्षित रहेंगे यदि न्याय-प्रणाली में कोई दोष है, न्याय को कार्यान्वित करने में विलम्ब लगता है अथवा क़ानून की व्याख्या में कोई पक्षपात या गोल-माल होता है। जैसा कि बेकन महोदय का युक्तिपूर्ण कथन है 'क़ानूनों की यातना से अधिक बुरी दूसरी यातना नहीं है'।[1]

सभ्यता की कसौटी के रूप में न्यायकारिणी

परन्तु केवल व्यक्तिगत नागरिक की स्वतंत्रता की दृष्टि से ही न्यायकारिणी महत्वपूर्ण नहीं है। यह एक राष्ट्र की सभ्यता की कसौटी समझी गई है। आधुनिक काल में जहाँ-जहाँ भी यूरोपीय राज्यों को प्रादेशिकेतर अधिकार मिले थे जैसे कि मिस्र, टर्की, चीन और जापान में, वहाँ उनको उन अधिकारों को छोड़ने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ा है क्योंकि इन देशों की न्याय पद्धतियाँ आधुनिक न्याय-विज्ञान के उन्नत सिद्धान्तों पर आधारित नहीं हैं। उन्होंने जापान में इन अधिकारों को तभी छोड़ा जब जापानी न्याय-प्रणाली और क़ानून आधुनिक न्याय-विज्ञान के अनुसार परिवर्तित कर लिये गये थे। उन्होंने अब चीन में भी इन अधिकारों को छोड़ दिया है क्योंकि चीन की न्याय प्रणाली में आवश्यक सुधार कर दिये गये हैं। इसका यह अर्थ है कि आधुनिक सभ्य जीवन में न्याय की प्रकृति, साधन और उसकी प्रणालियाँ एक राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों की दृष्टि में ऊँचे उठाते अथवा नीचे गिराते हैं। लास्की भी यही आशय प्रकट करते हुये कहता है 'स्पष्टतः वे व्यक्ति जिनका कर्त्तव्य न्यायालयों में न्याय करना है, वह विधि जिसके अनुसार उन्हें कार्य करना है, वे प्रणालियाँ जिनके अनुसार उन्हें चुना जाता है, वे शर्तें जिनके आधार पर वे शक्ति ग्रहण किये रहेंगे, ये तथा अन्य तत्संबंधी प्रश्न राजनीतिक दर्शन के भीतर निहित हैं। जब हम यह जानना चाहते हैं कि एक राज्य की न्याय-पद्धति क्या है तो हम इसके द्वारा प्रदर्शित इसकी नैतिक प्रवृत्ति को एक सीमा तक सही समझ सकते हैं'।[2]

न्यायकारिणी के कार्य

हम पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार व्यवस्थापिका क़ानून बनाती है और कार्यकारिणी उसको लागू करती है। न्यायकारिणी का कार्य क़ानून की व्याख्या करना है क़ानून बनाना नहीं। यदि इसको क़ानून बनाने का अधिकार मिल जाये तो यह व्यवस्थापिका के अधिकारों में हस्तक्षेप करने लगेगी। और इस प्रकार इसे क़ानून बनाने तथा उसकी व्याख्या करने का अधिकार हो जायेगा। इसके फलस्वरूप, जैसा कि मॉन्टेस्क्यू का कथन है, भयंकर अत्याचार होगा। ब्लैकस्टन ने भी इसी कथन की पुष्टि

१—मेरियट—दि मेकेनिज़्म ऑफ़ मॉडर्न स्टेट, जिल्द २, पृ० २४५

२—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० ५४१-४२

करते हुये कहता है कि यदि न्यायात्मक शक्ति को क़ानून-निर्माणक शक्ति से जोड़ दिया जायगा तो नागरिकों का जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति स्वेच्छाचारी न्यायाधीशों के हाथों में हो जायेंगे जिनके निर्णयों के आधार उनकी अपनी इच्छायें होंगी क़ानून के कोई मूल-सिद्धान्त नहीं।

क़ानून-निर्माणक के रूप में न्यायकारिणी

इसका यह अर्थ हुआ कि शासन के विभिन्न अंगों के मध्य शक्ति-विभाजन होना चाहिये। परन्तु जैसा कि हम इसी पुस्तक के छठवें अध्याय में देख चुके हैं पूर्ण, शक्ति-विभाजन असम्भव है अतः व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्याय-कारिणी तीनों शक्तियाँ एक सीमा तक एक दूसरे का कार्य करेंगी। जहाँ तक न्याय-कारिणी का संबंध है इसका वास्तविक कार्य क़ानून की व्याख्या और उसकी घोषणा करना होगा। परन्तु यह सम्भव है कि इसके निर्णयों तथा खोजों से नया क़ानून बन जाय। लीकॉक का कथन है कि व्यावहारिक रूप में न्ययात्मक निर्णय केवल घोषणात्मक होने की अपेक्षा बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं। उनमें निर्माणात्मक तत्व रहता है और वे तत्कालीन क़ानून को उसकी विशद व्याख्या करके विस्तृत कर देते हैं। क्योंकि किसी भी क़ानून की व्यवस्थायें इतनी विस्तृत नहीं रहती हैं कि इसके अनुसार सभी परिस्थितियों में विचार सम्भव हो। अगर किसी विषय में क़ानून चुप हो तो ऐसी अवस्था में न्याया-धीश का यह कर्तव्य होता है कि वह क़ानून का युक्ति पूर्ण अर्थ निकाले इस अर्थ को साधारण नैतिकता और जन-नीति के सिद्धान्तों के अनुरूप होना चाहिए। इंगलैंड और अमरीकी संयुक्त राज्य ऐसे देशों में यह सिद्धान्त अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया जाता है। वहाँ जो निर्णय एक बार कर दिये जाते हैं वे भविष्य के निर्णयों के लिये दृष्टान्त का काम करते हैं। यद्यपि ऐसे दृष्टांतों को मानना पूर्ण रूप से अनिवार्य नहीं होता परन्तु जहाँ परिस्थितियों में साम्य पाया जाता है वहाँ उनका समर्थन किया जाता है। इस प्रकार न्याय-प्रणाली क़ानून-निर्माण का पूरक हो जाती है और वर्तमान क़ानून का एक बहुत बड़ा अंश न्यायाधीशों द्वारा बनाया हुआ कहा जाता है।'[1] गिलक्राइस्ट भी इस मत का समर्थन करता है जब वह कहता है कि न्यायाधीश 'प्रारम्भिक रूप में क़ानून की व्याख्या करने वाला होता है। फिर भी कोई क़ानून जब बनाया जाता है, तो यह आशा नहीं की जा सकती कि यह अपने क्षेत्र में आने वाली सभी सम्भावी परिस्थितियों के लिये पर्याप्त होगा। बहुधा न्यायाधीशों को ऐसे मामलों में निर्णय देना पड़ता है जिनमें कोई स्पष्ट क़ानून लागू नहीं हो सकता। ऐसे मामले न्याय तथा साधारण ज्ञान के आधार पर तय किये जाते हैं। इस प्रकार ये दृष्टान्त बनते हैं। इन्हीं दृष्टान्तों के अनुसार दूसरे न्यायाधीश ऐसे मामलों में निर्णय देते हैं। इस प्रकार न्यायाधीश क़ानून-निर्माता और क़ानून की व्याख्या करने वाले दोनों हो जाते हैं'।[2]

१—लीकॉक—एलिमेंट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० १९९-२००,

२—गिलक्राइस्ट—प्रिंसपिल्स ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस, पृ० ३१४

अमरीका और इंगलैंड में दाष्टान्तिक क़ानून

परन्तु राज्य के न्याय-अंगों का कार्य वर्तमान क़ानूनों की केवल व्याख्या करना ही नहीं है। वे मुक़दमों को तय करके क़ानून भी बनाते हैं। और यह क़ानून दाष्टान्तिक क़ानून (Case-law) कहलाता है। यह निसन्देह सत्य है कि न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित क़ानून की प्रकृति से उसका कोई संबंध नहीं रहता। चाहे वह अच्छा हो अथवा बुरा, नैतिक हो अथवा अनैतिक। उसका कर्तव्य तो केवल उस क़ानून के आधार पर न्याय करना है जो है, न कि ऐसे क़ानून के आधार पर जिसे होना चाहिये। परन्तु जब न्यायाधीश के समक्ष आने वाला कोई प्रश्न क़ानून की पहुँच के बाहर रहता है अथवा उसके संबंध में क़ानून कुछ नहीं कहता तो उसका यह कार्य नहीं है कि वह हाथ समेट कर बैठ जाये। उसको रिक्त स्थान की पूर्ति करनी पड़ती है; उसे अपनी बुद्धि और विवेक से उस विशेष प्रश्न को सुलझाना पड़ता है। ऐसी ही परिस्थितियों के संबंध में अमरीका के न्यायाधिकारी होम्स महोदय (Justice Holmes) का कथन है कि 'न्यायाधीश क़ानून-निर्माण करते हैं और उन्हें करना भी चाहिये।' डाइसी ने इसे न्यायाधीशों की वास्तविक क़ानून-निर्माणक शक्ति कहा है।

फ्रांस

परन्तु दाष्टांतिक क़ानून बनाने की यह प्रथा व्यापक नहीं है। प्रो० स्ट्रांगका कहना है कि फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय देशों में 'न्यायाधीशों को दाष्टांतिक क़ानून बनाने से स्पष्ट रूप से मना किया गया है।'[1] उन्हें साधारणतः व्यवस्थापिका-निर्मित क़ानून का अनुसरण करना पड़ता है। जहाँ कोई मामला ऐसे क़ानून की पहुँच के अन्दर नहीं आता वहाँ न्यायाधीश निर्णय तो दे देता है परन्तु यह भविष्य में आने वाले मामलों पर किसी तरह भी लागू किया जाने के लिये बाध्य नहीं है। अमरीका और इंगलैंड में यह भविष्य के लिये एक अच्छा क़ानून समझा जायेगा।

न्यायकारिणी के अन्य पाँच कार्य

न्यायकारिणी के कार्य क़ानून की व्याख्या करने और दाष्टांतिक क़ानून बनाने के बाद ही नहीं समाप्त हो जाते। न्यायाधीशों को अधिकार निश्चित करके उनको तय करना पड़ता है; अपराधों के लिये दंड देना पड़ता है, न्याय को कार्यान्वित करना पड़ता है, निरपराधियों की स्वत्वापहरण तथा बलात्कार से रक्षा भी करनी पड़ती है। विलोबी का कथन है कि 'साधारण लोगों की समझ में विवादों का निपटारा करने के अतिरिक्त न्यायालय कुछ नहीं करते। परन्तु यह अत्यन्त भ्रमपूर्ण धारणा है। यदि कोई गहराई में जाये तो पता चलेगा कि न्यायालय विवादों का निपटारा करते समय किसी विशेष झगड़े को तय करने के अतिरिक्त बहुत से अन्य महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। विश्लेषण से प्रकट होता है कि वे ये कार्य करते हैः (१) तथ्यों की खोज करके उनको निश्चित करना, (२) निश्चत किये हुये तथ्यों में क़ानून लागू करना, (३) क़ानून को निश्चित

१—स्ट्रांग—मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्, पृ० २६२

करना तथा उसकी व्याख्या करना (४) क़ानून पर के आघात तथा स्वत्वापहरण को रोकना तथा (५) सम्पत्ति का प्रबन्ध करना।[1]

इस प्रकार सर्वप्रथम तथ्यों की खोज में वे पक्षों से प्रमाण उपस्थित करने के लिये कहते हैं। वे साक्षियों को सुनते हैं और सभी तत्संबंधी आवश्यक लेखों तथा प्रमाण-पत्रों को देखते हैं और तब सारे मामले की सचाई जानने का प्रयत्न करते हैं।

दूसरे, सचाई मालूम कर लेने के पश्चात् वे क़ानून को लागू करते हैं और अपना निर्णय देते हैं।

तीसरे, बहुत से मामलों में ऐसा भी हो सकता है और बहुधा होता भी है कि ज्ञात क़ानून की पहुँच के भीतर सभी परिस्थितियाँ नहीं आतीं। अतः क़ानून नहीं लागू हो सकता। ऐसी अवस्था में, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, न्यायाधीश मामलों को तय करने में अपने ज्ञान और बुद्धि का उपयोग करते हैं। कभी-कभी तो उन्हें तत्संबंधी क़ानूनों के वास्तविक अर्थ को निश्चित करना पड़ता है और इस प्रकार उन्हें अपना परामर्शात्मक विचार प्रकट करना पड़ता है।

चौथे, ऐसे आदेश निकालना पड़ता है जिनके द्वारा वे एक पक्ष को, अथवा पक्षों को मामले को आगे बढ़ाने से उस समय तक के लिये रोक देते हैं जब तक कि वे (न्यायाधीश) उस पर पूरी खोज कर के विचार न करलें। यदि ऐसे आदेशों की उपेक्षा की जाती है तो उस पक्ष को जो इनका पालन नहीं करता, न्यायालय की मान-हानि के अपराध में दंड दिया जाता है।

अन्त में कभी-कभी न्यायालयों को सम्पत्ति के प्रबन्ध का भार लेना पड़ता है। वे प्रबन्धक नियुक्त कर देते हैं। क्योंकि यदि किसी पक्ष के हाथ में वह सम्पति रहती है तो वह उसका अनुचित उपयोग करेगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि न्यायाधीशों का कार्य मामलों की छान-बीन करना तथ्यों को निश्चित करना, मामले को तय करना, क़ानून निश्चित करके लागू करना और अपना निर्णय देना है।

न्यायकारिणी का एक दूसरा कार्य

परन्तु इतने ही से न्यायकारिणी के कार्य समाप्त नहीं हो जाते हैं। प्रतीत तो ऐसा होता है कि न्यायाधीशों का कार्य एक व्यक्ति तथा नागरिक समुदायों के मध्य पैदा होने वाले झगड़ों को तय करना है। परन्तु उन्हें नागरिकों और राज्य के मध्य पैदा होने वाले विवादों को भी तय करना पड़ता है। इसका यह अर्थ है कि न्यायाधीशों को कार्यकारिणी[2] और व्यवस्थापिका के कार्यों के औचित्य पर भी विचार करना पड़ता है

१—विलोबी—गवर्न्मेंट्स ऑफ़ मॉडर्न स्टेट्स, पृ० ४०४

२—ऐसेही विचार के लिये लास्की कृत ए ग्रैमर ऑफ़ पालिटिक्स, पृ० २९५ पढ़िये

और बहुधा उन्हें घोषित करना पड़ता है कि इनके कार्य अवैधानिक हैं अथवा उनके अधिकार-क्षेत्र से परे हैं।

न्यायकारिणी और व्यवस्थापिका का संबंध

जैसा कि हम देख चुके हैं व्यवस्थापिका साधारणतः क़ानून बनाती है, कार्यकारिणी उसको लागू करती है और न्यायकारिणी उसकी व्याख्या करती है। परन्तु व्यावहारिक रूप में ये तीनों अंग एक दूसरे के आश्रित होते हैं। यह सच है कि व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी ने दार्शनिकों तथा राजनीतिज्ञों का ध्यान अधिक आकृष्ट किया है और साधारणतः न्यायकारिणी की उपेक्षा की गई है। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि यह शासन का सबसे कम महत्वपूर्ण अंग है। वास्तव में यह व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की अभिभाविका और स्वयं विधान की रक्षिका है। टाफ्ट महोदय (Taft) का कथन है कि 'कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका लोगों के बहुमत की प्रतिनिधि-संस्थायें होती हैं जो उनका निर्वाचन विधान की सीमाओं के अन्दर शासन-कार्य का निर्देशन करने के लिये करते हैं ...... परन्तु इस अर्थ में न्यायकारिणी प्रतिनिधि-संस्था नहीं होती चाहे वह मनोनीत हो अथवा निर्वाचित। जिस समय से यह अपना कार्य आरम्भ करती है इसका कर्तव्य सामने आये हुये क़ानून को लागू करना रहता है। इसका कार्य अपनी इच्छानुसार व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये वैध क़ानूनों की केवल व्याख्या करना और उनका कार्यान्वित करना ही नहीं है वरन् जब व्यवस्थापिका विधान द्वारा निर्धारित अपनी सीमाओं का उल्लंघन करती है तो शासन के न्याय-अंग का यह कार्य रहता है कि वह बुनियादी तथा वैधानिक क़ानून द्वारा उसके आक्रामक क़ानून को रद्द घोषित कर दे। इस प्रकार व्यवस्थापिका के संबंध में इसका यह कर्तव्य है कि यह देखे कि व्यवस्थापिका विधान द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर ही काम करे। परन्तु ऐसा उन्हीं देशों में सम्भव है जहाँ लिखित विधान पाये जाते हैं और व्यवस्थापिका के अधिकार विधान में निश्चित कर दिये गये हैं जैसा कि अमरीकी संयुक्त राज्य में है। संघ राज्यों में न्यायकारिणी विधान के अभिभावक का भी कार्य करती है जहां कि इसे केन्द्रीय शासन और सदस्य राज्यों के शासनों के मध्य उत्पन्न होने वाले झगड़ों को तय करना पड़ता है। जैसा कि आप पहले देख चुके हैं इसको पारिभाषिक रूप से न्यायकारिणी की प्रधानता कहते हैं। परन्तु एकात्मक राज्यों में व्यवस्थापिका का ही बोलबाला रहता है। इस प्रकार इंगलैंड में पार्लिमेंट की सत्ता स्वतंत्र है और उसके द्वारा बनाये हुये क़ानूनों को न्यायालय अवैधानिक नहीं घोषित कर सकते। परन्तु वे प्रान्तीय सभाओं ऐसी संस्थाओं के उन सभी क़ानूनों को नाजायज़ करार दे सकती है जो देश के क़ानून के विरुद्ध जाते हैं।

न्यायकारिणी और कार्यकारिणी का संबंध

इसी प्रकार न्यायकारिणी का कार्यकारिणी से भी संबंध है। जैसा कि आप अभी अगले पृष्ठों में देखेंगे। न्यायकारिणी की आलोचना से कार्यकारिणी सुव्यवस्थित।

बनी रहती है जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्तिगत स्वातंत्र्य सुरक्षित रहता है। यह सच है कि न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ कार्यकारिणी ही करती है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हैं कि ये उसके सेवक हैं। चूँकि जब तक उनका आचार शुद्ध रहता है उनका पद सुरक्षित रहता है इसलिये वे स्वतंत्रतापूर्वक और ईमानदारी से अपना कार्य कर सकते हैं। परन्तु न्यायकारिणी का कार्य कार्यकारिणी के कार्यों की व्यर्थ आलोचना नहीं होना चाहिये। इसका कार्य क़ानून की व्याख्या करनी है और इसको इस अधिकार के बाहर न जाना चाहिये। इसी प्रकार यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रबन्धक अधिकारी न्यायात्मक कार्य न करने पावे जैसे भारतवर्ष में जहाँ जिलाधीश (District Magistrate) न्यायात्मक कार्य भी करता है। भारतीय प्रेस भारतीय सिविल सार्विस में से न्यायाधीशों की नियुक्तियों के विरुद्ध ठीक ही आन्दोलन कर रहा है, परन्तु देश के प्रधान को अपराध क्षमा करने का अधिकार देना उचित है क्योंकि ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं अथवा ऐसे तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं जब कि क्षमा-प्रदान करना आवश्यक तथा उचित हो जाता है।

न्यायाधीशों की क़ानूनी योग्यता

जहाँ तक व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी का संबंध है साधारणतः विभिन्न योग्यता वाले तथा विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति चुन लिये जाते हैं। परन्तु उनमें विशेषज्ञता नहीं पाई जाती जिससे वे अपने कार्य के लिये अधिक उपयुक्त हो सकें। परन्तु न्यायकारिणी की दूसरी ही बात है। हम किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के रूप में तब तक नहीं निर्वाचित अथवा नियुक्त कर सकते जब तक वह क़ानून की पूर्ण शिक्षा न पाये हो और न्याय-विज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का विशारद न हो। इसका अर्थ यह हुआ कि न्याय का कार्य वही लोग कर सकते हैं जो अपना जीवन क़ानून के अध्ययन में गुज़ार चुके हैं और क़ानून को जानने और उसकी व्याख्या करने की योग्यता प्राप्त कर चुके हैं।

नियुक्ति-प्रणालियाँ

आधुनिक राज्यों में न्यायाधीशों को नियुक्त करने की विभिन्न प्रणालियाँ प्रचलित हैं। या तो जनता न्यायाधीशों को प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा निर्वाचित करती है या व्यवस्थापिका निर्वाचित करती है अथवा कार्यकारिणी मनोनीत अथवा नियुक्त करता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा न्यायाधीशों को नियुक्त करने की प्रणाली अमरीका के संयुक्त राज्य के बहुत से राज्यों में अब भी प्रचलित है। व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीश निर्वाचित करने की प्रणाली संयुक्त राज्य के चार राज्यों मे तो है ही, स्विटज़रलैंड में भी संघ-न्यायालय के न्यायाधीश वहाँ की संघ-सभा द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

---

१. प्रधान के क्षमा-प्रदान के अधिकार के पक्ष की तीन दलीलों के लिये लास्की कृत 'ए ग्रैमर ऑव पलिटिक्स पृ० ६०१ पढ़िये।

नियुक्त करने की प्रणाली का अनुसरण संसार के बहुत से देशों में किया जाता है। इंगलैंड में न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ लार्ड चैंसलर करता है और अमरीकी संयुक्त राज्य में अध्यक्ष (सेनेट की स्वीकृति के साथ)।

सार्वजनिक निर्वाचन द्वारा नियुक्ति की आलोचना

इन प्रणालियों में जनता द्वारा निर्वाचित करने की प्रणाली सबसे बुरी समझी गई है। क्योंकि यह कहा जाता है कि सर्व प्रथम, साधारण जनता प्रतियोगी उम्मीदवारों की वास्तविक योग्यताओं से परिचित नहीं हो सकती। वह उसी को निर्वाचित करेगी जिसने विभिन्न उपायों से अपने को लोकप्रिय बना लिया है। इसका यह अर्थ है कि अयोग्यता घर कर जायेगी और न्याय-विभाग की उत्तमत्ता की प्रवृत्ति समाप्त हो जायेगी क्योंकि निम्न कोटि के व्यक्ति अपने को निर्वाचित करा लेंगे।

दूसरे न्यायाधीशों का निर्वाचन भी राजनैतिक दल बन्दी के आधार पर होने लगेगा। इस प्रकार पक्षपात ऐसी बुराइयाँ जो दलबन्दी की; सहचरी हैं न्याय-विभाग में भी आ जायेंगी। न्यायाधीश अपनी विचार तथा आचार स्वतंत्रता क़ायम न रख सकेगा क्योंकि कि वह जानता है कि उसका पदस्थ रहना और पुन: निर्वाचित किया जाना एक राजनैतिक दल के अधीन है? ऐसा न्यायाधीश अवश्य ही अशक्त होगा और कभी भी पक्षपात-शून्य नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि निर्वाचन न्यायाधीश की शक्ति, विद्वत्ता, आचरणशीलता, ईमानदारी, निष्पक्षता तथा स्वतंत्रता को समाप्त कर देना है।

तीसरे, निर्वाचन द्वारा न्यायाधीशों को चुनने की प्रणाली में एक और भी दोष है। व्यवस्थापिका के निर्वाचन-काल में उम्मीदवार और राजनैतिक दल अपनी-अपनी योग्यतायें तथा अपने कार्य-क्रम जनता के सामने रखते हैं। परन्तु न्यायात्मक निर्वाचन में किस प्रकार आचरणशील तथा महान् उद्देश्य वाले व्यक्ति ऐसा कर सकते हैं? वे इसको प्रतिष्ठा के विरुद्ध और घृणित समझेंगे और इस प्रकार निर्वाचन के लिये खड़े ही नहीं होंगे। इसका यह तात्पर्य है कि शासन को ऐसे सुयोग्य और महान् व्यक्तियों से हाथ धोना पड़ेगा जो न्याय के हित में अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन-नियुक्ति की आलोचना

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन-नियुक्ति को भी साधारणत: कई कारणों से समर्थन नहीं मिला। सर्व प्रथम, यदि न्यायाधीश की नियुक्ति का आधार उसकी क़ानूनी योग्यता है तो व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन से सुयोग्य व्यक्ति की नियुक्ति सम्भव नहीं है। यह सच है कि जब व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन होगा तो इतनी गड़बड़ी और अव्यवस्था की गुंजायश नहीं रहेगी जितनी कि साधारण निर्वाचन में सम्भव है।

दूसरे, व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन में राजनैतिक दलों का दबाव पड़ेगा। इस प्रकार उम्मीदवार अपनी क़ानूनी दक्षता अथवा न्याय-विशारदता की अपेक्षा दल-राजनीति के आधार पर अधिक चुने जायें।

तीसरे, व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन होने से तो यह आवश्यक प्रतीत होता है कि न्यायाधीश इसके सामने अपनी अधीनता अनुभव करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि न्यायकारिणी की स्वतंत्रता को एक कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इस स्वतन्त्रता के खो जाने की सम्भावना भी रहेगी।

यद्यपि न्यायाधीशों को निर्वाचित करने की इस प्रणाली में इतने बड़े दोष नहीं हैं जितने कि प्रत्यक्ष-निर्वाचन में दिखलाई पड़ते हैं फिर भी यह उपयुक्त नहीं है क्योंकि इससे कार्यकारिणी की सुयोग्यता मारी जायेगी। इसमें न केवल वास्तविकयोग्य उम्मीदवारों के समक्ष निम्नकोटि के व्यक्तियों के ही निर्वाचित हो जाने की सम्भावना हैं, वरन इसकी पूरी व्यवस्था उन व्यक्तियों में अयोग्यता, अशक्ति यहाँ तक कि अधीनता ला देगी जिनके लिये अधिक से अधिक ईमानदारी, आचरणशीलता और विचार-स्वातंत्र्य की आवश्यकता होती है।

कार्यकारिणी द्वारा नियुक्ति की आलोचना

यद्यपि कार्यकारिणी द्वारा नियुक्ति की जाने का सिद्धान्त साधारणतः अधिकतर आधुनिक राज्यों में पाया जाता है परन्तु यह भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। यह कहा गया है कि इंगलैंड में लार्ड चैंसलर द्वारा और फ्रांस में (१९३९ से पूर्व) न्याय-मंत्री द्वारा की हुई नियुक्ति में भी दल का प्रभाव हो सकता है क्योंकि आखिरकार मंत्रि-मंडल के ये पदाधिकारी किसी न किसी दल के सदस्य तो रहते ही हैं। वे वास्तव में योग्य और प्रसिद्ध व्यक्तियों को छोड़कर अपने पक्ष के लोगों को नियुक्त कर सकते हैं। परन्तु और प्रणालियों की अपेक्षा बेईमानी की इसमें कम सम्भावना है। अमरीकी विधान में यह व्यवस्था की गई है कि अध्यक्ष के द्वारा की गई नियुक्तियों (जैसे प्रधान न्यायालय के न्यायाधीश) के लिये सेनेट की स्वीकृति आवश्यक है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि अध्यक्ष पक्षपात अथवा अन्याय करता है तो सेनेट के सामने वह नहीं चल पाता। परन्तु व्यावहारिक रूप में यदि अध्यक्ष और सेनेट एक ही राजनैतिक दल के होते हैं तो वे जिन नियुक्तियों को करेंगे उनमें दल की छाप अवश्य लगी रहेगी।

लास्की की सुझाव

ऐसे दोषों को दूर करने के लिये लास्की ने कुछ उत्तम सुझाव रक्खे हैं। उसकी राय है कि न्याय-मंत्रियों अथवा अध्यक्ष को न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ न्यायाधीशों की एक ऐसी स्थायी-समिति की सिफ़ारिश पर करनी चाहिये जिसमें उनके कार्य के सभी पक्षों का प्रतिनिधित्व हो।[1] ऐसा इसलिये होना चाहिये क्योंकि वकीलों को जितना वे जानते हैं उतना बहुत कम व्यक्ति जानते हैं। उनके लिये राजनैतिक प्रतिष्ठा से प्रभावित होने की सम्भावना नहीं है। उनका पद ऐसा है कि वे ऐसे योग्य व्यक्ति को चुनेंगे जो न्याय-कार्य में सफल होगा। उनके चुनाव में इस बात की गारंटी रहेगी कि जितनी भी नियुक्तियाँ होंगी उनका आधार पद की आवश्यकतायें ही होंगी।

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ़ पॉलिटिक्स, पृ० ५४८

भारतीय प्रणाली

इस प्रकार यदि इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नियुक्ति-पद्धति कार्यकारिणी द्वारा अपनी इच्छानुसार मनोनीत करने की प्रणाली से उत्तम है। क्योंकि यहाँ पर न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ प्रधान न्यायालय (High Court) के प्रधान न्यायाधीश (जिसकी द्वारा सुझाई हुई स्थायी-समिति की अनुपस्थिति में) की सिफ़ारिश के आधार पर सम्राट करता है।

न्यायाधीशों की अवधि

न्यायाधीशों के चुनाव के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण विषय उनकी अवधि है। यदि न्यायाधीश अल्प-अवधि (मान लो दो, तीन अथवा चार वर्ष) के लिये निर्वाचित किये जाते हैं तो इसका यह अर्थ यह होगा कि निर्वाचन-पद्धति के दोषों को और प्रोत्साहन मिलेगा। न्यायाधीश न्याय न करके लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करेंगे। क्यों कि सदैव उनकी आँखों के सामने पुनर्निर्वाचन नाचता रहेगा। इससे केवल न्यायकारिणी की ईमानदारी और प्रतिष्ठा पर ही आघात नहीं होगा वरन् न्यायाधीश भी निडर और स्वतंत्र नहीं रह सकेंगे। जब वे निर्वाचन करने वाली जनता का मत अपनी ओर करने का प्रयत्न करेंगे तो वे स्वभावतः षड्यंत्रों और दलबन्दी में भाग लेंगे जिसके परिणाम-स्वरूप उनके निर्णय पक्षपातपूर्ण और असंगत होंगे। इसी प्रकार यदि न्यायाधीशों को दीर्घ अवधि के लिये (मान लीजिये बीस वर्ष अथवा ज़िन्दगी भर के लिये) निर्वाचित किया जायेगा तो एक बुरे और भ्रष्ट न्यायाधीश को निकालने में बहुत अधिक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। ऐसे महत्वपूर्ण कार्य के लिये एक अनुपयुक्त व्यक्ति का रखना असंगत होगा।

आसुचरित्र अवधि

इसीलिये आधुनिक समय में न्यायाधीश तब तक के लिये नियुक्त किये जाते हैं जब तक उनका चरित्र ठीक रहता है। इससे उनका कार्यकाल सुरक्षित हो जाता है और उन्हें स्वतंत्र निर्णय देने का अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त इससे आजीवन अवधि और अल्प अवधि के दोषों से छुटकारा मिल जाता है। हैमिल्टन महोदय का कथन है कि "न्यायाधीश के पद में स्थित रहने के लिये सुचरित्रता की माप निसंदेह शासन-प्रणाली की आधुनिक बहुमूल्य विशेषताओं में से एक है। एकतंत्र में तो राजा की स्वेच्छाचारिता को रोकने का यह अच्छा साधन है, जनतंत्र में प्रतिनिधि सभा की मनमानियों और अधिकारापहरण को रोकने के लिये भी उतना ही लाभदायक प्रतिबन्ध है; किसी भी प्रकार के शासन में यह क़ानून-संबंधी दृढ़ता, ईमानदारी और निष्पक्षता स्थापित करने का सर्वोत्तम उपाय है। वर्तमान समय में इस ओर भी ध्यान गया है कि जिस प्रकार पहले निरंकुश राजाओं की इच्छानुसार न्यायाधीश अलग कर दिये जाते थे वैसे अब नहीं निकाले जाने चाहिये। अमरीका में उनको कांग्रेस के द्वारा अभियोग चलाये जाने पर निकाला जाता है और इंगलैंड में भी राजा किसी न्यायाधीश को तभी

अलग करता है जब पार्लिमेंट की दोनों सभायें उस उद्देश्य से प्रार्थना करती हैं। लास्की का विचार है कि एकसभात्मक व्यवस्थापिका वाले देश में यदि दोतिहाई सदस्य उनको अलग करने में एकमत हैं तो कार्यकारिणी को चाहिये कि उन्हें निकाल दे। अमरीका के कुछ राज्यों में जन-मत के आधार पर भी न्यायाधीश निकाले जाने लगे हैं। इस प्रकार निकालने की प्रणाली को पारिभाषिक रूप में 'वापसी' कहा जाता है। परन्तु यह पद्धति भी बुरी समझी गई है क्योंकि यह एक शक्तिशाली और स्वतंत्र न्यायाधीश के विरुद्ध पड़ती है।

न्यायाधीशों का वेतन

न्यायाधीशों को निकालने की प्रणाली में इस प्रतिबंध अर्थात् अवधि के स्थायित्व के अतिरिक्त ब्राइस का कथन है कि न्यायाधीश की योग्यता तथा विद्वत्ता और न्याय-प्रियता तथा स्वातंत्र्य पद के उज्जवल भविष्य के आश्रित हैं। अल्प वेतन वाली न्याय-कारिणी न तो योग्य और प्रख्यात व्यक्तियों को आकृष्ट कर सकेगी और न अपनी प्रतिष्ठा ही पूर्णरूप से क़ायम रख सकेगी। इसीलिये लास्की न्यायाधीश के लिये ऊँचे वेतन की शिफ़ारिश करता है जिससे उसका सामाजिक स्थान तथा रहन-सहन विश्वास उत्पन्न कर सकें और वकील-वर्ग के वास्तविक योग्य तथा उपयुक्त व्यक्तियों को आकर्षित कर सके। स्विटजरलैंड और फ्रान्स में न्यायाधीशों का वेतन कम रहा है। परन्तु भारत-वर्ष में न्यायाधीशों का वेतन काफ़ी ऊँचा है और उनका पद निश्चय रूप से योग्य वकीलों को आकृष्ट करता है, सम्मान तथा विश्वास उत्पन्न करता है और घूसखोरी ऐसी बुराइयों की ओर झुकने से रोकता है।

न्यायाधीशों का अवकाश-ग्रहण

आजीवन अथवा आसुचरित्र अवधि की समस्या के साथ अवकाश ग्रहण करने का प्रश्न भी बँधा हुआ है। हो सकता है कि न्यायाधीश सुचरित्र हो परन्तु फिर भी वह बुढ़ापा, निर्बलता अथवा रोग के कारण व्यर्थ हो सकता है। प्रत्येक देश में एक विशेष आयु प्राप्त कर लेने पर अवकाश ग्रहण करने की अनुमति है और जब तक वह व्यक्ति जीवित रहता है उसको पेंशन मिलती रहती है। भारतवर्ष में अवकाश ग्रहण करने की आयु साधारणतः साठ वर्ष निश्चित करदी गई है।[1]

स्वतंत्र न्यायकारिणी के साधन

संक्षेप में हम कह सकते है कि उपरोक्त व्यवस्थाओं—कार्यकारिणी द्वारा न्याया-धीशों की नियुक्ति, आसुचरित्र अवधि, उच्च वेतन तथा उनके अवकाशग्रहण करने की व्यवस्था से स्वतंत्र तथा प्रतिष्ठित न्यायकारिणी को स्थापना हो सकेगी क्योंकि न्याया-

---

१ लास्की अपनी पुस्तक 'ए ग्रैमर ऑव पॉलिटिक्स के पृष्ट ५५६ में कहता है कि अवकाश ग्रहण करने कीआयु सत्तर वर्ष होनी चाहिये। विद्यार्थी उसकी दलील को स्वयं पढ़ सकते हैं।

धीश अपने कर्तव्य का पालन निर्भय होकर अपनी योग्यतानुसार ईमानदारी तथा सच्चाई के साथ करेंगे। विलोबी का भी यह विचार है कि एक स्वतंत्र न्यायकारिणी की स्थापना तभी हो सकेगी जब न्यायाधीशों के चुनाव में उनके राजनैतिक संबंधों पर विचार नहीं कियाजायेगा, जब वे एक बार चुन लिये जायेंगे तो उनके कार्य-की अवधि दीर्घ, अजीवन अथवा आसुचरित्र रहेगी ; जब कि कार्यकारिणी उनकों निकाल नहीं सकेगी वरन् व्यवस्थापिका की दोनों सभाओं द्वारा उनके कुचरित्र के विरुद्ध अभियोग चलाने पर अथवा उनके प्रार्थना करने पर निकाला जायेगा तथा उनके कार्य-काल में उनका वेतन अथवा भत्ता कम नहीं किया जावेगा[1]।

न्याय संगठन के सिद्धान्त

न्यायाधीशों की विशेषता तथा उनके गुणों का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम न्याय-संगठन के सिद्धान्त पर भी विचार कर सकते हैं।

सिविल और फौजदारी न्यायालय

सर्व प्रथम, जहां तक क़ानून का संबंध है यह साधारणतः दो भागों में बँटा हुआ है। पहला सिविल क़ानून है और दूसरा फौजदारी क़ानून। इसीलिये न्यायालयों का संगठन भी सिविल न्यायालयों और फौजदारी न्यायालयों में किया गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राजस्व-न्यायालय, सैनिक न्यायालय, सामुद्रिक न्यायालय तथा प्रबन्धात्मक न्यायालय होते ही नहीं। इन न्यायालयों की स्थापना विशेष समस्याओं के संबंध में की जाती है। कोनरड गिल (Conord Gill) का कथन है कि 'लगभग सारा क़ानून चाहे साधारण हो अथवा वैध, फौजदारी तथा सिविल वर्गों के अन्दर आ जाता है। सारे क़ानून जो व्यक्तियों के आपसी झगड़ों को तय करने के निमित होते हैं सिविल शाखा के अन्तर्गत आ जाते हैं। सिविल और फौजदारी मामले भिन्न-भिन्न रूप से चलाये जाते हैं, भिन्न-भिन्न न्यायालयों में रक्खे जाते हैं और भिन्न-भिन्न नियमों के अनुसार तय किये जाते हैं। इनमें मुख्य अन्तर यह है कि पहले प्रकार के मामले में एक अकेला व्यक्ति जो वादी कहलाता है उस क्षति की पूर्ति के लिये प्रयत्न करता है जिसके संबंध में उसका दावा है कि दूसरे व्यक्ति प्रतिवादी ने पहुँचाई है। परन्तु दूसरे प्रकार के मामले में जनता की ओर से अभियोग चलाया जाता है। इस आधार पर कि अभियोगी व्यक्ति ने क़ानून के विरुद्ध कार्य किया है, और चूँकि क़ानून जनता के हित के लिये बनाया गया है इसलिये उसने जन-हित के विरुद्ध काम किया है[2]। इस प्रकार उदाहरण-स्वरूप यदि एक व्यक्ति जिसने मेरे साथ किसी विशेष वस्तु के बेचने के लिये समझौता किया है, समझौते को तोड़ देता है तो वह मेरी सिविल क्षति करता है और मैं क्षति पूर्ति के लिये सिविल न्यायालय में मामला उपस्थित करूँगा। परन्तु यदि एक व्यक्ति किसी दूसरे की घड़ी चुराता है अथवा क़त्ल करने का प्रयत्न करता है तो दोनों

---

१. विलोबी—गवर्न्मेंट ऑव मॉडर्न स्टेट, पृ० ४३४

२. कोनरड गिल—गवर्न्मेंट एन्ड पीपुल, पृ० १४२

दिशाओं में पुलिस उसको गिरफ़्तार करेगी। इसलिये नहीं कि उस व्यक्ति की जो घड़ी का मालिक है, क्षति पूर्ति की जायेगी क्योंकि उसको व्यक्तिगत हानि पहुँचाई गई है, परन्तु इसलिये कि पूरे समाज के विरुद्ध अपराध किया गया है। ये अपराध केवल व्यक्ति के विरुद्ध न होकर सार्वजनिक जीवन तथा क़ानून और शान्ति के विरुद्ध होते हैं। अतः ऐसे मामलों में वह व्यक्ति जिसका अपराध किया गया है अभियोग नहीं चलायेगा और न उसकी क्षति पूर्ति ही की जायेगी वरन् स्वयं राज्य अभियोग चलायेगा। यदि घड़ी मिल जाती है तो वह मालिक को अवश्य लौटा दी जायेगी किन्तु फिर भी चोर को दंड दिया जायेगा क्योंकि उसने सम्पूर्ण समाज के विरुद्ध अपराध किया है। अतः ऐसे मामलों को फ़ौजदारी न्यायालय ही तय करेंगे।

भारतवर्ष में सिविल और फ़ौजदारी न्यायालय

यह सच है कि भारतवर्ष में 'राजस्व-बोर्ड, (Revenue Boards) राजस्व-संबंधी मामले तय करते हैं। परन्तु सम्पूर्ण क़ानून सिविल और फ़ौजदारी क़ानूनों में विभक्त है। सिविल पक्ष में ज़िला न्यायाधीशों (District Judges) के न्यायालय तथा छोटे न्यायाधीशों तथा मुन्सिफ़ों के न्यायालय हैं। फ़ौजदारी पक्ष में सेशन तथा अतिरिक्त न्यायाधीशों (Sessions and Additional Judges) और मैजिस्ट्रेटों के न्यायालय हैं।

न्यायकारिणी का क्रमिक संगठन

न्यायालयों के इस सिविल और फ़ौजदारी विभाजन के अतिरिक्त, न्याय-प्रबन्ध की दृष्टि से न्यायालयों का एक क्रमिक संगठन किया गया है। उसका रूप नीचे से ऊपर जाती हुई सीढ़ी के समान है। इस सोपानवत् व्यवस्था का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि निम्न न्यायालयों से उच्च न्यायालयों में अपीलें होती हैं। और उच्च न्यायालयों को निम्न न्यायालयों के निर्णयों को संशोधित करने, बदलने तथा अस्वीकृत करने का अधिकार रहता है। इसका यह तात्पर्य है कि प्रत्येक राज्य में एक प्रधान न्यायालय होता है जिसके बाद कोई अपील नहीं हो सकती और उसका निर्णय अन्तिम होता है।

भारतवर्ष में न्याय-संगठन

भारतवर्ष में भी न्यायालयों का संगठन क्रमिक है। सिविल पक्ष में सबसे छोटे मुन्सिफ़ों के विभिन्न श्रेणी के न्यायालय होते हैं। इनसे अपील ज़िला न्यायाधीशों के पास जाती हैं। और उनके पास से प्रधान न्यायालय (High Court) जाती हैं। इसी प्रकार फ़ौजदारी पक्ष में सबसे छोटे प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मैजिस्ट्रेटों

१—'दि इंडियन जर्नल ऑव् पॉलिटिकल साइंस के जुलाई-सितम्बर, १९४२ के अंक में श्री अखिल चन्द्र मैत्रा कृत लेख। 'पोज़ीशन ऑव् फ़ेडरल कोर्ट इन दि कॉन्स्टीट्यूशनल सिस्टम ऑव् इण्डिया' तथा अप्रैल-जून, १९४३ के अंक में डा० बूलचन्द कृत लेख 'दि वर्किंग ऑव् दि इन्डियन फ़ेडरल कोर्ट' पढ़िये।

के न्यायालय होते हैं उनके यहाँ से सेशन-न्यायालय में अपील जाती है और फिर वहाँ से प्रधान न्यायालय में। हमारे देश का सर्वोच्च न्यायालय नई दिल्ली स्थित संघ-न्यायालय' है और वह प्रान्तीय प्रधान न्यायालयों को अपील सुनता है। परन्तु चूँकि भारतवर्ष अंग्रेजी साम्राज्य का एक भाग है अतः भारत संघ-न्यायालय से प्रिवी-कौंसिल की न्याय-समिति के समक्ष अपील रक्खी जा सकती है। फिर भी जहाँ तक भारतवर्ष का संबंध है देश में सबसे बड़ा न्यायालय संघ-न्यायालय ही है।

न्यायाधीशों की विशेषताओं और न्याय-संगठन के सिद्धान्तों को समझ लेने के बाद अब हम न्याय-प्रणाली की आवश्यकताओं का अध्ययन कर सकते हैं। कोनरड गिल के अनुसार वे (क) न्यायाधीशों की स्वतंत्रता, (ख) सभी के लिये समान क़ानून और (ग) पंचों की स्वतंत्रता है।

(क) न्यायाधीशों की स्वतंत्रता

न्यायाधीशों की स्वतंत्रता के विषय में हम पहले ही चुनाव-प्रणाली के संबंध में कह चुके हैं। अब हम इस विषय पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डालेंगे। आरम्भ में सभी देशों में न्याय का संबंध राजा के अधिकारों और विशेषाधिकारों से रहा है और राजा ही सम्पूर्ण देश में शान्ति क़ायम रखता था। मुस्लिम राज्यों में काज़ी न्याय करते थे और उनकी नियुक्ति राजा करता था। इंगलैंड में तो न्यायाधीश राजा के सेवक समझे जाते थे। अतः कई बार विशेषकर स्टुअर्ट काल में वे न्याय के स्रोत होने की अपेक्षा राजा की स्वेच्छाचारिता के साधन बन गये थे। यह सच है कि राजा जान ने 'महास्वतंत्रतापत्र' (Magna Carta) के अनुसार निरंकुशता से शासन न करने का वचन दिया था। इस अधिकार-पत्र की शर्त्त थी कि कोई भी व्यक्ति देश की क़ानूनी कारवाई के बिना न तो गिरफ़्तार किया जायेगा न जेल भेजा जायेगा, न अनागरिक बनाया जायेगा, न देश से निकाला जायेगा और न किसी प्रकार उसको क्षति पहुँचायी जायेगी, न किसी को ग़ुलाम बनाया जायगा और न किसी के न्याय प्राप्त करने के अधिकार को छीना जायेगा और न न्याय करने में देरी ही की जायेगी। फिर भी इन सिद्धान्तों को पूर्णरूप से उपयोग में नहीं लाया गया। यही कारण था कि अधिकार बिल (१६८६) और उत्तराधिकार क़ानून (१७०१) की आवश्यकता व्यक्ति के शासन के स्थान पर क़ानून के शासन की स्थापना के लिये हुई। उत्तराधिकार क़ानून के अनुसार न्यायाधीशों की नियुक्ति आजीवन होने लगी और उनको निश्चित वेतन मिलने लगे। इस प्रकार न्यायाधीशों की कार्य-अवधि राजा की स्वेच्छाचारिता से स्वतंत्र हो गई। इस प्रकार यह सिद्धान्त बन गया कि न्यायालय शासन के हस्तक्षेप से मुक्त रक्खे जायंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि न्याय निष्पक्ष होने लगा तथा न्यायाधीश अपने कार्य में स्वतंत्र होने लगे।

न्यायकारिणी के लिये शक्ति तथा दृढ़ता की आवश्यकता

परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है कि न्यायकारिणी कार्यकारिणी का खिलौना न हो। न्यायकारिणी की स्वतंत्रता का यह भी अर्थ है कि यह इतनी शक्तिशाली हो कि व्यक्तिगत

स्वतंत्रता की रक्षा कर सके और कार्यकारिणी की कुचेष्टाओं को रोक सके। लास्की के अनुसार कार्यकारिणी पर आँख रखना न्यायाधीश का कर्त्तव्य है। उसको ध्यान रखना चाहिये कि कार्यकारिणी अपने अधिकारों की व्याख्या ऐसी न करले कि अपने में एक नवीनता ला दे और नागरिकों के साथ असम व्यवहार करने लगे। इसलिये इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये न्यायालयों को कार्यकारिणी के कार्यों की जाँच करने का अधिकार होना चाहिये और न्यायकारिणी के निर्णय कार्यकारिणी पर अनिवार्यतः लागू होने चाहिये जब तक कि व्यवस्थापिका स्वयं दूसरी व्यवस्था न चाहे।[1]

न्यायकारिणी की प्रधानता

परन्तु यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि न्यायकारिणी की स्वतंत्रता और महत्व तथा न्यायकारिणी की प्रधानता एक ही वस्तुयें हैं। यद्यपि इस सिद्धान्त में न्याय-कारिणी का कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका के स्वतंत्र रहना आ जाता है। परन्तु जैसा कि हम अमरीकी संयुक्त राज्य में पाते हैं, इसमें और अधिक बातें शामिल हैं। इसका कारण यह है: जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, प्रत्येक संघराज्य में (उसी प्रकार अमरीकी संयुक्त राज्य में) संघ-शासन और राज्य शासनों के मध्य अधिकार विभाजन रहता है और दोनों अपने-अपने क्षेत्रों के अन्दर कार्य करते हैं। इस प्रकार संघ-शासन और राज्य-शासन में कोई भी सर्वप्रधान शक्ति नहीं कही जा सकती है। अतः राज्यसत्ता तो विधान में सन्निहित है। इस प्रकार यदि संघ तथा राज्य शासनों के मध्य कोई झगड़ा उत्पन्न होता है तो 'प्रधानन्यायालय (Supreme Court) के सामने मामला तय कराने के लिये रक्खा जाता है। इसी प्रकार विशेषकर अमरीका में, व्यवस्थापिका कार्यकारिणी तथा न्यायकारिणी का संगठन शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के रूप में किया गया है। इस प्रकार शासन की ये तीनों शक्तियाँ स्वतंत्र कार्य करती हैं। यह कार्य न्यायकारिणी का होता है कि वह देखे कि कार्यकारिणी और व्यवस्था-पिका विधान द्वारा निश्चित की हुई सीमा का उल्लंघन तो नहीं करती। इससे स्पष्ट है कि न्यायकारिणी की प्रधानता के सिद्धान्त में विधान की रक्षा सर्वप्रथम तथा पूर्ण रूप से आ जाती है। इस अर्थमें यह न्यायकारिणी का अधिकार और कर्तव्य दोनों है कि वह ऐसे क़ानून को नाजायज अथवा अवैधानिक घोषित कर दे जो विधान की आत्मा के विरुद्ध पड़ते हैं। इस अमरीकी प्रणाली की उपयोगिता हेमिल्टन महोदय के कथन से सिद्ध हो जाती है जब वे कहते हैं कि 'विधान एक बुनियादी क़ानून है और उसको बुनियादी क़ानून मानना भी चाहिये। अतः इसकी तथा व्यवस्थापिका के बताये हुये किसी विशेष क़ानून की व्याख्या करना न्यायकारिणी का अधिकार है। यदि दोनों में कोई विरोध उत्पन्न होता है कि किसे माना जाय या किसका औचित्य स्वीकार किया जाय अथवा किसे प्रथम स्थान दिया जाय तो व्यवस्थापिका के क़ानून को अपेक्षा विधान को प्रथम

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑफ् पॉलिटिक्स, पृ० २६५। अधिक जानकारी के लिये पृ० ८५-८६ पढ़े जा सकते हैं।

स्थान मिलना चाहिये अर्थात् जनता के एजन्टों के स्थान पर स्वयं जनता का मत स्वीकार किया जाना चाहिये........परन्तु यह सिद्धान्त व्यवस्थापिका की अपेक्षा न्यायकारिणी की श्रेष्ठता नहीं स्वीकार करता। यह केवल यही मानता है कि जनता की शक्ति दोनों से श्रेष्ठ है। इस प्रकार जहाँ व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित क़ानून जनता द्वारा निर्मित विधान के विरोधी दिखाई दें वहाँ न्यायाधीशों को विधान द्वारा अनुशासित होना चाहिये। उनके निर्णयों के आधार बुनियादी क़ानून होने चाहिये ग़ैर बुनियादी नहीं'।

अमरीकी संयुक्त राज्य में न्यायकारिणी की प्रधानता

गार्नर का कथन है कि अमरीकी संयुक्त राज्य में 'प्रधान न्यायालय' कांग्रेस के तिरपन क़ानूनों को, पूर्णरूप से अथवा आंशिक रूप से, और तीन सौ से अधिक राज्य क़ानूनों को अवैधानिक घोषित कर चुकी है। हमारे ही समय में उसी न्यायालय ने सन् १९३५ और सन् १९३६ में स्वर्गीय अध्यक्ष रूज़वेल्ट के 'राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुद्धार क़ानून (National Industria' Recovery Act) और 'नये समझौते' (New Deal) के 'कृषि सामंजस्य क़ानून' को अवैधानिक तथा अनियमित घोषित किया था।

न्यायकारिणी की प्रधानता पर लास्की का दृष्टिकोण

अमरीकी दृष्टिकोणीय न्यायकारिणी की प्रधानता के अतिरिक्त प्रो० लास्की ने न्यायकारिणी की प्रधानता के प्रयोग की आवश्यकता पर एक दूसरे ही रूप से ज़ोर दिया है। फ्रांस में, जैसा कि अगले पृष्ठों से स्पष्ट हो जायेगा, साधारण क़ानून के अतिरिक्त एक प्रबन्धात्मक क़ानून है। अतः वहाँ साधारण न्यायालयों के अतिरिक्त प्रबन्धात्मक न्यायालय भी हैं। राज्याधिकारियों के सभी मुक़दमें साधारण न्यायालयों के सामने नहीं जाते। वे केवल प्रबन्धात्मक न्यायालयों के सामने उपस्थित किये जाते हैं और फ़्रान्स में 'राज्य परिषद्' का निर्णय अन्तिम माना जाता है। फ़्रांसीसी प्रणाली को आदर्श मानकर अथवा शासन के कार्यों में एक विशाल वृद्धि होने के कारण वर्तमान काल में यह प्रवृत्ति हो गई है कि न्यायात्मक अधिकार शासन के विभागों को भी सौंप दिये गये हैं। लास्की कार्यकारिणी को इस प्रकार अधिकार सौंपने का विरोध नागरिक स्वतंत्रता के आधार पर करता है। उसका कहना है कि 'मेरा यह तर्क रहा है कि राज्य को अपने एजेन्टों के कार्यों के लिये उसी प्रकार उत्तरदायी रहना चाहिये जिस प्रकार एक साधारण नागरिक रहता है। मेरी यह भी दलील है कि जहाँ सुविधावश किसी विभाग को न्यायात्मक अधिकर सौंपे जायेंगे वहाँ उसके साधनों तथा उसकी कार्य-प्रणाली की जाँच न्यायालय कर सकेंगे। और उनको उसके निर्णयों को उलट देने का अधिकार रहेगा यदि वे यह अनुभव करेंगे कि निर्णय पूरी जाँच के बाद नहीं दिया गया। यहाँ जाँच का अर्थ तथ्यों को खोज-बीन से नहीं बल्कि उनके अनुसन्धान की प्रणाली से है। जब तक इस प्रकार की न्यायकारिणी की प्रधानता नहीं क़ायम रक्खी जाती तब तक

१—गार्नर—पोलिटिकल साइंस एन्ड गवर्न्मेंट, पृ० ७५५

कार्यकारिणी के सम्मुख एक साधारण नागरिक के अधिकार सुरक्षित न रह सकेंगे। नागरिक उन लोगों के विरुद्ध अपने अधिकारों का प्रयोग करने में असमर्थ रहेगा जो वैभागिक क़ानूनों का सहारा लेते हैं'।[१]

सब के लिये एक सा क़ानून

इस प्रकार न्यायकारिणी की स्वतंत्रता और प्रधानता के अर्थ का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम 'सब के लिये एक सा क़ानून' के अर्थ पर विचार कर सकते हैं। स्पष्टता के लिये हम इंगलैंड से आरम्भ करेंगे। कोनरडगिल का कथन है कि 'सत्रहवीं शताब्दी में न्यायाधीश, विशेषकर नये न्यायालयों में जैसे कि 'नक्षत्र-भवन' में राजा और उसके मंत्रियों के अनुकूल निर्णय देने के लिये क़ानून की चिन्ता नहीं करते थे। अगर यही क्रम बिना किसी प्रतिबन्ध के रहने दिया गया होता तो मंत्रियों और उनके अधिकारियों के आदेश न्यायालयों को मानने पड़ते। इसके परिणाम-स्वरूप विभागों के अपने-अपने क़ानून होने लगते और इनमें पार्लिमेंट का कुछ भी हाथ न रहता। सम्भव था कि इस प्रकार के वैभागिक क़ानून का ज़ोर और बढ़ता और नये न्यायालय ऐसे मुक़द्दमों को अपने हाथों में लेते जिनमें विभाग या राज्याधिकारी फंसे होते। इस प्रकार देश का साधारण क़ानून केवल साधारण नागरिकों पर लागू होता और राज्याधिकारी अपने ही न्यायालयों में अपने ही द्वारा बनाये हुये क़ानूनों के आधार पर अपने मुक़द्दमों का फ़ैसला कराते'।[२] इसका यह अर्थ है कि इंगलैंड में भी दो प्रकार के क़ानूनों का जन्म होता: पहला साधारण क़ानून जो नागरिक पर लागू होता है और दूसरा प्रबन्धात्मक क़ानून जो केवल राज्याधिकारियों पर लागू होता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मंत्रियों को राजा की आड़ लेने से मना किया गया, यहाँ तक कि उन पर अभियोग भी चलाया गया। अन्त में राजा को भी अपनी इच्छानुसार शासन न करके पार्लिमेंट द्वारा निर्मित और पास किये गये क़ानून के अनुसार शासन करने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार इंगलैंड में व्यक्ति-शासन के स्थान पर क़ानून-शासन की स्थापना हुई थी।

क़ानून-शासन के अर्थ पर डाइसी का विचार

क़ानून-शासन के अर्थ का आधुनिक काल में सर्वप्रथम डाइसी[१] ने पूर्ण रूप से विश्लेषण किया था।

१—लास्की—ए ग्रैमर ऑव् पॉलिटिक्स, पृ० ५५०-५१। इसके साथ-साथ पृ०४४४-४४५ भी देखिये।

२—कोनरडगिल—गवर्न्मेंट एन्ड पीपुल, पृ० १५५-१५६।

१—डाइसी—ला ऑव् दि कान्स्टाट्यूशन, पृ० xxxvii-xlviii तथा अध्याय ४। वेड वाले डाइसी के संस्करण (१९३९) में क़ानून-शासन की पूर्ण विवेचना मिलती है। प्रत्येक विद्यार्थी को इसे स्वयं पढ़ना चाहिये।

लास्की क़ानून-शासन के अर्थ को अपने ढंग से स्पष्ट करते हुये कहता है कि 'क़ानून इसलिये नहीं होते कि उनका ऐसा अर्थ निकाला जाय जैसा कि तत्कालीन मंत्रिमंडल चाहता

(१) सर्व प्रथम उसका कहना है कि 'क़ानून शासन का यह अर्थ है कि उस समय तक किसी व्यक्ति को दंड नहीं दिया जा सकता, आर्थिक या शारीरिक यातना नहीं दी जा सकती, जब तक कि उसके विरुद्ध देश के न्यायालयों के सामने साधारण क़ानूनी तौर से किसी क़ानून को तोड़ने का अपराध पूर्ण रूप से सिद्ध न हो जाय। इस प्रकार क़ानून-शासन राज्याधिकारियों के निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन से भिन्न है'।

(२) दूसरे, 'केवल यही नहीं कि कोई भी व्यक्ति क़ानून से बाहर नहीं है वरन् यह भी कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसका जो भी पद या पदवी हो, राज्य के साधारण क़ानून के अन्दर है और साधारण न्यायालयों के क्षेत्र के अन्तर्गत है। इंगलैंड में क़ानूनी समता या सभी वर्गों की साधारण न्यायालयों द्वारा लगाये हुये एक ही क़ानून के अधीन होने की धारणा अन्तिम सीमा तक पहुँच चुकी है। प्रधान मंत्री से लेकर कान्स्टेबिल अथवा कर वसूल करने वाले कर्मचारी तक प्रत्येक ग़ैर क़ानूनी काम करने के लिए उसी प्रकार दण्डनीय है जिस प्रकार एक दूसरा नागरिक। ऐसे कितने उदाहरण मिलते हैं जब कि राज्याधिकारियों को अपने पद से क़ानूनी अधिकार को उल्लघन करके काम करने के लिए न्यायालयों के सामने उपस्थित किया गया था और उनको, अपने व्यक्तिगत रूप में, या तो दंड भोगना पड़ा या क्षतिपूर्ति करनी पड़ी थी।,

(३) तीसरे, 'विधान क़ानून-शासन से व्याप्त रहता है क्यों कि विधान के सामान्य सिद्धान्त (उदाहरण स्वरूप व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का अधिकार अथवा सार्वजनिक सभा करने का अधिकार) हमको न्यायात्मक निर्णयों के आधार पर प्राप्त हुये हैं। न्यायालयों के सामने आये हुये मुक़दमों के द्वारा ही साधारण लोगों के अधिकार निश्चित होते हैं। परन्तु बहुत से विदेशी विधानों के अनुसार जो संरक्षण व्यक्तियों को प्राप्त रहता है वह या तो विधान के सामान्य सिद्धान्तों का परिणाम होता है या ऐसा प्रतीत होता है।

डाइसी द्वारा उपस्थित किये गये क़ानून-शासन के तीन अर्थों को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं: (क) बिना मुकदमा चलाये अथवा कारण दिखाये कोई व्यक्ति बंदी नहीं बनाया जा सकता; (ख) कोई भी व्यक्ति क़ानून से परे नहीं है और क़ानून सब छोटे-बड़े, निर्धन-धनवान, अधिकारी अथवा साधारण नागरिक पर एक तरह लागू होगा और (ग) व्यक्ति के अधिकार लिखित विधानों के परिणाम नहीं हैं, वे विधान के साधन हैं क्योंकि उनका आधार Case laws हैं। इससे प्रकट होता है कि अंग्रेजी विधान निर्मित नहीं हुआ है, इसका विकास हुआ है। इसको न्यायाधीशों ने बनाया है और इस पर न्यायाधीश निर्मित क़ानून की छाप है।

है। कुछ ऐसे स्वतंत्र व्यक्तियों द्वारा पार्लिमेंट की इच्छा का पता लगाया जाता है जो परिणाम के किसी भी प्रत्यक्ष प्रभाव से मुक्त रहते हैं और जिनके निर्णय में दीर्घकालीन अनुभव रहता है जिसके द्वारा वह इच्छा मालूम की जा सकती है। यही वह क़ानून-शासन है जिसको अंग्रेज लगभग दो सौ वर्ष तक अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये अमूल्य समझते रहे हैं'—दि पार्लिमेंटरी गवर्मेंट इन इंगलैंड, पृ० ३६०

यूरोप और प्रबन्धात्मक क़ानून

यूरोप में क़ानून-शासन के इस सिद्धान्त का प्रचार नहीं है। वहाँ कार्य-कारिणी को विस्तृत स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश अधिकार प्राप्त हैं। फ्रांस में तो साधारण क़ानून से भिन्न प्रबन्धात्मक क़ानून का विकास हुआ है। स्वयं डाइसी का कहना है कि फ्रांस में 'राज्याधिकारी जिनमें राजा के सभी कर्मचारी आ जाते हैं जब तक अपने पद की हैसियत से काम करते हैं, एक सीमा तक देश के क़ानून से मुक्त हैं या रहे हैं, साधारण न्यायालयों से रक्षित रहे हैं और कभी-कभी तो उन पर केवल सरकारी विभागों द्वारा बनाये हुये क़ानून ही लागू हुये हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि अधिकारियों के मुक़दमें साधारण क़ानून द्वारा साधारण न्यायालयों में नहीं तय किये जाते, यहाँ तक कि उनका अपना प्रबन्धात्मक क़ानून, प्रबन्धात्मक न्यायालय और मुकदमे तय करने के लिये प्रबन्धात्मक अधिकारी होते हैं।

प्रबन्धात्मक क़ानून का वास्तविक रूप

अब हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि प्रबन्धात्मक क़ानून का वास्तविक रूप क्या है। यह विषय बहुत ही विवादग्रस्त हो गया है और इसकी ग़लत व्याख्या करने का उत्तरदायित्व डाइसी पर है। जैसा कि हम अभी देख चुके हैं उसका विचार है कि प्रबन्धात्मक क़ानून ऐसे नियम है जो राज्याधिकारियों को, नागरिकों के विरुद्ध काम करने पर, बचाने के लिये होते हैं'। परन्तु वास्तव में ये राज्य के विरुद्ध न्याय प्राप्त करने के साधन हैं। डाइसी के दृष्टिकोण का आधार ऑकाक (Aucoc) की परिभाषा है। उसके अनुसार प्रबन्धात्मक क़ानून शासन-प्रबन्ध और साधारण नागरिक के संबंधों को नियमित करता है, परन्तु आलेन, वार्थलेमी, पोर्ट, फ़्लेनर और मेयर ऐसे आधुनिक लेखक फ्रांस और जर्मनी में प्रबन्धात्मक क़ानून की प्रणाली का अध्ययन करने के पश्चात्, इस निष्कष पर पहुँचे कि ऑकाक की परिभाषा अस्पष्ट और ग़लत थी। इसलिये हम उन कुछ परिभाषाओं पर विचार कर सकते हैं जिन्हें आधुनिक विद्वान ठीक कहते हैं।

(१) बार्थलेमी का कथन है कि 'क़ानून को लागू करने को, न्याय विभाग को छोड़कर जितनी भी सर्विसें हैं वे प्रबन्धात्मक सर्विसें कहलाती हैं। प्रबन्धात्मक क़ानून उन सिद्धान्तों का योग है जिसके आधार पर वे कार्य करती हैं। यह सार्वजनिक क़ानून की जिसमें वैधानिक क़ानून, फ़ौजदारी क़ानून और अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून आते हैं, एक शाखा है। वैधानिक क़ानून हमें राज्य के राजनीतिक-संगठन, राज्याधिकारियों के भेद, वे नियम जिनके अनुसार पदाधिकारियों का नाम करण किया जाता है जो कि शासन के क़ानून बनाने तथा उनका लागू करने के कार्य को करते हैं इन सब का ज्ञान प्राप्त कराता है। प्रबन्धात्मक क़ानून शासनात्मक यन्त्र की कार्य प्रणाली का विवेचन करता है। किस प्रकार यंत्र का निर्माण होता है, यह वैधानि क़ानून बताता है। कैसे यह कार्य

१—कृपया डा० बूलचन्द कृत लेख 'दि एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्स इन इंगलैंड,' 'दि इंडियन जर्नल ऑव् पॉलिटिल साइंस (अक्टूबर-दिसम्बर १६४०) में पढ़िये।

करता है, किस प्रकार इसका प्रत्येक अंग चलता है, यह प्रबन्धात्मक क़ानून का विषय है'।

(२) प्रो० गुडनाऊ इसकी परिभाषा देते हुये कहते हैं कि यह सार्वजनिक क़ानून का वह भाग है जो संगठन निर्धारित करता है, प्रबन्धात्मक अधिकारियों की कार्य-क्षमता को निश्चित करता है और अधिकारक्रमण के लिये प्रतिकार करता है।

(३) मेयर का कहना है कि 'प्रबन्धात्मक क़ानून वह विशेष क़ानून है जो शासन और इसके सम्पर्क में आये हुये शासित के मध्य सम्बन्ध स्थिर करता है।

(४) स्ट्रांग इसको और अधिक स्पष्ट कर देता है। उसके अनुसार 'प्रबन्धात्मक क़ानून उन नियमों का संग्रह है जो शासन शक्ति का संबन्ध नागरिकों के साथ निर्धारित करता है, और राज्याधिकारियों के अधिकारों के संबंध में नागरिकों के अधिकार तथा कर्तव्यों और इन अधिकारों तथा कर्तव्यों का कार्यान्वित करने की प्रणाली को निश्चित करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि फ्रान्स में सार्वजनिक और व्यक्तिगत क़ानूनों में अन्तर है और क़ानून के विभाजन का प्रभाव न्यायकारिणी पर यह पड़ता है कि साधारण न्यायालय उन मुक़दमों को नहीं तय कर सकते जो शासन के कार्यकारिणी विभाग से उत्पन्न होते हैं, चाहे इनका संबंध राज्याधिकारियों के अधिकारों तथा कर्तव्यों से हो चाहे किसी नागरिक के इन अधिकारियों के संबंध में अधिकार और कर्तव्य से'।[1]

शासनप्रबन्ध के विरुद्ध क़ानूनी प्रतिकार

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रबन्धात्मक क़ानून केवल प्रबंधात्मक बोर्ड और मंत्रियों की न्यायात्मक कार्रवाई ही नहीं है और न केवल नियमों के रूप में विभागों द्वारा बनाया हुआ क़ानून ही है। यह शासन-प्रबन्ध के विरुद्ध कुछ क़ानूनी प्रतिकारों की भी व्यवस्था करता है। जैसा कि बार्थेलेमी का कहना है 'प्रबन्धात्मक न्याय साधारण न्यायालयों के न्याय का विच्छिन्नीकरण नहीं है। यह एक न्याय का साधन है जिसके द्वारा कार्यकारिणी राज्याधिकारियों में क़ानून के प्रति सम्मान पैदा करती है। प्रबन्धात्मक न्यायालयों ने यह अधिकार न्यायकारिणी से नहीं पाया है। वे क़ानूनों को लागू करने के साधनों का एक रूप हैं। अधिक स्पष्टता के लिये यह कहा जा सकता है कि प्रबन्धात्मक न्यायालयों का संबंध कार्यकारिणी के निर्णयों से वैसा ही है जैसा कि अपील के न्यायालयों का निम्न न्यायालयों के निर्णयों से'।

विवाद-न्यायालय

परन्तु यह भी सोचना ग़लत है कि सभी मामले जिनमें राज्यधिकारी फंसे रहते हैं प्रबंधात्मक न्यायालयों के सामने पेश किये जाते हैं। फ्रान्स में 'विवाद-न्यायालय' (Tribunal of Conflicts) द्वारा वे मामले जिनमें राजकर्मचारी स्वयं उत्तर-

---

१—स्ट्रांग—मॉडर्न कान्स्टीट्यूशन्स, पृ०२६६

दायी रहता है और जिनका फ़ैसला साधारण न्यायालयों में होता है तथा ऐसे मामले जो प्रबंधात्मक त्रुटि के परिणाम स्वरूप हैं अतः पूरा प्रबंध-यंत्र उत्तरदायी रहता है और इनका फ़ैसला प्रबंधात्मक न्यायालयों में होता है, पृथक किये जाते हैं। लेफ़ेरियर (Laferriere) ने इस व्यक्तिगत तथा प्रबन्धात्मक दोषों की परिभाषा इस प्रकार दी है: 'प्रबन्धात्मक अपराध, दोषपूर्ण कार्य-प्रणाली, ग़लत आदेश देने, आदेश को समझने में ग़लती करने, तथा उसको असावधानी से पालन करने का परिणाम है, परन्तु फिर भी यहाँ कर्त्तव्य करने की भावना निहित रहती है। व्यक्तिगत अपराध जुर्म, धोखाबाज़ी तथा गम्भीर त्रुटि करने में होता है, यहाँ कार्य की कठिनाइयों और खतरों की अपेक्षा कर्मचारी की व्यक्तिगत दुष्कामनायें ही दिखाई देती हैं।'

वास्तविक सत्य : एलेन का विचार

इस जाँच-पड़ताल का परिणाम यह हुआ है कि एलेन को कहना पड़ा है कि 'गत शताब्दी में फ़्रान्सीसी प्रबन्धात्मक क़ानून का विकास अधिकारीवर्ग की अपेक्षा प्रजा के पक्ष में अधिक हुआ है।'[१] आज इंगलैंड की अपेक्षा फ़्रान्स में राज्य के अपराधों के विरुद्ध न्याय अधिक सरलता, शीघ्रता से तथा अत्यधिक सस्ते में प्राप्त हो जाता है'। यह वैधानिकवादियों का सूत्र तथा फ़्रान्सीसी प्रजातंत्र का सहारा हो गया है कि राज्य परिषद् (Council of State) जनता और नौकरशाही के मध्य एक महान रक्षा-भित्ति है।'[२]

राज्य परिषद् पर बार्थलेमी का विचार

एलेन के अतिरिक्त और भी दूसरे लेखक हैं जिन्होंने राज्य परिषद् (१९३९-४५ के युद्ध से पहले) के इस उत्तम कार्य की प्रशंसा की है। बार्थलेमी इसको न केवल 'शान्ति तथा क़ानून का प्रधान प्रबन्धात्मक न्यायालय और व्यक्ति के स्वातंत्र्य और अधिकार का महान रक्षक' कहता है, उसका यह भी कथन है कि 'नागरिकों में इस महान प्रबन्धात्मक न्यायालय के दृढ़ न्याय के प्रति विश्वास हैं और उनकी यह दृढ़ धारणा है कि राज्य परिषद् राज्य के अपराधों के संबंध में सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है।' वह यह भी कहता है कि 'राज्य परिषद विशेषज्ञ के रूप में सरकार को परामर्श देती है और शासन-प्रबन्ध को नियमित करने में सहायता देती है। यह महान संस्था फ़्रान्सीसी प्रबन्धात्मक यंत्र का

१—लास्की का भी कहना है कि 'फ़्रान्स के प्रबन्धात्मक न्यायालयों ने, इस देश इंगलैण्ड की तुलना में कार्यकारिणी की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध नागरिकों को काफ़ी संरक्षण प्रदान किये हैं'।—दि पार्लिमेंट्री गवर्न्मेंट इन 'इंगलैंड, पृ० ३३५ (इस कथन का संबंध १९३९-४५ के युद्ध के पूर्व के फ़्रांस से है)

२—एलेन—ब्युरो क्रसी ट्राइम्फ़ेन्ट, पृ० २०३

ई० एम० सेट—गवर्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स ऑफ़ फ़्रान्स, पृ० ३८२, तथा

फ़ाइनर—दि थियरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ़ मॉडर्न गवर्न्मेंट्स, जिल्द २, अध्याय ३६, भी देखिये।

एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह क़ानूनी सलाहकारों और विशेषज्ञों की एक परिषद् है जो साधारण शासन-प्रबन्ध के महत्त्वपूर्ण समस्याओं के संबंध में सरकार की सहायता करती है। यह स्वयं कुछ नहीं निर्णय करती। यह जनतंत्र के अध्यक्ष के साथ साथ काम करती है। यह विवेक, अनुभव और शासन-प्रबन्ध के विज्ञान की प्रतिमूर्ति है। जब सरकार को निर्वाचन क्षेत्र के हितों और दलों तथा राजनैतिक धारणाओं के दबाव से मुक्त, पक्षपातशून्य तथा ज्ञानपूर्ण राय की आवश्यकता पड़ती है तो वह इसी संस्था से परामर्श करती है। राज्य परिषद् सरकार का एक उपकरण है जो कार्यक्षमता, परम्परा तथा स्थायित्व के अधीन रहने वाले दूसरे उपकरणों की भाँति, फ़्रान्सीसी शासन-प्रबन्ध के ढाँचे को एक में कसे रही है; यद्यपि इसका कार्यक्षेत्र पृष्ठभूमि रहती है और साधारण जनता उसको नहीं देख सकती। वे तो केवल ऊपरी अव्यवस्था, असंतुलन, अस्थायित्व और प्रजातंत्र की असफलता ही देखते हैं।'[1]

राज्य-परिषद् पर मुनरो के विचार

इसी प्रकार मुनरो भी राज्य-परिषद् (१९३९-४५ के युद्ध से पूर्व) की विशेषता का उल्लेख करता है कि 'राज्य-परिषद् बहुत मानी में एक महत्वपूर्ण संस्था है। यह आर्डिनेंस-निर्माण में परामर्शदात्री का कार्य करती है और प्रबन्धात्मक विवादों की अन्तिम निर्णायक शक्ति है। यह जनतंत्र का सर्वप्रधान प्रबन्धात्मक न्यायालय है। इसके अतिरिक्त यह क़ानूनी सलाहकारों और विशेषज्ञों की एक सभा है जिससे सरकार अपनी समस्याओं के हल के संबंध में इससे परामर्श कर सकती है। यह शासन-प्रबन्ध के विज्ञान में विवेक, अनुभव और पक्षपातशून्यता की प्रतिमूर्ति है। इस प्रकार यह प्रजातंत्र के विषों के लिये प्रतिकार-स्वरूप है। फ़्रान्सीसी राज्य-परिषद् को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह उसके लिये उचित भी है क्योंकि इसके सदस्यों में ऐसी कार्य-क्षमता पाई जाती है जो शायद ही किसी देश की सार्वजनिक संस्थाओं में पाई जाती हो। अपने कार्य से यह फ़्रान्सीसी शासन को दृढ़ स्थायित्व प्रदान करती है'।

इन सब कथनों से यह स्पष्ट है कि राज्य-परिषद् को, जो १९३९-४५ के युद्ध से पूर्व फ़्रान्स की सर्वोच्च प्रबन्धात्मक न्यायालय था, फ़्रान्सीसी तथा विदेशी दोनों प्रकार के आलोचकों ने व्यक्तिगत स्वातंत्र्य को रक्षा-भित्ति माना है, प्रबन्धात्मक अत्याचार का दुर्ग नहीं।

डाइसी का परिशोधित विचार

बाद में स्वयं डाइसी ने फ़्रान्सीसी प्रबन्धात्मक क़ानून की स्वेच्छाचारी प्रकृति के संबंध में अपनी राय एक मात्रा तक बदल दी थी। सन् १९१४ में उसने कहा था कि समाजवादी विचारों के प्रभाव तथा इंगलैंड तक में न्यायाधिकारों को राज्य-विभागों को

१—जोज़ेफ़ बार्थलेमी—दी गवर्नमेंट ऑफ़ फ़्रान्स, जे० बी० मॉरिस द्वारा अनूदित, पृ० १२५-१२६, १३० तथा १६०

सौंपने से, इंगलैंड का क़ानून राज्याधिकारियों के हाथ में चला जा रहा है और फ्रान्स का प्रबन्धात्मक क़ानून प्रतिवर्ष न्यायकारिणी के हाथ में चला जा रहा है। उसने तीन रूपों में इंगलैंड में क़ानून के शासन के प्रति उपेक्षा देखी थी। प्रथम, वर्तमान क़ानून-निर्माण में, दूसरे कुछ जनश्रेणियों में क़ानून और न्यायाधीशों के प्रति अविश्वास में तथा तीसरे, सामाजिक अथवा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिये ग़ैर-क़ानूनी साधनों को प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति में। इनमें से अन्तिम दो इस अवस्था में उल्लेखनीय नहीं है। परन्तु प्रथम महत्वपूर्ण है क्योंकि हमारे लिये यह जानना आवश्यक है कि किस प्रकार वर्तमान क़ानून-निर्माण ने इंगलैंड में क़ानून के शासन को क्षति पहुँचाई है।[1]

मेटलैंड की भविष्यवाणी

यद्यपि डाइसी ने यह स्वीकार किया था कि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क़ानून-निर्माण अधिक सामूहिक होता जा रहा है परन्तु वह इसके महत्व को पूर्ण रूप से समझ नहीं सका। जैसा कि लास्की का[1] कहना है वह इस पर भी क़ानून के शासन की उस धारणा को अपनाये हुये था जो राज्य की कार्रवाई की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिकारों के दर्शन का परिणाम था। मेटलैंड का अनुशीलन सत्य के अधिक निकट था जब उसने १८८६ में लिखा कि 'परम्परागत वकील की विधान-संबंधी धारणा वास्तविकता और क़ानून के प्रति बहुत असत्य हो गई है'। राजा के अधिकारों का प्रयोग उसके मंत्री तो करने ही लगे थे, एक बड़ी सीमा तक इंगलैंड का शासन भी कभी 'रानीयुक्त समिति कभी कोषाध्यक्ष कभी राज्य मंत्री कभी इस बोर्ड को कभी उस बोर्ड को......' क़ानून निर्माण का अधिकार देकर किया जाने लगा था। 'यह नया आन्दोलन सन् १८३२ से आरम्भ हुआ; समितियों, बोर्ड, केन्द्रीय तथा स्थानीय छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे राज्याधिकारियों द्वारा, जो आधुनिक क़ानूनों द्वारा प्राप्त अधिकारों का उपभोग कर रहे हैं, शासित होकर हम काफ़ी बड़ी मात्रा में एक अधिकृत राष्ट्र हो रहे हैं।[2]

पार्लिमेंट पर कार्य-भार और अधिकार-हस्तान्तरण

मेटलैंड की यह भविष्यवाणी पूर्ण रूप से सही उतरी है। पार्लिमेंट का कार्य भार तो बढ़ ही गया है, साथ-साथ यह सभी सामाजिक तथा प्रबन्धात्मक क़ानून-निर्माण की देख-भाल भी पूर्णरूप से नहीं कर सकती और इसीलिये यह काफ़ी अर्से से अधीन समितियों, बोर्डों, विभागों इत्यादि को अधिकार हस्तान्तरित करती चली आ रही है।[1]

अधिकार-विकेन्द्रीकरण या हस्तान्तरण के कारण

इस अधिकार-विकेन्द्रीकरण या हस्तान्तरण के कारणों को 'मन्त्र्यधिकार समिति'[2] (Committee on Ministers Power) ने पूर्ण रूप से निम्नप्रकार स्पष्ट कर दिया है:—

१—मुनरो—गवर्न्मेंट्स ऑफ़ यूरोप, पृ० ४१३। अधिक अध्ययन के लिये पृ० ४३३-३४ तथा ५४४-४८ देखिये।

२—लास्की—दि पार्लिमेंट्री गवर्न्मेंट इन इंगलैंड, पृ० ३५५

(१) पार्लिमेंट के पास समय की बड़ी कमी है अतः इसके सामने उपस्थित होने वाले सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक बिलों पर यह पूर्ण रूप से विचार नहीं कर पाती। इसलिए इसको केवल क़ानून के मौलिक सिद्धान्तों पर ही विचार करने देना चाहिये और तत्संबंधी छोटे बिल पार्लिमेंट में विशद विचार के लिये नहीं सौंपे जाने चाहिये।

(२) आधुनिक-क़ानून-निर्माण में दिन ब दिन विशेषज्ञता की आवश्यकता पड़ रही है। तब कैसे ऐसे मामलों पर पार्लिमेंट में वादविवाद हो सकता है? अतः बिलों में केवल मोटे सिद्धान्त ही रक्खे जा सकते हैं बिल्कुल विशेषज्ञता से संबंधित छोटी-छोटी बातें नहीं।

(३) सुधार की तमाम जटिल योजनाओं में सभी अप्रत्याशित घटनाओं तथा स्थानीय परिस्थितियों को, जिनके लिये व्यवस्था तथा प्रबन्धक यंत्र का समावेश करना अत्यावश्यक है, पहले से जान लेना बहुत कठिन है। पार्लिमेंट के सामने उपस्थित किये जाने वाले बिलों में इन व्यवस्थाओं को कैसे स्थान दिया जा सकता है? ऐसी कठिनाइयाँ राष्ट्रीय स्वास्थ्य-रक्षा क़ानूनों तथा व्यापार बोर्डों इत्यादि की स्थापना में उपस्थित होती हैं।

(४) हस्तान्तरण प्रणाली प्रतिपल परिवर्तित होनेवाली सभ्यता में नयी परिस्थितियों के लिये भी बहुत लाभदायक है क्योंकि क़ानून में संशोधन की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(५) अधिकार-हस्तान्तरण से प्रयोग भी सम्भव हो जाते हैं। इस प्रकार अनुभव ज्ञान से लाभ उठाने का अवसर मिलता है, जैसे कि नगर-निर्माण-योजना में।

(६) आधुनिक राज्य में बहुत से अवसर ऐसे आते हैं जब यकायक क़ानून-निर्माण की आवश्यकता पड़ती है। अतः यह उचित ही नहीं बल्कि आवश्यक है कि हस्तान्तरित-क़ानून संकट टालने के लिये आम हो जायें, जैसे कि युद्ध-काल में जब कि देश-रक्षा-क़ानून के अनुसार कारंवाई की जाती है।

(७) अन्त में, ग्राहम-हॅरिसन के शब्दों में (मन्त्र्यधिकार समिति द्वारा दिये गये कारणों के अतिरिक्त) 'बहुत से मौक़ों पर बिलों का मसविदा तैयार करने के लिये बहुत कम समय रहता है और उनका अन्तिम रूप, जब उनको दोनों सभायें पास कर देती हैं, असन्तोषजनक रहता है।' अतः क़ानूनवत नियम तथा आदेश क़ानूनों के ऊपर हो जाते हैं क्योंकि वे अपेक्षाकृत काफ़ी समय देकर तैयार किये जाते हैं. और इसीलिये उनमें विषय का विशद, निश्चित तथा स्पष्ट रूप से प्रतिपादन रहता है।

१—मेटलैंड— कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ़ इंगलैंड, पृ० ५०१

२—जेनिंग्स—पार्लिमेंट, पृ० ४५६-५७ डा० पोर्ट ने अपनी पुस्तक 'एडमिनिस्टेरिव्ह लॉ' में पार्लिमेंटीय अधिकारों के हस्तान्तरण के ये कारण बतलाये हैं: (१) अत्यावश्यकता (२) समय का अभाव (३) विशेषज्ञता और (४) प्रयोग।

हस्तान्तरित क़ानून-निर्माण के मुख्य क्षेत्र

एलेन के अनुसार वे क्षेत्र, जिनके लिये पार्लिमेंट ने अधीन क़ानून बनाने के अधिकार सौंप दिये हैं, निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रिवी कौंसिल को गौशाला के लिये प्रकाश और वायु के संबंध में आदेश और नियम निकालने से लेकर अधीन प्रदेशों और उपनिवेशों तक के लिये क़ानून बनाने का अधिकार है। वे साधारणतः दो प्रकार के होते हैं : पहला विशेषाधिकार पर आधारित, अतः पार्लिमेंट की क़ानून-निर्माणक शक्ति से स्वतंत्र और दूसरा पार्लिमेंटीय क़ानून द्वारा स्पष्ट रूप से हस्तान्तरित। विशेषाधिकार पर आधारित आदेशों, जैसे युद्ध-काल में व्यापार के नियमों पर न्यायालय विचार तो कर सकती हैं परन्तु उनका अधिक ख्याल करना पड़ता है। इसी भाँति दूसरे प्रकार के यानी समिति के आदेश कार्यकारिणी अर्थात् सरकारी विभाग द्वारा बनाये हुये क़ानूनों को प्रकट करते हैं।

(२) तत्पश्चात् 'व्यावसायिक स्वराज' आता है जो हमें प्रधान न्यायालय (Supreme Court) की नियम समितियों ऐसी नियम बनाने वाली शक्तियों में मिलता हैं जो और सभी न्यायालयों की कार्य-प्रणाली पर पूर्ण नियंत्रण रखती है। यह ठीक है कि इन नियमों का अवश्य प्रचार होना चाहिये और उनको संशोधित भी किया जा सकता है परन्तु वे पार्लिमेंट के कार्य नहीं हैं। वे वस्तुतः व्यवसाय द्वारा व्यवसाय ही के लिये बनाये जाते हैं।

(३) सार्वजनिक स्वास्थ्य क़ानून (१८७५), म्युनिस्पल कारपोरेशन क़ानून (१८८२) और स्वायत्त शासन क़ानून (१८८८), इत्यादि ऐसे बहुत से क़ानून पास हुये हैं जिनके द्वारा स्थानीय सरकारों को स्वास्थ्य-शान्ति तथा प्रबन्ध के लिये उपक़ानून बनाने के अधिकार मिले हैं। इस प्रकार स्थानीय सरकार के अधिकारी टीका, छूत की बीमारियों, मकानों, गलियों तथा सड़कों की सफ़ाई, निर्माण-योजना, अग्निकांड से बचाव, पुलिस, शिक्षा, आवागमन, श्मशान इत्यादि के लिये क़ानून बना रहे हैं।

(४) इन उपरोक्त समिति-आदेशों के अतिरिक्त एक और अधिक प्रत्यक्ष कार्य-कारिणी या विभागीय क़ानून-निर्माण है। पार्लिमेंट क़ानून की रूपरेखा ही को पास करती है और विभागों को इसे विस्तृत करने का अधिकार दे देती है। इस समय साधारणतः क़ानून-निर्माण का यही रूप है और विशेषकर इसी कारण से नयी स्वेच्छा-चारिता, नौकरशाही की विजय इत्यादि ऐसी आवाजें, आ रही हैं।

(५) अन्त में बहुत से कारपोरेशनों कम्पनियों और बोर्डों को अपने-अपने कार्य-क्षेत्रों में अधीनस्थ क़ानून बनाने का अधिकार दे दिया गया है। साधारणतः इनका संबंध सार्वजनिक उपयोगिता तथा सेवा से रहता है जैसे शिक्षा-बोर्ड, व्यापार बोर्ड-

---

१—सी० के० एलेन—ला-इन दि मेकिंग, अध्याय ६। विशेष विवरण के लिये जेनिंग्स कृत 'पार्लिमेंट', अध्याय १३, पढ़िये।

यातायात, रोशनी, तथा पानी की कम्पनियाँ और विभिन्न प्रकार की प्राइवेट स्टॉक कम्पनियाँ इत्यादि। ऊपर से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके द्वारा बनाये हुये अधीनस्थ क़ानून उनके सदस्यों पर ही लागू होते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि वे सभी पर प्रभाव डालते हैं। क्या यह प्रत्येक व्यक्ति का कानूनी कर्त्तव्य नहीं है कि वह उनको मिले हुए अधिकारों में हस्तक्षेप न करे ?

अधीनस्थ क़ानून के इन सभी रूपों से यह स्पष्ट है कि इसका विस्तार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हो रहा है।

हस्तान्तरित क़ानून-निर्माण पर पार्लिमेंट और न्यायकारिणी का नियंत्रण

सर्वप्रथम, पार्लिमेंट अधीनस्थ क़ानून-निर्माण का अधिकार देने वाले क़ानूनों को पास करते समय बहुत सी शर्तें रख चुकी है और अब भी रखती है। उदाहरण-स्वरूप नियमों और आदेशों का प्रकाशन तथा एक नियत समय तक उनको रोके रखना।

दूसरे, न्यायकारिणी इन नियमों और व्यवस्थाओं की जाँच कर सकती है और यदि ये अधीनस्थ क़ानून-निर्माण का अधिकार देने वाले क़ानून के खिलाफ़ जाते हैं तो ये अवैध घोषित किये जा सकते हैं।

तीसरे, रेलवे कम्पनियों तथा स्थानीय सरकारों अर्थात् स्वतंत्र संस्थाओं द्वारा बनाये हुये उप-क़ानूनों को क्रमशः यातायात-मंत्री अथवा स्वास्थ्य-मंत्री संशोधित और परिवर्तित कर सकता है और न्यायालय उनकी जाँच कर सकते हैं।

पार्लिमेंटीय क़ानून पर कार्यकारिणी का नियंत्रण

परन्तु वस्तुतः व्यावहारिक रूप में न तो पार्लिमेंट को क़ानून की प्रत्येक बात की जाँच करने का समय मिलता है और न सामान्य सदस्य को ही विशेषता से भरी हुई छोटी-छोटी बातों में दिलचस्पी रहती है। अतः नियंत्रण के इन साधनों का कोई बहुत अधिक महत्त्व नहीं है क्योंकि स्वयं पार्लिमेंट बहुत बार ऐसी व्यवस्था कर चुकी है और अब भी करती है जिसके द्वारा अधीनस्थ अधिकारी इसके द्वारा बनाये हुये क़ानूनों के अंशों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित परिस्थिति को सामने रखकर संशोधित, या परिवर्तित कर कार्यान्वित कर सकें है। राम्जे म्योर का कथन है कि १९२५ के दर तथा मूल्य क़ानून के संबंध में मंत्री को आदेश निकालने का केवल साधारण अधिकार ही नहीं दिया गया था, वरन् इस संबंध में जो भी महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक था उसके विषय में भी उसको अधिकार दे दिये थे। सबसे अधिक उल्लेखनीय बात तो यह थी कि ऐसी व्यवस्था कर दी गई थी कि क़ानून को पूर्ण बनाने के लिये मंत्री इस क़ानून की धाराओं में संशोधन कर सकता है।[1]

१—राम्जे म्योर—हाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड I, पृ० ६१-६२

इसके अतिरिक्त, कार्यवाहक आदेशों को निकालने की यह प्रणाली, जो समाज स्वास्थ्य क़ानून (१८४२) से आरम्भ हुई थी, स्थानीय शासन-क़ानून (१९३३) ऐसे क़ानूनों में अब भी पायी जाती है। इसने कार्यकारिणी को बहुत से अधिकार दे रक्खे हैं। कार्य-वाहक आदेश का अर्थ सरकारी विभाग द्वारा बनाये हुए आर्डिनेंस से है जो एक निश्चित अवधि के पश्चात क़ानून का रूप धारण कर लेता है। इस काल में इसको क़ानूनी रूप देने के लिये या तो पार्लिमेंट से प्रार्थना की जा सकती है या स्वयं पार्लिमेंट इसकी पुष्टि कर देती है। अर्थात् इसको कार्यवाहक-आदेश-पुष्टीकरण क़ानून में सम्मिलित कर लिया जाता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में स्वयं विभाग ही इसको पुष्ट करता है। इसी प्रकार कार्यवाहक नियमों (कार्यवाहक आदेशों से भिन्न) के संबंध में यद्यपि ऐसी व्यवस्था रहती है कि एक निश्चित समय तक वे अकार्य रहते हैं परन्तु आवश्यकता के कारण तुरंत ही उनको कार्यान्वित किया जाता है।

अधिकार हस्तान्तरण के परिणाम

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट है कि (१) जैसे-जैसे विभागों का शासन पर नियंत्रण बढ़ता जाता है वैसे-वैसे पार्लिमेंट की शक्ति क्षीण होती जाती है; और समयाभाव के कारण पार्लिमेंट बहुत अंशों में अपने नियंत्रण के अधिकार को सौंपती जाती है। केवल इतना ही नहीं; (२) ऐसे अधिकार हस्तान्तरण से न्यायालयों का भी अधिकार-क्षेत्र कम हो गया है। जब अगर किसी विशेष क़ानून के अन्तर्गत पास किये गये आदेशों तथा नियमों को भी पार्लिमेन्ट उतना ही शक्तिशाली करार दे देती है जितना उस विशेष क़ानून को तो स्वभावतः न्यायकारिणी के अधिकार इस सम्बन्ध में कम हो जाते हैं। एलेन का कहना है कि अधिकार-हस्तान्तरण का यह रूप हस्तान्तरण से अधिक है—यह कार्यकारिणी को केवल डेलीगेट ही नहीं बनाता, यह उसको प्रतिनिधि बना देता है।

अधिकार-हस्तान्तरण का आरम्भ

राज्यधिकारियों तथा सरकारी विभागों को न्यायात्मक तथा अर्ध-न्यायात्मक अधिकार देने की प्रणाली का आरम्भ शिक्षा-क़ानून (१९०२), अर्थ-क़ानून (१९१०) तथा राष्ट्रीयबीमा-क़ानून (१९११ और १९१३) से हो चुका था। इन क़ानूनों ने शिक्षा-अधिकारियों, बीमा कमिश्नरों तथा करकमिश्नरों को बहुत से न्यायात्मक अधिकार दिये थे। सन् १९११ के पार्लिमेंटीय क़ानून ने तो कामन्स सभा के सभापति को भी, यह क़ानून पास करके कि जो प्रमाण-पत्र वह देगा उसके विरुद्ध न्यायालय नहीं जा सकते, क़ानून से परे कर दिया था। सन् १९१४-१९ के युद्ध-काल में राष्ट्रीय आवश्यकताओं को देख कर सरकारी विभागों ने एक बड़ी संख्या में नियम निकाले थे; पार्लिमेंट को देश-रक्षा-क़ानून (१९१४) तथा क्षतिपूर्ति क़ानून पास करना पड़ा था जिनके कारण शासन-क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया था और इन क़ानूनों के विरुद्ध न्यायालय में कोई शिकायत नहीं हो सकती थी। सन् १९२१ के शिक्षा क़ानून ने शिक्षा-बोर्ड को प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा के विषय में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार दे दिया था। ऐसे ही

अधिकार सन् १९२५ के निवास क़ानून द्वारा स्वास्थ्य मंत्री को भी दिये गये थे। आज भी स्वास्थ्य मंत्री, शिक्षा-बोर्ड, व्यापारबोर्ड, यातायात मंत्री, रेलवे-दर समिति इत्यादि अपने-अपने अधिकार क्षेत्रों में अन्तिम निर्णायक हैं। इसका अर्थ यह है कि इनके निर्णयों के विरुद्ध साधारण न्यायालयों में अपील नहीं हो सकती।[1] यह शिक्षा और स्वास्थ्य ही के संबंध में ही ऐसा नहीं हैं; दरिद्र क़ानून, राजमार्ग, पुलीस, लायसेंस देने और दर निश्चित करने के संबंध में भी ऐसा ही है। इस प्रकार स्थानीय सरकारों, बहुत सी स्वतंत्र संस्थाओं तथा सरकारी विभागों को केवल क़ानून निर्माण करने ही का अधिकार नहीं दे दिया गया है वरन बहुत से अवसरों में उनको स्वयं अपना ही निर्णायक बना दिया गया है और साधारण न्यायालयों का नियंत्रण बिलकुल उठा दिया गया है।

प्रबन्धात्मक न्यायालयों के दोष

यह सच है कि इस प्रणाली से पार्लिमेंट का समय बच जाता है परन्तु इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे न्यायालयों की सत्ता का अन्त हो जाता है।[1] विभाग निरंकुश और उत्तरदायित्वशून्य हो जाते हैं। जब पार्लिमेंट क़ानून बनाती है तो बिल पर सार्वजनिक रूप में वाद-विवाद होता है और उसकी आलोचना की जाती है[1] परन्तु विभाग की व्यवस्थायें तो सरकारी अधिकारियों के कार्य होते हैं। अतः वैभागिक न्यायालय भी गोपनीय ढंग से कार्य करते हैं और उनके निर्णयों को प्रकाश में नहीं लाया जाता। वे विरोधी पक्षों को अपनी आपत्तियाँ प्रकट करने का मौका नहीं देते और उन्हें उस प्रमाण का भी पता नहीं चलता जिसके आधार पर निर्णय दिया जाता है। उनकी कार्यवाहियों को भी संग्रहीत नहीं किया जाता और निर्णय देने के पश्चात उसकी अपील भी नहीं हो सकती। यह कार्य और भी आपत्तिजनक है क्यों कि यदि अपील का डर रहता तो निर्णयों में विवेक से काम लिया जाता और इस प्रकार अविचारपूर्ण जल्दबाजी में दिये हुये तथा ग़लत निर्णय पर रोक लग जाती।[2]

१—राम्जे म्योर कृत 'पुस्तक' हाउ ब्रिटेन इज़ गवर्न्ड के पृ० ६२ को मंत्री के झगड़े तय करने के अधिकार के अतिरिक्त उसकी अन्तिम निर्णायक शक्ति के लिये देखिये।

२.—सी० के० एलेन—ब्युरोक्रेसी ट्राइम्फ़ेन्ट, पृ० ८

रॉब्सन ने भी अपनी पुस्तक 'जस्टिस एन्ड एडमिनिस्ट्रेटिव ला' के पृ० २७५-२८८ में प्रबंधात्मक न्यायालयों के निम्नलिखित दोष दिखलाये हैं :—

(क) उनमें प्रकाशन का अभाव

(ख) उनकी कार्यवाईयों में रहस्य तथा गोपन

(ग) निर्णीत मामलों के संबंध में कारण न देना अथवा रिपोर्ट न प्रकाशित करना

(घ) बहुत से मामलों में सुनवाई न होना

(ङ) निर्णयों के आधार बनने वाले प्रमाणों का अशक्त तथा असन्तोषजनक होना।

दो सुधार

कार्यकारिणी के इस बढ़ते हुये हस्तक्षेप[1] को ही देखकर नागरिक की स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु सुधार के दो सुझाव पेश किये गये हैं। पहला सुझाव यह है कि जहाँ प्रबन्धात्मक न्यायालय हैं, वहाँ उनके स्वरूप को पूर्णतया न्यायात्मक बना कर कार्यकारिणी के नियंत्रण से मुक्त कर देना चाहिये। अर्थात् विशेष मामलों के संबंध में उन मामलों के विशेषज्ञ न्यायाधीशों से युक्त न्यायालय स्थापित होने चाहिये।

दूसरा सुझाव यह है कि कुछ दशाओं में प्रबन्धात्मक न्यायालय से ऊपर अपील करने की व्यवस्था अथवा मंत्री के निर्णय के विरुद्ध साधारण न्यायालय में अपील करने की व्यवस्था होनी चाहिये।[2]

प्रबन्धात्मक क़ानून के विरुद्ध पुरानी आपत्ति न पूर्णतः सही है और न पूर्णतः ग़लत

'सब के लिये एक सा क़ानून' के वाद-विवाद से जिसमें क़ानून का शासन, तथा 'प्रबन्धात्मक क़ानून' का समावेश है, अब यह स्पष्ट हो जाता है कि इंगलैंड तथा फ्रान्स में सन् १६३६-४५ के युद्ध के पहले नागरिक स्वतंत्रता का ध्यान तो बहुत रक्खा जाता था परन्तु शासन के कार्यों में वृद्धि हो जाने के कारण न्यायकारिणी के अधिकार क्षेत्र पर आक्रमण हुआ है। प्रबन्धात्मक क़ानून तथा प्रबंधात्मक न्यायालय के विरुद्ध पुरानी आपत्ति, कि नागरिक के साथ इस प्रणाली में न्याय नहीं हो सकता क्योंकि यह सदैव राज्याधिकारी का पक्ष लेगी, पूर्णरूप से ठीक नहीं है क्योंकि जैसा कि हमने पहले पृष्ठों में देखा है फ्रान्स ने इसे ग़लत सिद्ध कर दिया है। परन्तु यह पूर्णतः ग़लत भी नहीं है क्योंकि जो प्रबंधात्मक मामलों को तय करते हैं (जैसे कि इंगलैंड में भी) वे न्यायाधिकारी नहीं होते।

१—डब्लु० ए० राब्सन अपनी पुस्तक 'जस्टिस एन्ड एडमिनिस्ट्रेटिव ला' के पृष्ठ ३२-३३ में कहता है कि १६वीं, २०वीं शताब्दी में शासन के कार्यों में वृद्धि, स्वास्थ्य सुरक्षितता तथा सारे राष्ट्र के सामान्य हित के लिये व्यक्तिगत अधिकारों, व्यवसाय-प्राप्ति, रहन-सहन तथा लोगों की प्राथमिक आवश्यकतायें पर नियत्रण होने के साथ-साथ साधारण न्यायालय में मुक़दमेबाज़ी की मँहगी, विशाल प्रणाली की अपेक्षा सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल मामलों के तय करने की योजना की आवश्यकता महसूस हुई है। इसमें संदेह नहीं कि इंगलैंड में प्रबंधात्मक क़ानून के पुनरुद्धार का सबसे बड़ा कारण समाज के विरुद्ध नये प्रकार के अपराधों का जन्म, सामाजिक अधिकारो की नयी धारणा का विकास, सार्वजनिक हित का तीव्रतर विचार तथा १६वीं शताब्दी के व्यक्तिगत अधिकारों की कमी में विश्वास है।'

इस प्रकार यह पूरा तर्क लास्की के कथन प्रबंधात्मक क़ानून आज के राज्य की प्रकृति में निहित है, इसका पूरक है।

२—लास्की के सुझाओं के लिये उसकी पुस्तक 'दि पार्लिमेंटरी गवर्नमेंट इन इंगलैंड' पृ० ३५८ देखिये।

प्रबन्धात्मक कानून के गुण

बहर हाल जो लोग प्रबंधात्मक क़ानून तथा प्रबंधात्मक न्यायालयों के पक्ष में हैं वे राब्सन के अनुसार, निम्नलिखित कारणों से इसको पसन्द करते हैः[1]

(१) मितव्ययिता और शीघ्रता जो उनके कार्यों में पाई जाती है।

(२) विशेषता तथा अनुभव जो विशेष क्षेत्रों में न्यायात्मक कार्य के लिये उपयोग में लाये जाते हैं;

(३) सहायता जो शासन-प्रबंध को सुचारू रूप से चलाने के लिये प्राप्त हो जाती है;

(४) और योग्यता जो नये माप-दंड निश्चित करने तथा सामाजिक उन्नति की नीति को अग्रसर करने के लिये काम में लायी जाती है।

न्यायकारिणी की स्वतंत्रता, तथा सभी के लिये एक सा क़ानून जिसमें क़ानून का शासन तथा प्रबंधात्मक कानून आ जाते हैं, पर विचार करने के पश्चात् न्याय-प्रणाली की तीसरी विशेषता-न्याय पंचों की स्वतंत्रता पर कुछ कहना शेष रह जाता है।

(ग) पंचप्रणाली

फ्रांस में जनता के दृष्टिकोण से पंच न्याय प्रणाली को केवल परिहास ही नहीं कहा गया, बल्कि 'बहुत बुरा परिहास कहा गया है' क्योंकि, तथ्यसम्बंधी कठिन समस्यायों को निर्णय के लिये साधारण शिक्षा तथा बुद्धि वाले बारह मनुष्यों को सौंप देना बेतुकापन तथा अयोग्यता के सिवा और कुछ नहीं है। इसमें दलगत पक्षपात भी स्थान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु सत्य यह है कि न्याय प्रणाली न्याय करने का अच्छा साधन है क्योंकि फ़ौजदारी के मुक़द्दमें में कुछ दायित्वपूर्ण तथा पक्षपातशून्य व्यक्ति दोनों पक्षों के प्रमाण लेते हैं और वे न्यायाधीश के साथ-साथ यह निश्चय करते हैं कि क़ानून को भंग किया गया अथवा नहीं। एक स्वतंत्रतथा पक्षपात शून्य पंच कोई परिहास नहीं है वरन् न्याय की गारंटी है। वे खुले मस्तिष्क से आते हैं और न्यायकारिणी के पक्षपात के विरुद्ध नियंत्रण का कार्य करते हैं।

१—राब्सन—जस्टिस एंड एडमिनिस्ट्रेटिव ला पृ० २६२-२७५

विलोबी—दि गवर्न्मेंट ऑफ मॉडर्न स्टेट पृ० ३३२

ई० एम० सेट—गवर्न्मेंट एन्ड पॉलिटिक्स ऑफ फ्रान्स, पृ० ३८२-३८२

लास्की—दि पार्लिमेंटरी गवर्न्मेंट इन इंगलैंड, पृ० ३५१ और ३५५

अध्याय १३

स्थानीय शासन

राज्य का प्रादेशिक विभाजन

राज्य के प्रादेशिक विभाजन के सम्बन्ध में हम पढ़ चुके हैं। हमने यह भी देख लिया है कि किस प्रकार एकात्मक राज्यों का विभाजन केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में होता है और संघीय राज्यों का संगठन संघ-सरकार तथा रियासतों या सदस्य राज्यों की सरकारों में होता है। इसके अलावा प्रत्येक राज्य को शासन-प्रबन्ध के लिये इससे भी छोटे भागों में बाँट दिया जाता है जैसे ज़िले, काउन्टी, नगर तथा कम्यून इत्यादि। शासन की इन्हीं छोटी इकाइयों को स्थानीय शासन का नाम दिया गया है।

स्थानीय शासन की आवश्यकता

इस सम्बन्ध में सबसे पहला सवाल जो हम लोगों के सम्मुख उपस्थित होता है यह है कि आखिरकार 'स्थानीय शासन की आवश्यकता ही क्या है'? हमारा उत्तर यह है कि सर्वप्रथम तो केन्द्रीय शासन द्वारा राज्य के सभी कार्यों का सम्पादन नहीं हो सकता क्योंकि न केवल आधुनिक राज्य क्षेत्र और विस्तार में बड़े है वरन् हमारी सभ्यता भी अत्यन्त जटिल होती जा रही है। इसलिये कोई भी केन्द्रीय शासन शासन-प्रबन्ध के हर एक मद का निरीक्षण स्वयं नहीं कर सकता। कितने कार्य असंख्य स्थानीय अफ़सरों द्वारा किये जायंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि केन्द्रीय शासन राष्ट्रीय महत्व की समस्यायों से ही लदा है। इसके कर्मचारियों के लिये सभी स्थानों की विशेष समस्यायों तथा आवश्यकताओं की देखभाल करना असम्भव ही है।

दूसरे, यह भी देखा गया है कि अगर किसी देश की हुकूमत एक ही केन्द्र से की जाती है तो शासन कर्मचारियों का यन्त्र हो जाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि पूर्णरूप से केन्द्रीकरण हो जाने का परिणाम अफ़सरों का शासन होता है जो स्वभावतः निरंकुश होता है और लोकमत की कोई परवाह नहीं करता। बड़े कर्मचारी प्रायः निश्चित कार्य-क्रम को ही ध्यान में रखते हैं, सार्वजनिक भलाई को नहीं।

तीसरे, केन्द्रीय शासन के कर्मचारी तथा राष्ट्रीय सभाओं के जनप्रतिनिधि सार्वजनिक समस्यायों में तो दिलचस्पी ले सकते हैं किन्तु किसी छोटे गाँव या शहर की आवश्यकताओं में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रहती। इस प्रकार दिलचस्पी न होने के कारण स्थानीय समस्यायों की उपेक्षा होगी चाहे वे स्थानीय दृष्टिकोण से कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों। इसलिये स्थानीय संस्थायें ही स्थानीय समस्यायों को जोश तथा धुन के साथ सुलझावेंगी क्योंकि उनका इन समस्यायों से व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है जो किसी भी हालत में केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों को नहीं प्राप्त हो सकता।

चौथे, केन्द्रीय सरकार के सदस्यों से यह उम्मीद करना कि वे अपना समय और ध्यान स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति में देंगे उनसे अत्यधिक उम्मीद करना होगा। अगर वे ऐसा करते भी हैं तो वे अपने समय, बुद्धि तथा शक्ति को अनावश्यक चीजों में नष्ट करेंगे। इसके अलावा आवश्यक राष्ट्रीय समस्यायों को उन्हें छोड़ना भी पड़ेगा।

पाँचवें, अगर सरकारी अफसर किसी भाँति स्थानीय आवश्यकताओं के लिये अपना ध्यान व समय दे भी सकते हैं तो स्थानीय जिन्दगी के लिए उनका सम्बन्ध हितकर न होगा। लोग अपनी समस्यायों में दिलचस्पी लेना बन्द कर देंगे। वे यही उम्मीद करेंगे कि उनके सभी कार्य सरकारी अफसरों द्वारा कर दिये जायें। इससे उनकी बुद्धि, साहस तथा शक्ति का विकास होना ही नहीं बन्द हो जायगा, उनमें से उत्तरदायित्व की भावना भी जाती रहेगी। सोचने तथा अनुभव प्राप्त करने का सभी उत्साह समाप्त हो जायगा और इससे आविष्कार तथा उपाय-चिन्तन की शक्ति का भी ह्रास होगा। कॉनरड गिल भी हमारे उपरोक्त कथन से सहमत हैं। "अगर किसी नगर की कौंसिल कोई व्यावसयिक स्कूल कायम करती है या ट्राम्बे चलाती है तो इसके सदस्यों तथा नगर के लोगों को इसका अभिमान होता है और वे इसे सफल बनाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु अगर केन्द्रीय सरकार द्वारा उन्हें ऐसी संस्थाओं को कायम करने का हुक्म दिया जाता है, उनसे कहा जाता है कि स्कूल अमुक स्थान पर खोला जायगा और उसमें अमुक विषय पढ़ाये जायँगे, या उन्हें इस बात का आदेश दिया जाता है कि अमुक किस्म की गाड़ियाँ चलेंगी, अमुक सड़कों से होकर जायँगी और इतना किराया लिया जायगा तो लोगों की दिलचस्पी इन चीजों के प्रति कम हो जाती है। इसलिये स्थानीय संस्थाओं को अपनी इच्छानुसार काम करने की स्वतन्त्रता देकर लोगों को उत्साह दिया जा सकता है और उनकी शक्तियों का विकास हो सकता है। इससे जाति को काफी फायदा होता है'।[1]

छठवें, स्थानीय शासन से शासन-प्रबन्ध में मितव्ययिता आती है। यह इसलिये नहीं होता कि केन्द्रीय सरकार के अफसरों की संख्या कम हो जाती है वरन् इसलिये कि स्थानीय मामलों का खर्चा उन्हीं स्थानों द्वारा अदा होता है। इसलिये स्थानीय मामलों पर राष्ट्रीय कोष का पैसा नहीं खर्च होता है। उसका प्रयोग राष्ट्रीय महत्व के मामलों पर होता है।

सातवें, स्थानीय प्रतिनिधि संस्थाओं को जन्म देकर प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं में लोगों की रुचि कायम रक्खी जाती है। इस प्रकार लोकप्रिय शासन के दृष्टिकोण से ये संस्थायें शिक्षाप्रद भी हैं। सेजविक ने भी इसी चीज पर जोर दिया है। उसके अनुसार 'प्रतिनिधि शासन की जो भी शिक्षाप्रद अच्छाइयाँ हैं वे स्थानीय संस्थाओं के विकास पर आधारित हैं।'

De Tocqueville ने इसी चीज को अधिक जोरदार शब्दों में कहा है। उसका कथन है कि 'स्वतन्त्र राष्ट्रों की शक्ति नागरिकों की स्थानीय सभाओं पर कायम

१—कॉनरड गिल— गवर्नमेन्ट एण्ड पीपुल,' पृष्ठ ६८-६६

है। स्वाधीनता के लिये नगर सभाओं की वही अहमियत है जो विज्ञान के लिये प्राथमिक स्कूलों की; वे इसे सर्व साधारण तक पहुँचाती हैं, उन्हें इसका उपयोग बताती हैं। एक राष्ट्र स्वतन्त्र शासन प्रणाली स्थापित कर सकता है किन्तु म्युनिसिपल संस्थाओं की भावना के बगैर स्वाधीनता की भावना असम्भव है'।

अन्त में यह भी कहा गया है कि स्थानीय संस्थाओं को शासन की कुछ शक्ति देकर शासन संगठन में शक्ति का संतुलन भी हो जाता है। ये संस्थायें सरकारी कर्मचारियों के अनावश्यक हस्तक्षेप को रोकती हैं और इस प्रकार शासन के हस्तक्षेप का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

सारांश

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्थानीय शासन की प्रणाली केवल इसीलिये नहीं आवश्यक है कि केन्द्रीय शासन का काम कम हो जाता है, बल्कि इसलिये भी कि लोग स्वयं अपनी आवश्यकताओं को समझ सकें। इस अर्थ में यह केवल शिक्षाप्रद ही नहीं है, इससे लोगों में नागरिकता की कला में रुचि उत्पन्न होती है और उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाता है कि उनके पड़ोस[१] की उन्नति उन्हीं के ऊपर निर्भर है। इससे यह भी स्पष्ट है कि विभिन्न स्थानों की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति वहीं के निवासियों द्वारा अच्छी तरह की जा सकती है। केन्द्रीय शासन एकता स्थापित करने का प्रयत्न करेगा और इस प्रयत्न में विभिन्न स्थानों की अलग-अलग आवश्यकताओं की उपेक्षा हो सकती है। इसके आदेश तथा योजनायें एक निश्चित मापदण्ड के अनुसार बाहर से आयेंगी; वे लोगों की स्वाभाविक इच्छा के परिणाम-स्वरूप न होंगी। एक शब्द में स्थानीय शासन न केवल 'केन्द्र की मूर्छा और सीमाओं की रक्तहीनता को रोकता है, यह स्थानीय जीवन में नया रक्त भरता है जिससे मस्तिष्क को कार्य करने में सहायता मिलती है और रक्त का दौरा अच्छी तरह होने लगता है।'

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी प्रकार का निरीक्षण नहीं होना चाहिए। केन्द्रीय सरकार की तरफ से स्थानीय संस्थाओं के कार्यों पर कुछ नियन्त्रण या निरीक्षण रहना आवश्यक है क्योंकि कुछ ऐसे विषय हैं जिनको समस्त देश में समान होना चाहिए जैसे शिक्षा का मानदण्ड देश भर में एक ही होना चाहिए। इसके अलावा कुछ विषय ऐसे भी हैं जिन्हें सदैव स्थानीय संस्थाओं के वश के बाहर रहना चाहिए जैसे डाक तथा तार विभाग इत्यादि। इसका यह अर्थ हुआ कि सामाजिक हित के लिये सभी सर्वसाधारण समस्याओं को तथा कर लगाने और मालगुजारी निश्चित करने और राष्ट्र के यातायात के साधन सम्बन्धी सभी मसलों को केन्द्रीय सरकार द्वारा ही निश्चित करना चाहिए। साधारण तौर से यह नियन्त्रण तथा निरीक्षण दो तरीकों से किया जाता है।

१—कृपया लास्की की 'ए ग्रामर ऑफ़ पॉलिटिक्स' पृष्ठ ४११-१२ देखिये। इसमें आपको विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति तथा पड़ोस की उन्नति में निवासियों की दिलचस्पी पर अच्छी टिप्पणी मिलेगी।

(१) समय-समय पर केन्द्रीय सरकार स्थानीय संस्थाओं को विभिन्न मसलों पर राय देकर और (२) कभी-कभी सरकारी इन्सपेक्टरों आडिटरों तथा दूसरे अफ़सरों की रिपोर्ट द्वारा।

स्थानीय-शासन और प्रान्त

स्थानीय शासन की आवश्यकता तथा उसके महत्व के बारे में जान लेने के पश्चात् हम इस शब्द का वास्तविक अर्थ जानने का प्रयत्न करेंगे। आधुनिक समय में इस शब्द का भ्रमात्मक प्रयोग होने लगा है। अपने ही देश में हम पाते हैं कि इस शब्द का 'प्रान्तीय शासन' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार द्वारा कई अवसरों पर संयुक्त प्रान्त, पंजाब या दूसरे प्रान्तों के शासन के लिये स्थानीय शासन का प्रयोग किया गया है। किन्तु इस अध्याय में हम इसका अध्ययन इस अर्थ में नहीं कर रहे हैं। स्थानीय शासन से हमारा तात्पर्य उन छोटे क्षेत्रों के शासन से है जिनमें शासन प्रबन्ध की सुलभता के कारण प्रान्तों को विभाजित किया जाता है।

स्थानीय शासन और स्थानीय स्वायत्त शासन

किन्तु इस शब्द का अर्थ इतना कहने से भी स्पष्ट नहीं होता। प्रायः स्थानीय शासन तथा स्थानीय स्वायत्त शासन में अन्तर दिखाया जाता है। भारतवर्ष में स्थानीय शासन के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकार के वे सभी अफ़सर आ जाते हैं जो डिवीजन, ज़िला, तहसील, परगना और गाँव का शासन करते हैं। इस प्रकार कमिश्नर, कलक्टर, तहसीलदार, क़ानूनगो तथा गाँव का मुखिया सभी स्थानीय अफ़सर हैं। लेकिन स्थानीय स्वायत्त शासन में केवल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्ड ही आते हैं। यहाँ देहात तथा नगर के मामलों की देख भाल जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होती है।

स्थानीय शासन पर सेजविक तथा हैरिस के विचार

भारतवर्ष में तो स्थानीय शासन तथा स्थानीय स्वायत्त शासन का अन्तर काफ़ी स्पष्ट हो गया है। किन्तु साधारण तौर पर इन शब्दों का प्रयोग अत्यन्त भ्रमात्मक होता है।

इस प्रकार सेजविक स्पष्ट रूप से कहता है कि 'एकात्मक राज्यों में स्थानीय शासन उन गौण संस्थाओं को मिला कर बनता है जिन्हें अपने सीमित शासन-क्षेत्र में नियम तथा प्रतिबन्ध लगाने का निश्चित अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के स्थानीय अफ़सर स्थानीय शासन के अन्तर्गत नहीं आते।' इसी प्रकार हैरिस ने स्थानीय स्वायत्त शासन का प्रयोग दो विचारों को व्यक्त करने के लिये किया है। इनमें से पहला यह है कि स्थानीय शासन को अपने क्षेत्र में सभी बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र होना चाहिए। किन्तु इस अर्थ में पूर्ण स्थानीय स्वायत्त शासन एक प्रतिवाद मात्र होगा क्योंकि जिस संस्था को यह अधिकार प्राप्त होगा वह सर्वप्रधान होगी और इसलिये 'स्थानीय' नहीं रह सकती। इसलिये यहाँ प्रश्न यह है कि स्थानीय शासन को किस अंश में स्वतन्त्रता प्राप्त है—चाहे दूसरी स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में या

केन्द्रीय शासन के। इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वाह्य नियन्त्रणों से केवल स्वतन्त्रता मात्र से ही स्वायत्त शासन के सिद्धान्त की पूर्ति नहीं होती। इसके साथ दूसरी जरूरी चीज यह है कि शासन-प्रबन्ध में जाति के सभी लोग हिस्सा बटायें। लेकिन यहाँ भी प्रश्न मात्रा का ही हो सकता है। यद्यपि आज भी कहीं-कहीं सभी नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष शासन का उदाहरण मिलता है किन्तु आधुनिक राज्यों में अधिक जनसंख्या के कारण यह उसी सीमा तक सम्भव हो सकता है जितना रेफ़रेन्डम ऐसी प्रथाओं से प्राप्त है।[1] अतः इन दोनों लेखकों के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय शासन तथा स्थानीय स्वायत्त शासन का भेद बताना आसान काम नहीं।

गिल्क्राइस्ट का विचार

गिल्क्राइस्ट ने इस भ्रम को भली भाँति दिखलाया है। उसका कहना है कि स्थानीय शासन की सही परिभाषा देना असम्भव है। इसका वर्णन किया जा सकता है किन्तु परिभाषा नहीं। परिभाषा सीमाबद्ध होती है और हम स्थानीय शासन तथा केन्द्रीय शासन को पृथक नहीं कर सकते।

यह कहने की अपेक्षा कि स्थानीय शासन क्या है यह कहना आसान है कि यह क्या नहीं है। केन्द्रीय शासन के स्थानीय अफ़सर द्वारा शासन स्थानीय शासन नहीं है। न बंगाल की भाँति के शासन को ही स्थानीय शासन कह सकते हैं। प्रशा[2] और न्यूयार्क की भाँति संघीय राज्यों की अलग-अलग रियासतों को भी स्थानीय शासन नहीं कहा जा सकता। वे संघ राज्य के प्रान्त हैं जिनके अपने स्थानीय शासन होते हैं। एक अर्थ में तो वे स्थानीय शासन कहे जा सकते हैं क्योंकि वे ऐसी गौण संस्थायें हैं जिन्हें अपने सीमित क्षेत्र में क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। किन्तु जहाँ स्थानीय शासनों का अस्तित्व केन्द्रीय शासन पर निर्भर होता है वहाँ इन प्रान्तों को राज्य के विधान द्वारा निश्चित स्थान मिलता है और जिसमें केन्द्रीय शासन द्वारा किसी भाँति का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता।[3] इसी लेखक का पुनः कहना है कि "स्थानीय शासन को परिभाषा के अन्दर लाना असम्भव है। कुछ लोगों के अनुसार इसके अन्तर्गत (डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्ड की तरह को) स्थानीय संस्थाय ही नहीं आतीं बल्कि केन्द्रीय शासन के स्थानीय कर्मचारी भी आ जाते हैं। संघीय राज्यों में प्रान्तीय शासन को भी स्थानीय कह सकते हैं।" भारतवर्ष में 'स्थानीय स्वायत्त शासन' शब्द का बड़ा प्रचार हो गया है और इसका प्रयोग किताबों में स्थानीय शासन के लिये भी किया जा सकता है। इस प्रकार इसमें केन्द्रीय शासन को छोड़कर सभी प्रकार का शासन आ जाता है।

१—हैरिस—'लोकल गवर्नमेन्ट्स इन मेनी लैण्डस'।
२—ऐसा १६१८ ई० के पूर्व के जर्मन साम्राज्य में था।
३—गिलक्राइस्ट—प्रिन्सिपिल्स ऑफ़ पोलिटिकल साइंस,' पृष्ठ ३६४

भारतवर्ष में स्थानीय शासन तथा स्थानीय स्वायत्त शासन का अर्थ

स्पष्ट हो गया कि उपरोक्त दोनों शब्दों का प्रयोग इतना भ्रमात्मक हुआ है कि उनका वास्तविक अर्थ बताना आसान काम नहीं। इसलिये भारतवर्ष के सम्बन्ध में उनके प्रचलित प्रयोग को हम फिर से दुहराते हैं :—

(अ) स्थानीय शासन का प्रयोग कभी-कभी प्रान्तीय सरकार के लिये भी होता किन्तु प्रायः इसका तात्पर्य प्रान्तीय सरकार के स्थानीय अफसरों से रहता है।

(ब) स्थानीय स्वायत्त शासन का तात्पर्य निश्चित रूप से डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्ड के संगठन से होता है। इनमें अपनी देहाती तथा शहरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन में हिस्सा बँटाना आवश्यक रहता है।

संक्षेप में स्थानीय शासन का प्रयोग शासनशृंखला की सबसे नीचे की कड़ी के लिये किया जाता है और स्थानीय स्वायत्त शासन का तात्पर्य उस शिक्षा से है जो जनता को स्वायत्त शासन की कला में दी जाती है।

स्थानीय शासन की आवश्यकता तथा उसके वास्तविक अर्थ पर विचार कर लेने के पश्चात यह जरूरी हो जाता है कि हम केन्द्रीय शासन तथा स्थानीय शासन के भेद को स्पष्ट करें।

स्थानीय तथा केन्द्रीय शासन का अन्तर

केन्द्रीय तथा स्थानीय शासन का अन्तर क्षेत्र तथा जन-संख्या के आधार पर नहीं है। भारतवर्ष ही में हम देखते हैं कि एक डिवीजन या जिले का क्षेत्र और जन-संख्या राजपूताना की लावा रियासत तथा मोनाको के राज्य से कहीं ज्यादा होती है। लावा रियासत का क्षेत्रफल केवल १९ वर्ग मील है और मोनाको का तो केवल ८ वर्ग मील। इस प्रकार जैसा कि लीकॉक ने कहा है 'वास्तविक अन्तर अंशतः उनकी वैधानिक स्थिति में और अंशतः उनके द्वारा किये गये सार्वजनिक कार्यों में होता है'।[1] जहाँ तक वैधानिक स्थिति का प्रश्न है हम कह सकते हैं कि साधारण तौरपर स्थानीय शासन केन्द्रीय शासन द्वारा निर्माण किया जाता है और इसका अस्तित्व केन्द्रीय शासन की इच्छा पर निर्भर है। न केवल डिविजन तथा जिलों का बनाना और बिगाड़ना इसके हाथ में है बल्कि यह स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विधान को भी वापस ले सकता है। सार्वजनिक कार्यों तथा कर्त्तव्यों के बारे में हम यह कह सकते हैं कि कुछ कार्य ऐसे हैं जिनका सम्पादन केन्द्रीय शासन द्वारा ही होना चाहिए। यह इसलिये जरूरी है कि कुछ कार्यों में समता क़ायम रखना पड़ता है और कुछ राष्ट्रीय महत्व के होते हैं। इस प्रकार विदेशी नीति तथा रक्षा सम्बंधी कार्य केन्द्रीय शासन के जिम्मे इसलिये होना चाहिए कि वे राष्ट्रीय महत्व के हैं और मालों पर कर लगाने का कार्य इसके द्वारा इसीलिये होना चाहिए कि इस सम्बंध में देश भर में समता होनी चाहिए। इसलिये स्थानीय संस्थाओं को केवल ऐसे ही कार्य सौंपे जा सकते हैं जो स्थानीय और प्रादेशिक महत्व

१—लीकॉक—'एलीमेन्ट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स' पृष्ठ २७५

के हों। ऐसे कार्यों में स्थानीय सड़कों तथा गलियों का बनवाना, रोशनी का प्रबंध करना, पानी तथा सफाई का प्रबंध करना और बाग़, अस्पताल, पुल, स्कूल का बनवाना और उनका निरीक्षण करना इत्यादि, हैं।[1]

म्युनिसिपल बोर्ड के कर्त्तव्य

भारतवर्ष में इन सबकी देखभाल म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों द्वारा की जाती है। इसीलिये इनका सम्बंध स्थानीय स्वायत्त शासन से रहता है। बम्बई के म्युनिसिपल कानून (१९०१) ने इन कर्तव्यों को अनिवार्य (obligatory) तथा ऐच्छिक (discretional) में बाँटा था। यल. डी. अपसन ने इनकी अच्छी सूची तैयार की है जो निम्नलिखित है[2] :—

अ. जनता की प्रत्यक्ष सेवा।

१—सांस्कृतिक उन्नति के क्षेत्र में।

(१) शिक्षा का प्रबन्ध करना।
(२) पुस्तकालयों का प्रबंध करना।
(३) कला का प्रबंध।
(४) मनोविनोद के साधनों का प्रबंध।
(५) बाग तथा उद्यानों का प्रबंध।

२. सामाजिक तथा शारीरिक नियंत्रण के क्षेत्र में।

(६) निर्धनों की देखभाल।
(७) बीमारी को रोकना और उसका दमन करना।
(८) समाज विरोधी कार्यों को रोकना तथा उनका दमन करना।
(९) आग को रोकना तथा बुझाना।
(१०) अपराधियों को ठीक करना।
(११) नगर की उन्नति के लिये योजना बनाना।
(१२) इमारतों पर नियन्त्रण रखना।
(१३) गमनागमन पर नियन्त्रण रखना।

३. सार्वजनिक भलाई के क्षेत्र में।

(१४) पानी का प्रबन्ध करना।
(१५) गर्मी, रोशनी तथा शक्ति का प्रबन्ध तथा नियन्त्रण।
(१६) मार्गों का प्रबन्ध करना।

१—डब्ल्यु० आई० जेनिंग्स 'ब्रिटिश कान्स्टीटयूशन' में लिखते हैं :—यह ठीक कहा गया है कि आधुनिक सभ्यता के आधार नाले और नालियाँ हैं; और स्थानीय संस्थाओं का कर्त्तव्य सार्वजनिक स्वास्थ्य की परवाह करना ही नहीं है बल्कि शिक्षा, पुलिस, योजना इत्यादि की देखभाल करना भी, (पृ० ११६-११७)

२—अपसन—प्रेक्टिस ऑफ म्युनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० ८-९

(१७) सार्वजनिक लोगों के आने-जाने का तथा सामान भेजने का प्रबन्ध करना।
(१८) रद्दी चीजों को इकट्ठा करना तथा उन्हें देखना।
(१९) गन्दा पानी तथा मलमूत्र को इकट्ठा कराना और उसे नष्ट करना।

ब अप्रत्यक्ष या ऊपर के कर्त्तव्य।

(१) निर्वाचनों की देखभाल करना।
(२) कानूनी राय तथा कार्य का प्रबन्ध।
(३) कर्मचारियों का नियन्त्रण।
(४) कर निर्धारण करना।
(५) आर्थिक मामलों की देखभाल करना, आर्डर करना और अर्थोपार्जन के लिये योजना बनाना।
(६) सार्वजनिक रुपया इकट्ठा करना, खर्च करना और इसकी देखभाल रखना।
(७) सामान तथा कर्मचारियों के भेजने का प्रबध करना (अगर केन्द्रीकरण होता है)
(८) सामान खरीदना।
(९) सार्वजनिक सम्पत्ति की देखभाल रखना।

स्थानीय स्वायत्त शासन की उत्पत्ति

स्थानीय स्वायत्त शासन के कर्त्तव्यों को देख लेने के पश्चात हम इसकी उत्पत्ति पर भी ध्यान दे सकते हैं। कुछ लेखकों का मत है कि इसकी उत्पत्ति प्रारम्भिक स्वायत्त शासन करने वाली जातियों से हुआ है। ब्राइस ने भी इसी मत का समर्थन किया है। उसका कहना है :—

"लोकप्रिय शासन की शुरुआत सबसे पहले छोटे क्षेत्रों में—देहात की जातियों और छोटे शहरों में हुई जहाँ केवल कुछ सहस्त्र स्वतंत्र नागरिक थे। इसका प्रारम्भिक रूप 'सभाओं' का था जिसमें सभी स्वतंत्र व्यक्ति इकट्ठा होकर मामलों पर वादविवाद तथा विचार करते थे और यद्यपि मुख्य परिवारों के अध्यक्षों का काफी प्रभाव पड़ता था फिर भी यहाँ जनवाणी तथा जनविचार का भी कुछ असर (निर्णय प्राप्त करने में) पड़ता था। इन सभाओं से ही प्रकट होता है कि अब मनुष्य बर्बरता से सभ्य तथा संगठित समाज की ओर अग्रसर हो रहा था। बहुत स्थानों पर इन जातियों का शासन किसी राजा द्वारा किया जाता था और कुछ अन्य स्थानों पर (जैसा कि आइसलैंण्ड में) वे स्वतंत्र थीं। किन्तु प्रत्येक स्थान पर लोग स्वतंत्र विचार रखने तथा सार्वजनिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सहयोग देने के आदी हुए'।[१]

भारतवर्ष में

भारतवर्ष में भी हमें इस किस्म की स्वायत्त शासन वाली जातियाँ प्रारम्भ से ही

१—ब्राइस-'माडर्न डिमोक्रैसीज' जिल्द १, पृष्ठ १४५

मिलती हैं और हमारे प्राचीन गाँवों की स्वतन्त्रता[1] तो लोक प्रसिद्ध है। ये सभायें जिन्हें हम पंचायत कहते हैं) हमेशा बाह्य खतरे से रक्षा करने तथा आन्तरिक शाँति क़ायम करने का कार्य हमेशा करती थीं। इसके अलावा जाति के भू-सम्पत्ति सम्बन्धी झगड़े भी पंचायतों द्वारा ही तय किये जाते थे।

स्वायत्त शासन लोकप्रिय शासन का परिणाम नहीं

कालान्तर में इन्हीं छोटी जातियों के विकास तथा दूसरी जातियों के समागम से राष्ट्रों का जन्म हुआ। अब सार्वजनिक रक्षा तथा आन्तरिक शान्ति क़ायम रखने का कार्य राज्यों द्वारा किया जाने लगा। इस प्रकार अब इन स्थानीय जातियों को केवल ज़मीन का प्रबन्ध तथा सार्वजनिक हित के अन्य कार्य करने ही शेष रह गये। ब्राइस के अनुसार "इन्हीं छोटी जातियों को जिनका वर्णन यहाँ किया गया है प्रजातन्त्र का श्रोत कह सकते हैं जो विकसित होकर कभी-कभी तो चट्टानों के ऊपर आ जाता था, कभी उनकी श्रेणियों में समाप्त हो जाता था और कभी पृथ्वी की सतह के नीचे प्रवाहित रहता था, फिर से अपनी पूरी शक्ति के साथ बाहर निकलने के इरादे से। इससे स्पष्ट हो जाता है कि लोकप्रिय शासन दुनियाँ में कोई नई चीज़ नहीं है। बहुत से देशों में तो यह मनुष्य की राजनीतिक प्रवृत्ति के प्रकट होने का सबसे पहला रूप रहा है।"[2] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक स्थानीय स्वायत्त शासन लोकप्रिय शासन के परिणाम स्वरूप नहीं उत्पन्न हुए हैं। उनको तो इस किस्म के शासन का हेतु या आधार मानना चाहिए।

अब हमारे सम्मुख प्रश्न यह उठता है कि इस शासन के गुण और दोष क्या हैं।

स्थानीय स्वायत्त शासन के गुण

सर्व प्रथम, यह कहा गया है कि छोटे क्षेत्रों में स्वायत्त शासन नागरिकों में उन गुणों को पैदा करता है जो उनकी स्वतन्त्रता को बढ़ाने तथा उसे क़ायम रखने में अत्यन्त आवश्यक होते हैं। ब्राइस के शब्दों में "यह नागरिकों में वह भावना पैदा करता है जिससे वे सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेते हैं और अपना व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक कर्त्तव्य समझते हैं कि उन मामलों का प्रतिपादन ईमानदारी तथा ठिकाने से हो। अगर सड़कों की मरम्मत करना, गाँवों में सफ़ाई रखना, कांजी हाउस का प्रबन्ध करना, चरागाहों की देखभाल करना तथा सार्वजनिक जंगल से कटे हुए वृक्षों को गाँव वालों में बाँटना स्थानीय संस्था के ही ज़िम्मे हैं तो गाँव के सभी लोग इन कार्यों को

१—कृपया 'इण्डियन जरनल ऑफ़ पोलिटिकल साइंस' अक्तूबर-दिसम्बर १९३९ के अंक में प्रो० यम० वेंकटारंगइया का 'दि रीआर्गेनाइज़ेशन ऑफ लोकल सेल्फ़ गवर्मेन्ट शीर्षक का लेख पढ़िये। इसके अलावा जनवरी-मार्च १९४१ के अंक का उन्हीं का लेख जो 'स्कोप ऑफ लोकल सेल्फ़ गवर्नमेन्ट' नामक शीर्षक का है और १९४१ के अक्तूबर-दिसम्बर अंक में श्रीयुत के० म० पुनइया का 'पार्टी, पॉलिसी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन इन लोकल बॉडीज़' नामक लेख पढ़ने योग्य है।

२—ब्राइस—'मार्डन डिमोक्रेसीज़' जिल्द १, पृष्ठ १४७

ठिकाने से करेंगे और उसमें दिलचस्पी लेंगे। आलस्य, स्वार्थपरता तथा सार्वजनिक समस्याओं के प्रति उदासीनता से सभी प्रजातन्त्रात्मक जातियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जो सार्वजनिक भावनाओं द्वारा प्रेरित होना तथा गाँव के मामलों में सक्रिय तथा ईमानदार होना सीख लेता है वह एक बड़े देश के नागरिक का पहला पाठ सीखता है.... यहीं सिद्धान्त नगर के बाशिंदों पर भी लागू होता है। यहाँ अपने निरीक्षण से ही निर्वाचक को इस बात का पता नहीं चल सकता कि सार्वजनिक प्रबन्ध कैसा हो रहा है। उसे समाचार पत्रों तथा दूसरे योग्य साधनों द्वारा पता चलता है कि नगर अध्यक्ष, उसके सलाहकार तथा कर्मचारी अपने कार्यों को भली भाँति कर रहे हैं या नहीं, वे नाजायज़ फायदा तो नहीं उठा रहे हैं और कर देने वालों को अपने रुपये का लाभ मिल रहा है या नहीं। इस प्रकार निर्वाचन के अवसर पर उसे योग्य व्यक्तियों का पता चल सकता है और वह अपने मत का उचित प्रयोग कर सकता है'।[1]

दूसरे, स्थानीय स्वायत्त-शासन प्रजातन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक व्यावहारिक शिक्षा का सबसे अच्छा स्कूल है। इसीसे इसे प्रजातन्त्र की सफलता की कुंजी भी कह सकते हैं। इससे उस सार्वजनिक हित की भावना पैदा होती है जो नागरिकों को मिलाप, संयम तथा सामाजिक अवलम्बन की शिक्षा देती है। पुनः ब्राइस ही के शब्दों में 'स्थानीय संस्थायें लोगों को दूसरे के लिये ही कार्य करना नहीं सिखातीं बल्कि उन्हें दूसरों के साथ भी कार्य करना सिखाती हैं। उनसे साधारण ज्ञान, तार्किक बुद्धि, निर्णय शक्ति तथा मिलन की वृद्धि होती है। एक साथ कार्य करने के लिये लोगों को समझौता तथा रियायत की अहमियत सीखनी पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण-प्रदर्शन का अवसर मिलता है। इस प्रकार के शासन से लोगों में दो अच्छी आदतें पड़ जाती हैं। एक तो वे सार्वजनिक मामलों में बुद्धि तथा ज्ञान का मूल्य समझ जाते हैं और दूसरे व्यक्तियों के बारे में उनके कार्यों पर राय कायम करना बातों पर नहीं..............प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसान हो अथवा मजदूर दूकानदार एक साथ मिलकर कार्य करना पड़ता है और उसे यह आभास हो जाता है कि एक क्षेत्र में उसे भी अपना निर्णय करने तथा जाति के लिये कार्य करने का अवसर मिलता है'।[2]

तीसरे, स्थानीय स्वायत्त शासन से दूसरों के लिये, तथा उनके साथ कार्य करने की शिक्षा ही नहीं मिलती बल्कि इस बात की भी शिक्षा मिलती है सब के लिये किस भाँति सबसे हितकर कार्य किया जाय। इसका यह तत्पर्य हुआ कि स्थानीय शासन में 'प्रयत्न तथा त्रुटि' प्रणाली द्वारा राजनीतिक शिक्षा ही नहीं दी जाती है बल्कि इससे लोग अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं और सार्वजनिक मामलों में ईमानदारी तथा कर्त्तव्य की भावना की आवश्यकता समझने लगते हैं। इससे शासन में लोगों की रुचि बढ़ जाती है और इसके फल-स्वरूप शासन भी अच्छा होने लगता है।

१—ब्राइस, 'मॉडर्न डिमोक्रैसीज़,' जिल्द १, पृष्ठ १४८-१४९

२—वही, पृष्ठ १४९

चौथे, स्थानीय कार्यों में लोगों की रुचि उत्पन्न कर तथा उन्हें उनके सम्पादन में शिक्षा देकर ऐसे योग्य तथा अनुभवी नागरिक पैदा किये जाते हैं जो प्रान्त तथा देश के मामलों को संभाल सकें। जैसा कि बर्क ने कहा है 'अपने परगने तथा समाज के उस छोटे से हिस्से से मुहब्बत जिसमें हम रहते हैं उस शृंखला की पहली कड़ी है जिससे हम अपने देश तथा मानव-जाति के प्रेम की ओर अग्रसर होते हैं।'

पाँचवें, यह भी कहा जाता है कि चूंकि स्थानीय लोग अपनी आवश्यकताओं को भली भांति समझते हैं इसलिये वे सबसे अच्छी तरह ही नहीं बल्कि कम खर्चे में भी उनकी पूर्ति करने का प्रयत्न करेंगे। इस भाँति स्थानीय शासन से शासन प्रबन्ध में मितव्ययिता आयेगी और बेकार खर्च समाप्त हो जायगा। लॉस्की का भी यही आशय है, "अगर किसी चीज का उपयोग किसी विशेष जिले के फ़ायदे के लिये ही होता है तो उचित यही है कि उसका खर्च उसी जिले वाले दें। अगर उनसे इसके लिये कर लिया जाता है तो स्वभावतः वे उस चीज के नियन्त्रण की माँग करेंगे। इससे इसकी सम्भावना रहती है कि अपने द्वारा लगाये जाने वाले कर को कम से कम करने के लिये वे प्रबन्ध अच्छा करेंगे।'

अन्त में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है इससे सरकारी कर्मचारियों का शासन सम्बन्धी बोझ बहुत अंश तक कम हो जाता है। हमारी आधुनिक जिन्दगी इतनी जटिल हो गई है और हमारी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं में इतनी पेचीदगी आ गई है कि सरकारी अफसरों के लिये उनको भली भांति समझना सम्भव नहीं। वे केवल साधारण नीति का विश्लेषण कर सकते हैं।[1] स्थानीय स्वायत्त शासन उन्हें बहुत सारे कार्यों से छुटकारा दे देता है इसीलिये उन्हें इसका अवसर मिल जाता है कि शेष कार्यों को वे पूर्ण रूप तथा ठिकाने से करें।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्थानीय स्वायत्त शासन नागरिकता का शिक्षा-स्थान है, प्रजातन्त्र का जन्म-स्थान है और निरंकुश शासन के मार्ग में सबसे बड़ी रोक है। इसके अलावा अपने मकान तथा पड़ोस को सुव्यवस्थित रखने की यह सब से अच्छी प्रणाली है।

स्थानीय स्वायत्त शासन के दोष

इन गुणों के साथ इस प्रणाली के कुछ दोष भी बताये गये हैं।

सर्व प्रथम, इस बात पर जोर दिया गया है कि स्थानीय स्वायत्त शासन से लोगों का दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है और प्रान्त तथा देश की बृहत् भक्ति की भावना के स्थान पर स्थानीय भक्ति की भावना बढ़ती है। किन्तु अपने घर तथा पड़ोस का प्रेम स्वाभाविक है। इसलिये यह भावना ही बुरी तथा आपत्तिजनक नहीं हो सकती। हाँ इतना अवश्य है कि इसे लोगों के बृहत् प्रेम तथा ऊंचे कर्त्तव्यों के मार्ग

१—लास्की 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' पृ० ४६२

में बाधक नहीं होना चाहिए। इसी के लिये प्रान्तीयता की भावना घृणा की दृष्टि से देखी जाती है और इसीलिये स्थानीयता की भावना भी घृणास्पद होती है और उसकी कड़ी आलोचना की जाती है।

दूसरे, यह भी कहा गया है कि अगर स्थानीय कर्मचारियों की नियुक्ति प्रान्तीय सरकार द्वारा की जाती है तो शासन प्रबन्ध अच्छा होगा और इसमें खर्चा भी कम लगेगा। कर्त्तव्य न पालन करने पर अफसरों से जवाब तलबी हो सकती है। लेकिन स्थानीय संस्थाओं को अधिकार देकर कर्मचारियों की संख्या ही नहीं बढ़ाई जाती और इस प्रकार शासन प्रबन्ध में खर्चा ही नहीं बढ़ता वरन् इसके परिणाम स्वरूप उत्तरदायित्व भी विभाजित हो जाता है। इस प्रकार जहाँ थोड़े खर्चे में अच्छा प्रबन्ध हो सकता है अधिक खर्चे में बुरा प्रबन्ध किया जाता है। इसके अलावा केन्द्रीय सरकार द्वारा चलाई गई देश भर में समान नीति स्थानीय संस्थाओं द्वारा चलाई गई असमान नीति की अपेक्षा अच्छी तथा कम खर्चीली होगी। विषमता में हमेशा ज्यादा खर्चा लगेगा।

तीसरे, स्थानीय संस्था की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार के पास समस्याओं के बारे में ज्ञान तथा सूचना प्राप्त करने के अच्छे तथा अधिक साधन होते हैं और यह उनको अच्छी तरह संभाल सकती है। स्थानीय संस्थाओं को अधिकार हस्तान्तरित कर देने पर केन्द्रीय नियन्त्रण नहीं हो सकता और केन्द्रीय कर्मचारियों की सलाह का लाभ नहीं उठाया जा सकता है।

चौथे, विलोबी[1] ने विशेष तौर पर जोर दिया है कि स्थानीय स्वायत्त शासन में एक स्वाभाविक कमजोरी है। स्थानीय निर्वाचित अफसरों पर सभी स्थानीय प्रभाव पड़ सकते हैं। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय अफसरों पर इतनी आसानी से प्रभाव नहीं डाला जा सकता। इन स्थानीय अफसरों का स्थानीय निर्वाचन होता है इसलिये इन पर उन लोगों का प्रभाव आसानी से पड़ सकता है जिन्होंने निर्वाचन में इनकी सहायता की है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि स्थानीय अफसर पक्षानुरागी होंगे और उनसे उस न्यायपूर्ण व्यवहार की उम्मीद नहीं की जा सकती जो शासकों का सबसे प्रमुख गुण होना चाहिए।

विलोबी के सुझाव

इन दोषों को दूर करने के लिये विलोबी का सुझाव है कि स्थानीय अफसरों की नियुक्ति राष्ट्रीय या प्रान्तीय सरकार द्वारा होनी चाहिए। किन्तु प्रत्येक स्थान पर इनके साथ एक स्थानीय सलाहकारी समिति होनी चाहिए। इस समिति का उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य होगा कि स्थानीय अफसरों को जिले के काम में सलाह दे। अगर ये अफसर अपना कार्य ठीक से नहीं करते तो इस समिति को यह बात बड़े अफसरों

१—विलोबी—'दि गवर्नमेंट आफ़ माडर्न स्टेट्स' पृष्ठ ११०-११

की दृष्टि में लाना चाहिए और यह भी सुझाना चाहिए कि उन अफ़सरों के विरुद्ध क्या कार्रवाई की जाय। अगर कहीं राज्य की तरफ़ से जिले की आवश्यकताओं पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता तो इस समिति का यह कर्त्तव्य होगा कि इसके विरुद्ध दरख्वास्त दे। इस प्रकार सड़कों का बनवाना, स्कूलों का प्रबन्ध करना तथा अस्पतालों और दवाखानों के लिये पर्याप्त धन न मिलने पर केन्द्रीय सरकार से इसकी माँग करना स्थानीय समिति का काम होगा। इस दशा में ऐसी संस्थाओं में जिले के सभी अच्छे नागरिक काम करने के लिये तत्पर रहेंगे। बहुत से योग्य तथा प्रमुख नागरिक जो आज की स्थानीय संस्थाओं में इसलिये नहीं शामिल होते कि इसमें उनको शासन-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व लेना पड़ता है और इस प्रकार उनका समय नष्ट होता है इस प्रकार की समिति में रहना पसन्द करेंगे। यह भी सम्भव हो सकता है कि आज की अपेक्षा इन समितिओं द्वारा साधारण नागरिकों की आवाज़ का शासन पर अधिक प्रभाव पड़े।[1]

भारतवर्ष में स्थानीय स्वायत्त शासन की असफलता के कारण

इन सुधारों की आवश्यकता के बारे में प्रो० विलोबी के लिखने का कारण अमेरिकन शासन-प्रणाली की स्थानीय शासन सम्बन्धी असफलता है। भारतवर्ष में भी हम स्थानीय शासन को असफल पाते हैं। प्रतिवर्ष हम सुनते हैं कि कोई डिस्ट्रिक्ट बोर्ड स्थगित किया गया तो किसी का प्रबन्ध प्रान्तीय सरकार द्वारा ले लिया गया। हमारी पंचायतों की प्रथा भी सफलतापूर्वक नहीं चल पाती। इसके कारणों के लिये हमें दूर नहीं जाना है;

सर्वप्रथम तो, हम अपने लोगों को नागरिकता के अधिकार तथा कर्त्तव्य की शिक्षा देने में असमर्थ रहे हैं। हमारे यहाँ का साधारण व्यक्ति अपने आसपास होने वाली घटनाओं के प्रति उदासीन रहता है।

दूसरे, हम इतने सुस्त तथा काहिल हैं कि सक्रिय नागरिकता के उत्तरदायित्व को समझ ही नहीं सकते। यहाँ तक कि हमारे शिक्षित मतदाता भी निर्वाचन के अवसर पर वोट पड़ने के स्थान तक जाने का कष्ट नहीं उठाते। इसके अलावा हमारी स्थानीय संस्थाओं के सदस्य भी सार्वजनिक हित के कार्यों में कोई दिलचस्पी नहीं लेते। हमें अपने निजी स्वार्थ से ही मतलब रहता है और यही हमारा शासन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है।

तीसरे, हमारी सर्वसाधारण जनता इतनी अशिक्षित है कि वह मत (वोट) के मूल्य को समझ ही नहीं सकती। अपने मत का प्रयोग करना उनके लिये बोझ के समान है। इस तरह अगर एक साधारण भारतीय की यह दशा है तो स्वायत्त शासन की स्थानीय संस्थायें किस प्रकार सफलतापूर्वक कार्य कर सकती हैं?

चौथे, हमारा शिक्षित वर्ग भी शासन के कार्यों में उतनी दिलचस्पी नहीं ले सका

१—विलोबी 'दि गवर्नमेन्ट ऑफ मॉडर्न स्टेट' पृ० २१३

है जितनी उससे उम्मीद की जाती है। समाचार पत्रों तथा सार्वजनिक सभाओं में शासन की आलोचना करने में वह असफल रहा है। इस प्रकार सतर्क नागरिक के उत्तरदायित्व का भली भांति पालन नहीं हो सका है और शासन की ज्यादती, भ्रष्टता तथा पक्षानुराग पर आवाज उठाने में हमारा शिक्षित वर्ग असमर्थ रहा है। हमारे यहाँ नागरिकता निर्माणात्मक नहीं हो सकी है। स्थानीय शासन की व्यापक असफलता का जिक्र करते हुए प्रो० लास्की ने जो बातें कही हैं सभी भारतवर्ष के सम्बन्ध में लागू होती हैं। उनका कहना है, "जाति भावना का आह्वान कदाचित ही किया गया है। किसी नगर का नागरिक होना साधारण सी बात समझी गई है, उसका महत्व भली भाँति नहीं समझा गया है, और न नागरिकता निर्माणात्मक ही बनाई गई है। सर्व-साधारण जनता का शासन के कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया गया है। चित्र-शाला का प्रबन्ध वहाँ के अध्यक्ष तथा उस कार्य के लिये बनाई गई समिति का कार्य समझा जाता है। वह कला सभी प्रेमी नागरिकों की सम्पत्ति नहीं समझी जाती। नगर के शिशु-मृत्यु की गणना केवल स्वास्थ्य अफसर से सम्बन्धित चीज मानी जाती है; साधारण नागरिक के ऊपर इसका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। हमें इस बात का प्रयत्न करना है कि स्थानीय सफलता पर लोग अभिमान करें और असफलता पर लज्जा।"[१]

किन्तु अगर भारतवर्ष में अब तक स्वायत्त-शासन की संस्थायें असफल रही हैं तो यह आवश्यक नहीं कि वे भविष्य में भी सफल नहीं हो सकतीं। अज्ञानता को दूर करने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया है और प्रौढ़ शिक्षा तथा साक्षरता के प्रचारार्थ आन्दोलन किये जा रहे हैं। विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों के फल-स्वरूप राजनीतिक समस्याओं में लोगों की दिलचस्पी बढ़ रही है। इसके अलावा भारतीय समाचार पत्रों की वृद्धि तथा सार्वजनिक समुदायों और सभाओं ने भी लोगों में राजनीतिक भावना उत्पन्न की है। अब साधारण शिक्षित व्यक्ति भी देश तथा स्थान के प्रति अपने उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य को समझने लगा है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि आज हमारे देश में सक्रिय तथा निर्माणशील नागरिक की भावना उत्पन्न हो गई है और आशा की जाती है कि इसके परिणाम स्वरूप स्वायत्त-शासन की संस्थाओं को सफल बनाने का रचनात्मक प्रयत्न किया जावेगा।

आधुनिक समय में स्थानीय स्वायत्त-शासन का स्थान

आधुनिक सामाजिक संगठन की जटिलता के कारण विचारकों को शासन प्रबन्ध सम्बन्धी मामलों पर सोचने के लिये बाध्य होना पड़ा। इसीलिये स्वायत्त-शासन की तरफ भी इन विचारकों का ध्यान गया है। कुछ लोगों का मत है कि राष्ट्रीय व्यवस्थापिका द्वारा स्थानीय मामलों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप उचित नहीं। दूसरे लोगों का यह कहना है कि स्थानीय तथा राष्ट्रीय समस्याओं को पृथक करने वाली रेखा इतनी अस्पष्ट हो गई है कि स्थानीय मामलों के लिये भी व्यापक नीति केन्द्रीय सरकार द्वारा ही निर्धारित की जानी चाहिए।

१—लॉस्की—'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' पृष्ठ ४१७

लास्की का मत

इस प्रकार आधुनिक लेखकों में लास्की पहले मत को स्वीकार करता है। निम्नलिखित शब्दों में उसने अपने दृष्टिकोण का समर्थन किया है :

"कोई भी शासन मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में सभी मामलों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार देने का प्रयत्न नहीं करता। केन्द्रीकरण विभिन्न प्रकार का हो सकता है किन्तु अब साधारण तौर पर स्वीकार किया जा चुका है कि जब तक अधिकारों का विकिरण नहीं होता तथा उत्तरदायित्व की विस्तृत भावना पैदा नहीं की जाती योग्य शासन सम्भव नहीं। ऐसे व्यक्ति जो केवल दूसरों की इच्छा का पालन करते हैं उस प्रणाली में कोई दिलचस्पी नहीं ले सकते जिसके वे स्वयं अंग हैं। यह इच्छा काफ़ी अंश में तभी निर्माणात्मक हो सकती है जब इसको निर्धारित करने में सभी का हाथ हो। वह स्थानीय संस्था जिसे ग़लती करने का अधिकार प्राप्त है, अधिक लाभदायक कार्य कर सकती है बनिस्बत उसके जो केवल केन्द्रीय सरकार की आज्ञा का पालन करती है। लेकिन यह आवश्यक है कि ग़लती की जाने योग्य विषयों को चुन लिया जाय। उदाहरणार्थ यह उचित हो सकता है कि किसी नगर को यह अधिकार दे दिया जाय कि वहाँ के लोग यह निश्चय कर सकें कि म्युनिसिपल्टी की तरफ़ से उनके लिये बिजली का प्रबन्ध हो या नहीं। किन्तु उन्हें यह निश्चय करने का अधिकार देना कि वहाँ कोई शिक्षा प्रणाली हो या नहीं अनुचित होगा। ऐसी हालत में पूर्ण रूप से स्थानीय रुचि और प्रभाव वाले मामलों में केन्द्रीय सरकार का जितना कम हस्तक्षेप हो उतना ही अच्छा होगा। ऐसे मामलों में आवश्यकता सलाह, सूचना तथा समालोचना की होती है आदेश की नहीं'।[1]

डा० बेनी प्रसाद का दृष्टिकोण

यह तो पहला मत हुआ। दूसरे मत का समर्थन हमारे देश ही के स्वर्गीय डा० बेनी प्रसाद ने किया है। उनके दृष्टिकोण से समस्त देश की व्यापक नीति की रूप रेखा केन्द्रीय सरकार द्वारा ही निर्धारित की जानी चाहिए। उनका यह विचार है कि आधुनिक समय में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं का ह्रास इसलिये हो रहा है कि प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों का प्रयोग जीर्ण-शीर्ण शासन यन्त्र द्वारा किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त यह शासन यन्त्र नवीन परिस्थितियों के अनुकूल भी नहीं हो सका है। इसलिये नये शासन का निर्माण चार सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। 'सर्वप्रथम, इसका निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि यह अपनी सभी नीति के साथ विज्ञान का सम्बन्ध क़ायम रख सके। दूसरे, इसको अन्तर्राष्ट्रीय नियमों तथा सहयोग के उद्देश्य के अधीन होते होते हुए भी इस योग्य होना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय योजनाओं को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल बना सके। तीसरे, इसे इस योग्य होना चाहिए कि अपने को लगातार परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों के अनुकूल रख सके। चौथे, इसे इस

१—लॉस्की—'ए ग्रामर ऑफ़ पॉलिटिक्स' पृष्ठ ६०, ६१

योग्य होना चाहिए कि यह बड़े पैमाने पर संगठन तथा व्यक्तित्व के विकास का राजनीति में सामञ्जस्य स्थापित कर सके[१]।

उनके अनुसार इन सिद्धान्तों ने स्थानीय स्वायत्त-शासन के मूल्यांकन को ही बदल दिया है और इसीलिये उन्होंने स्वायत्त-शासन के नये महत्व को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है;

आधुनिक, परिस्थिति में आवश्यकता बड़े पैमाने पर बनाई गई योजनाओं की है। क़ानूनों का निर्माण तथा शासन प्रबन्ध भी बड़े पैमाने पर ही होना चाहिए। स्थानीय संस्थाओं की संकीर्ण भावना से यह सम्भव नहीं हो सकता। आज के युग में शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, यातायात, पुलिस तथा सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित कोई भी मसला ऐसा नहीं है जिसका हल पूर्ण रूप से स्थानीय हो सके। आज का पड़ोस पैमाने तथा महत्व में काफ़ी बदल चुका है। इसका विस्तार बड़े व्यवसायिक तथा सांस्कृतिक समुदायों में हो गया है। क्षेत्र में तो यह इतना विस्तृत हो गया है कि समस्त विश्व को आच्छादित कर लेता है। स्थानीय या राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को पृथक करने वाली रेखा इतनी अस्पष्ट हो गई है कि स्थानीय संस्थाओं का स्वतन्त्र कार्य क्षेत्र निश्चित ही नहीं किया जा सकता। इस दशा में स्थानीय स्वतन्त्रता के गुणों को क़ायम रखने तथा इसमें और दूसरे विस्तृत हितों में सामञ्जस्य स्थापित करने का एक मात्र ढंग यही हो सकता है कि व्यापक क़ानून केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्माण किये जायँ और स्थानीय संस्थाओं को उपनियम बनाने और लागू करने का अधिकार दे दिया जाय। व्यापक नीति की रूपरेखा राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापिकाओं अथवा महासभाओं द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए। यह नीति व्यवहार में निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर स्थानीय संस्थाओं द्वारा लाई जा सकती है। इन्हें ऊपर से सलाह तथा नेतृत्व ही नहीं मिलना चाहिए वरन् स्थानीय तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उन्हें उत्साह दिलाना चाहिए जिससे वे पारस्परिक सहयोग तथा सहायता से काम लें।[२]

१—बेनी प्रसाद—'डिमोक्रैटिक प्रोसेस'—पृष्ठ २४६

२—बेनी प्रसाद—'डिमोक्रैटिक प्रोसेस,' पृष्ठ २४६

अध्याय १४

शासन के कर्त्तव्य या इसका क्षेत्र

राज्य के हस्तक्षेप की सीमा

शासन के संगठन का विस्तार पूर्वक अध्ययन कर लेने के पश्चात् हम आधुनिक शासन के कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देंगे। प्रारम्भ में ही हमें याद रखना चाहिए कि शासन के उचित क्षेत्र तथा राज्य द्वारा नियन्त्रण के सम्बन्ध में सभी लेखक एक मत नहीं हैं। कुछ का कहना है कि व्यक्तिगत मामलों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप की एक सीमा है और नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में राज्य को तरफ से कोई हस्तक्षेप उचित नहीं। इसके विपरीत दूसरे लेखक हैं जो हमेशा से यही कहते आये हैं कि सारे मामलों में राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। ऐसे लोगों का विश्वास है कि इसी नियन्त्रण द्वारा सब की भलाई हो सकती है। पहले विचार वालों को व्यक्तिवादी कहा गया है क्योंकि वे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देते हैं। दूसरे विचार वालों को समष्टिवादी कहा गया है क्योंकि वे समष्टि या समाज तथा राज्य के अधिकारों पर अधिक जोर देते हैं। अगले पृष्ठों में हम इन दो प्रतिकूल विचारधाराओं का अध्ययन करेंगे। ये विचारधारायें आधुनिक राज्यों के कर्त्तव्यों को नहीं बतातीं। इनका सम्बन्ध केवल शासन के उचित कर्त्तव्यों से है यानी ये यह बताती हैं कि शासन को किन कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। अतः सर्वप्रथम हम आधुनिक शासनों के कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देंगे।

शासन के कर्त्तव्यों पर ब्राइस के विचार

ब्राइस[1] के अनुसार सभी सभ्य देशों में शासन के निम्नलिखित प्राथमिक कर्त्तव्य हैं जिन्हें साधारण तौर पर लोगों ने स्वीकार कर लिया है।

(१) विदेशी आक्रमण से रक्षा करना यानी वाह्य सुरक्षा।

(२) देश में शन्ति क़ायम रखना या हिंसा, गृहयुद्ध तथा विद्रोह को रोकना यानी आन्तरिक सुरक्षा।

(३) न्याय क़ायम रखना और अपराधियों को दण्ड देना।

(४) जाति के सार्वजनिक मामलों का उचित प्रबन्ध करना जिसमें न्यूनतम व्यय हो और अधिकतम सार्वजनिक हित।

(५) नागरिकों को जीविकोपार्जन में सहायता देना। यह व्यापार की उन्नति तथा व्यवसायों और उद्योगधन्धों को व्यवस्थित करके किया जा सकता है। इसके अलावा शासन को ऐसे साधन उपस्थित करना चाहिए जिससे सभी नागरिकों को अपनी इच्छानुसार काम करने का अवसर मिले। किन्तु इस कार्य का सम्पादन इस प्रकार होना चाहिए कि नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। अपने जीवन का ढंग चुनने के लिये उन्हें स्वतन्त्र रहना चाहिए।

शासन के अनिवार्य तथा ऐच्छिक कर्त्तव्यों पर विल्सन के विचार

शासन के लक्ष्य तथा उद्देश्य पर ब्राइस के उपरोक्त कथन में हमें संक्षेप में शासन के सभी कर्त्तव्य मिल जाते हैं। किन्तु विल्सन[1] ने इन कर्त्तव्यों की और भी विस्तृत विवेचना की है। उसने शासन के कर्त्तव्यों को अनिवार्य तथा ऐच्छिक[2] किस्मों में विभाजित किया है। पहले किस्म में वे आवश्यक कर्त्तव्य आते हैं जिन्हें सभी शासनों को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। आम तौर से इनका सम्बन्ध नागरिकों के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति से रहता है। दूसरी किस्म में ऐसे कर्त्तव्य आते हैं जिनका पालन करना या न करना शासन की इच्छा पर निर्भर रहता है। इनका सम्बन्ध सामाजिक अस्तित्व के आधार से नहीं रहता। प्रचलित शब्दों में अनिवार्य कर्त्तव्यों को बुनियादी कर्त्तव्य कहा जा सकता है क्योंकि ये समाज की शृंखला को दृढ़ रखते हैं और सामाजिक अस्तित्व के लिये आवश्यक हैं। ऐच्छिक कर्त्तव्य सुविधा के लिये होते हैं और इनके अभाव में भी राज्य क़ायम रह सकता है। इस प्रकार शिक्षा, सड़क तथा रेल के अभाव से कोई देश पिछड़ा रह सकता है किन्तु वहाँ के राज्य का अस्तित्व क़ायम रहेगा।

अनिवार्य कर्त्तव्य

विल्सन के अनुसार सभी राज्यों के निम्नलिखित अनिवार्य कर्त्तव्य हैं :—

(१) शान्ति क़ायम रखना तथा हिंसा और चोरी से लोगों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा का प्रबन्ध करना।

(२) पति और पत्नी तथा माता-पिता और बच्चों के बीच क़ानूनी सम्बन्ध स्थापित करना।

(३) सम्पत्ति रखने तथा बेचने और हस्तान्तरित करने के अधिकारों को निश्चित करना और ऋण चुकाने तथा जुर्मों के लिये जुरमाना अदा करने का नियम बनाना।

(४) व्यक्तियों के बीच ठीके के अधिकारों को निश्चित करना।

(५) जुर्म की व्याख्या करना और दण्ड निश्चय करना।

(६) सिविल मुक़दमों में न्याय का प्रबन्ध करना।

(७) नागरिकों के राजनीतिक कर्त्तव्यों तथा विशेषाधिकारों और उनके पारस्परिक सम्बन्ध को निश्चय करना।

(८) विदेशी राष्ट्रों से सम्बन्ध रखना, बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना तथा देश के अन्तर्राष्ट्रीय हितों के उत्कर्ष का समुचित प्रबन्ध करना।

ऐच्छिक कर्त्तव्य

शासन के ऐच्छिक कर्त्तव्य विल्सन के अनुसार इस प्रकार हैं :—

१—विल्सन—'दि स्टेट' पृष्ठ ४२, ४४

२—अनिवार्य कर्त्तव्य को विल्सन ने Constituent Functions और ऐच्छिक को Ministrant Functions कहा है।

(१) व्यापार, उद्योग, सिक्के, तौल, मापादि का नियन्त्रण करना और चुंगी तथा जहाजों के लिये नियम स्थिर करना।

(२) श्रमिकों की व्यवस्था करना।

(३) रेल तथा अन्य यातायात के साधनों का प्रबन्ध करना तथा दूसरे साधनों से देश की उन्नति करना।

(४) डाक तथा तार विभाग का प्रबन्ध करना।

(५) गैस का बनाना और वितरण करना तथा शहरों में पानी का प्रबन्ध करना।

(६) सफ़ाई तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य का ख़याल रखना, दवा तथा डाक्टरों का प्रबन्धा करना।

(७) शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(८) ग़रीबों तथा असहायों की देख भाल करना।

(९) जंगलों की देख भाल करना।

(१०) मद्यनिषेध सम्बन्धी क़ानून पास करना।

शासन के अनिवार्य कर्त्तव्य और भारत सरकार

अब हम इन अनिवार्य कर्त्तव्यों पर भारतवर्ष के सम्बन्ध में विचार करेंगे जिससे हमें इस बात का पता चल जाय कि भारत सरकार जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को कहाँ तक निभाती है।

(१) जहाँ तक पहले अनिवार्य कर्त्तव्य का सम्बन्ध है भारत सरकार ने दूसरे शासनों की भाँति आन्तरिक सुरक्षा और जन तथा धन की रक्षा के लिये पूर्ण प्रबन्ध किया है। जेल तथा पुलिस विभाग इसीलिये क़ायम किये गये हैं। सभी प्रान्तों में पुलिस का संगठन किया गया है। यद्यपि आज कल भारतीय पुलीस के क्रिम की कोई चीज़ नहीं है फिर भी बड़े पदों के लिये भारतीय पुलीस सर्विस है। पुलिस के अलावा गुप्तचर विभाग (सी० आई० डी०) है जो शासन को गुप्त तथा गम्भीर अपराधों का पता लगने में सहायता देता है। यह विभाग शान्ति तथा नियम क़ायम रखने के लिये पुलिस विभाग का सहकारी है। इसके पश्चात जेलों का संगठन आता है। गिरफ्तार कर लेने के पश्चात अपराधी जेलों में बन्द किये जाते हैं। सरकार ने केन्द्रीय तथा जिला जेलों का प्रबन्ध किया है। इनका नियन्त्रण विभिन्न प्रान्तों द्वारा किया जाता है।

(२) 'पति पत्नी तथा माता-पिता और बच्चों के बीच क़ानूनी सम्बन्ध' स्थापित करने का तात्पर्य है कि शासन द्वारा विवाह के क़ानून बनाये जाने चाहिये तथा उन पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इसके अलावा उसे यह भी देखना चाहिए कि बच्चों के प्रति कोई अन्याय नहीं किया जाता। भारतवर्ष में भी शासन विवाह की पवित्रता को क़ायम रखता है, तलाक़ के लिये नियम बनाता है, स्त्री तथा पुरुष के मध्य नाजायज सम्बन्ध को रोकता है। इसी प्रकार शासन द्वारा बच्चों की भी अत्याचार तथा क्रूरता से रक्षा की जाती है। शिशु-हत्या के अपराध में लोगों को सज़ा दी जाती है और पिता की सम्पत्ति में बच्चों को अधिकार दिया जाता है।

(३) 'सम्पत्ति रखने तथा उसे बेचने और हस्तान्तरित करने' के सम्बन्ध में नियम बनाने का तात्पर्य है कि शासन की ओर से इन कार्यों के लिये निश्चित नियम हों। इन नियमों में ऋण सम्बन्धी क़ानून भी आ जाते हैं। भारत सरकार ने भी सभी प्रकार की सम्पत्ति के अधिकार तथा हस्तान्तरित करने के नियम बना रक्खे हैं। ऋण चुकाने के सम्बन्ध में भी क़ानून पास किये गये हैं। अपराधों के जुर्म में कभी-कभी सम्पत्ति जब्त् करली जाती है और ऋण चुकाने के लिये सम्पत्ति नीलाम भी कर दी जाती है।

(४) 'व्यक्तियों के बीच ठीके के अधिकारों को निश्चित करने का तात्पर्य है कि शासन केवल वैवाहिक कर्त्तव्यों तथा अधिकारों पर ही ध्यान नहीं देता। यह यह भी देखता है कि लोग क़ानून के मुताबिक अपनी शर्तों का पालन करते हैं। भारत सरकार ने भी इन कर्त्तव्यों के पालन के लिये विस्तारपूर्वक नियम बना रक्खा है। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिए कि शासन की तरफ़ से इस बात की भी निगरानी रक्खी जाती है कि लोग ग़ैर क़ानूनी शर्तों का पालन करने के लिये बाध्य न किये जाँय।

(५) 'जुर्म की व्याख्या तथा दण्ड निश्चय' करने का तात्पर्य शासन द्वारा चोरी, डकैती, खून, अपवाद तथा राजद्रोह इत्यादि जुर्मों की व्याख्या करने तथा अपराधियों को दण्ड देने से है। शासन यह भी निश्चित करता है कि कौन सा अपराध किस जुर्म में आता है और उसका क्या दण्ड होना चाहिए। भारत सरकार ने भी 'इण्डियन पेनल कोड' तथा 'कोड ऑफ क्रिमिनल प्रोसीजर' द्वारा सभी जुर्मों की व्याख्या की है और अपराधियों को दण्ड देने का नियम निश्चित किया है।

(६) 'सिविल मुक़द्मों में न्याय का प्रबन्ध करने' का तात्पर्य शासन द्वारा व्यक्तियों के सभी पारस्परिक झगड़ों को तय करने से है। भारतवर्ष में भी शासन की तरफ़ से 'सिविल कोड' तथा 'कोड ऑफ सिविल प्रोसीजर' का निर्माण हुआ है। सिविल मुक़द्मों का फ़ैसला इन्हीं के अनुसार होता है।

(७) 'नागरिकों के राजनैतिक कर्त्तव्य, विशेषाधिकार तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चय करने' का अर्थ है कि प्रत्येक शासन को शासितों के अधिकारों का उतना ही ख्याल रखना पड़ता है जितना उसके प्रति उनके कर्त्तव्यों का। इस प्रकार शासन को मत प्रकट करने के लिये नियम बनाने पड़ते हैं, और नागरिकों के विचार तथा भाषण-स्वतन्त्रता और सार्वजनिक सभा करने के अधिकारों को स्वीकार करना पड़ता है। इसके अलावा इसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि सभी नागरिक जाति के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं, शान्ति क़ायम रखने में मदद देते हैं, शासन द्वारा लगाये गये करों को अदा करते हैं और देश के क़ानूनों का उल्लंघन नहीं करते। भारतवर्ष के नागरिक भी अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं और उन्हें सार्वजनिक सभा, वाद-विवाद तथा उपासना करने की स्वतंत्रता है। लेकिन जब इन अधिकारों का दुरुपयोग होने लगता है तो शान्ति क़ायम रखने के लिये शासन की तरफ़ से कार्रवाई की जाती है।

(८) अन्त में, विदेशी राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने तथा बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करने का कर्त्तव्य है। प्रत्येक शासन को समयानुसार दूसरे देशों के प्रति दोस्ती तथा दुश्मनी की नीति निर्धारित करनी पड़ती है और इसी नीति के अनुसार उनसे सम्बन्ध

रखना पड़ता है। इस सिलसिले में राज्यों को सन्धि करनी पड़ती है, युद्ध घोषणा करनी पड़ती है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अपना प्रतिनिधि भेजना पड़ता है। देश की रक्षा के लिये जल, थल तथा हवाई सेनायें भी रखनी पड़ती हैं। भारत सरकार की भी अपनी विदेशी नीति है। इसने भी अफ़गानिस्तान के साथ सन्धि की है। १९३९-४५ की लड़ाई में भारत ने भी ब्रिटेन के साथ जर्मनी, इटली तथा जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा की थी। यहाँ भी जल, थल तथा हवाई सेनायें हैं। बाह्य देशों में यहाँ के राजदूत, एजेन्ट तथा प्रतिनिधि हैं। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत सरकार भी अपना प्रतिनिधि भेजती है।

ऐच्छिक कर्त्तव्य तथा भारत सरकार

इन अनिवार्य कर्त्तव्यों के अलावा भारत सरकार ऐच्छिक कर्त्तव्यों का भी पालन करती है। इस प्रकार (१) भारत सरकार व्यवसाय तथा उद्योग पर नियन्त्रण रखती है और दूसरे देशों से माल मँगाने तथा देश से बाहर भेजने के सम्बन्ध में नियम बनाती है। यह अपना सिक्का चलाती है और मन, सेर, छटाक में इसने तौल भी निश्चित कर दिया है। इसके अलावा इसने करसम्बन्धी नियम भी पास किया है और जहाज़ के आने तथा जाने के लिये भी क़ानून बना रक्खा है।

(२) श्रमिकों की समस्या पर भी भारत सरकार ध्यान देती है। इसके लिये केन्द्रीय शासन में श्रम-विभाग ही नहीं है, प्रान्तों में श्रमिकों की समस्यायों को सुलझाने के लिये बड़े बड़े अधिकारी भी नियुक्त हैं। इन्हें लेबर कमिश्नर कहते हैं। श्रम-विभाग तथा ये अधिकारी श्रमिकों की व्यवस्था करते हैं, श्रम के घन्टे, रहने का प्रबन्ध, मजदूरी तथा कारखानों के क़ानूनों का नियन्त्रण करते हैं।

(३) प्राचीन सड़कों की हिफ़ाज़त तथा नये आने जाने के मार्गों का निर्माण भी भारत सरकार द्वारा किया जाता है। शासन की तरफ़ से चन्द्रगुप्त मौर्य तथा शेरशाह सूरी द्वारा बनवाई गई सड़कों को क़ायम ही नहीं रक्खा जाता बल्कि हज़ारों नई स्थानीय तथा प्रान्तीय सड़कें बनवाई गई हैं। शासन ने सारे देश में रेलों और सड़कों का जाल बिछा दिया है जिससे एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी को कम करके देश के एक किनारे के रहने वालों को दूसरे किनारे के लोगों से मिलने जुलने का अवसर दिया है। अब तो नागरिकों को हवाई जहाज़ द्वारा यात्रा करने की आसानी दी जाती है। इस प्रकार भारत के सभी प्रमुख शहर एक दूसरे से मिला दिये गये हैं और हम एक शहर से दूसरे शहर को कम वक़्त में तथा आसानी से आ जा सकते हैं।

(४) सभी आधुनिक सभ्य देशों में शासन डाक तथा तार का प्रबन्ध करता है। भारत सरकार का भी अपना डाक तथा तार विभाग है। इसकी व्यवस्था केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। देश के सभी प्रमुख नगरों तथा क़स्बों में डाक तथा तार घर पाये जाते हैं।

(५) इसके अलावा आज के सभी शासन अन्य सार्वजनिक कार्य भी करते हैं। भारत सरकार का भी अपना सार्वजनिक कार्य ('पब्लिक वर्क्स') विभाग है। प्रत्येक प्रान्त के भी अलग अलग विभाग हैं। ये विभाग सार्वजनिक सड़कों, पुलों तथा इमारतों का निर्माण तथा देख भाल करते हैं और आबपाशी के लिये नहरें कुएें तथा तालाब बनाते और उन्हें क़ायम रखते हैं।

(६) भारत सरकार ने जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये सफ़ाई तथा स्वास्थ्य-विभाग क़ायम किया है। इसकी तरफ़ से सभी प्रमुख नगरों में अस्पताल तथा छोटे क़स्बों में दवाखाने खोले गये हैं। लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा तथा मरीज़ों की दवा करने के लिये सफ़ाई के अफ़सरों और डाक्टरों की नियुक्ति सरकार की तरफ़ से की जाती है।

(७) जनता की शिक्षा का भी प्रबन्ध भारत सरकार करती है। इस कार्य के लिये केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार में शिक्षा विभाग कायम किया है और सारे देश में १६ विश्व विद्यालय तथा असंख्य कालेज और स्कूल खोले गये हैं और कितने नये खोले जा रहे हैं।

(८) आधुनिक ज़माने में शासन ग़रीबों तथा असहायों की देख भाल करता है। इसके लिये दातव्यशालायें ही नहीं खोली जातीं, बल्कि शासन की तरफ़ से ऐसे उद्योगों का भी प्रबन्ध किया जाता है जहाँ ग़रीब लोग कार्य करके जीविकोपार्जन कर सकें। भारतवर्ष में बेहद ग़रीबी है और हमारे उद्योग धन्धों का विकास इतना नहीं हुआ है कि सभी लोगों को काम करने का अवसर मिले। फिर भी यहाँ का शिक्षित वर्ग अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक हुआ है और अनाथों, विधवाओं, असहायों तथा वृद्धों के लिये अनाथालयों, विधवाआश्रमों तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाओं की स्थापना की जाने लगी है। अन्धों तथा गूंगों बहरों के लिये ऐसी संस्थायें खोली जा रही हैं जहाँ वे कुछ काम करके अपनी रोज़ी कमा सकें। शासन भी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों को समझने लगा है और ग़रीब किसानों की सहायता करना प्रारम्भ कर दिया है। किन्तु शासन को ग़रीबों तथा असहायों के लिये अभी बहुत कुछ करना है। आशा की जाती है कि लोकमत से प्रभावित होकर भारत सरकार भी अनाथालयों और विधवाश्रमों की स्थापना करेगी—और ग़रीबों की सहायता के लिये अन्य साधनों का प्रबन्ध करेगी।

(९) आज के ज़माने में शासन की तरफ़ से जंगलों का भी प्रबन्ध किया जाता है। भारत सरकार का भी जंगल विभाग है। इसने ऐसे कालेजों तथा स्कूलों की स्थापना की है जहाँ इस विभाग के अफ़सरों को शिक्षा दी जाती है। जंगलों को सुरक्षित रखना भारत सरकार की निश्चित नीति है।

(१०) अन्त में मादक पदार्थों के नियन्त्रण का कर्त्तव्य आता है जिसका पालन सभी आधुनिक राज्यों द्वारा किया जाता है। भारतवर्ष में भी इस मामले में सभी प्रान्तीय सरकारों की निश्चित नीति है। १६३५ के क़ानून द्वारा स्थापित कॉंग्रेस सरकारों ने मद्यनिषेधी क़ानून पास करना प्रारम्भ कर दिया था।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि भारत सरकार भी उन सभी अनिवार्य तथा ऐच्छिक कर्त्तव्यों का पालन कर रही है जिनका पालन आज के सभी सभ्य राज्यों में होता है।

राज्य का लक्ष्य तथा उद्देश्य

आधुनिक राज्यों के विभिन्न कर्त्तव्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर लेने के पश्चात अब हम राज्य के लक्ष्य की ओर ध्यान देंगे। इस विषय पर राजनीतिक विचारकों का अलग-अलग मत है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं राज्य द्वारा हस्तक्षेप की सीमा के सम्बन्ध में दो राजनीतिक स्कूल हैं। व्यक्तिवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देते हैं और राज्य द्वारा नियन्त्रण पर कम। समष्टिवादी इसके विपरीत राज्य के अधिकारों की अधिक माँग करते हैं, व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की कम। इन दोनों स्कूलों के मतावलम्बियों को हम विभिन्न श्रेणी में बाँट सकते हैं। इस वर्गीकरण का आधार होगा इनका वह दृष्टिकोण जिससे वे राज्य द्वारा नागरिकों के जीवन में हस्तक्षेप को निश्चित करते हैं।

अराजकतावादी

इस प्रकार व्यक्तिवादियों को परम व्यक्तिवादी या अराजकतावादी तथा साधारण व्यक्तिवादी में विभाजित किया जा सकता है।

अराजकतावादियों का कहना है कि राज्य न केवल अनावश्यक है यह निश्चित रूप से हानिकारक भी है। यह किसी हालत में न्याय्य नहीं कहा जा सकता। इसलिये उनका कहना है कि राज्य को शासन तथा इसके नियमों के साथ समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि यह दमन का साधन है और व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक होता है। इन विचारकों का मत है कि व्यक्ति को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना चाहिए और उस पर किसी भी दूसरी शक्ति का शासन नहीं होना चाहिए। ऐसे लेखकों के अनुसार अराजकता और अव्यवस्था के एक ही अर्थ नहीं होते। अराजकता का तात्पर्य केवल शासन के अभाव से होता है। इन लोगों का दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी तार्किक शक्ति तथा आत्मा की सहायता से वही कार्य करेगा जो उचित होगा। नागरिकों को भ्रष्ट करने वाले राज्य का प्रभाव न रहने पर सभी पूर्ण स्वतन्त्र रहेंगे और उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव हो सकेगा। राज्य के अभाव में व्यक्ति में उत्तरदायित्व की भावना बढ़ेगी, वह अधिक संयत रह सकेगा और उसके चरित्र का भी विकास होगा। व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा शासन के अभाव के बारे में स्टर्नर, क्रोपॉटकिन टुकर, प्राउधान तथा टॉल्सटाय का यही मत है। भारतवर्ष में महात्मा गांधी ने भी टॉल्सटाय का अनुसरण करते हुए एक बार अराजकता के पक्ष में अपनी राय प्रकट की थी। किन्तु उन्होंने अपने इस विचार की व्याख्या नहीं की। इसलिये अराजकतावादी के रूप में महात्मा गांधी के विचारों को हम विस्तारपूर्वक नहीं दे सकते।

साधारण व्यक्तिवादी

साधारण व्यक्तिवादियों में ऐसे लेखक आते हैं जो राज्य तथा शासन को पूर्ण रूप से नहीं समाप्त करना चाहते परन्तु उसे अनिष्टकर बताते हुए भी आवश्यक समझते हैं। उनका भी कहना है कि राज्य द्वारा नियन्त्रण तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मेल नहीं खा सकता। इसीलिये वे व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक संघर्ष का जिक्र करते हैं। इसका यह तात्पर्य है कि राज्य तथा व्यक्ति के अधिकारों में पारस्परिक संघर्ष चलता आ रहा है और राज्य के अधिकारों में वृद्धि होने पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कमी होना अवश्यम्भावी है।

मिल का नैतिक व्यक्तिवाद

जॉन स्टुअर्ट मिल, ऐडम स्मिथ तथा स्पेन्सर ऐसे तीन लेखक हैं जिन्होंने सम-व्यक्तिवाद का समर्थन तीन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है। ये दृष्टिकोण नैतिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक हैं। मिल के नैतिक व्यक्तिवाद का तात्पर्य है :

(१) व्यक्ति को उस सीमा तक पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए जहाँ तक वह दूसरों के अधिकारों पर हस्तक्षेप नहीं करता। अगर उसके कार्य दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन करने लगते हैं तो राज्य द्वारा व्यक्ति के इस प्रकार के कार्य नियन्त्रित रहेंगे। इस प्रकार राज्य व्यक्ति को अनुचित कार्य करने से बचायेगा।

(२) उसे अपनी इच्छा, बुद्धि तथा शक्ति के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। इससे व्यक्तियों की सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है। वह अपने कार्य में भरसक ताक़त लगायेगा और नवीनता दिखायेगा क्योंकि जिस कार्य को वह स्वयं करना चाहेगा उसे सफलतापूर्वक समाप्त करने का प्रयत्न भी करेगा। राज्य की ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप तथा उत्साह व्यक्तियों के स्वावलम्बन को समाप्त कर उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालेगा। वे प्रत्येक कार्य में राज्य की सहायता चाहेंगे।

इस प्रकार राज्य की तरफ़ से अधिक हस्तक्षेप अनैतिक है क्योंकि इसका प्रभाव व्यक्तियों के नैतिक विकास पर पड़ता है और उनकी प्राकृतिक शक्तियों का ह्रास हो जाता है।

ऐडम स्मिथ का आर्थिक व्यक्तिवाद

ऐडम स्मिथ के आर्थिक व्यक्तिवाद को 'लेसेफ़ेर' (Laissez faire) या स्वतन्त्र छोड़ देने की नीति भी कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि व्यक्तियों के प्रत्येक मामले में राज्य की तरफ़ से हस्तक्षेप न होकर उन्हें स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। ऐडम स्मिथ का कहना था कि मनुष्य अपने हितों को भली भाँति समझता है और उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार अगर वह पूँजीपति है तो अपने रुपयों को ऐसे रोज़गार

में लगायेगा जिसमें वह अधिक से अधिक धन पैदा कर सके; अगर वह मजदूर है तो केवल ऐसी जगह काम करने को तैयार होगा जहाँ उसे अधिक से अधिक मजदूरी मिलती हो। इसलिये व्यक्तियों को सुख प्राप्त करने के लिये राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त कर देना चाहिए। राज्य की ओर से मजदूरी, मूल्य तथा किराये को नियमित नहीं रखना चाहिए और न बाजारों पर ही नियन्त्रण रखना चाहिए। आर्थिक जीवन में प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र प्रतियोगिता के ऊपर छोड़ देना चाहिए। पूर्ति तथा माँग (Supply and Demand) के नियम पर किसी प्रकार का भी बन्धन न लगना चाहिए। इस प्रकार व्यवसाय स्वतन्त्र होने चाहिए और राज्य के संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है।

स्पेन्सर का वैज्ञानिक व्यक्तिवाद

स्पेन्सर के वैज्ञानिक व्यक्तिवाद का अर्थ इस प्रकार है: प्रकृति में प्रत्येक स्थान पर अस्तित्व के लिये संघर्ष होता रहता है और इस संघर्ष में केवल शक्तिशाली लोग ही जीवित रह सकते हैं। कमजोर लोग शक्तिशालियों के अधिकार द्वारा समाप्त कर दिये जाते हैं। इस प्रकार 'शक्तिशाली ही जीवित रह सकते हैं' व्यापक प्राकृतिक नियम बन जाता है जो हर जगह लागू होता है। इसलिये सामाजिक जीवन में भी अनियन्त्रित प्रतियोगिता होनी चाहिए जिससे निर्बल लोग समाप्त हो जायँ और शक्तिशाली ही शेष रहें। इसलिये राज्य द्वारा प्रतियोगिता पर कोई नियन्त्रण न लगना चाहिए और व्यक्तियों को पूर्णरूप से स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए।

स्मिथ, मिल तथा स्पेन्सर के अनुसार राज्य के कर्त्तव्य

इन लेखकों के उपरोक्त विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि ये राज्य का उन्मूलन नहीं चाहते। ये केवल राज्य के कार्यों की सीमा निर्धारित कर देना चाहते हैं। इसलिये इन्होंने राज्य के कर्त्तव्यों को आवश्यक और अनावश्यक क़िस्मों में बाँटा है। आवश्यक किस्म के कर्त्तव्यों पर ये तीनों एकमत हैं और इनके अनुसार राज्य को वाह्य तथा आन्तरिक खतरों से जाति की रक्षा करनी चाहिए और लोगों की जान व माल की हिफ़ाजत करना चाहिए। इसके लिये राज्य जल, थल तथा हवाई सेना रख सकता है, पुलिस तथा जेलों का संगठन कर सकता है और क़ानूनों का पालन कराने के लिये न्यायालयों का प्रबन्ध भी कर सकता है।

किन्तु राज्य के अनावश्यक कर्त्तव्यों के बारे में तीनों लेखक एकमत नहीं हैं। मिल तथा एडम स्मिथ का विश्वास है कि राज्य द्वारा निर्बलों तथा वृद्धों की रक्षा होनी चाहिए। यही नहीं, राज्य को प्लेग, मलेरिया, हैजा तथा अन्य संक्रामक रोगों से जाति की रक्षा करनी चाहिए। इसके लिये राज्य की ओर से सार्वजनिक अस्पतालों का प्रबन्ध होना चाहिए और अन्य खैराती संस्थाओं का संगठन करना चाहिए। इनके विपरीत स्पेंसर ग़रीबों, बीमारों तथा अपाहिजों की सहायता का पूर्ण रूप से विरोध करता है। उसका कहना है कि राज्य का यह कार्य स्वतन्त्र प्रतियोगिता के मार्ग में बाधक होगा। इसका परिणाम यह होगा कि समाज में ऐसे लोग भी जीवित रहेंगे जो दूसरों के ऊपर भार-स्वरूप होंगे। चूँकि उनको जीवित रखना शक्तिशालियों के अधिकार के प्रति

अन्याय होगा इसलिये उनकी रक्षा करना अनुचित होगा। इसलिये राज्य की ओर से गूँगों, बहरों तथा अन्धों के लिये खैराती संस्थायें तथा मरीजों के लिये अस्पताल खोलना ठीक नहीं। इतना ही नहीं, स्पेंसर राज्य की ओर से शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, डाक और रेलवे के प्रबन्ध का भी विरोधी है। इस सम्बन्ध में मिल भी उससे सहमत है। मिल का विचार है कि ऐसे कार्यों का संगठन तथा प्रबन्ध लोगों को स्वयं ही करना चाहिए। इससे जनता की शिक्षा तथा अनुभव में वृद्धि होगी। यही नहीं उनको बुद्धि तथा शक्ति का विकास भी होगा तथा लोग स्वावलम्बी हो सकेंगे। अगर इनका प्रबन्ध राज्य द्वारा होने लगता है तो लोगों की स्वयं कार्य करने की प्राकृतिक भावना जाती रहती है और वे प्रत्येक कार्य में राज्य की सहायता की आशा करने लगते हैं। अगर शिक्षा पर राज्य का पूरा अधिकार हो जायगा तो सभी नागरिकों को सरकार एक साँचे में ढालना चाहेगी। इसीलिये मिल की राय थी कि स्कूलों और कालेजों का संगठन तथा प्रबन्ध जनता द्वारा होना चाहिए। मिल के इस विचार से एडम स्मिथ सहमत नहीं है। उसकी राय है कि राज्य की ओर से ऐसी संस्थाओं को चलाया जा सकता है जो सार्वजनिक हित की पूर्ति कर सकें।

समूह या संघ व्यक्तिवाद

इन अराजकतावादियों तथा व्यक्तिवादियों के अतिरिक्त हमारे युग में राजनीतिक विचारकों का एक ऐसा भी स्कूल है जो केवल व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों पर ही अधिक जोर न देकर समूह तथा संघ की स्वतन्त्रता और अधिकारों की माँग करते हैं। इन लोगों को समूह या संघ व्यक्तिवादी कहा जाता है और इनके मत को लोगों ने समूह व्यक्तिवाद कहा है। आज हमारा जीवन कितने ही संघों तथा समुदायों में संगठित है और इन संघों तथा समुदायों का अस्तित्व प्रायः स्वतन्त्र रूप से राज्य की सहायता के बग़ैर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिक उद्देश्यों को लेकर चर्च का अस्तित्व क़ायम किया गया है। इसको राज्य ने नहीं बनाया है, उसने केवल इसको स्वीकृति मात्र दे दी है। इसलिये संघ व्यक्तिवादियों का कथन है कि इस प्रकार के समुदायों का अपना अलग व्यक्तित्व होता है और राज्य को इनके जीवन तथा कार्यों पर नियन्त्रण लगाने का कोई अधिकार नहीं। किन्तु समूह व्यक्तिवादी भी आपस में एकमत नहीं हैं। फ़िगिस, कोल तथा लास्की राज्य को भी इन्हीं समुदायों तथा संघों की भाँति एक समुदाय मानते हैं। उनके अनुसार राज्य तथा दूसरे समुदायों में कोई विशेष अन्तर नहीं और राज्य को दूसरे समुदायों का नियन्त्रण करने का कोई अधिकार नहीं। फ़िगिस एक स्वतन्त्र राज्य में स्वतन्त्र चर्च चाहता है, कोल व्यवसाय में स्वायत्त शासन की माँग करते हैं और लास्की सभी समुदायों को स्वायत्त-शासन का अधिकार दिलाना चाहते हैं। इसके विपरीत जियर्क, मैक आइवर तथा बार्कर का मत है। उनका कहना है कि राज्य समुदायों का समुदाय है इसलिये इसे इन विभिन्न समुदायों की देखभाल करने तथा उनमें सामञ्जस्य स्थापित करने का अधिकार प्राप्त है। ये लेखक साधारण समूह-व्यक्तिवादी हैं और इनके अनुसार

राज्य का अस्तित्व निर्णयकर्त्ता या सरपंच के रूप में आवश्यक है। जहाँ तक प्रत्येक समुदाय के सामाजिक जीवन का प्रश्न है इन लेखकों के अनुसार भी उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि समूह-व्यक्तिवादियों के ये दोनों स्कूल समुदायों की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों की माँग करते हैं। इनमें अन्तर केवल इतना ही है कि एक स्कूल वाले समुदायों तथा समूहों को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाने के पक्ष में हैं और दूसरे स्कूल वाले केवल उसी अंश तक स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं जहाँ तक समुदायों के सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि व्यक्तिवादी तथा समूह-व्यक्तिवादी दोनों व्यक्तियों तथा समूहों और समुदायों की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की माँग करते हैं और राज्य के हस्तक्षेप को सीमित करना चाहते हैं।

व्यक्तिवाद के गुण

अन्त में हम व्यक्तिवाद के गुणदोष पर भी विचार कर सकते हैं। प्रथम हम गुणों ही को लेंगे।

१—इसका सबसे पहला गुण तो यह है कि इसने इस बात को पूर्णरूप से स्वीकार किया है कि स्वावलम्बन उन्नति का सबसे बड़ा आधार है। परतन्त्रता तथा अनावश्यक नियन्त्रण से हमेशा स्वावलम्बन की हत्या होती है और लोग सुस्त तथा अपने कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन हो जाते हैं। इस प्रकार लोग सुस्त ही नहीं हो जाते वरन् वे कोई काम ही नहीं करना चाहते। उनकी शक्तियों को लकवा मार जाता है और किसी भी कार्य में उनको दिलचस्पी नहीं रहती। उनके चरित्र का ह्रास होने लगता है और उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।

२—चूंकि यह मत व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा उनके अधिकारों पर अधिक जोर देता है इसलिये राज्य उन्हें साधारण अस्थावर नहीं समझ सकता। व्यक्ति को केवल मशीन का पुर्जा मात्र नहीं समझा जा सकता। उसे सामाजिक जीवन में जीवित और सहयोग देने वाला सदस्य मानना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक तथा राज-नीतिक जीवन में व्यक्तियों का मूल्य और महत्व बढ़ जाता है और वह राज्य के शासन में विलीन नहीं हो जाता।

३—ज्यों ही यह मत राज्य को आवश्यक किन्तु अहितकर स्वीकार करता है यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मत के समर्थन करने वाले लोग व्यक्ति को राज्य के अनावश्यक नियन्त्रण से बचावेंगे। राज्य की ओर से अधिक हस्तक्षेप तथा पिता-तुल्य व्यवहार व्यक्तियों के विकास में बाधक सिद्ध होता है और उनकी मौलिक शक्तियों को कुचल देता है। जिसके फलस्वरूप छोटे-छोटे मामलों में भी वे अपना निर्णय करने योग्य नहीं रह जाते।

४—चूँकि व्यक्तिवाद राज्य द्वारा बहुत से कर्त्तव्य करने का विरोध करता है इसलिये यह राज्य को नौकरशाही का एक बहुत बड़ा यन्त्र होने से बचाता है।

५—विचार, वाणी तथा कार्य की स्वतन्त्रता दे देने से नागरिक अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक हो जाते हैं और शासन के अच्छे तथा बुरे कार्यों पर टीका-टिप्पणी करने योग्य रहते हैं। इससे शासन के कर्मचारी आलोचना की डर से अपने कर्त्तव्यों का पालन भली भाँति करते हैं और ग़ैर-क़ानूनी तथा निरंकुश कार्य करने से हिचकते हैं। इससे हुकूमत लोकमत के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करती है। इसका तात्पर्य हुआ कि व्यक्तिवाद का परिणाम उत्तरदायी शासन होगा।

व्यक्तिवाद के दोष

इन गुणों तथा अच्छाइयों के साथ व्यक्तिवाद के कुछ दोष भी हैं जो इतने गम्भीर हैं कि उन पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

१—सबसे पहले तो अराजकतावादियों और चरम व्यक्तिवादियों का यह खयाल कि राज्य केवल जबरदस्ती और बल-प्रयोग पर ही आधारित है और इसलिये इसका उन्मूलन कर देना चाहिए, ग़लत है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि राज्य सहायता तथा सामाजिक सुधार का भी साधन है। अगर कभी राज्य की ओर से व्यक्तियों के कार्यों पर नियन्त्रण लगाया जाता है तो प्रायः ऐसे कार्य असामाजिक होते हैं और नियन्त्रणों का लगाना समाज के हित में आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार राज्य समाज को अव्यवस्थित तथा असंगठित होने से बचाता है।

२—चरम व्यक्तिवादियों का यह विचार कि सामाजिक जीवन से बल-प्रयोग हटा देने पर भी व्यक्तियों के स्वायत्त-शासन की स्थापना की जा सकती है ऐतिहासिक अनुभवों तथा मानव स्वभाव दोनों के प्रतिकूल है। शक्तिशाली तथा निर्बलों का पारस्परिक मेलभाव उतना ही असम्भव है जितना कि शेर और बकरे का सहवास। अगर सामाजिक जीवन से नियन्त्रणों की शृंखला हटा दी जाय तो शक्तिशाली लोगों का अत्याचार वास्तविक रूप में सामने आयेगा।

३—अगर स्वाधीनता तथा व्यक्तियों के स्वायत्त-शासन का यह अर्थ लिया जाय कि सब को मनमानी करने का अनियन्त्रित अधिकार मिलना चाहिए तो समाज पारस्परिक विरोधी शक्तियों का युद्धक्षेत्र हो जायगा। अतः वास्तविक स्वतन्त्रता केवल सीमित स्वतन्त्रता ही हो सकती है और सीमित स्वतन्त्रता का अर्थ हुआ कि व्यक्तियों के अधिकारों पर नियन्त्रण लगाया जाय।

४—मानव स्वभाव के गुणों के सम्बन्ध में चरम व्यक्तिवादियों तथा अराजकतावादियों का विचार भ्रमपूर्ण है। वे व्यक्ति के अनुशासन तथा कर्त्तव्य की भावना में अधिक विश्वास रखते हैं। वास्तव में वह अराजकता जिसकी कि वे धारणा करते हैं अव्यवस्था होगी और ऐसे देश के रहने वाले सभी एक दूसरे के विरुद्ध निरन्तर युद्ध की अवस्था में रहेंगे।

५—साधारण व्यक्तिवाद भी व्यक्ति के नेतृत्व तथा उसकी शक्ति में बहुत विश्वास करता है और यह मनुष्यों के प्राकृतिक भेद को भूल जाता है। यह कहना कभी भी उचित नहीं होग कि सभी मनुष्य इतने दूरदर्शी हैं कि वे अपने हित को भली

भाँति समझ सकें। न तो सभी मनुष्यों में एक सी शक्ति होती है और न सभी में एक सी बुद्धि। इसलिये सम्भव है कुछ लोग स्वयं अपना सभी कार्य कर लें और किसी की सहायता की परवाह न करें, किन्तु सभी लोगों के बारे में यह धारणा रखना उचित न होगा।

६—व्यक्तिवादी आज के सामाजिक जीवन की जटिलता को भली भाँति समझने की कोशिश नहीं करते। हमारे जीवन की समस्यायें इतनी जटिल हो गई हैं कि प्राय: हममें से अत्यन्त तीव्र बुद्धि वालों के लिये भी शासन की सहायता के बिना उनका समझना और सुलझाना असम्भव है।

७—मिल का कथन है कि जितनी मात्रा में राज्य के हाथों शक्ति संचित होती है उतना ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होता जाता है। मिल महोदय के इस कथन के अनुसार व्यक्ति और राज्य में एक प्रकार का वैपरीत्य तथा विरोध रहता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है राज्य द्वारा किये गये सभी नियन्त्रण अनावश्यक तथा अहित-कर नहीं होते। दैनिक जीवन स्वयं इसका साक्षी है कि बहुधा व्यक्ति तथा राज्य एक दूसरे के परिपूरक होते हैं। वास्तव में प्रगतिशील सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन व्यक्ति और राज्य की सहकारिता पर ही निर्भर है।

८—ऐडम स्मिथ अपने अर्थ-शास्त्रीय खोजों में व्यक्ति के निजी हितों पर अधिक जोर देते हैं। मानव प्रकृति पर यह दृष्टि-कोण केवल अहं का ही प्रधानता देता है और सामाजिकता तथा मनुष्य की मानवहितवादिता की अवहेलना करता है। मनुष्य के सारे कार्य स्वार्थवश ही नहीं होते। उसे परस्वार्थ भी प्रेरित करता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों की निरन्तर स्वार्थ तत्परता से संघर्ष अनिवार्य है। और इस संघर्ष में कुछ थोड़े से ही साहसी और योग्य व्यक्ति सफल हो सकेंगे। बहुत बड़ा मानव समूह अपनी असमर्थता का शिकार होगा। जो थोड़े से सफल होंगे पूँजीपति बनकर एकाधिपत्य स्थापित करेंगे।

९—प्रकृति के जिस नियम का उदाहरण देकर स्पेन्सर खुली प्रतियोगिता का प्रतिपादन करते हैं वह मानव समाज पर नहीं लागू हो सकता। यह कहना कि पशु-जगत की भाँति मनुष्यों में भी प्रतियोगिता के फल-स्वरूप केवल शक्तिशालियों को ही जीने का अवसर मिलना चाहिए उचित नहीं है। मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की है और वह ईश्वर-प्रदत्त अपनी बुद्धि और तर्क से प्राकृतिक शक्तियों को आवश्यकता-नुसार अपने पक्ष में ला सकता है। इसके अलावा इस नियम के अनुसार केवल शक्ति-शाली लोगों को ही जीने का अवसर तो अवश्य मिलेगा किन्तु शक्तिशाली ही श्रेष्ठ भी होंगे कहा नहीं जा सकता। इसलिये इसमें सन्देह है कि अनियन्त्रित प्रतियोगिता के परिणाम-स्वरूप मानव समाज का विकास अच्छाई के लिये-हो सकेगा। शक्ति के साथ शिव और सुन्दर के सहयोग में ही मानव समाज का कल्याण है और उसका विकास उचित रूप से हो सकता है। स्पेन्सर का यह कहना कि निर्बल तथा रोगियों को मरने देना चाहिए अमानुषिक है। इससे प्रतीत होता है कि स्पेन्सर महोदय दया तथा

सहानुभूति की भावना को मानव-स्वभाव से अलग कर देना चाहते हैं। वह मनुष्य को रक्त तथा मांस का प्राणी न मान कर शुष्क काष्ठ का यन्त्र बनाना चाहते हैं।

१०—समूह व्यक्तिवादियों में से भी वे लोग जो राज्य को केवल दूसरे समुदायों का स्थान देना चाहते हैं अराजकतावादियों से कम नहीं। ऐसा करने से भी समाज में उसी अराजकता का बोल बाला होगा जो राज्य को बिल्कुल हटा देने के परिणाम स्वरूप आयेगी। इसलिये समूह व्यक्तिवादियों में ऐसे लोग जो राज्य को दूसरे समुदायों से श्रेष्ठ स्वीकार करने को तैय्यार हैं अधिक सही मालूम पड़ते हैं।

समष्टिवादी लेखक

व्यक्तिवादी लेखकों की विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब हम समष्टिवादियों पर विचार कर सकते हैं। ये लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा शक्ति की अपेक्षा समाज और समष्टि की शक्ति पर अधिक ज़ोर देते हैं। इन लेखकों को भी विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

१—समाजवादी लेखकों का कहना है कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होना चाहिए और वितरण तथा विनिमय पर सम्पूर्ण जाति के हित में राज्य का नियन्त्रण आवश्यक है। इनके अनुसार श्रमिकों को पूँजीपतियों तथा ज़मींदारोंके प्रभुत्व से मुक्त होना चाहिए और स्त्री तथा पुरुषों के आर्थिक तथा सामाजिक समानता के आधार पर समाज का संगठन होना चाहिए। समाजवादी लेखकों में मतभेद अवश्य है और वे दो किस्मों में विभाजित किये जाते हैं। कुछ तो क्रान्ति की मदद से समाजवादी व्यवस्था लाना चाहते हैं और उन्हें क्रान्तिकारी समाजवादी कहते हैं। दूसरे विकास के मार्ग को पसन्द करते हैं और उनके अनुसार समाजवादी व्यवस्था धीरे-धीरे कई अवस्थाओं से गुज़र कर पार्लिमेन्टरी ढंग से लाई जा सकती है। किन्तु यह अन्तर केवल मार्ग का है। जहाँ तक लक्ष्य का प्रश्न है दोनों समाज की उपरोक्त व्यवस्था को लाना चाहते हैं। दोनों प्रकार के समाजवादी राष्ट्र के जीवन के सभी महत्वपूर्ण कार्यों पर राज्य के नियन्त्रण के पक्ष में हैं। उनका मुख्य उद्देश्य जीवन के आर्थिक पहलू पर राज्य का अधिकार तथा नियन्त्रण स्थापित करना है। वे खुली प्रतियोगिता तथा निजी व्यवसाय के विरुद्ध हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि इससे सम्पत्ति केवल मुट्ठी भर आदमियों के हाथ एकत्रित होने लगती है जिसके परिणाम स्वरूप पूँजीवाद की स्थापना हो जाती है। इसलिये प्रत्येक किस्म के समाजवादी स्वतन्त्र व्यवसाय का विरोध करते हैं और व्यवसाय तथा उद्योग पर राज्य का संरक्षण तथा नियन्त्रण रखना चाहते हैं। वे पूँजीपतियों तथा ज़मींदारों का उन्मूलन करके निजी स्वामित्व के स्थान पर राज्य को प्रत्येक वस्तु का स्वामी बनाना चाहते हैं। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक आन्दोलन के रूप में समाजवाद ऐडम स्मिथ के आर्थिक व्यक्तिवाद के बिल्कुल विपरीत है। समाजवाद के प्रमुख लेखकों में कार्लमार्क्स का नाम अधिक महत्वपूर्ण है। वैज्ञानिक समाजवाद का तो कार्लमार्क्स जन्मदाता ही था। इसके अलावा जर्मनी के बर्नस्टीन तथा इंगलैंड के सिडनीवेब और बर्नार्डशा तथा दूसरे फेबियन लेखकों को हम

उन समाजवादियों में रख सकते हैं जो शान्ति तथा प्रचार की मदद से समाजवादी व्यवस्था लाना चाहते हैं। क्रान्तिकारी समाजवादियों में लेनिन, ट्राट्स्की तथा लगार डेल के नाम विशेष अहमियत रखते हैं।

२—दूसरी विचारधारा जो राज्य को व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्व देती है आदर्शवाद के नाम से प्रचलित है। इस विचारधारा के प्रमुख लेखकों में हेगेल, बोसॉंक्वेट तथा ग्रीन का नाम विख्यात है। इनमें से प्रथम दो विचारकों की राजनीतिक विचारधारा मिल के व्यक्तिवाद के ठीक विपरीत है। अगर मिल महोदय व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों पर अधिक ज़ोर देते हैं तो हेगेल तथा बोसाँक्वेट जाति के अधिकार को श्रेष्ठ मानते हैं और व्यक्ति के केवल कर्त्तव्यों पर ही ज़ोर देते हैं। इनके अनुसार सामाजिक जीवन में अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के अलावा व्यक्ति का और दूसरा कोई कार्य नहीं है। इन लेखकों के कथनानुसार राज्य ऐसी संस्था नहीं है जो बुरी होते हुए भी आवश्यक है। यह तो एक विशेष अच्छी संस्था है और व्यक्तियों के जीवन में हस्तक्षेप करके यह उनकी स्वतन्त्रता को किसी भी हालत में कम नहीं करती। राज्य अपनी सहायता से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को वास्तविक बनाता है। अन्यथा यह स्वतन्त्रता कोरी कल्पना मात्र रह जाती। इसलिये अगर मिल के व्यक्तिवाद में राज्य तथा व्यक्ति में कोई स्थायी विरोध नहीं था तो हेगेल और बोसाँक्वेट के आदर्शवाद में यह बिल्कुल ही समाप्त हो जाता है और व्यक्ति सम्पूर्ण समाज का एक आवश्यक अवयव मात्र बन जाता है। जहाँ स्पेन्सर मनुष्य तथा राज्य और समूह तथा व्यक्ति के निरन्तर विरोध और संघर्ष की बात करते हैं वहाँ ये लेखक राज्य तथा व्यक्ति को सामाजिक जीवन में एक कर देते हैं। इस प्रकार हेगेल के अनुसार राष्ट्र के जीवन के सभी पहलुओं पर राज्य को नियन्त्रण रखने का न केवल अधिकार ही प्राप्त है वरन् उसका यह कर्त्तव्य भी है। उनके अनुसार राज्य की तरफ़ से लोगों के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करना और इसकी उचित व्यवस्था करना पूर्णतया न्याय्य है। ग्रीन महोदय जनता के जीवन पर राज्य के इस पूर्ण नियन्त्रण के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार व्यक्तियों को साधारण तौर पर जीवन यापन करने और सुख से रहने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य को केवल अनिवार्य शिक्षा तथा मद्य-निषेध ऐसे कार्यों को ही करना चाहिए।

३—व्यक्ति की अपेक्षा राज्य के अधिकारों का समर्थन करने वाले लोगों में तीसरी किस्म फ़ासिस्टों की है। यह विचारधारा इस युद्ध के समाप्त होने तक जर्मनी तथा इटली में प्रचलित थी और हिटलर तथा मुसोलिनी इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। विचार तथा कार्य-प्रणाली में फ़ासिज्म प्रभुत्व पर अधिक ज़ोर देता है। इसका विश्वास है कि ऊपर के लोगों का काम हुक्म देना है और शेष जनता का कर्त्तव्य है आज्ञा-पालन। राज्य तथा शासन को पूर्णरूप से निरंकुश होना चाहिए और लोगों का अधिकार आज्ञापालन करने के कर्त्तव्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। राज्य को राष्ट्र के जीवन के सभी कार्यों की व्यवस्था करने का अधिकार है और राज्य के हस्तक्षेप की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। इससे स्पष्ट है कि फ़ासिज्म

अराजकतावाद तथा समूह व्यक्तिवाद का बिल्कुल विरोधी और हेगेल के आदर्शवाद का फल-स्वरूप है।

समष्टिवाद के गुण

अब हम राज्य के अधिकार तथा उसके कार्यों पर विशेष ज़ोर देने वाली विचार-धाराओं के गुणों तथा दोषों पर विचार कर सकते हैं। प्रारम्भ में हम इनके गुणों पर दृष्टि-पात करेंगे।

सर्व प्रथम तो यह कहा जाता है कि समाज के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण करके समाजवाद आर्थिक समानता स्थापित करेगा। इस प्रकार मुट्ठी भर लोगों के हाथ में राज्य के धन तथा पूंजी का केन्द्रीकरण न हो सकेगा जिससे अमीर तथा ग़रीब का अन्तर समाप्त हो जायगा और विभिन्न वर्गों के संघर्ष से समाज बचा रहेगा।

दूसरे, खुली प्रतियोगिता के नाम पर श्रमिकों के साथ बड़ा अन्याय किया जाता है। आवश्यकता तथा ग़रीबी के कारण मजदूरों को कम वेतन पर काम करने के लिये मजबूर होना पड़ता है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो बेकार रहता है और पूरे परिवार को भूख से मरने की नौबत आ जाती है। समाजवाद श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाकर, काम करने के घण्टों को निश्चित करके तथा दूसरे नियन्त्रणों द्वारा एक बड़े मानव समूह को अमीरों के अत्याचार से बचाता है। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल साधारण मजदूर का जीवन-स्तर ऊँचा हो सकेगा वरन् उन सभी लोगों को कार्य करने का अवसर मिलेगा जो खुली प्रतियोगिता के परिणाम-स्वरूप बेकार बैठे रहे हैं।

तीसरे, पूंजीपतियों की तथाकथित पारस्परिक प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप भी राष्ट्र की सम्पत्ति तथा उत्पादित वस्तुएं एक महत्वपूर्ण परिमाण में नष्ट जाती हैं क्योंकि खुली प्रतियोगिता की व्यवस्था में उत्पादन तथा आवश्यकताओं में कोई सामञ्जस्य नहीं स्थापित हो पाता।

चौथे, राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि हो जाने के फल-स्वरूप अच्छे सामाजिक नियम तथा क़ानून जारी होने लगते हैं। व्यक्ति कितना भी योग्य तथा बुद्धिमान क्यों न हो सामाजिक कार्यों का सम्पादन करने के लिये जिस योग्यता तथा अनुभव का प्रयोग राज्य कर सकता है वे व्यक्ति को कदापि हासिल नहीं हो सकते।

पांचवें यह भी कहा गया है कि मानव-जीवन के सभी पहलुओं पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित कर देने से साधारण जीवन सहयोग तथा सहकारिता के सिद्धान्तों पर चलने लगता है, मनुष्य संकीर्ण स्वार्थ के परे हो जाता है और वह यह अनुभव करने लगता है कि उसका जीवन सामाजिक जीवन से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है और सार्वजनिक हित में ही उसका भी हित है।

समष्टिवाद के दोष

जहाँ समष्टिवाद में उपरोक्त गुण है वहाँ इस विचारधारा के कुछ दोष भी हैं।

(१) सर्व प्रथम तो मनुष्य किसी कार्य को भली भाँति तभी करेगा जब उसे

यह पूर्ण विश्वास हो कि उसकी सफलता उस कार्य पर निर्भर है। अपने व्यवसाय तथा उद्योग में सफलता प्राप्त करने के लिये लोग अधिक से अधिक प्रयत्न करेंगे। परन्तु सरकार के वैतनिक कर्मचारी इस प्रकार के कार्यों में समुचित रूप से निजी दिलचस्पी नहीं ले सकते।

(२) हेगेल तथा बोसाँक्वेट ने राज्य के कर्त्तव्यों का जो व्यापक चित्र खींचा था और जिनका पालन फ़ासिस्तवादी सरकारों द्वारा किया जाता है उसमें व्यक्ति के स्वतन्त्र विचार तथा कार्य के लिये कहीं स्थान नहीं रह जाता। साधारण जीवन इतना नियन्त्रित हो जाता है कि व्यक्ति के लिये अपनी मौलिकता, तथा कार्य-कुशलता दिखाने का अवसर ही नहीं मिलता। विचार, वाक् तथा कार्य स्वतन्त्रता का लोप हो जाता है और व्यक्ति निर्जीव यन्त्र का एक पुर्जा मात्र बन जाता है। इस प्रकार राज्य इस व्यापक नियन्त्रण के परिणाम-स्वरूप केवल अनुत्तरदायित्व तथा दमन का एक बड़ा नौकरशाही यन्त्र बन जाता है। इसके विपरीत राज्य से आशा की जाती है कि वह स्वतन्त्रता तथा सामाजिक सेवा का माध्यम होगा।

(३) राज्य के कार्यों में इस वृद्धि का प्रभाव व्यक्ति के चरित्र पर भी पड़ता है। वह प्रत्येक कार्य में राज्य की सहायता की आशा करने लगता है और इस प्रकार राज्य की तरफ़ से पितृ-तुल्य व्यवहार के फलस्वरूप नागरिकों के व्यक्तित्व का ह्रास हो जाता है। इसका व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि व्यक्ति स्वतन्त्र प्रयास नहीं कर पाता। राज्य को साधारण मामलों में भी रास्ता दिखाना पड़ता है। इससे राज्य का संगठन तथा निरीक्षण का कार्य कठिन हो जाता है और घूसखोरी भ्रष्टाचार तथा बेईमानी बढ़ जाती है।

दोनों विचारधाराओं का काल

अन्त में हम इस बात पर भी ध्यान दे सकते हैं कि किस काल में किस विचार-धारा का प्रभाव रहा है। व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का जोर १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अधिक रहा है। बार्कर का कथन है कि १८४८ से १८८० ई० के काल में व्यक्तिवादी सिद्धान्त का अधिक प्रभाव रहा। इस काल में साधारणतया लोगों का यह विश्वास था कि राज्य का कार्य कम से कम होना चाहिए। प्रायः सभी राज्य इसी नीति का पालन भी करते थे। किन्तु १८७० ई० के पश्चात् राज्य ने शिक्षा सम्बंधी अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था। १८८० ई० में तो ऑक्सफ़ोर्ड में ग्रीन ने यह समझाना शुरू किया कि नागरिकों के स्वतन्त्र नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने में राज्य का उत्तरदायित्व है समाजवादी विचारधारा ने भी जोर पकड़ना प्रारम्भ किया और राज्य कार्य के क्षेत्र को बढ़ाने में मदद दी। १८८० से १९१४ का काल तो निश्चय ही ऐसा समय था जब राज्य के कार्यों में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो चुकी थी। जैसा कि बार्कर का कहना है १८६४ में प्रचलित मतावलम्बी होने के लिये आवश्यक था कि लोग राज्य को सन्देह की दृष्टि से देखते। १९१४ में साधारण तथा लोग राज्य के कार्यों में विश्वास रखने लगे।

१९१४-१८ के युद्ध के पश्चात्

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् एक बार पुनः साधारण विचार राज्य की शक्ति के विरुद्ध हुआ। इसका कारण यह था कि युद्ध के दौरान में लोगों ने अपने अधिकारों पर राज्य के अनेकों अंकुश को सहन किया था। इसलिये राजनीतिक दार्शनिकों ने समूहों तथा व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की माँग पुनः प्रारम्भ की। किन्तु जर्मनी तथा इटली में फासिस्ट हुकूमतों की उन्नति तथा रूस में समाजवाद के जोर ने प्रजातन्त्रात्मक देशों को भी राज्य के कर्त्तव्यों में वृद्धि करने के लिये बाध्य किया। इसका प्रमुख कारण इटली तथा जर्मनी द्वारा युद्ध की तैयारी था। १९३९ ई० में तो इन दो राष्ट्रों ने लगभग युद्ध की घोषणा ही कर दी थी। तबसे प्रजातन्त्रों को भी राष्ट्र के जीवन के सभी पहलू को संगठित करने पर बाध्य होना पड़ा। १९३९-४५ के युद्ध ने तो इस बात को प्रदर्शित किया कि राज्य किस प्रकार साधारण जीवन को संगठित कर उस पर पूर्ण नियन्त्रण रख सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १८८० ई० के पश्चात् राजनीतिक विचारधारा और संगठन का झुकाव राज्य के कार्यों तथा उसकी शक्ति में वृद्धि की तरफ है। इसीलिये हम देखते हैं कि इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने जिन कर्त्तव्यों का विवरण किया है आज के सभी राज्यों द्वारा उनका पालन होता है।

राज्य—लक्ष्य या साधन ?

कुछ विचारक राज्य को एक महान लक्ष्य की प्राप्ति में साधन मात्र मानते हैं और कुछ उसे स्वयं लक्ष्य स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में हम विभिन्न विचारकों के मतों में तीन विभिन्न धारायें देखते हैं।

राज्य साधन मात्र है

सर्व प्रथम, जैसा कि हमने इस अध्याय में देखा है कुछ विचारकों का मत है कि व्यक्ति का हित ही सभी सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का आधार है। इस लिये राज्य व्यक्ति के इस हित को प्राप्त करने के लिये साधन मात्र है। अगर राज्य के अंग व्यक्ति के इस हित को पूरा करने में असमर्थ होते हैं तथा व्यक्ति के हितों की रक्षा भली भांति नहीं कर पाते तो आवश्यकतानुसार राज्य के अंगों तथा संस्थाओं को सुधारा अथवा समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार की विचारधारा वाले लेखकों को व्यक्तिवादी कहा जाता है क्योंकि वे व्यक्ति के हितों और अधिकारों तथा उसकी स्वतन्त्रता पर अधिक ज़ोर देते हैं। ये लेखक राज्य को ऐसी संस्था मानते हैं जो बुरी होते हुए भी आवश्यक है। इसलिये व्यक्तियों के मामले में राज्य को कोई हस्तक्षेप न करना चाहिए। इसे केवल व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को प्रयोग में लाने के साधन जुटाने का कार्य करना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि व्यक्ति ही एकमात्र राजनीतिक वास्तविकता है अतएव सारी राजनीतिक संस्थाओं को अपना लक्ष्य व्यक्ति को ही दृष्टिगत रखते हुये, निर्धारित करना चाहिये। इसीलिये Prof. Mc Taggart ने कहा है कि 'सामाजिक जीवन का लक्ष्य समाज नहीं व्यक्ति है।'

समाजवादी लेखकों का मत

राज्य को केवल साधन के रूप में व्यक्तिवादी ही नहीं देखते। समाजवादी लेखक भी राज्य को साधन ही मानते हैं यद्यपि व्यक्तिवादियों की भाँति वे राज्य को बुरा नहीं मानते। उनके अनुसार राज्य भला तथा हितकर होता है। व्यक्तियों की वास्तविक भलाई तभी सम्भव हो सकती है जब राज्य ही सभी वस्तुओं का प्रबन्ध करना प्रारम्भ करदे। राज्य के नियन्त्रण तथा अकुंश से सम्पत्ति तथा धन की असमानता ही नहीं समाप्त हो जायगी, मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण भी बन्द हो जायगा। इस अर्थ में राज्य-यन्त्र व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा समानता को स्थापित करने के लिये अच्छा साधन हो सकता है।

अरिस्टाटेल राज्य को लक्ष्य मानता है

एक मत ऐसा भी है जो राज्य को साधन मात्र न मानकर उसे लक्ष्य या साध्य मानता है। अरिस्टाटेल का भी यही विचार था। उसने राज्य को

प्रकृति का पूर्ण रूप कहा था और उसके अनुसार प्रकृति ने मनुष्य को राज्य के लिये बनाया है। इसीलिये मनुष्य के विकास के लिये आवश्यक है कि वह राज्य में रहे अन्यथा उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। राज्य के बाहर या तो देवता रह सकते हैं या पशु। चूँकि राज्य प्राकृतिक प्रक्रिया का पूर्णतम रूप है इसलिये यह केवल साधन मात्र न होकर स्वयं लक्ष्य है और व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वे इसके अन्तर्गत अपने स्थान का पता लगाकर सार्वजनिक जीवन के सुख तथा समृद्धि में योग दें। 'जिस प्रकार किसी संस्था की सेवा उसके सदस्य करते हैं ठीक उसी प्रकार राज्य की सेवा वहाँ के व्यक्तियों द्वारा की जाती है; राज्य व्यक्तियों की सेवा नहीं करता। व्यक्ति सम्पूर्ण का एक ऐसा अंग है जो कभी अलग नहीं किया जा सकता। उसका जीवन तथा अस्तित्व राज्य के जीवन पर निर्भर है।

आदर्शवादियों का मत

आधुनिक युग में आदर्शवादी भी इस सम्बन्ध में अरिस्टाटेल के विचारों का ही समर्थन करते हैं। वे भी राज्य को मानव प्रकृति का सबसे पूर्ण विकसित तथा योग्य रूप मानते हैं। व्यक्तियों का पूर्ण विकास जाति और राज्य के जीवन द्वारा ही सम्भव हो सकता है। ब्रैडले के शब्दों में व्यक्ति का जीवन समाज के बिना उतना ही अमूर्त है जितना कि समाज का व्यक्ति के बिना। हैडो के अनुसार 'इस निर्णय में हमारा वर्त्तमान जीवन ही नहीं आता बल्कि वे सभी प्राचीन वातावरण तथा परिस्थितियाँ आ जाती हैं जिन्होंने हमारे जीवन को आज का रूप दिया है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति विशेषता का वाहक है उसी प्रकार जैसे किसी चट्टान से काटा हुआ टुकड़ा चट्टान की विशेषता का प्रतीक होता है और किसी गड्ढे की से खुदी हुई मिट्टी में स्थान विशेष के गुणों अवगुणों का समावेश होता है। हमारा शरीर मात्र ही नहीं, वरन् हमारी प्रवृत्तियाँ, उद्वेग, भावनायें तथा अन्य मानसिक विशेषताओं ने भी हमारे वातावरण के विकास तथा सम्पर्क से प्रभावित होकर अपना वर्त्तमान रूप ग्रहण किया है। इस प्रकार अगर हम समाज की दूसरी अच्छाइयों पर न ध्यान दें तो केवल उपरोक्त प्रभाव के लिये इसके प्रति हमारा कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व प्रमुख हो जाता है।'[1]

मैक्यावेली, ट्रीट्स्के तथा फासिस्टवादियों का मत

अरिस्टाटेल ने राज्य को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया क्योंकि उसके अनुसार राज्य नैतिक तथा अच्छे जीवन का श्रेष्ठतम प्रतीक है। आदर्शवादी लेखकों ने राज्य को सामाजिक नैतिकता की प्रतिमूर्ति मान कर लक्ष्य माना। किन्तु राज्य को सर्वे-सर्वा मानने का व्यावहारिक परिणाम नैतिकता के अलावा कुछ दूसरा ही हुआ। मैक्या-वेली तथा ट्रीट्स्के ने राज्य को शक्ति का सहयोगी बनाया और वर्त्तमान युग में फासिस्ट-वाद ने भी राज्य को नैतिकता का लक्ष्य न बनाकर पशुबल का लक्ष्य बनाया। अतः मैक्यावेली द्वारा राज्य को लक्ष्य मानने का तात्पर्य यह हुआ कि राज्य को बढ़ाने तथा शक्तिशाली बनाने के लिये उचित तथा अनुचित सभी साधनों का प्रयोग किया जा

१—हैडो, सिटिज़ेनशिप, पृष्ठ ६१

सकता है। उसके अनुसार जिस प्रकार 'चर्च की विशेषता विश्वास है और कुटुम्ब का प्रेम उसी प्रकार राज्य की विशेषता शक्ति है।'[1] इसी प्रकार फासिस्तवाद के अनुसार भी राष्ट्र सर्वोच्च 'कल्पना' है जिसे जनता की दृष्टि में हमेशा सर्वोपरि स्थान मिलना चाहिए। इस प्रकार चूँकि राज्य सामाजिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य है इसलिये इसे लोगों के जीवन पर नियन्त्रण रखने का सम्पूर्ण अधिकार है। व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं हैं उसे केवल अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि राज्य सामाजिक जीवन का सर्वेसर्वा है और व्यक्तियों को कर्त्तव्य पालन के अतिरिक्त कोई दूसरा अधिकार नहीं।

ब्लन्ट्शली के विचार

तीसरा दृष्टिकोण ब्लन्ट्शली का है। उसके अनुसार उपरोक्त दोनों विचार-धाराओं में आंशिक रूप से सत्य विद्यमान है। इनमें दोष यही है कि ये सत्य के केवल एक पहलू को देखती हैं। 'राज्य लक्ष्य है या साधन' प्रश्न ही इस एकांगीपन के लिये जिम्मेदार है। एक विचार से कोई वस्तु लक्ष्य हो सकती है और दूसरे विचार से वही केवल साधन। चित्रकार अथवा दूकानदार के लिये एक चित्र जीविका निर्वाह का केवल साधन मात्र है। किन्तु वास्तविक रूप से कला की वस्तु कलाकार के लिये उसके सर्वोच्च प्रयासों का लक्ष्य है; यह उसकी गहनतम अनुभूतियाँ की अभि-व्यञ्जना है, और उसके आदर्शों की मूर्ति। इस प्रकार यह स्वयं लक्ष्य हो जाती है। इसी तरह राज्य भी एक माने में तो इसके अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियों के सुख तथा भलाई का साधन है और दूसरे दृष्टिकोण से यह स्वयं लक्ष्य हो जाता है और इसके अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इसकी सेवा करें। हैडो के शब्दों में 'व्यक्ति की इच्छाओं तथा मतों का सम्पूर्ण आत्म समर्पण स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिये हितकर न होगा। इससे निरंकुशता में वृद्धि होती है और सामाजिक संगठन में यान्त्रिक निर्जीवता आ जाती है। दोनों दशाओं में ही बुद्धि का ह्रास होता है और वास्तविक विकास तथा उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। पुनः यद्यपि यह सच है कि राज्य को केवल साधन मान लेने से व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता को बढ़ने का अवसर मिलता है, फिर भी उसे पूर्ण तथा लक्ष्य मान लेने पर शासन के विभिन्न अंगों में अनुत्तरदायित्व की भावना बढ़ने लगती है जो उतनी ही खतर-नाक है जितनी व्यक्तिगत स्वार्थ परायणता'। अतः अगर राज्य को व्यक्ति के हितों की प्राप्ति के लिये साधन मात्र मान लिया जाय तो सहकारी यासों तथा सार्वजनिक जीवन की उपेक्षा होगी और इसके परिणाम स्वरूप राज्य का विघटन हो जाने की सम्भावना रहती है। इससे राज्य व्यक्तियों की असंगठित भीड़ मात्र हो जाता है और व्यक्तियों में अराजकता की भावनाओं का उद्रेक हो जाता है। इसके विपरीत राज्य को स्वयं लक्ष्य स्वीकार कर लेने से 'राष्ट्र में व्यक्ति की महत्ता की उपेक्षा' होती है और उसकी स्वतन्त्रता तथा भलाई खतरे में पड़ जाती है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि राज्य की शक्ति

१—हैडो, सिटिज़ेनशिप, पृ० १०४

में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय और वह सर्वशक्तिशाली बन जाय। राज्य के सर्वशक्ति की यह भावना आसानी से निरंकुशता में परिणित हो सकती है।

मध्य मार्ग

इस प्रकार तीसरी विचारधारा मध्य मार्ग को अपनाती है। न तो यह व्यक्तियों के अधिकारों की उपेक्षा करती है और न राज्य की हो। इसकी धारणा है कि राज्य लक्ष्य तथा साधन दोनों है। और राज्य तथा व्यक्ति के अधिकारों में किसी प्रकार का अनिवार्य विरोध नहीं है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य तथा व्यक्तियों का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार है जिस भाँति दो या अधिक व्यक्ति पारस्परिक अधिकारों और कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व और समान उद्देश्य के सूत्र से एक में बंधे रहते हैं। राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के हित के लिये उसी अंश तक क़ायम है जिस अंश तक व्यक्तियों का अस्तित्व सार्वजनिक जीवन के लिये है। राज्य 'पारस्परिक सहयोगी संस्था से उसी प्रकार श्रेष्ठ तथा उच्च है जिस प्रकार व्यक्ति यन्त्र के पुर्जे से। उसका अपना व्यक्तित्व होता है। इसलिये वास्तविक स्थिति में तो राज्य तथा व्यक्ति का हित अभिन्न है और राज्य की सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कोई विरोधाभास नहीं; ये एक दूसरे के पूरक हैं। राज्य तथा व्यक्ति, सत्ता तथा स्वतन्त्रता के इस सम्बन्ध को हैडो ने बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त किया है: "सत्ता तथा स्वतन्त्रता केन्द्राभिसारी (Centripetal) और केन्द्रापसारी (Centrifugal) प्राकृतिक शक्तियों की भाँति हैं जो पृथ्वी को उसकी धुरी पर क़ायम रखती हैं। केन्द्राभिसारी शक्ति को पृथक कर दिया जाय तो हम सब घोर अन्धकार की गर्त में पहुँच जायंगे और सर्दी के मारे मर जायंगे, केन्द्रापसारी शक्ति के अभाव में हम सूर्य में पहुँच कर भस्म हो जायेंगे। हमारा अस्तित्व इन दोनों शक्तियों के उचित सन्तुलन पर निर्भर है। इसी सन्तुलन से हम अपने जीवन मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। इसी प्रकार नागरिक के रूप में मनुष्य का जीवन स्वतन्त्रता तथा संशक्ति की शक्तियों के सन्तुलन पर आधारित है। राज्य की वास्तविक धारणा से ही हमें इन प्रतिद्वन्द्वी (किन्तु पूरक) शक्तियों के उचित सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है।"[1]

१—हैडो—सिटिज़ेनशिप पृ० ६८

परिशिष्ट १

अंग्रेजी विधान की प्रमुख विशेषतायें

१—अबाधित विकासः—

इंगलैण्ड की संस्थायें निरन्तर विकसित होती आई हैं। इनके विकास का क्रम कभी नहीं टूटा। विदेशी विजय अथवा राष्ट्रीय संकट ने कभी भी वहाँ के संस्थाओं के विकास के मार्ग में महत्त्वपूर्ण बाधा नहीं डाली है और इनके परिणाम स्वरूप संस्थाओं के विकास में कोई गतिरोध नहीं उपस्थित हुआ है। गौरवपूर्ण क्रान्ति तथा महान विद्रोह ही वहाँ के दो महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय संकट थे किन्तु उन्होंने भी इंगलैंड की संस्थाओं के विकास मार्ग को अवरुद्ध नहीं किया। यह विकास होता ही रहा और वहाँ का विधान परम्पराओं तथा रीतियों की मदद से विकसित होता गया।

२—परिवर्तनशीलताः—

यह विधान अलिखित तथा परिवर्तनशील है इसलिये परिस्थितियों के अनुसार इसमें साधारण क़ानून पास करने के ढङ्ग द्वारा ही परिवर्तन होता आया है। जैसा कि सिडनी लो का कहना है 'हमारा सरोकार किसी भवन से नहीं जिसमें कि हम इधर-उधर एक कमरा या पक्ष जोड़ सकें। हमारा सम्बन्ध तो जीवित पौधे से है जो बढ़ता और बदलता रहता है, जिसका विकास तथा ह्रास होता रहता है।' शायद de Tocqueville के इस कथन का कि इङ्गलैंड में कोई विधान ही नहीं है, आधार अंग्रेजी विधान के सिद्धान्तों की सरल परिवर्त्तनशीलता ही है। de Tocqueville के अनुसार विधान को निश्चित तथा लिखित होना चाहिए।

३—न्यायप्रियता तथा पक्षपात शून्यताः—

अंग्रेजी विधान का आधार जैसा कि प्रायः कहा जाता है मनुष्यों का शासन न होकर 'क़ानून का शासन' (Rule of Law) है। 'महा स्वतन्त्रता पत्र' तथा 'अधिकारों के बिल' ने राजाओं के कठोर तथा स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर दिया। वैधानिक महत्त्व के कारण ही इन्हें अंग्रेजी विधान का धार्मिक ग्रन्थ कहा गया है। इसके अलावा इङ्गलैंड में क़ानून के सम्मुख प्रधान मन्त्री तथा साधारण किसान में कोई अन्तर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि क़ानून तथा न्याय सम्बन्धी मामलों में यहाँ का शासन दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक न्यायपूर्ण तथा पक्षपात शून्य है।

४—विधान की काल्पनिकताः—

अंग्रेजी विधान को काल्पनिक भी कहा गया है। इसका कारण यह है कि यहाँ की बहुत सी संस्थायें वास्तव में वैसी नहीं है जैसा कि वे प्रतीत होती हैं। राजा तथा मन्त्रि-मंडल के कर्त्तव्य देखने में कुछ हैं वास्तव में कुछ। इसीलिये कहा

गया है कि 'इङ्गलैंड में कोई भी वस्तु वैसी नहीं है जैसा कि वह प्रतीत होती है या वैसी प्रतीत नहीं होती जैसा कि वह वास्तव में है।' इसी प्रकार राजा के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि सिद्धान्त में तो इङ्गलैंड राजतन्त्र है देखने में वैधानिक या सीमित राजतन्त्र और वास्तव में यह पूर्ण प्रजातन्त्र है। इस प्रकार यहाँ सिद्धान्त और व्यवहार में बड़ा अन्तर है। यहाँ तक कि वहाँ का मन्त्रिमंडल साधारण रूप से प्रिवी कौंसिल की एक कमेटी मात्र है। इस अर्थ में सभी मन्त्री राजा के कर्मचारी हैं किन्तु उन्हें अपने सभी कार्यों के लिये स्वयं उत्तरदायी होना पड़ता है और वे राजा की आज्ञा की आड़ नहीं ले सकते। इसके अलावा चूंकि वे कामन्स सभा में बहुमत दल का प्रतिनिधित्व करते हैं इसलिये वे अपने कार्यों के लिये उस सभा में उत्तरदायी होते हैं। इस अर्थ में वे राष्ट्र के कर्मचारी होते हैं। इस प्रकार मन्त्री लोग राजा तथा राष्ट्र दोनों के कर्मचारी हैं।

परिशिष्ट २

अमरीकी विधान की विशेषतायें

अपनी पुस्तक 'एडवान्स्ड सिविक्स' में एस० ई० फोरमैन ने अमरीकी विधान की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है।

१. यह प्रजातन्त्रात्मक है। इसका निर्माण जनता द्वारा किया गया है और जनता स्वयं अपने हित में इसका संचालन भी करती है।

२. यह प्रतिनिधि प्रजातन्त्र है। पूर्ण या प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तो केवल एक ही दो जगहों पर पाया जाता है। बहुधा जनता अपने प्रतिनिधियों के शासन से सन्तुष्ट रहती है। इसी प्रकार का शासन अमेरिका में भी है जहाँ जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि शासन संचालन का कार्य करते हैं।

३. विधान में शासन के विभिन्न अंगों की शक्ति का स्पष्ट रूप से विभाजन तथा पृथक्करण कर दिया गया है और उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित है। क़ानून निर्माता के अपने विशेष कर्त्तव्य हैं और इसी प्रकार कार्यकारिणी तथा न्याय-समिति के। एक विभाग दूसरे पर रोक अवश्य लगा सकता है किन्तु नियन्त्रण नहीं रख सकता और न दूसरे विभाग की शक्ति को ही छीन सकता है।

४. यह वैधानिक है। इसका यह अर्थ हुआ कि अमेरिका में सार्वजनिक कार्यों की कार्रवाई तथा क़नून बनाने का कार्य पूर्व निश्चित विधान की धाराओं के अनुसार ही हो सकता है। राज्य के कर्मचारी विधान की रक्षा करने की शपथ लेते हैं और वहाँ की जनता का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह विधान के प्रतिकूल कार्य न करे।

५. यह विधान संघीय है। देश के अहम मसलों का सम्बन्ध केंद्रीय शासन से रहता है और राष्ट्रीय सार्वजनिक कार्यों का संचालन भी केंद्रीय शासन द्वारा ही किया जाता है। स्थानीय महत्व रखने वाले कार्य व्यक्तिगत राज्यों के जिम्मे है। अमेरिका का संयुक्त संघ तथा इसके राज्यों का सम्बन्ध विधान ने स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया है। केन्द्रीय शासन तथा विभिन्न राज्यों ने मिल कर ऐसे संघ को जन्म दिया है जिसका विघटन कभी नहीं हो सकता और न अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र का अन्त ही हो सकता है।

७. यह विकेन्द्रित है। केन्द्र राज्य सत्ता सम्बन्धी सभी शक्तियों का स्रोत नहीं है। संघ तथा संघ के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों को अपने अपने क्षेत्र के अन्दर पर्याप्त अधिकार प्राप्त हैं। केन्द्र से सुदूर स्थानीय संस्थाओं को भी अपने यहाँ के मामलों की देख भाल करने के लिये काफ़ी अधिकार मिले हुए हैं।

८. राजनीतिक दलों द्वारा ही विधान का संचालन होता है। लोक मत का निर्णय राजनीतिक संस्थाओं के प्रयत्न से होता है और जिस दल को जनता का

अधिक से अधिक मत प्राप्त होता है वही राजनीतिक शक्ति का वास्तविक तथा सही अधिकारी माना जाता है।

९. विधान ने यहाँ के निवासियों को सभी नागरिक अधिकार प्रदान किया है। अमेरिका निवासी सभी युगों के राजनीतिक उत्तराधिकारी हैं। उन्हें सामूहिक रूप से अन्याय तथा निरंकुशता को रोकने के सभी साधन प्राप्त हैं और व्यक्तिगत रूप से भी उन्हें सभी नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार मिले हुए हैं। समाज की सुरक्षा तथा हित के अनुकूल वे इन सभी अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं।

१०. इस विधान का आधार व्यक्तियों की कर्त्तव्य परायणता है। प्रजातन्त्र की सफलता हमेशा नागरिकों के ऊपर निर्भर रहती है। नागरिकों को हमेशा शासन के कार्यों पर निरीक्षण रखना चाहिए और अमेरिका में यह पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

११. फोरमेन द्वारा लिखी गई इन विशेषताओं के अलावा अमरीकी विधान में हम एक विशेषता और पाते हैं। यह है वहाँ की न्यायकारिणी की प्रधानता। अमरीका की व्यवस्थापिका सभा यानी वहाँ की कांग्रेस द्वारा पास किये गये कानूनों को वैधानिक अथवा अवैधानिक घोषित करने का पूर्ण अधिकार वहाँ के फेडरल (संघ) न्यायालय को प्राप्त है।

परिशिष्ट ३

डोमिनियन स्वराज

डरहम रिपोर्ट

ब्रिटिश साम्राज्य में सर्वप्रथम १८४० ई० में औपनिवेशिक स्वायत्त शासन या डोमिनियन स्वराज्य की ओर पहला क़दम उठाया गया। १८३७ ई० में कनाडा के शासन विरोधी आन्दोलनों के फलस्वरूप १८४० ई० में लार्ड डरहम वहाँ की स्थिति को समझने के लिये इंगलैण्ड से भेजे गये। सारी परिस्थिति को भली भाँति समझ कर वे इस परिणाम पर पहुँचे कि सुदूर के उपनिवेशों को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रखने का एक मात्र उपाय यह था कि उन उपनिवेशों को स्वयं शासन करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय। इसीलिये उन्होंने इस बात की सिफ़ारिश की कि वैधानिक परिवर्त्तन, विदेशी सम्बन्ध, विदेशी व्यापार तथा देश की रक्षा और जमीन तथा लोगों के बसने के मामलों के अलावा और सभी बातों में कनाडा वालों को इस बात की स्वतन्त्रता दी जाये कि वे अपना शासन स्वयं कर सकें। इस प्रकार १८३९-४० ई० की डरहम रिपोर्ट औपनिवेशिक स्वाधीनता का महास्वतन्त्रता पत्र सिद्ध हुई। १८४१-४७ के काल में कनाडा की कार्यकारिणी वहाँ की व्यवस्थापिका के सम्मुख उत्तरदायी हो गई और बाद में दूसरे उपनिवेशों में भी यह प्रथा क़ायम हुई।

१९१४-१८ के युद्ध काल में डोमिनियन स्वराज्य की प्रगति

ब्रिटिश शासन ने इन उपनिवेशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना तो बन्द ही कर दिया, इसके अलावा वाह्य मामलों में भी इसने अधिक नियन्त्रण नहीं रक्खा। अत: ब्रिटिश साम्राज्य ने सहयोग की नीति को अपनाया। सार्वजनिक समस्याओं पर पहले औपनिवेशिक सभाओं में विचार हो चुकने के पश्चात् तथाकथित साम्राज्य की सभाओं में विचार होने लगे। १९१४-१८ के युद्ध में सार्वजनिक सुरक्षा के प्रश्नों पर विचार करने के लिये उपनिवेशों के प्रधान मन्त्री लन्दन बुलाये जाने लगे और शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि स्वशासित उपनिवेशों ने राष्ट्रों का स्थान ग्रहण कर लिया है। कनाडा के सर राबर्ट बोर्डेन ने कहा कि "हमारा कामनवेल्थ एक प्रकार का राष्ट्र संघ है जो सार्वजनिक निष्ठा तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से बँधा है। ये सम्बन्ध अभी विकास की अवस्था में हैं।' बोर्डेन ने Imperial War Cabinet (1917-19) के सदस्यों की समानता पर भी ज़ोर दिया। इस मन्त्रिमंडल का प्रधान इंगलैण्ड का प्रधान मन्त्री था और उसने घोषित कर दिया था कि प्रत्येक औपनिवेशिक राष्ट्रों की स्वतन्त्रता तथा स्वायत्त शासन पूर्ण था और वहाँ के प्रधान मन्त्रियों का उत्तरदायित्व अपने निर्वाचकों के प्रति था। इसी मन्त्रिमंडल के एक प्रस्ताव द्वारा इंगलैण्ड के प्रधान-मन्त्री ने यह स्वीकार किया कि उपनिवेशों के प्रधान उससे सीधा

सम्बन्ध रख सकते थे। पेरिस की शान्ति-सभा में उपनिवेशों को पृथक प्रतिनिधित्व मिला और अन्तर्राष्ट्रीय संघ के बन जाने पर प्रत्येक उपनिवेशों को स्वतन्त्र सदस्य होने का अधिकार भी मिला।

१९२६ की Imperial Conference,

१९२२ ई० में आइरिश स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के पश्चात् तथा दक्षिणी अफ्रीका में १९२४ में हरज़ोग (Hertzog) के प्रधान हो जाने पर यह प्रश्न भी उपस्थित हुआ कि उपनिवेशों को अंग्रेजी साम्राज्य से पृथक होने का अधिकार प्राप्त है अथवा नहीं। अतः इस वैधानिक परिस्थिति को स्पष्ट करने के लिये १९२१ में Imperial Conference ने बैलफर कमेटी (Balfour Committee) को जन्म दिया। इस कमेटी का कर्त्तव्य उपनिवेशों तथा साम्राज्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करना था और इसने उपनिवेशों की स्थिति को इस प्रकार रक्खा :

"They are autonomous communities within the British Empire, equal in status, in no way subordinate one to another in any respect of their domestic or external affairs, though united by a common allegiance to the crown, and freely associated as members of the British Commonwealth of Nations."

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत वे (उपनिवेश) स्वतन्त्र राष्ट्र हैं जो परस्पर समान हैं तथा अपने आन्तरिक अथवा बाह्य मामलों में किसी के अधीन नहीं हैं, यद्यपि वे सार्वजनिक सम्राट की निष्ठा तथा ब्रिटिश कामनवेल्थ की सदस्यता से एक दूसरे से बँधे हुए हैं।

इस कमेटी ने प्रत्येक उपनिवेश के गवर्नर जनरल की स्थिति को भी स्पष्ट कर दिया। यह निश्चित पाया गया कि अंग्रेजी राष्ट्र संघ में सदस्यों की समानता के कारण यह आवश्यक है कि गवर्नर जनरल को इंगलैण्ड के सम्राट का प्रतिनिधि माना जाय जो अपने कर्त्तव्यों के पालन करने में उन्हीं अधिकारों का प्रयोग करेगा जिन्हें इंगलैण्ड का सम्राट करता है। अतः उपनिवेशों के गवर्नर जनरल इंगलैण्ड के शासन तथा उसके किसी विभाग के प्रतिनिधि अथवा एजेन्ट न होकर सीधे सम्राट के प्रतिनिधि हुए।

१९२६ की कान्फ्रेंस ने निम्नलिखित दो मतों को स्वीकार कर उन्हें लिपिबद्ध किया :

(१) किसी उपनिवेश के सम्बन्ध में अंग्रेजी पार्लिमेन्ट द्वारा लागू किया गया क़ानून उक्त उपनिवेश की सम्मति से ही लागू हो सकता है।

(२) विधान की धाराओं तथा अन्य विशेष धाराओं के रहते हुए भी यह निश्चित पाया गया कि अपने उपनिवेश से सम्बन्धित प्रत्येक मामले में उपनिवेश के शासन को अधिकार है कि वह अंग्रेजी सम्राट को परामर्श दे सके।

१९३० की Imperial Conference

इसके अतिरिक्त १९२६ की Imperial Conference की रिपोर्ट ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि उपनिवेशों के तत्कालीन शासन-प्रबन्ध व्यवस्थापिका तथा न्याय-

कारिणी और इस वैधानिक स्थिति में सामञ्जस्य का अभाव था। अतः क़ानून-निर्माण के सम्बन्ध में इस कान्फ्रेन्स ने इस बात की सिफ़ारिश की कि क़ानून के विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त की जाय। इस कमेटी का नाम 'Conference on the operation of Dominion Legislation and Merchant Shipping Legislation' रक्खा गया। १९२९ ई० में कान्फ्रेंन्स की बैठक हुई और इसने इस बात को सिफ़ारिश की कि उपरोक्त बातों को इंगलैंड की पार्लिमेन्ट क़ानून के रूप में घोषित कर दे।

१९३० की Imperial Conference ने १९२९ की कान्फ्रेंन्स की रिपोर्ट को स्वीकार किया और ११ दिसम्बर को अंग्रेज़ी पार्लिमेन्ट ने भी वेस्टमिन्स्टर की धारा के नाम का घोषणात्मक क़ानून पास किया जिसने १९२६ से ३० ई० तक की Imperial Conference के निर्णयों को कार्यान्वित किया।

वेस्टमिन्स्टर की धारा

प्रस्तावना भाग में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि 'सम्राट ब्रिटिश कामनवेल्थ आफ़ नेशन्स के स्वतन्त्र सहयोग का प्रतीक है; चूँकि सम्राट के प्रति सार्वजनिक निष्ठा द्वारा विभिन्न उपनिवेश संयोग के सूत्र में बँधे हैं अतः इंगलैण्ड में सम्राट के उत्तराधिकार से सम्बन्धित क़ानूनों तथा वैधानिक परिस्थिति में परिवर्त्तन लाने के लिये इंगलैण्ड की पार्लिमेन्ट के साथ इन 'डोमिनियनों' की पार्लिमेन्टों की राय भी आवश्यक है।

१—'डोमिनियन' शब्द कनाडा, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका तथा आइरिश स्वतन्त्र राज्य और न्यूफ़ाउन्डलैण्ड के लिये लागू होता है।

२—"१८६५ का Colonial Laws Validity Act इस धारा के कार्यान्वित होने के पश्चात् नहीं लागू होगा।" किसी भी उपनिवेश की पार्लिमेन्ट द्वारा पास किया गया क़ानून इस बिना पर कि वह इंगलैण्ड के क़ानून के प्रतिकूल है अवैधानिक न होगा। उपनिवेशों की पार्लिमेन्ट को यह अधिकार होगा कि अपने यहाँ लागू होने वाले इंगलैण्ड की पार्लिमेन्ट के क़ानून को रद्द कर दें।

३—इस धारा के पश्चात् इंगलैण्ड की पार्लिमेन्ट द्वारा पास किया गया क़ानून उपनिवेशों में नहीं लागू होगा। अगर कोई उपनिवेश इस बात की प्रार्थना करता है तो अवश्य इंगलैण्ड की पार्लिमेन्ट का क़ानून वहाँ लागू हो सकता है लेकिन इस बात को उस क़ानून में भी रखना पड़ेगा कि ऐसा डोमिनियन की सम्मति तथा प्रार्थना पर किया जा रहा है।

४—डोमिनियन की पार्लिमेन्ट को पूर्ण अधिकार है कि वे अति-प्रादेशिक प्रभाव रखने वाले क़ानूनों का निर्माण कर सकें।

५—इस धारा ने डोमिनियन पार्लिमेन्ट के अधिकारों की व्याख्या व्यापारी जहाज़ तथा जलसेना के सम्बन्ध में भी की और कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड तथा न्यूफ़ाउडलैण्ड के विधानों से सम्बन्धित कुछ 'Saving clauses' भी जोड़ दिया।

६—अब उपनिवेश (Colony) शब्द का प्रयोग डोमिनियन के लिये नहीं किया जायगा।

डोमिनियन स्वराज का अर्थ

डोमिनियन स्वराज के विकास के सम्बन्ध में उपरोक्त बातों पर ध्यान देने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि डोमिनियन स्वराज का निम्नलिखित तात्पर्य है :—

(१) ब्रिटिश कामनवेल्थ की एकता का प्रतीक अब भी इंगलैण्ड का सम्राट है।

(२) ब्रिटेन तथा उसकी डोमिनियन आपस में समान हैं और कोई दूसरे के अधीन नहीं हैं।

(३) किसी डोमिनियन की प्रार्थना तथा सम्मति के बिना ब्रिटिश पार्लिमेन्ट कोई भी ऐसा क़ानून नहीं पास कर सकती जो उस पर लागू हो।

(४) अगर किसी डोमिनियन पार्लिमेन्ट द्वारा पास किया गया क़ानून इंगलैण्ड के क़ानून के प्रतिकूल होता है तो वह इस आधार पर नाजायज नहीं करार दिया जा सकता।

(५) डोमिनियन पार्लिमेन्टों को अति प्रादेशिक प्रभाव रखने वाले क़ानूनों को पास करने का भी अधिकार है। इसके अलावा डोमिनियनों को अन्य देशों से अपना पृथक तथा स्वतन्त्र दौत्य सम्बन्ध रखने का भी अधिकार है। आयरलैण्ड फ्रान्स से स्वतन्त्र दौत्य सम्बन्ध रखता है, कनाडा, अमेरिका, जापान (१९३९ के पूर्व) तथा फ्रान्स (१९३९ ई० के पूर्व) से; दक्षिणी अफ्रीका अमेरिका, हालैण्ड तथा इटली (१९३९ से पूर्व) से अपना स्वतन्त्र सम्बन्ध रखता है। डोमिनियन होते हुए हम देखते हैं कि भारतवर्ष तथा पाकिस्तान ने भी विभिन्न देशों से अपना दौत्य सम्बन्ध स्थापित किया है।

(६) डोमिनियन का गवर्नर जनरल ब्रिटिश शासन का एजेन्ट नहीं होता। वह इंगलैंड के सम्राट की भाँति दल भावना से शून्य कार्यकारिणी के प्रधान का स्थान ग्रहण करता है। उसकी नियुक्ति ब्रिटिश पार्लिमेंट द्वारा न होकर डोमिनियन के प्रधान मंत्री की राय से होती है और उसके लिये अंगरेज होना आवश्यक नहीं। सर्वप्रथम आस्ट्रेलिया की डोमिनियन ने सर आइजाक्स को जो आस्ट्रेलियन थे १९३० में वहाँ का गवर्नरजनरल नियुक्त किया।

(७) आयरलैंड तथा दक्षिणी अमरीका ने तो कामनवेल्थ से पृथक होने के अधिकार की भी माँग की है यद्यपि अभी तक ब्रिटिश गवर्नमेंट ने उसे स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया है। १९४२ के क्रिप्स प्रस्ताव ने भारतवर्ष तथा ब्रिटेन के मध्य एक सन्धि का प्रस्ताव रक्खा था और इसमें किसी प्रकार की ऐसी शर्तें नहीं थी जिससे अन्य डोमिनियनों तथा भारतवर्ष के सम्बन्ध पर ब्रिटेन द्वारा कोई प्रतिबन्ध लगाया जा सकता। इससे भारतवर्ष न केवल सर्वसत्ताधारी राज्य का स्थान ग्रहण करता बल्कि सर स्ट्रैफर्ड क्रिप्स के शब्दों में उसे ब्रिटिश कामनवेल्थ से 'पृथक होने का अधिकार भी प्राप्त था'। यह स्वतन्त्र रूप से कामनवेल्थ के सदस्यों से अपना सम्बन्ध रख सकता था और इंगलैंड से सम्बन्ध विच्छेद भी कर सकता था। कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव ने भी भारतवर्ष को डोमिनियन स्वराज प्रदान किया और आज हम देखते हैं कि भारतवर्ष ने विभिन्न देशों से अपना स्वतन्त्र दौत्य सम्बन्ध स्थापित

किया है। मिशन प्रस्ताव के अनुसार भारतवर्ष ब्रिटिश कामनवेल्थ से पृथक भी हो सकता है।

विधान में भारतवर्ष के लिये स्वतन्त्र रिपबलिक' शब्द के प्रयोग से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नये विधान के कार्यान्वित हो जाने के पश्चात् भारतवर्ष ब्रिटिश कामनवेल्थ के बाहर हो जायेगा। इस अर्थ द्वारा पैदा किये गये भ्रम को समाप्त करने ही के लिये डा० अम्बेदकर ने विधान निर्मात्री सभा में एक संशोधन रक्खा है जिसमें उन्होंने विधान में 'स्वतन्त्र रिपबलिक' के स्थान पर 'स्वतन्त्र राज्य' शब्द के प्रयोग के लिये आग्रह किया है।

(८) यह आवश्यक नहीं है कि डोमिनियनों के उच्च न्यायालयों से निर्णय हो जाने पर सभी प्रकार के मुक़द्मों की अपील प्रिवी कौंसिल में हो सके। कुछ डोमिनियनों में उनके अपने सर्वोच्च न्यायालय हैं और वहाँ का निर्णय अन्तिम माना जाता है।

(९) अगर इंगलैंड किसी देश के विरुद्ध युद्ध घोषित करता है तो उसका यह तात्पर्य नहीं कि डोमिनियनों ने भी उस देश के विरुद्ध युद्ध घोषणा की है। प्रत्येक डोमिनियन अलग युद्ध घोषणा करती है और अगर कोई डोमिनियन चाहे तो युद्ध से अलग भी रह सकती है। १९३९-४५ के युद्ध में सभी डोमिनियनों ने अलग-अलग युद्ध-घोषणा की और आयरलैंड अन्त तक युद्ध से अलग ही रहा।

(१०) अगर किसी देश से इंगलैंड सन्धि करता है तो उस सन्धि की शर्तें डोमिनियनों पर उनकी सम्मति के बिना नहीं लागू हो सकतीं।

(११) १९३९-४५ ई० के युद्ध में जब जापान ने ब्रिटेन तथा अमेरिका के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की तो आस्ट्रेलिया ने अमेरिका से अपना सीधा सम्बन्ध रखना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार अपनी वाह्य नीति में भी डोमिनियनों को पूर्ण स्वतन्त्रता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि 'डोमिनियन स्वराज' स्वतन्त्रता की छाया मात्र ही नहीं है, जैसा कि गांधी जी ने उम्मीद की थी इसमें 'वास्तविक स्वतन्त्रता' विद्यमान है।

परिशिष्ट ४

आस्ट्रेलिया तथा कनाडा के विधानों की तुलना

१. आस्ट्रेलियन विधान अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्र संघ के विधान के आधार पर निर्मित है। यहाँ भी संघ के केन्द्रीय शासन को निश्चित अधिकार प्राप्त हैं, शेष सभी अधिकार व्यक्तिगत रियासतों को दिये गये हैं। इसके विपरीत कनाडा में प्रान्तों या सूबों के अधिकार निश्चित हैं और शेष सभी अधिकार संघ या केन्द्रीय शासन को प्राप्त हैं।

२. आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधि सभा (House of Representatives) का निर्वाचन ३ वर्ष के लिये होता है, कनाडा के कामन्स सभा (House of Commons) का ५ वर्ष के लिये। आस्ट्रेलिया में प्रतिनिधि सभा के साथ वहाँ की सेनेट का भी विघटन हो सकता है किन्तु कनाडा में सेनेट के सदस्यों की नियुक्ति जीवन पर्यन्त के लिये होती है। इसके अलावा आस्ट्रेलियन सेनेट में सदस्यों का निर्वाचन किया जाता है किन्तु कनाडा में सेनेट के सदस्य नामजद किये जाते हैं। आस्ट्रेलियन सेनेट में सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व रहता है किन्तु कनाडा में विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधित्व में काफ़ी असमानता है।

३. आस्ट्रेलियन पार्लिमेन्ट वहाँ के विधान को बदल सकती है किन्तु कनाडा की पार्लिमेन्ट को यह अधिकार नहीं प्राप्त है।

४. आस्ट्रेलिया में अगर कोई वैधानिक परिवर्तन किया जाता है तो 'सूचना' (Referendum) द्वारा जनता का मत ले लिया जाता है। कनाडा में 'सूचना' तथा सार्वजनिक क़ानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधन नहीं हैं।

५. आस्ट्रेलिया में रियासतों के गवर्नरों की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती है किन्तु कनाडा में प्रान्तों के लेफ्टीनेन्ट गवर्नरों की नियुक्ति गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल द्वारा होती है। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया की रियासतों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा पास किये हुए क़ानूनों को सम्राट ही रद कर सकता है किन्तु कनाडा के प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा पास किये गये क़ानूनों को गवर्नर-जनरल अपनी कौंसिल की राय से रद कर सकता है।

परिशिष्ट ५

अमेरिकन तथा स्विस विधानों की तुलना

१. यू० यस० ए० यानी संयुक्त अमेरिकन राष्ट्र संघ की कार्यकारिणी का प्रमुख अमेरिकन प्रेसिडेन्ट होता है और वह अपने मन्त्रियों या सचिवों की नियुक्ति स्वयं करता है। ये मन्त्री उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। स्विटजरलैण्ड में जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कोई भी इस प्रकार का प्रमुख कार्यकर्त्ता नहीं होता। वहाँ की संघ-कौंसिल ही कार्यकारिणी का कार्य करती है और कौंसिल के सातों मन्त्री प्रतिबर्ष बारी-बारी से प्रेसिडेन्ट चुने जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ स्विट-जरलैण्ड का प्रेसिडेन्ट केवल सहकारियों में प्रथम होता है वहाँ अमेरिका का प्रेसिडेण्ट अन्य सचिवों तथा मन्त्रियों में प्रमुख होता है। ये मन्त्री प्रेसिडेण्ट के सेवक होते हैं।

२. अमेरिकन प्रेसिडेण्ट का निर्वाचन एक राष्ट्रीय महासभा या निर्वाचन क्षेत्र द्वारा किया जाता है। स्विटजरलैण्ड की संघ कौंसिल का निर्वाचन संघ की असेम्बली द्वारा होता है।

३. अमेरिकन सेनेट विश्व के दूसरे भवनों में सबसे अधिक शक्तिशाली है। विदेशी राज्यों से सन्धि करने तथा संघ के अफसरों की नियुक्ति करने के अधिकारों में हमेशा प्रेसिडेण्ट के साथ इसे भी अधिकार मिले हैं। स्विटजरलैण्ड की कौंसिल आफ् स्टेट को इस प्रकार के कोई अधिकार नहीं प्राप्त हैं।

४. संयुक्त अमेरिकन राष्ट्र में रियासतें केन्द्रीय शासन के अलावा दूसरे देशों से न सन्धि कर सकती हैं और न विदेशी सम्बन्ध ही रख सकती हैं। स्विटजरलैण्ड की कुछ कैन्टनों को कुछ सीमा तक यह अधिकार मिला हुआ है। (सोवियत रूस के अन्तर्गत जातियों को भी यह अधिकार अब दे दिया गया है।)

५. अमेरिका में दल प्रणाली का विकास क़ानून से पृथक हुआ है और इसने अपने दोषों के साथ एक यन्त्र का रूप ग्रहण कर लिया है। स्विटजरलैण्ड में अब भी दल अधिक शक्तिशाली नहीं हो पाये हैं।

६. प्रत्यक्ष सार्वजनिक-क़ानून निर्माण के साधन के रूप में 'सूचना,' 'जनादेश' तथा 'वापसी' दोनों देशों में पाये जाते हैं। किन्तु विधान में संशोधन लाने के लिए इनका प्रयोग केवल स्विटजरलैण्ड ही में होता है।

७. अमेरिका की सुप्रीमकोर्ट विधान के अविभावक का कार्य करती है। प्रेसिडेन्ट के विशेष क़ानूनों तथा व्यवस्थापिकाओं द्वारा पास किए गए किसी भी क़ानून को वह उनके अधिकार क्षेत्र के परे Ultra Vires घोषित कर सकती है। स्विटजरलैण्ड के फ़ेडरल कोर्ट को यह अधिकार नहीं मिला है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अमेरिकन विधान में न्यायकारिणी की प्रधानता स्वीकार की गई है किन्तु स्विटजरलैंड के विधान में नहीं।

८. अमेरिका में शक्ति विभाजन है, स्विटजरलैंड में नहीं।

परिशिष्ट ६

इंगलैण्ड के जुलाई १९४५ के व्यापक निर्वाचन की विवेचना

१. अप्रैल २७, १९३१ की जन-गणना के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन[१] के निवासियों की कुल संख्या ४४,९३७,४४४ है।

Representation of the People (Equal Frauchise) Act, 1928 के अनुसार पुरुषों तथा स्त्रियों को वोट देने का समान अधिकार मिला और मतदाता अथवा वोटर होने के लिये २१ वर्ष की अवस्था आवश्यक मानी गई। पियर, नाबालिग, विदेशी, दिवालिये, तथा पागल मताधिकार से वञ्चित हैं। पार्लिमेंट के स्थानों का वितरण पुनः किया गया और अब ७०,००० जन संख्या को कामन्स सभा में एक सदस्य भेजने का अधिकार है। इस प्रकार १९३५ ई० में इंगलैण्ड तथा वेल्स और स्काटलैण्ड में निर्वाचकों की संख्या[२] (पुरुषों तथा स्त्रियों को मिलाकर) इस प्रकार थी

(i) इंगलैण्ड तथा वेल्स में	२७, ३९४, ९९०;
(ii) स्काटलैण्ड में	३, १६७, ८४८;
	कुल ३०, ५६२, ७७८

इन संख्याओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि ४ करोड़ से अधिक जन सँख्या में केवल ३ करोड़ से कुछ अधिक व्यक्तियों को मताधिकार मिला था और १ करोड़ लोग पियर, नाबालिग, दिवालिया अथवा पागल होने के नाते मताधिकार से वञ्चित थे।

अब इस व्यापक निर्वाचन में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ३ करोड़ निर्वाचकों में २४,९५०,२३४ लोगों ने मताधिकार का प्रयोग किया। इससे इस बात का पता चलता है कि साधारण अंगरेज अपने यहाँ की राजनीति में कितनी दिलचस्पी लेता है और अपने उत्तरदायित्व के प्रति कितना जागरूक है।

२. अगर प्रत्येक दलों के पक्ष में दिये गये कुल मतों का उस दल द्वारा प्राप्त स्थानों से भाग किया जाय तो प्रत्येक सदस्य को औसत से निम्नलिखित अनुपात में वोट मिले हैं:—

लेबर	=११, ९४१, ५०१÷३९० = ३०, ६१९	प्रति	सदस्य
कन्जरवेटिव	=९, ०५३, ६३ ÷१९५ = ४६,४४५	,,	,,
लिबरल	=२, २२१, १४५÷११ = २०१,९२१	,,	,,
लिबरल नेशनल	=७७३, ७८१÷१४ = ५५,६९८	,,	,,

१—यहाँ पर उल्लिखित सभी संख्याओं का आधार The Stateman's Year Book 1944, p. 12 and p. 6 है।

२—इंगलैण्ड तथा वेल्स के कुल निर्वाचकों में १२,९१२१,३३९ पुरुष थे और १४,४८२,५८१ स्त्रियाँ।

स्काटलैण्ड में १,४९८,६१६ पुरुष तथा १,६६९,२४२ स्त्रियाँ।

स्वतन्त्र	=५३९, २२८÷१०=५३,९२२	,,	,,
नेशनल (नान्-पार्टी)	=१३७, ७१८÷१=१३७,७१८	,,	,,
कामनवेल्थ	=१२४, ७३०÷१=१२४, ७३०	,,	,,
कम्युनिस्ट	=१०२, ७८०÷२=५१,३४०	,,	,,
स्वतन्त्र लेबर	=४६, ६७९÷३=१५,५५६	,,	,,

एक सदस्य-निर्वाचन क्षेत्र (Single member constituency) में सदस्यों को प्राप्त मतों में कितनी समानुपातिक असमानता रहती है इस तालिका पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है। अगर निर्वाचन की प्रणाली में मतों को हस्तान्तरित करने का भी अवसर दिया जाता तो यह दोष दूर हो सकता है। इस निर्वाचन में जैसा कि हम ऊपर की तालिका में देखते हैं स्वतन्त्र लेबर दल बड़ा भाग्यशाली रहा है और लिबरल दल उतना ही दुर्भाग्यशाली। ...

(३) लेबर दल के पक्ष में ११,९४१,५०१ मत पड़े हैं और इस दल के ३९० सदस्य निर्वाचन में सफल हुए।

शेष दलों के पक्ष में १३,००८,७३३ मत पड़े किन्तु उन सब दलों के केवल २३७ सदस्य सफल हो सके।

इसका यह अर्थ हुआ कि जहाँ तक निर्वाचकों के मत का सम्बन्ध है लेबर अथवा मजदूर दल केवल अल्पसंख्यक नागरिकों का ही प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि आधे से अधिक निर्वाचकों ने अपना मत का प्रयोग अन्य दलों के पक्ष में किया है। किन्तु पार्लिमेंट के अन्दर मजदूर दल स्पष्ट बहुमत में है। इसलिये मज़दूर दल का प्रतिनिधित्व वास्तव में जितना होना चाहिए उससे अधिक है और अन्य दलों का कम।

(इस सम्बन्ध में कृपया इस पुस्तक में दिये गये 'निर्वाचक' के अध्याय में एक सदस्य-निर्वाचन क्षेत्र अथवा एक प्रतिनिधि निर्वाचन प्रणाली के दोषों को देखिये; पृष्ठ २४०।)

४. राष्ट्रीय (नान पार्टी) को १३७,७१८ वोट प्राप्त हुए हैं और कामनवेल्थ पार्टी को १२४,७३० किन्तु इन दो दलों के केवल एक-एक सदस्य ही पार्लिमेन्ट में जा सके। इस प्रकार इन दलों का प्रतिनिधित्व और भी कम हुआ है। अगर लेबर पार्टी के सदस्यों के पक्ष में दिये गये मतों के औसत पर ध्यान दिया जाय तो इन दोनों दलों को कम से कम प्रत्येक को ४ स्थान मिलना चाहिए था।

५. उपरोक्त दोनों दलों के मुकाबिले कम्युनिस्ट तथा स्वतन्त्र लेबर का प्रतिनिधित्व भी अनुपात से अधिक हुआ है। इन दोनों दलों के पक्ष में १०२,७८० और ४६,६७९ मात्र वोट पड़े किन्तु उन्हें क्रमशः २ तथा ३ स्थान मिले। यह भी ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि कम्युनिस्टों को स्वतन्त्र लेबर के मुक़ाबिले दुगुने से अधिक मत प्राप्त हुए फिर भी कम्युनिस्टों को केवल दो स्थान मिल सके और स्वतन्त्र लेबर को तीन। समानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली ऐसे दोषों से मुक्त है। लिबरल तथा राष्ट्रीय लिबरल दलों को प्राप्त मतों और स्थानों में भी हम यही विरोधाभास पाते है। लिबरल दल को २,२२१,१४५ मत मिले हैं और राष्ट्रीय लिबरल को

केवल ७७६,७८१ किन्तु हम देखते हैं कि लिबरल दल को केवल ११ स्थान प्राप्त हुए और राष्ट्रीय लिबरल को १४। यह तुलना और भी आश्चर्य जनक हो जाती है अगर हम कन्जरवेटिव तथा लिबरल दलों का मुक़ाबिला करें। ९,०५६,६७२ मत प्राप्त करने पर कन्जरवेटिव दल को ३६५ स्थान मिले हैं और २,२२१,१४५ मत प्राप्त करके लिबरल दल को केवल ११ स्थान। इसके अलावा २,२२१,१४५ मत प्राप्त करके लिबरल दल को ११ स्थान मिल जाते हैं और स्वतन्त्र सदस्यों को ५३६,३२८ मत प्राप्त करने पर ही १० स्थान मिल जाते हैं।

(६) अब हम कुछ निर्वाचन क्षेत्र में पड़े हुए मतों पर भी दृष्टिपात कर सकते हैं।

(i) डम्बार्टन शायर

लेबर	...	२८,३८३
कन्जरवेटिव	...	२७,६३५

(ii) कम्बरलैंड (उत्तरी) ...

लिबरल	...	१२,०५३
कन्जरवेटिव	...	११,८५५

(iii) नारथैम्पटन (पीटरबरो)

लेबर	....	२२,०५६
कन्जरवेटिव	....	२१,४८५

(iv) नारफॉक (दक्षिणी-पश्चिमी)

लेबर	...	१५,०९१
कन्जरवेटिव	...	१५,०३८

(v) एबरडीन और किनकैरडीन (पश्चिमी)

कन्जरवेटिव	...	१०,९३२
लिबरल	....	१०,२९०

(vi)

विल्टशायर (वेसबरी)

कन्जरवेटिव	...	१०,९३२	
लेबर	...	१०,२९०	१०,९३२
लिबरल	...	६४२	

उपरोक्त तालिका में प्रथम पाँच निर्वाचन क्षेत्रों में पड़े हुए मतों पर दृष्टिपात करने से एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र के दोष स्पष्ट हो जाते हैं। इन निर्वाचन क्षेत्रों में हम देखते हैं कि सफल उम्मीदवारों को अपने विरोधियों के मुकाबिले केवल थोड़े से अधिक वोट मिले हैं। इस प्रकार निर्वाचकों की एक महत्वपूर्ण संख्या के मत तथा हितों का प्रतिनिधित्व ही नहीं हो पाता। छठें निर्वाचन क्षेत्र का फल तो इस प्रणाली को और भी दोषपूर्ण साबित कर देता है। इस निर्वाचन क्षेत्र में सफल

उम्मीदवार को केवल उतने ही मत मिले हैं जितना कि दोनों पराजित उम्मीदवारों को मिला कर। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस निर्वाचन क्षेत्र का सदस्य वहाँ के ५०% लोगों का ही प्रतिनिधित्व करता है। समानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली में वृहत निर्वाचन क्षेत्रों के साथ यह विरोधाभास दूर किया जा सकता है।

७. ऊपर के निर्वाचन क्षेत्रों में निर्वाचित सदस्य को बहुमत प्राप्त है या कम से कम विरोधी उम्मीदवारों के बराबर मत मिले हैं। निम्नलिखित निर्वाचन क्षेत्रों में तो हम देखेंगे कि सफल उम्मीदवार को अल्पमत ही प्राप्त है यानी उसके विरोधी उम्मीदवारों को मिला कर उससे अधिक मत मिले हैं। इस प्रकार इन क्षेत्रों में बहुमत का प्रतिनिधित्व न होकर अल्पमत का प्रतिनिधित्व होता है।

(i) वैलेजो

कन्जरवेटिव	....	१८,४४८	
स्वतन्त्र लेबर	....	१४,६३८	= २४,५१७
लेबर	...	९,८७९	

(ii) लिंकन

लेबर	....	१४,०५२	
कन्जरवेटिव	....	१०,४१४	= २०,०३९
लिबरल	...	९,६२५	

(iii) एक्जीटर

कन्जरवेटिव	...	१६,४२०	
लेबर	....	१५,२४५	= २१,४६५
लिबरल	....	६,२२०	

(iv) सफ़ोक पूर्वी

लिबरल राष्ट्रीय	....	११,८९९	
कन्जरवेटिव	....	१०,९५०	= १९,०३९
लेबर	....	८,०८९	

(v) लीड्स (उत्तरी)

कन्जरवेटिव	...	२२,८४८	
लेबर	....	२२,७२०	= ३१,५४४
लिबरल	....	८,८२४	

(vi) हर्टफोर्ड

कन्जरवेटिव	....	१९,७७७	
लेबर	...	१७,३४५	
लिबरल	....	७,५८०	= ३५,०१०
स्वतन्त्र	....	१०,१०५	

इस प्रकार की निर्वाचन-प्रणाली के दोषों के लिये कृपया इस पुस्तक का, अध्याय ८ देखिये।

परिशिष्ट ७

इटली की कारपोरेशन प्रणाली

यद्यपि अक्टूबर १९२१ में इटली के फासिस्टवादियों ने वहा के शासन सूत्र को अपने हाथ में ले लिया किन्तु फासिस्ट शक्ति की पूर्ण स्थापना तथा विरोधियों की समाप्ति १९२५ के बाद ही हुई। १९२५ ई० मे फासिस्ट योजनाओं के कुछ अंश वहाँ के क़ानून में प्रकट हुए। उनके सिद्धान्त थे (अ) विरोधियों को कुचलना, (ब) राष्ट्रीय शासन के हाथ में शक्ति का केन्द्रीकरण तथा (स) राष्ट्रीय शासन की सत्ता को मुसोलिनी के हाथों में केन्द्रीभूत करना। फासिस्ट दल के अलावा दूसरे राजनीतिक दलों को भली भांति दबा दिया गया और गुप्त संस्थाओं पर पास किये गये क़ानून द्वारा उनके सदस्यों तथा कार्यों की निगरानी होने लगी। कठोर प्रेस क़ानून द्वारा समाचार पत्रों तथा प्रकाशनों पर भी शासन का अंकुश स्थापित हो गया। सारे शासन मे से ऐसे कर्मचारियों को निकाल दिया गया जो नये दल के विरोधी हो सकते थे। स्थानीय निर्वाचनों की प्रथा समाप्त कर दी गई और स्थानीय संस्थाओं की शक्ति रोम के अधीन स्थानीय अधिकारियों के हाथ में सौंप दी गई। व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी की सभी शक्तियां प्रधान मन्त्री में केन्द्रीभूत हो गई और अब उसका पद शासन के अध्यक्ष का हो गया। पार्लामेन्ट के किसी भवन की कार्यवाही की सूची में उसकी आज्ञा के बिना किसी भी प्रश्न का समावेश नहीं हो सकता था। मुसोलिनी तथा उसके सहकारियों को पूर्ण अधिकार मिल गया। वे कानून की व्यवस्था को बदल सकते थे, अपनी आज्ञा द्वारा क़ानून बना सकते थे और शासन संगठन की व्यवस्था तथा शासन के कर्त्तव्यों को निश्चित कर सकते थे। इटली का शासन कमजोर था, फासिस्टवादी इसे राष्ट्र के जीवन में सर्वशक्तिशाली तथा प्रधान बनाना चाहते थे।

आर्थिक जीवन के नियन्त्रण का प्रारम्भ

राजनीतिक जीवन पर पूर्णाधिकार स्थापित कर लेने के पश्चात् तथा विरोध को दबाने के लिये व्यवस्थापिका के अधिकारों को प्राप्त कर लेने के बाद यह निश्चय किया गया कि आर्थिक जीवन की प्रचलित व्यवस्था को भी जो Laissez Faire के सिद्धान्त पर आधारित थी, समाप्त किया जाय। अब आर्थिक जीवन को भी संगठित तथा नियन्त्रित करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। शक्तिशाली होने पर मुसोलिनी ने वर्ग संघर्ष के विचारों का परित्याग करके इस बात पर जोर देना शुरू किया कि राष्ट्र जगत की सभी भौतिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओं का समन्वय है। अतः यह व्यक्ति, वर्ग तथा समुदायों में सर्व श्रेष्ठ है। उसने घोषित किया कि फासिस्ट सरकार राष्ट्र के सभी आर्थिक हितों की रक्षा करेगी और श्रमिकों तथा पूंजिकों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष को नहीं देख सकती; फासिस्ट सरकार इस बात का भी ख्याल रक्खेगी कि एक वर्ग की हानि करके दूसरे वर्ग

लाभ न कर सके। पूर्व फ़ासिस्ट काल में श्रमिकों तथा मालिकों के संगठन स्थापित हो चुके थे और फ़ासिस्ट विजय के समय में भी उनका अस्तित्व था। १६२८ ई० में फ़ासिस्ट महासभा ने 'राष्ट्रीय कारपोरेशनों' को जन्म दिया। दी गई परिभाषा के अनुसार ये एक प्रकार के उद्योग तथा श्रम के प्रान्तीय संगठनों को मिला कर बने हुए राष्ट्रीय संगठन थे। पहले तो इन फ़ासिस्ट संगठनों से श्रमिक नहीं आकर्षित हुए। अधिकांश लोग समाजवादी अथवा कैथलिक लेबर यूनियनों से अपना सम्बन्ध क़ायम रक्खे रहे। इसलिये फ़ासिस्ट सरकार ने लगातार ऐसे कार्यों का प्रयोग किया जिससे फ़ासिस्ट संगठनों के अलावा शेष सभी श्रमिक संस्थाएँ समाप्त हो जाँय। नवम्बर १६२५ में मालिकों ने यह स्वीकार किया कि फ़ासिस्ट श्रम संगठन श्रमिकों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्थायें थीं अतः श्रमिकों के हितों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार केवल उन्हीं संस्थाओं को प्राप्त था। प्रारम्भ में मुसोलिनी के पास राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण स्थापित करने की कोई विस्तृत योजना न थी किन्तु मुल्क में औद्योगिक शान्ति क़ायम रखने तथा हड़तालों और 'ताला लगाने' से आर्थिक जीवन की क्षति को रोकने के लिये वह तैयार था।

कारपोरेशन प्रणाली की उत्पत्ति

अतः धीरे-धीरे श्रम, उद्योग तथा कृषि के विरोधी दृष्टिकोणों द्वारा उत्पन्न हुई समस्यायों की वजह से स्पष्ट नीति का विकास हुआ। कारपोरेशन की व्यवस्था की वास्तविक शुरूआत १६२६ और १६३७ में हुई। अप्रैल ३, १६२६ के क़ानून, जुलाई १, १६२६ का आज्ञापत्र तथा अप्रैल २१, १६२७ के लेबर चार्टर ने इस व्यवस्था को प्रारम्भ किया।

१६२६ के क़ानून ने श्रमिकों तथा मालिकों के संघ को स्वीकार किया और उनके पारस्परिक इक़रार को आवश्यक तथा अनिवार्य किया। इसी क़ानून ने हड़ताल तथा 'ताला लगाने' को भी बन्द किया और श्रमिकों के झगड़ों को तय करने के लिये श्रम न्यायालयों की व्यवस्था की। जुलाई १६२६ के आज्ञापत्र ने कारपोरेशनों की नई मिनिस्ट्री स्थापित की और इसे मालिकों तथा श्रमिकों के संघों में समन्वय स्थापित करने के लिये अधिकार दिया। उपरोक्त संघों का नाम कारपोरेशन हुआ और स्वयं मुसोलिनी कारपोरेशनों का मन्त्री हुआ।

१६२७ के लेबर चार्टर ने, जिसे प्रायः the Constitution of a new Corporate Italian Society (नवीन सहकारी इटली समाज का विधान) कहा जाता है, घोषित किया कि

(१) राष्ट्र ऐसा प्राणी है जिसका उद्देश्य, जीवन तथा साधन इसके अन्तर्गत आनेवले व्यक्तियों तथा समुदायों से श्रेष्ठ है। फ़ासिस्ट राज्य में राष्ट्र नैतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक एकता को प्राप्त करता है।

(२) विभिन्न रूपों में, मानसिक, व्यवसायिक अथवा शारीरिक, श्रम सामाजिक कर्त्तव्य है जिसकी रक्षा राज्य द्वारा होनी चाहिए।

(३) राष्ट्र के दृष्टिकोण से उत्पादन की प्रक्रिया एकात्मक होती है और इसका उद्देश्य उत्पादन करने वालों की भलाई तथा राष्ट्रीय शक्ति का विकास है।

(४) उत्पादन के क्षेत्र में राष्ट्रीय उत्पादन की प्राप्ति के लिये सबसे उत्तम तरीका यही है कि व्यक्तिगत उद्योगों को सहायता दी जाय। किन्तु विभिन्न उद्योगों के संगठन करने वालों को राज्य के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए क्योंकि निजी उत्पादन भी वस्तुतः राष्ट्रीय कार्य है। आवश्यकता पड़ने पर राज्य उत्पादन में हस्तक्षेप कर सकता है और व्यक्तिगत उद्योगों का नियन्त्रण तथा निर्देश अपने हाथ में ले सकता है, उन पर अंकुश लगा सकता है और उन्हें सहायता दे सकता है।

(५) अन्त में, चार्टर ने श्रम-न्यायालय, नौकरी के साधन तथा श्रमिकों की शिक्षा तथा उनके जीवन के बीमे के सम्बन्ध में समान सिद्धान्तों को निर्धारित किया है।

श्रम-संस्थाओं का कर्त्तव्यानुसार पुर्नसंगठन

प्रारम्भ में तो फ़ासिस्ट राज्य ने नये संगठन द्वारा मालिकों तथा श्रमिकोंके सम्बन्ध ही को नियन्त्रित किया। सर्वप्रथम फासिस्ट नियन्त्रण के अन्तर्गत मालिकों तथा श्रमिकों की संस्थाओं का पुनर्संगठन हुआ। यह संगठन प्रणाली कर्त्तव्यानुसार थी यद्यपि संगठन के क्षेत्र अब भी भौगोलिक—कम्यून, प्रान्त तथा राज्य, ही थे। उद्योग, कृषि, व्यापार, बैंक व्यवस्था, आन्तरिक जल अथवा थल-वहन, और वायु हवाई अथवा सामुद्रिक वहन से सम्बन्धित पृथक पृथक मालिकों तथा श्रमिकों के राष्ट्रीय संघ स्थापित किये गये। इस प्रकार उत्पादन के इन ६ विभागों के १२ संघ हुए। १३वाँ संघ कलाकारों तथा दूसरे पेशेवरों का हुआ। इन संघों की सबसे छोटी इकाई स्थानीय सिन्डीकेट थी। इस सिन्डीकेट को क़ानून की अनुमति तब दी जाती थी जब एक प्रकार के उद्योग में काम करने वाले १० प्रतिशत श्रमिक इसके सदस्य हो जाते थे। इसी प्रकार मालिकों की स्थानीय सिन्डीकेट को भी क़ानून से स्वीकृति प्राप्त करने के लिये आवश्यक था कि एक प्रकार के उद्योग के मालिकों में से १० प्रतिशत इसके सदस्य हों। प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र में एक प्रकार के उद्योग का केवल एक संगठन श्रमिकों का हो सकता था और एक ही मालिकों का। इन संगठनों के क़ानून से स्वीकृत अधिकार और कर्त्तव्य होते थे और इन्हें उस क्षेत्र के सभी श्रमिकों अथवा मालिकों की ओर से बोलने का अधिकार था। मालिकों तथा श्रमिकों के इन संगठनों द्वारा सामुदायिक इकरार होता था जिसमें काम के घन्टे, मजदूरी, अवकाश, तरक्क़ी, सेवा-चिकित्सा तथा बीमा इत्यादि का उल्लेख रहता था। श्रमिकों की हड़ताल तथा मालिकों का 'ताला लगाना' क़ानून विरुद्ध घोषित कर दिया गया। अगर मालिकों तथा श्रमिकों में किसी प्रकार का झगड़ा खड़ा हुआ तो उसका फ़ैसला करने के लिये विशेष प्रकार के श्रम-न्यायालयों की व्यवस्था थी।

कारपोरेशन राज्य का आधार

उपरोक्त संगठन इस सिद्धान्त पर आधारित था कि श्रमिकों तथा मालिकों दोनों के हित इटली के राज्य के हित के आधीन है। इस सिद्धान्त को व्यवहार रूप में लाने के लिये मिनिस्ट्री आफ कारपोरेशन बनाई गई। इसका प्रमुख कर्त्तव्य स्थानीय सिन्डीकेटों

तथा राष्ट्रीय संघों के कार्यों का निरीक्षण करना था। उपरोक्त तेरहों संघों के अधिकारियों तथा उनके प्रान्तीय और स्थानीय संघों के अधिकारियों और श्रम-न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति शासन द्वारा की जाती थी। किन्तु आर्थिक जीवन पर यह नियन्त्रण इसलिये नहीं था कि फ़ासिस्ट सरकार उत्पादन के साधनों को राज्य की तरफ से चलाना चाहती थी बल्कि इसलिये कि उस समय की राजनीतिक समस्या ही वैसी थी और उसका हल वहाँ की हुकूमत National Syndicalism के तरीके पर करना चाहती थी। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है यहाँ तक कि मिनिस्ट्री आफ़ कारपोरेशन की स्थापना भी श्रमिकों तथा मालिकों के संघों में समन्वय स्थापित करने के हेतु की गई थी। व्यवहार में इस अवस्था में फ़ासिस्ट राज्य की नीति 'हस्तक्षेप' से कुछ ही आगे थी। यद्यपि श्रम-समस्या का हल फ़ासिस्ट ढंग से हुआ परन्तु राष्ट्रीय उत्पादन के अहम मसले के सम्बन्ध में अभी तक कोई सुव्यवस्थित योजना न थी। कारपोरेशन की विकसित विचारधारा अभी तक प्रयोग में नहीं लाई गई थी। किन्तु १६३०-३३ के विश्वव्यापक आर्थिक संकट के परिणाम स्वरूप इटली के बैंक, उद्योग तथा व्यवसाय को राज्य की सहायता की आवश्यकता पड़ी। इन सब ने राज्य से आर्थिक सहायता और संरक्षण तथा मजदूरों के वेतन में कमी की माँग की। अब मुसोलिनी ने यह निश्चय किया कि आर्थिक जीवन में भी राज्य को अधिक सुव्यवस्थित ढंग से हस्तक्षेप करना चाहिए। इस परिस्थिति से कारपोरेशन राज्य का और विकास हुआ। १६३० ई० में काउंसिल आफ़ कारपोरेशन की जिसकी रूपरेखा अस्पष्ट तौर पर १६२६ ही में तैय्यार हो गई थी, स्थापना हुई और ५ फ़रवरी १६३४ ई० को पास किये गये एक क़ानून के अनुसार पूर्णरूप से कारपोरेशनराज्य क़ायम हुआ। इस राज्य का उद्देश्य श्रमिकों तथा मालिकों के सम्बन्ध का नियन्त्रण करने के अलावा सभी प्रकार के उत्पादनों पर राज्य का अंकुश तथा अनुशासन स्थापित करना भी था। यह प्रयास उत्पादन के साधनों को व्यक्तिगत अधिकारों तथा प्रबन्ध के साथ-साथ राष्ट्रीय प्रबन्ध के अन्तर्गत लाने की ओर था। इन कारपोरेशन सम्बन्धी सुधारों का उद्देश्य ऐसी संस्थाओं को जन्म देना था जो उत्पादन के कार्यों को सामूहिक प्रयास तथा उत्तरदायित्व के अनुकूल चला सकें।

इसी वर्ष (१६३४) राष्ट्रीय संघों की संख्या तेरह से कम करके नौ कर दी गई। इस समय से १६४४ में मुसोलिनी के पतन तक निम्नलिखित नौ संघ कार्य करते रहे:—

१ खेतिहर मालिकों का संघ।
२ खेतिहर श्रमिकों का संघ।
३ औद्योगिक (मिल) मालिकों का संघ।
४ औद्योगिक (मिल) मजदूरों का संघ।
५ व्यवसायिक मालिकों का संघ।
६ व्यवसायिक श्रमिकों का संघ।
७ बैंक तथा बीमा कम्पनी के किस्म की संस्थाओं के मालिकों का संघ।
८ बैंक तथा बीमा कम्पनी के किस्म की संस्थाओं के श्रमिकों का संघ।
६ कलाकारों तथा अन्य पेशेवर लोगों का संघ।

उपरोक्त सभी संघों तथा उनकी स्थानीय शाखाओं को क़ानून की स्वीकृति प्राप्त थी। वे मालिकों तथा श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करते थे और इनको तरफ़ से सामुदायिक समझौते होते थे जो सभी मालिकों तथा श्रमिकों पर समान लागू होते थे, चाहे वे संघ के सदस्य हों या नहीं। हड़ताल तथा ताला लगाना ग़ैरक़ानूनी हो गये और श्रमिकों तथा मालिकों के झगड़ों का फ़ैसला या तो मिनिस्ट्री आफ़् कारपोरेशन द्वारा होने लगा या विशेष श्रम-न्यायालयों द्वारा।

संघों के कर्त्तव्य

सभी संघों के कर्त्तव्य समान थे जो निम्नलिखित हैं:—

(१) फ़ासिस्ट दल के सहयोग से अपनी प्रान्तीय तथा स्थानीय शाखाओं पर राजनीतिक निरीक्षण रखना।

(२) सार्वजनिक हित के कार्यों तथा सेवाओं का संगठन करना और उन्हें चलाना।

(३) इन संस्थाओं के आर्थिक प्रबन्ध का निरीक्षण करना।

(४) आर्थिक सहायता, व्यवसायिक, नैतिक तथा राष्ट्रीय शिक्षा के लिये संस्थाओं को चलाना।

(५) अपने संघ से सम्बन्ध रखने वाले व्यापक हितों तथा आर्थिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करना और सामूहिक समझौते करना।

संघों का विधान

इन संघों के लिये समान विधान भी निश्चित था। इनके प्रमुख अंग निम्नलिखित थे :

१. सभापति या मन्त्री,
२. कौंसिल तथा
३. डाइरेक्टरों का बोर्ड।

कौंसिल संघ की प्रान्तीय तथा स्थानीय शाखाओं के सभापति या मन्त्रियों को मिला कर बनती थी। राष्ट्रीय संघ के सभापति या मन्त्री तथा डाइरेक्टरों का निर्वाचन कौंसिल द्वारा होता था। ये निर्वाचन साधारण तौर से ३ वर्ष के लिये होते थे, परन्तु पुनर्निर्वाचन भी सम्भव था। कौंसिल की बैठक कम से कम वर्ष में एक बार होती थी और बोर्ड की वर्ष में कम से कम छ बार। अधिकारियों की नियुक्ति मिनिस्टर आफ कारपोरेशन की स्वीकृति से हो सकती थी और वह उन्हें हटा भी सकता था। जिस समय इन संस्थाओं का फ़ासिस्टीकरण हो रहा था इस शक्ति का प्रयोग बहुधा किया गया। बाद में अधिकारियों का कार्यकाल काफ़ी सुरक्षित रहने लगा। यद्यपि शासन की ओर से किसी समय हस्तक्षेप सम्भव था परन्तु यह उल्लेखनीय है कि ये संस्थायें बहुत अंश तक स्वतन्त्र तथा स्वशासित थीं। फ़ासिस्टवाद के प्रादुर्भाव के पश्चात् इटली में 'निर्वाचन' का चिन्ह इन्हीं संस्थाओं में शेष रह गया और इन्हीं के अधिकारी अपने पद पर नीचे से आते थे। कारपोरेशन के लिये प्रतिनिधियों का निर्वाचन इन्हीं

संस्थाओं द्वारा होता था और यही प्रतिनिधित्व इस नये राज्य की नागरिकता का आधार हुआ। प्रजातन्त्रवाद का यह अवशेष महत्वपूर्ण समझा जा सकता है। यद्यपि निर्वाचनों का प्रबन्ध तथा संचालन प्रजातान्त्रिक ढंग से नहीं होता था।

२२ कारपोरेशनों की स्थापना

अप्रैल ३, १९२६ के क़ानून की धाराओं में यह आशा की गई थी कि देश में ऐसी कारपोरेशनों का जन्म होगा जो मालिकों तथा मजदूरों की पृथक संस्थाओं को एक कर सकेंगी। परन्तु क़ानून की धारा में इस प्रकार की संस्था को स्थापित करने का कोई निर्देश न था। ऐसा १९३४ ई० में किया गया। किन्तु इस प्रकार की कारपोरेशनों की स्थापना के पूर्व १९३० में स्थापित राष्ट्रीय कौंसिल आफ कारपोरेशन को उत्पादन में एकता लाने का कार्य सौंपा गया। फरवरी ५,१९३४ के कानून द्वारा कापोरेशनों की स्थापना हुई जो विभिन्न २२ उद्योगों तथा व्यवसायों के आधार पर थी। प्रत्येक कारपोरेशन के ऊपर एक कौंसिल होती थी जिसमें औद्योगिक संघों के प्रतिनिधि, विशेषज्ञ, सम्बन्धित संस्थाओं के प्रतिनिधि तथा फासिस्ट पार्टी के सदस्य रहते थे। प्रत्येक कारपोरेशन को इन्हीं कौंसिल द्वारा निर्देश मिलता था। सबसे बड़ी कौंसिल की सदस्य संख्या ६८ थी। इन कौंसिलों में मालिकों तथा मजदूरों का समान प्रतिनिधित्व रहता था। शेष सदस्य जो मतभेद के अवसर पर संतुलन का कार्य करते थे पेशेवर, विशेषज्ञों तथा राजनीतिज्ञों में से होते थे। प्रत्येक कौंसिल में फासिस्ट पर्टी के तीन सदस्य रहते थे। प्रत्येक कौंसिल का अध्यक्ष मिनिस्टर आफ कारपोरेशन था। व्यवहार में उक्त मन्त्री के स्थान पर कार्यवाहक अध्यक्ष प्रत्येक कार्य करता था और औद्योगिक तथा व्यवसायिक संस्थाओं और शासन के बीच सम्बन्ध कायम रखता था। इस प्रकार मुसोलिनी को यह अवसर प्राप्त था कि वह किसी आकस्मिक संकट काल में इन संस्थाओं को अपना निर्देश दे सके। केन्द्रीय संघ के सदस्य होते हुए भी विभिन्न समुदाय सीमित रूप से स्वतंत्र थे (कहने के लिये)। इन संघों का मुख्य कार्य मजदूरों की समस्यायों तथा राष्ट्र के अन्य आर्थिक मामलों को सुलझाना था। कारपोरेशन मालिकों तथा मजदूरों के संघों में तादात्म्य स्थापित करते थे और राज्य की ओर से उत्पादन की प्रणाली को नियन्त्रित रखते थे।

मिनिस्ट्री ऑफ़ कारपोरेशन

कारपोरेशनों की इस व्यवस्था की सर्वोपरि मिनिस्ट्री ऑफ कारपोरेशन थी जिसका अध्यक्ष स्वयं मुसोलिनी था। इसका कार्य समस्त राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण रखना था। स्नेडर ने इस मिनिस्ट्री के कार्यों का संक्षिप्तीकरण इस प्रकार किया है:—

(१) सिन्डीकेटों के विधानों तथा अधिकारियों का निरीक्षण करना तथा उन्हें स्वीकृति प्रदान करना।

(२) अनिवार्य कर जिससे इन संस्थाओं का कार्य चलता था, निश्चित करना तथा उसका वितरण करना।

(३) श्रम सम्बन्धी कानूनों के प्रस्तावों तथा सामूहिक समझौतों का निरीक्षण तथा अनुमोदन करना।

(४) सामूहिक श्रम सम्बन्धी झगड़ों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करना।

(५) प्रत्येक कारपोरेशन की कौंसिल, केन्द्रीय कारपोरेटिव समिति तथा राष्ट्रीय कौंसिल ऑफ़ कारपोरेशन की अध्यक्षता करना और इनके कुछ सदस्यों को नियुक्त करना।

(६) बेकारी, सामाजिक बीमा, सहकारी समितियों की देखभाल करना।

(७) उद्योग तथा व्यवसाय की मिनिस्ट्री के परम्परागत कार्यों का सम्पादन करना जैसे फ़ैक्टरियों, खानों, पेटेन्ट तथा स्वत्वाधिकार, व्यवसायिक सन्धियों, चुंगी, मापतोल इत्यादि का निरीक्षण करना।

(८) शासन की नीति तथा आर्थिक परिस्थिति के अनुसार उद्योग व्यापार को निर्देश देना तथा आवश्यकतानुसार उसे दबाना।

कारपोरेशनों का आर्थिक उद्देश्य

कारपोरेशनों का संगठन इस उद्देश्य से किया गया था कि उत्पादन की सभी किस्मों तथा अवस्थाओं पर शासन का नियन्त्रण स्थापित हो जाय। इस प्रकार नाज, फल, तरकारी, फूल, शराब, तेल, चीनी, पशु, लकड़ी, सूत, मशीन, रसायनिक, कागज, इमारतें, पानी, गैस, बिजली, लोहा, शीशा तथा बैंकों तथा बीमा कम्पनियों के सभी कार्यों और कला तथा व्यवसाय सभी पर इनका नियन्त्रण स्थापित हो गया। कौंसिलों के द्वारा ये उत्पादन के नियन्त्रण के लिये नियम बनाते थे और वस्तुओं का मूल्य और औद्योगिकों के लाभ को निश्चित करते थे। इसके अलावा ये परामर्श भी देते थे।

कारपोरेशन राजनीतिक साधनों के रूप

कारपोरेशन वास्तव तथा स्पष्ट रूप में राजनीतिक साधन थे जो राजनीतिज्ञों की अध्यक्षता में कार्य करते थे। प्रत्येक स्थान पर फ़ासिस्ट दल का हाथ रहता था और पूरी प्रणाली इसके नेता मुसोलिनी द्वारा चलाई जाती थी। प्रत्येक कारपोरेशन की कौंसिल के सदस्यों की संख्या मुसोलिनी द्वारा निश्चित की जाती थी और वही इनकी नियुक्ति भी करता था। सिद्धांतः वही इन कौंसिलों का अध्यक्ष भी होता था। मुसोलिनी ही कौंसिल की बैठकों का अजेण्डा भी बनाता था और उसे यह निर्णय करने का अधिकार भी था कि किन मामलों पर कौंसिल की बैठकों में विचार किया जायगा। कौंसिलों के निर्णय मुसोलिनी की स्वीकृति के पश्चात् ही कार्यान्वित हो सकते थे।

कारपोरेशन कौंसिल

सरकारी तौर पर कारपोरेशनों की घोषणा करने के समय यह निश्चय किया गया कि एक वृहत कारपोरेशन कौंसिल की स्थापना की जाय जिसमें कुल ८२३ सदस्य हों। इस वृहत् कौंसिल के सदस्य विभिन्न २२ कारपोरेशनों की कौंसिलों में से आते थे और यह पूरी कारपोरेशन प्रणाली की सबसे ऊपर की संस्था थी। यह व्यवस्थापिका तथा

परामर्शदात्री दोनों का कार्य करती थी। १६३५ में एक विशेषाज्ञा द्वारा केन्द्रीय कारपोरेशन समिति को कारपोरेशन सम्बन्धी सभी मामलों पर अधिकार दे दिया गया किन्तु इस समिति के कार्यों के अन्तिम स्वीकृति देने का विशेषाधिकार वृहत कारपोरेशन कौंसिल ही के पास रहा। इससे स्पष्ट हो गया कि पूर्ण कारपोरेशन कौंसिल की बैठक की भविष्य में अधिक आवश्यकता नहीं रह गई। मिनिस्ट्री आफ कारपोरेशन तथा २२ कारपोरेशनों की व्यक्तिगत कौंसिलें सभी कारपोरेशन सम्बन्धी कार्य करती थीं और इस प्रकार इटली के राज्य की रूपरेखा पूर्णतया फासिस्ट ही रही। कारपोरेशन कौंसिल की बैठक कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर ही होती थीं।

प्रतिनिधि सभा की समाप्ति

लोगों का यही भय कि अन्त में कारपोरेशन कौंसिल प्रतिनिधि सभा का स्थान ग्रहण कर लेगी पूर्णतया सत्य निकला। दिसम्बर १६३८ में प्रतिनिधि सभा समाप्त कर दी गई और इसका स्थान फासिस्ट कारपोरेशन सभा ने ले लिया। इस सभा की प्रथम बैठक मार्च २३, १६३६ को हुई और इसमें कुल ६५० सदस्य थे जिसमें १५० फासिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कौंसिल के सदस्य थे और ५०८ राष्ट्रीय कौंसिल आफ कारपोरेशन के निर्वाचित सदस्य थे। इस प्रकार कारपोरेशन राज्य की स्थापना पूर्ण रूप से हो गई।

केन्द्रीय कारपोरेशन समिति

कारपोरेशन प्रणाली का केन्द्र मिनिस्ट्री आफ कारपोरेशन की केन्द्रीय कारपोरेशन समिति थी। प्रारम्भ में तो इसके कार्य सीमित तथा निश्चित थे किन्तु आर्थिक संकट के कारण उत्पन्न परिस्थिति का मुकाबला करने के लिये यह निश्चय किया गया कि कारपोरेशन कौंसिल की वृहत सभा के कार्यों का सम्पादन करने का अधिकार इस समिति को दे दिया जाय। इस प्रकार अब यह कौंसिल के स्थान पर नियम बना सकती थी। यह अधिकार ठीक उसी प्रकार का था जिस तरह मिनिस्ट्री का विशेषाज्ञा देने का अधिकार। इस समिति में मिनिस्ट्री के अधिकांश सदस्य तथा सिन्डीकेट और फासिस्ट पार्टी के अध्यक्ष रहते थे। स्वभावतः शासन की सामूहिक शक्ति तथा उच्चाधिकारियों का प्रतिनिधित्व करने के कारण ये सर्वोच्च अधिकार का प्रयोग करते थे और प्रत्येक मामले में इन्हें अन्तिम निर्णय देने का अधिकार था।

इस प्रकार फासिस्टवाद ने एक नये प्रकार की कानूनी संस्थाओं को जन्म दिया जो पूर्णतया राज्य की भांति कार्य कर सकती थीं। कारपोरेशन प्रणाली की स्थापना ने Laissez Faire का अन्त किया जो फासिस्ट विचारधारा के अनुसार जीर्ण प्रजातन्त्र तथा ह्रासयुक्त पूंजीवाद का सहगामी था। किन्तु फासिस्ट नेताओं ने हमेशा इस बात को इनकार किया कि इस प्रणाली द्वारा व्यक्तिगत प्रयास का स्थान राज्य-समाजवाद (State Socialism) ने ले लिया। मुसोलिनी के अनुसार 'राज्य के अन्तर्गत' रहकर इन कारपोरेशनों को इटली निवासियों की समृद्धि, राजनीतिक शक्ति तथा भलाई के लिये कार्य करना था।